[श्रीमद्-भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य-विरचित]

रयणसार

ग्रन्थ पर रचित संस्कृत टीका

रत्नत्रयवर्धिनी

उत्तरार्द्ध

(गाथा 77 से 168 तक)

'रत्नत्रयवर्धिनी' संस्कृत टीकाकार

प. पू. गणाचार्य श्री 108 डॉ. विरागसागरजी महाराज

सम्पादन एवं हिन्दी अनुवाद

प्रो. डॉ. दामोदर शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रथम संस्करण : 2017 ❑ मूल्य : 600 रुपये

ISBN 978-81-263-5563-6 (Set)
978-93-263-5565-0 (Vol.II)

भारतीय ज्ञानपीठ

(स्थापना : फाल्गुन कृष्ण 9; वीर नि. सं. 2470; विक्रम सं. 2000; 18 फरवरी 1944)

पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवी की स्मृति में
साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन द्वारा सम्पोषित

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उनके मूल और यथासम्भव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारों की ग्रन्थसूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य पर विशिष्ट विद्वानों के अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहे हैं।

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित

Moortidevi Jain Granthamala : Prakrit Grantha No. 32

RAYAṆASĀRA

of

ĀCHĀRYA KUNDAKUNDA

with

Ratnatrayavardhinī

Sanskrit Commentary and Hindi Translation

Vol. II

(Gatha 77 to 178)

'Ratnatrayavardhinī' Sanskrit Commentary by

Parampujya Ganacharya Shri 108 Dr. Viragsagar Ji Maharaj

Edited and Translated by

Prof. Dr. Damodar Shastri

BHARATIYA JNANPITH

First Edition : 2017 ☐ Price : Rs. 650

ISBN 978-81-263-5563-6 (Set)
978-93-263-5565-0 (Vol.II)

BHARATIYA JNANPITH

(Founded on Phalguna Krishna 9; Vira N. Sam. 2470; Vikrama Sam. 2000; 18th Feb. 1944)

MOORTIDEVI GRANTHAMALA

FOUNDED BY

Sahu Shanti Prasad Jain

In memory of his illustrious mother Smt. Moortidevi

and

promoted by his benevolent wife

Smt. Rama Jain

In this Granthamala critically edited Jain agamic, philosophical, puranic, literary, historical and other original texts in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Hindi, Kannada, Tamil etc. are being published in the original form with their translations in modern languages. Catalogues of Jain bhandaras, inscriptions, studies on art and architecture by competent scholars and popular Jain literature are also being published.

•

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003

Printed at : Vikas computer and Printers, Delhi-110 032

© All Rights Reserved by Bharatiya Jnanpith

रत्नत्रयवर्धिनी टीका

उत्तरार्द्ध (गाथा-77 से 168 तक)

।। अनुक्रमणिका ।।

		पृ.
मूल ग्रन्थ व टीका खण्ड		**593-1192**
(1) सप्तम अधिकार—	(गाथा-77-80)	593
(2) अष्टम अधिकार—	(गाथा 81-92)	621
(3) नवम अधिकार—	(गाथा 93-105)	693
(4) दशम अधिकार—	(गाथा 106-113)	791
(5) एकादश अधिकार—	(गाथा 114-118)	835
(6) द्वादश अधिकार—	(गाथा 119-125)	877
(7) त्रयोदश अधिकार—	(गाथा 126-132)	933
(8) चर्तुदश अधिकार—	(गाथा 133-139)	961
(9) पञ्चदश अधिकार—	(गाथा 140-141)	999
(10) षोडश अधिकार—	(गाथा 142-152)	1009
(11) सप्तदश अधिकार—	(गाथा 153-165)	1089
(12) अष्टादश अधिकार—	(गाथा 166-168)	1147
(13) पाठान्तरयुक्ता : क्षेपकगाथा		1160
(14) टीकाकर्तुः प्रशस्तिः		1187
परिशिष्ट : *(गाथानुक्रमणिका, उद्धृत पद्यों/गाथाओं की अनुक्रमणिका आदि)*		*1193-1328*

।। सत्तमो अहियारो।।

(सप्तमोऽधिकारः)

अथेदानीं सप्तमोऽधिकारो गुरुभक्तिमाहात्म्यप्रकटनपरः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। 'पदिभत्तिविहीण सदी' **इत्यादिकां** (सं. ७७) **गाथामारभ्य** 'सम्मत्त विणा रुई' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ८०) **यावत् चतस्रो गाथा अस्मिन्नधिकारे भवन्ति। तासु प्रथमा** 'पदिभत्तिविहीण सदी' **इत्यादिका गाथा** (सं. ७७) **वर्तते, यत्र भक्तिरहितस्य दुर्गतिमार्गस्थितत्वं निरूपितमस्ति। ततोऽनन्तरं** 'गुरुभत्तिविहीणाणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ७८) **वर्तते, यस्यां निरूपितमस्ति यद् गुरुभक्तिविहीनस्य अपरिग्रहस्यापि चारित्रं निरर्थकमेवेति। तत्पश्चात्** 'रज्जं पहाणहीणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ७९), **तथा** 'सम्मत्त विणा रुई' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८०), **एवं द्वे गाथे स्तः, ययोर्गुरुभक्तिमाहात्म्यं विशदीकृतमस्ति। एवं सप्तमाधिकारस्य पातनिका विज्ञेया।**

अथ, भक्तियुक्तः एव शिवमार्गपथिकः, भक्तिरहितस्तु दुर्गतिमार्गपथिको भवतीति शास्त्रकारा सिंहणीछंदसा निरूपयन्ति—

।। सप्तम अधिकार।।

अब, गुरु-भक्ति के माहात्म्य का निरूपण करनेवाला सप्तम अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बताई जा रही है। इस अधिकार में **'पदिभत्तिविहीण सदी'** इत्यादि गाथा (सं. 77) से लेकर **'सम्मत्त विणा रुई'** इत्यादि गाथा (सं. 80) तक चार गाथाएँ हैं। इनमें **'पदिभत्तिविहीण सदी'** इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 77) है जिसमें यह बताया गया है कि भक्ति से रहित जीव दुर्गति-मार्ग में स्थित है। इसके बाद, **'गुरुभत्तिविहीणाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 78) है, जिसमें यह बताया गया है कि गुरु-भक्ति से रहित भले ही परिग्रहरहित हो, उसका चारित्र निरर्थक ही है। इसके बाद, **'रज्जं पहाणहीणं'** इत्यादि गाथा (सं. 79) तथा **'सम्मत्त विणा रुई'** इत्यादि गाथा (सं. 80), इस प्रकार दो गाथाएँ हैं, जिनमें गुरुभक्ति के माहात्म्य को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार सप्तम अधिकार की पातनिका जानें।

अब, भक्ति से युक्त व्यक्ति ही शिवमार्ग का पथिक है और भक्ति-रहित दुर्गति-मार्ग का पथिक है— इसे सिंहणी छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

पदिभत्तिविहीण सदी भिच्चो जिणसमयभत्तिहीणजइणो।
गुरुभत्तिहीणसिस्सो दुग्गदिमग्गाणुलग्गओ णियदं।। ७७।।

छाया— पतिभक्तिविहीना सती, भृत्यः, जिनसमयभक्तिहीनजैनः।
गुरुभक्तिहीनशिष्यः दुर्गतिमार्गानुलग्नो नियतम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (णियदं दुग्गदिमग्गाणुलग्गओ) **नियमतः, अवश्यमेव दुर्गतिमार्गानुलग्नः, तदाचरणं दुर्गतिमेव तं प्रापयिष्यति —इत्याशयः। कीदृशो जनः? उच्यते—**(पदिभत्तिविहीणसदी भिच्चो) **पतिः स्वामी, स परिणेता भर्ता-वा भवति, सेव्योऽधिपतिरपि भवति। एवं भर्तृभक्तिरहिता सती सन्नारी यद्वा स्वसेव्यभक्तिरहितः सेवकः, उभावपि दुर्गतिमार्गमेव अनुसरतः, कथमपि तौ सद्गतिं न प्राप्नुतः।**

एवमेव (गुरुभत्तिहीणसिस्सो) **गुरुं प्रति या भक्तिः, तद्गुणानुरागो वा, तद्रहितो यः शिष्यः, स दुर्गतिमार्गसंलग्नः, तस्य सुगतिः नैव भविष्यतीत्याशयः।**

गाथा-अर्थ— पति (भर्ता) की भक्ति से रहित सती (सन्नारी) और (स्वामी की भक्ति से रहित) नौकर, गुरु-भक्ति से रहित शिष्य, और (उसी तरह) जिनेन्द्र देव व उनके सिद्धान्त के प्रति भक्ति से रहित जैन (ये) नियमतः दुर्गति-मार्ग में संलग्न हैं।।77।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(नियतं दुर्गतिमार्गानुलग्नः)** नियमतः, अवश्य ही दुर्गति-मार्ग में संलग्न है, उसका आचरण उसे दुर्गति तक पहुँचाएगा —यह आशय है। कैसा व्यक्ति? बता रहे हैं— **(पतिभक्तिविहीना सती, भृत्यः)** पति यानी स्वामी, वह परिणय करने वाला भर्ता भी होता है और सेवायोग्य मालिक भी होता है। इस प्रकार, भर्ता के प्रति भक्ति से रहित सती यानी सन्नारी या अपने सेवनीय (आराधनायोग्य) के प्रति भक्ति से रहित सेवक (नौकर), ये दोनों दुर्गति मार्ग का ही अनुसरण कर रहे होते हैं, किसी भी तरह, वे दोनों सद्गति प्राप्त नहीं करते।

इसी तरह, **(गुरुभक्तिहीनशिष्यः)** गुरु के प्रति जो भक्ति या गुणानुराग होता है, उससे रहित जो शिष्य है, वह दुर्गति-मार्ग में संलग्न है, अर्थात् उसकी सुगति नहीं होने वाली है।

एवं, तद्वदेव, यथा स्वामिभक्तिरहिता नारी, तादृशो भृत्यः, तथा गुरुभक्तिरहितः शिष्यो भवति, तद्वदेव (जिणसमयभत्तिहीणजइणो) **जिनस्य सर्वज्ञतीर्थंकरस्य, तदीयोपदिष्टसिद्धान्तस्य च या भक्तिः श्रद्धानं वा, तया हीनः जैनः, जैनधर्मानुयायी, सोऽपि दुर्गतिमार्गसंलग्न एव, न सुगतिमार्गे स्थितः।**

अत्र गाथायां भक्तेरुपयोगिता महत्ता वा सूचिता। अत्र भक्तेः विविधाः प्रकाराः संकेतिताः, यथा परिणीताया भार्यायाः स्वपतिं प्रति भक्तिः, स्वस्वामिनं प्रति सेवकस्य भक्तिः, गुरुं प्रति शिष्यस्य भक्तिः, जैनस्य जिनेन्द्रं प्रति तथा जिनवाणीं (श्रुतदेवतां) **प्रति भक्तिश्च। एतासु भक्तिषु जिनेन्द्रभक्तिः, जिनवाणीभक्तिः —इत्येतयोः प्रतिपादनं मुख्यमुद्देश्यं शास्त्रकाराणां वर्तते। अन्या भक्तयस्तु तत्समर्थनाय दृष्टान्तरूपेण उपस्थापिताः। यथा लोके पतिभक्तिरहिता भार्या नाद्रियते, यथा च गुरुभक्तिरहितः शिष्यो न प्रशंसनीयो भवति, तिरस्क्रियते च जनैः, उभावपि दुर्गतिमार्गस्थावेव भवतः, स्वाचरणेन तौ स्वकीयाहितसम्पादनमेव कुरुतः, तथैव जिनेन्द्रभक्त्या जिनवाणीभक्त्या च रहितो जैनोऽपि न कदाचिदपि अभीष्टसिद्धिं प्राप्नोति, प्रत्युत दुर्गतिमेव स्वयं वृणोति —इति गाथायाः सारः।**

उनकी तरह ही अर्थात् जिस प्रकार स्वामी-भक्ति से रहित नारी या वैसा नौकर एवं गुरु-भक्ति से रहित शिष्य होता है, उसी तरह— **(जिनसमयभक्तिहीनजैनः)** जिन यानी सर्वज्ञ तीर्थंकर के प्रति और (समय यानी) उनके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त के प्रति जो भक्ति या श्रद्धान होता है, उससे हीन जैन यानी जैनधर्मानुयायी, वह भी दुर्गति-मार्ग में ही संलग्न है, सुगति-मार्ग में वह स्थित नहीं है।

इस (प्रस्तुत) गाथा में भक्ति की उपयोगिता या महत्ता को सूचित किया गया है। यहाँ भक्ति के विविध प्रकारों का संकेत किया गया है, जैसे विवाहित भार्या की अपने पति के प्रति भक्ति, अपने मालिक के प्रति सेवक की भक्ति, गुरु के प्रति शिष्य की भक्ति और जैन (धर्माराधक) की जिनेन्द्र व जिनवाणी (श्रुतदेवता) के प्रति भक्ति। इन भक्तियों में जिनेन्द्र-भक्ति व जिनवाणी-भक्ति —इन दोनों का प्रतिपादन करना शास्त्रकार का प्रमुख उद्देश्य है। अन्य भक्तियों को तो उन दोनों के समर्थन के लिए दृष्टान्त रूप से उपस्थापित किया गया है। जिस प्रकार लोक में पति-भक्ति से रहित भार्या का आदर नहीं किया जाता, जिस प्रकार गुरु-भक्ति से रहित शिष्य प्रशंसायोग्य नहीं होता, अपितु लोगों द्वारा तिरस्कृत होता है, दोनों ही दुर्गति-मार्ग में ही खड़े होते हैं, और अपने आचरण से दोनों ही अपने अहित का ही सम्पादन करते हैं, उसी तरह जिनेन्द्र-भक्ति व जिनवाणी-भक्ति से रहित जैन भी कभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त नहीं करता, अपितु दुर्गति का ही वह स्वयं वरण करता है —यह गाथा का सार है।

प्रस्तुतविषयवैशद्यार्थं किञ्चिद् विव्रियते। जैनशास्त्रेषु भक्तेः श्रद्धानस्य उपयोगिता महत्ता वा बहुषु स्थलेषु प्रतिपादिता। पतिभक्तिः, स्वामिभक्तिः, गुरुभक्तिः, जिनेन्द्रभक्तिः, जिनवाणीभक्तिः —इत्येतासां सर्वासां भक्तीनां निरूपणं जैनाचार्याः विविधप्रकारेण कृतवन्तः।

यथा, स्वामिभक्तिविषये वादीभसिंह-सूरिकृते (जीवन्धरचरित्रापरनामके) **क्षत्रचूडामणिकाव्ये** (१/४५) **प्रोक्तम्—** गाढा हि स्वामिभक्तिः स्याद् आत्मप्राणानपेक्षिणी।

स्वामिनं प्रभुं राजानं वा प्रति सेवकस्य यादृशी दृढा भक्तिर्भवति, तथैव मोक्षमार्गस्थस्य आत्मतत्त्वं प्रति श्रद्धानमुचितमितिभावेन श्रीकुन्दकुन्दस्वामिनः समयसारग्रन्थे (गाथा 17-18) **प्राहुः—**

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।।

एवं हि जीवराया णादव्वो तह सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।।

प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से यहाँ कुछ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है। जैन शास्त्रों में भक्ति या श्रद्धान की उपयोगिता या महत्ता का प्रतिपादन अनेक स्थलों पर किया गया है। पतिभक्ति, स्वामीभक्ति, गुरुभक्ति, जिनेन्द्रभक्ति व जिनवाणीभक्ति —इन सभी भक्तियों का जैनाचार्यों ने विविध प्रकार से निरूपण किया है।

उदाहरणार्थ, स्वामी-भक्ति के विषय में श्रीवादीभसिंह सूरि द्वारा रचित क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धरचरित्र) काव्य (1/45) में कहा गया है— "(सेवक की) स्वामी के प्रति गाढ़ भक्ति होती है जो अपने प्राणों की परवाह नहीं करता।"

स्वामी या प्रभु (मालिक) या राजा के प्रति सेवक की जैसी दृढ़ भक्ति होती है, वैसी ही मोक्षमार्गी की आत्मतत्त्व के प्रति श्रद्धा करना उचित है —इस भाव को लेकर श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने समयसार ग्रन्थ (गाथा 17-18) में कहा है—

"जैसे कोई धन का इच्छुक (सेवक) राजा को पहचान कर श्रद्धान करता है और जी लगा कर उसकी सेवा (अनुचरपना) करता है, वैसे ही मोक्षार्थी पुरुष को चाहिए कि वह जीवरूपी राजा को पहचान कर उस पर श्रद्धान करे और उसका अनुचरण भी करे।"

पत्न्याः स्वभर्तारं प्रति दृढप्रेमरूपा भक्तिस्तु भारतीयसंस्कृतिविज्ञानां सर्वविदितैव। नारीणां पतिः परमेश्वरवदेव शरण्यः, समुपासनीयश्च स्वीक्रियते।

महाभारते (१२/१४८/६) **प्रोक्तम्—**

मितं ददाति पिता मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य दातारं भर्तारं का न पूजयेत्।।

वादीभसिंहसूरिविरचिते क्षत्रचूडामणिकाव्येऽपि (७/३) **प्रोक्तम्—**

प्राणाः पाणिगृहीतीनां प्राणनाथो हि नापरम्।

भक्तिवशेन नार्यः कदाचिदपि भर्तुः प्रतिकूलाचरणं न कुर्वन्ति। उक्तं च क्षत्रचूडामणिग्रन्थे (१०/२)— स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं कुलजानां कुतो भवेत्।

पत्नी की अपनी भर्ता के प्रति दृढ़ प्रेम रूप भक्ति जो होती है, वह सभी भारतीय संस्कृति के विज्ञों को विदित ही है। नारियों के लिए पति, परमेश्वर की तरह ही, शरण-स्थल और उपास्य होता है।

महाभारत (12/148/6) में कहा भी गया है—

"पिता परिमित (सीमित मात्रा में) देता है, भाई व पुत्र भी परिमित ही देता है, राजा व भर्ता तो अपरिमित देता है, भला उसे कौन नहीं पूजेगा?"

वादीभसिंहसूरि द्वारा रचित क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धरचरित्र) काव्य (7/3) में कहा गया है—

"विवाहित स्त्रियों के प्राण तो उनके पति ही होते हैं, और कोई नहीं।"

भक्ति के वश में नारियाँ कभी पति के प्रतिकूल आचरण नहीं करती। क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ (10/2) में भी कहा गया है— "कुलीन स्त्रियों का अपने पति की इच्छा के विरुद्ध चलना कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।"

पतिभक्तिभावाश्रितं पातिव्रत्यं धर्मं नार्यः पालयन्ति, न च कश्चिदपि ता विचालयितुं समर्थः इति उत्तरपुराणे (६८/१९०) **वर्णितम्—**

समुत्तानयितुं शक्ता ससमुद्रा वसुन्धरा।
भेतुं शीलवतीचित्तं न शक्यं मन्मथेन च।।

प्राचीनभारते प्रायो मातापितरौ स्वयं कन्या च वरोचितगुणान् परीक्ष्यैव पतिरूपेण वरणं कुर्वन्ति स्म। अतो नारीणां स्वपतिं प्रति गुणानुरागरूपभक्तिः स्वाभाविकी भवति स्म।

वरोचितगुणानां निर्देश उत्तरपुराणे (६२/६४) **कृतोऽपि दृश्यते—**

स्वाभिजात्यमरोगत्वं वयः शीलं श्रुतं वपुः।
लक्ष्मीः पक्षः परीवारो वरे नव गुणाः स्मृताः।।

गुरुभक्तिरपि शिष्यस्य कृते परमावश्यकी भवति। शिष्यो गुरुभक्त एव प्रशस्यते। उक्तं च (जीवन्धरचरित्रापरपर्याये) **क्षत्रचूडामणिकाव्ये** (२/३१)**—**

पति-भक्ति भाव पर आश्रित पातिव्रत्य धर्म को नारियाँ पालती हैं, उन्हें कोई भी उस धर्म से विचलित नहीं कर सकता— यह उत्तरपुराण (68/190) में वर्णित किया गया है—

''समुद्र सहित पृथिवी को उठाया जा सकता है, किन्तु शीलवती स्त्री के चित्त को काम द्वारा डिगाया नहीं जा सकता।''

प्राचीन भारत में प्रायः माता-पिता और स्वयं कन्या भी 'वर' के लायक गुणों को जांचने-परखने के बाद ही पति रूप से वरण करती थी। इसलिए नारियों की अपने पतियों के प्रति गुणानुराग रूप भक्ति स्वाभाविक होती थी।

वरोचित गुणों का निर्देश भी उत्तरपुराण (62/64) में इस प्रकार किया गया है—

''कुलीनता, आरोग्य (स्वास्थ्य), अवस्था, शील, श्रुत, शरीर, लक्ष्मी, पक्ष व परिवार— ये वर के नौ गुण कहे गये हैं।''

गुरुभक्ति भी शिष्य के लिए परम आवश्यक होती है। गुरुभक्त शिष्य ही प्रशंसनीय होता है। क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धरचरित्र) काव्य (2/31) में कहा भी गया है—

गुरुभक्तो भवाद् भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते।।

गुरुभक्तिरपि राजभक्तिवद् निरूपिताऽस्ति। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४५८)—

रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए।
मिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ।।

गुरुभक्तेर्महत्त्वं तथा गुरुद्रोहिणां दुर्गतिरपि क्षत्रचूडामणिकाव्ये (२/३२-३४) **सूच्यते—**

गुरुभक्तिः सती मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।
त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः।।

''जो गुरुभक्त हो, संसार से भयभीत हो, विनीत व धर्मात्मा हो, उत्तम बुद्धि वाला हो, शान्त हृदय वाला हो, आलस्यहीन हो, और उत्तम आचरण वाला (शिष्ट, भद्र) हो, वही (यथार्थ में) शिष्य होता है।''

गुरु-भक्ति भी राज-भक्ति की तरह निरूपित की गई है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-458) में कहा भी गया है—

''जैसे सेवक राजा के अनुकूल प्रवृत्ति करता है, वैसे ही रत्नत्रय के धारक (गुरुओं) के प्रति अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना 'उपचार विनय' होती है।''

गुरुभक्ति के महत्त्व को तथा गुरुद्रोहियों की दुर्गति को भी क्षत्रचूड़ामणि काव्य में (2/32-34) इस प्रकार बताया गया है—

''गुरु की सच्ची भक्ति की जाए तो मुक्ति मिलती है, फिर उससे छोटे-मोटे काम क्यों नहीं सिद्ध होंगे? जिस रत्न का मूल्य तीन लोक (की सम्पत्ति) हो, उससे भूसे का ढेर मिलना क्या दुर्लभ होगा?''

गुरुद्रुहां गुणः को वा कृतघ्नानां न नश्यति।
विद्याऽपि विद्युदाभा स्याद्, अमूलस्य कुतः स्थितिः।।

गुरुद्रोही न हि क्वापि विश्वास्यः विश्वघातिनः।
अबिभ्यतां गुरुद्रोहाद् अन्यद्रोहात् कुतो भयम्।।

गुरुः शिष्यस्य ज्ञानदानद्वारा तदीयाज्ञानान्धकारं विनाशयति, यज्ज्ञानं प्राप्य शिष्यः स्वजीवने अभीष्टपुरुषार्थसिद्धिं कर्तुं समर्थो भवति, स एव गुरुः धर्मोपदेशं विधाय पापकूपपतनादुद्धारयति, इत्यतो गुरोः पूज्यता सर्वसंमतैव।

हरिवंशपुराणे (२१/१५५-१५७) **च प्रोक्तम्—**

पापकूपे निमग्नेभ्यः, धर्महस्तावलम्बनम्।
ददता कः समो लोके संसारोत्तारिणा नृणाम्।।

''जो कृतघ्न व गुरुद्रोही हैं, उनका कौन-सा गुण नष्ट नहीं होता (वे तो पूर्णतया गुणहीन हो जाते हैं)। उनकी विद्या भी बिजली की चमक की तरह (क्षणस्थायी) होती है और जड़रहित वृक्ष की स्थिति हो भी क्या सकती है?''

''गुरुद्रोही विश्वघाती जैसा होता है, वह कहीं भी विश्वासयोग्य नहीं होता। जो गुरुद्रोह से नहीं डरते, उन्हें और भय कहाँ से हो सकता है? (अर्थात् अन्य भय गुरुद्रोह के भय के सामने तुच्छ हैं।)''

गुरु शिष्य को ज्ञान देकर उसके अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करते हैं, उस ज्ञान को प्राप्त कर शिष्य अपने जीवन में अभीष्ट पुरुषार्थ की सिद्धि करने में सक्षम हो पाता है। वही गुरु धर्म का उपदेश देकर शिष्य को पाप में गिरने से उबारते भी हैं। इस कारण से गुरु की पूज्यता सर्वसंमत ही है।

हरिवंश पुराण (21/155-157) में कहा भी गया है—

''जो पापरूपी कुएँ में डूबे हुए मनुष्यों के लिए धर्म रूपी हाथ का सहारा देता है तथा संसार-सागर से पार कराता है, उस धर्मोपदेश करने वाले (गुरु) के समान संसार में कोई दूसरा है क्या?''

अक्षरस्यापि चैकस्य पदार्थस्य पदस्य वा।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशिनम्।।

पूर्वं कृतोपकारस्य पुंसः प्रत्युपकारतः।
कृतित्वमुपकार्यस्य नान्यथेति विदो विदुः।।

आदिपुराणे (९/१७४-१७५, १७७) **च समर्थितमेतत्—**

रसोपविद्धः सन् धातुर्यथा याति सुवर्णताम्।
तथा गुरुगुणाश्लिष्टो भव्यात्मा शुद्धिमृच्छति।।

न विना यानपात्रेण तरितुं शक्यतेऽर्णवः।
नर्ते गुरूपदेशाच्च सुतरोऽयं भवार्णवः।।

बन्धवो गुरवश्चेति द्वये संप्रीतये नृणाम्।
बन्धवोऽत्रैव संप्रीत्यै गुरवोऽमुत्र चात्र च।।

''एक अक्षर, आधे पद या एक पद को भी (ज्ञान रूप में) देने वाले गुरु को जो भूल जाता है, वह भी पापी ही होता है, तो फिर जो धर्मोपदेश करने वाले को भूल जाए, वह कितना पापी है— उस विषय में क्या कहें?''

''जिसका पहले उपकार किया गया है, ऐसे उपकार्य मनुष्य की कृतकृत्यता प्रत्युपकार से ही होती है, अन्य प्रकार से नहीं, ऐसा विद्वान् मानते हैं।''

आदिपुराण (9/174-175, 177) में भी इसी का इस प्रकार समर्थन किया गया है—

''जिस प्रकार सिद्ध रस के संयोग से तांबा आदि धातुएँ सुवर्ण बन जाती हैं, उसी प्रकार गुरु के उपदेश से प्रकट हुए गुणों के संयोग से भव्य जीव भी शुद्धि को प्राप्त हो जाते हैं।''

''जिस प्रकार जहाज के बिना समुद्र तिरा नहीं जा सकता, उसी प्रकार गुरु के उपदेश के बिना यह संसार रूपी समुद्र तिरा नहीं जा सकता।''

''इस संसार में भाई और गुरु —ये दोनों ही पदार्थ मनुष्यों की प्रीति के लिए हैं। भाई भी इस लोक में ही प्रीति उत्पन्न करते हैं और गुरु तो इस लोक व परलोक दोनों में विशेष रूप से प्रीति उत्पन्न करते हैं।''

अतएव गुरूपासना श्रावकीयषट्कर्मसु अन्यतरं कर्म निर्दिष्टम्। उक्तं च सागारधर्मामृते (११/४५)—

उपास्या गुरवो नित्यम्, अप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षताक्ष्यर्पक्षान्तश्चराः विघ्नोरगोत्तराः।।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका-ग्रन्थे (६/७) **च भणितम्—**

देवपूजा गुरूपास्तिः, स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने।।

जिनस्य तत्समयस्य च भक्तिरपि मुमुक्षूणां कृते परमावश्यकी। उक्तं च सागारधर्मामृतग्रन्थे (११/४१, ४३-४४)—

यथाकथंचिद् भजतां जिनं निर्व्याजचेतसाम्।
नश्यन्ति सर्वदुःखानि दिशः कामान् दुहन्ति च।।

इसीलिए गुरु-उपासना को श्रावक के छः (आवश्यक) कर्मों में एक बताया गया है। सागारधर्मामृत (11/45) में कहा गया है—

''परम कल्याण के इच्छुक श्रावकों को प्रमाद छोड़कर गुरुओं की नित्य उपासना करनी चाहिए, क्योंकि गरुड़ के पंख पास रहने से सर्प दूर रहते हैं, वैसे ही गुरु के अधीन होकर चलने वालों के विघ्न दूर रहते हैं।''

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (6/7) में भी कहा गया है—

''देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप व दान —ये छः कर्म हैं जो गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करणीय होते हैं।''

जिन (जिनेन्द्र) और उसके समय (जिनवाणी) की भक्ति भी मुमुक्षुओं के लिए परम आवश्यक होती है। सागारधर्मामृत ग्रन्थ (11/41, 43-44) में कहा भी गया है—

''जिस किसी भी प्रकार से निष्कपट मन से जिनेन्द्र भगवान् की भक्ति करने वालों के सब दुःख दूर हो जाते हैं और दिशाएँ समस्त इच्छित पदार्थ उसे प्रदान करती हैं।

यत्प्रसादान्न जातु स्यात् पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
तां पूजयेज्जगत्पूज्यां स्यात्कारोड्डमरां गिरम्।।

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्।
न किञ्चिदन्तरं प्राहुः, आप्ता हि श्रुतदेवयोः।।

वस्तुतो जिनेन्द्रदेवे तत्प्रवचने च श्रद्धानं सम्यक्त्वमेव भवति —इति मोक्षप्राभृते (गाथा ९०) **भणितम्। भक्तिश्च श्रद्धेयगुणानुरागरूपैव। जिनेन्द्रभक्त्या पापकालुष्यं स्वतो नश्यतीति बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रे** (श्लोक-५७) **निर्दिष्टम्—**

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।।

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य, हे भव्य! जिनेन्द्रस्य तत्समयस्य च भक्त्या युक्तः स्वात्मकल्याणाय सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''जिसके प्रसाद (कृपा) से पूज्य की पूजा का उल्लंघन नहीं होता, उस जगत्पूज्य एवं स्यात्पद के प्रयोग वाली अजेय जिनवाणी की पूजा करनी चाहिए।''

''जो भक्तिपूर्वक श्रुत (जिनवाणी) को पूजते हैं, वे परमार्थ रूप में जिनेन्द्र की ही पूजा करते हैं, क्योंकि सर्वज्ञ देव ने श्रुत व जिनेन्द्र देव में थोड़ा-सा भी भेद नहीं कहा है।''

वस्तुतः जिनेन्द्र देव और उनके प्रवचन में श्रद्धा होना 'सम्यक्त्व' है —ऐसा मोक्षप्राभृत (गाथा-90) में कहा गया है। भक्ति भी श्रद्धेय के गुणों में अनुराग रूप ही होती है। जिनेन्द्र की भक्ति से पाप की कालिमा स्वतः नष्ट हो जाती है —यह बृ. स्वयम्भू स्तोत्र (श्लोक-57) में कहा गया है—

''हे भगवन्! आप तो वीतराग हैं और वीतद्वेष (द्वेषरहित) हैं, इसलिए आपको पूजा से न कोई प्रयोजन है और न ही निन्दा से। तो भी आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त से पाप की कालिमा को दूर कर पवित्र करता है, यही आपकी पूजा का फल है।''

इस तरह, अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर हे भव्य! जिनेन्द्र और उनके सिद्धान्त के प्रति भक्ति से युक्त होकर आत्मकल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहो —यह तात्पर्य है।

अथ गुरुभक्तिविहीनस्य समस्तपरिग्रहरहितस्यापि चारित्रं निरर्थकमेवेति लौकिकदृष्टान्त-माध्यमेन शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वसंगविरदाणं।
ऊसरखेत्ते ववि‍दं सुबीयसमं जाण सव्वणुट्ठाणं।। ७८।।

छाया— गुरुभक्तिविहीनानां शिष्याणां सर्वसङ्गविरतानाम्।
ऊषरक्षेत्रे उप्तं सुबीजसमं जानीहि सर्वानुष्ठानम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सव्वसंगविरदाणं गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वणुट्ठाणं ऊसरखेत्ते ववि‍दं सुबीयसमं जाण —इति गाथान्वयः।

(ऊसरखेत्ते ववि‍दं सुबीयसमं) **ऊषरक्षेत्रे सुबीजमपि यदि उप्यते, तदा तदपि निरर्थकं भवति, तत्सममेव,** (सव्वसंगविरदाणं गुरुभत्तिविहीणाणं सिस्साणं सव्वणुट्ठाणं) **सर्वसङ्गविरता अनगारा निर्ग्रन्था वा ये सन्ति, तेषां मध्ये ये गुरुभक्तिहीनाः शिष्या भवन्ति, तेषां सर्वमनुष्ठानं व्रततपश्चरणादिकं, तत्सर्वं निरर्थकमेव —इति गाथार्थः।**

अब, समस्त परिग्रहों का त्यागी भी हो किन्तु यदि गुरु-भक्ति से रहित हो तो उसका चारित्र निरर्थक है— इसे लौकिक दृष्टान्त के माध्यम से गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— समस्त परिग्रहों से विरत शिष्य भी गुरु-भक्ति से रहित हों तो उनका समस्त अनुष्ठान (व्यवहार चारित्र) उसी प्रकार (निरर्थक) है, जिस प्रकार ऊषर खेत में बोया गया अच्छा भी बीज (निरर्थक) होता है।।78।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सर्वसङ्गविरतानां शिष्याणां गुरुभक्तिविहीनानां सर्वानुष्ठानं ऊषरक्षेत्रे उप्तं सुबीजसमं जानीहि —यह गाथा का अन्वय है।

(ऊसरक्षेत्रे उप्तं सुबीजसमम्) ऊषर खेत में कोई अच्छा से अच्छा बीज भी बोया जाता है, तो वह भी निरर्थक ही होता है, उसी के समान। **(सर्वसङ्गविरतानां गुरुभक्तिविहीनानां शिष्याणां सर्वानुष्ठानम्)** समस्त सङ्ग (परिग्रह) से जो विरत अर्थात् अनगार या निर्ग्रन्थ हैं, उनके बीच में जो गुरु-भक्ति से हीन शिष्य होते हैं, उनका समस्त अनुष्ठान, व्रत, तपश्चर्या आदि, वह सभी निरर्थक ही होता है —यह गाथा का अर्थ है।

गुरुभक्तिविषये पूर्वस्यां (गाथा-७७) **गाथायां च निरूपितमस्ति, तथापि तामधिकृत्य किञ्चिद् विव्रियते —ये सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयधारणेन गौरवास्पदानि भवन्ति, ते गुरवो भवन्ति। प्रव्रज्यादायकोऽपि गुरुर्भण्यते। ज्ञानदानेन धर्मोपदेशेन वा गुरुः शिष्यस्योपकारको भवति।**

उक्तं च स्याद्वादमञ्जर्याम् (कारिका-३)**—** ''न च हितोपदेशादपरः पारमार्थिकः परार्थः''। 'परोपकारः सम्यग्ज्ञानादिवृद्धिः' **इत्यपि सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे** (७/३८) **श्रीमत्पूज्यपादाचार्याः ऊचिरे।**

आदिपुराणेऽपि (९/१७३) **भणितम्—**

गुरूणां यदि संसर्गो न स्यान्न स्याद् गुणार्जनम्।
विना गुणार्जनात् क्वास्य जन्तोः सफलजन्मता।।

एवं ज्ञानदानेन शिष्यस्य महानुपकारो भवति। उक्तं च राजवार्तिके (६/२४/६) 'सम्यग्ज्ञानदानं पुनः अनेकभवशतसहस्रदुःखोत्तरकारणम् **इति।**

गुरु-भक्ति के विषय में पिछली (गाथा-77) गाथा में निरूपित किया गया है, फिर भी उसके बारे में कुछ व्याख्यान कर रहे हैं— गुरु वे होते हैं जो सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय को धारण कर गौरव से युक्त होते हैं। प्रव्रज्या (दीक्षा) देने वाले को भी गुरु कहा जाता है। गुरु ज्ञान देकर तथा धर्मोपदेश देकर शिष्य के उपकारक होते हैं।

स्याद्वादमञ्जरी (कारिका 3) में कहा भी है—''हितोपदेश से दूसरा कोई वास्तविक परोपकार नहीं होता है।'' 'सम्यग्ज्ञान आदि की वृद्धि करना (भी) परोपकार है' —ऐसा आचार्य श्रीमत्पूज्यपाद स्वामी ने भी सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (7/38) में कहा है।

आदिपुराण (9/173) में भी कहा गया है—

''गुरुओं का संसर्ग न हो तो गुण अर्जित नहीं किये जाएँगे। और गुण अर्जित नहीं हों तो फिर इस प्राणी का जन्म सफल कैसे होगा?''

इस प्रकार ज्ञान-दान से शिष्य का महान् उपकार होता है। राजवार्तिक (6/24/6) में कहा भी है— ''सम्यग्ज्ञान का दान (शिष्य के) लाखों जन्मों के अनेक दुःखों को पार करने में कारण होता है।''

प्रशमरतिप्रकरणे (श्लोक-७१) **च भणितम्—**

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन्।
तत्र गुरुरिहामुत्र च सुदुष्करतरप्रतीकारः।।

वस्तुतः श्रुतज्ञानस्य दाता, व्याख्याता, श्रोता, ग्रहीताऽपि वा असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरां विदधाति —इति धवलाग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-५, सू. ५०) **प्रतिपादितम्—** "(प्रवचनीयं) किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते? श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरणहेतुत्वात्"। **एवं ज्ञानदाता गुरुः स्वस्य परेषां शिष्याणां च महदुपकारं करोति। उक्तं च आचार्य-उमास्वामिकृते तत्त्वार्थसूत्र-भाष्ये** (प्रारम्भे सम्बन्धकारिका सं. २९-३०) **तथा स्याद्वादमञ्जर्यां** (कारिका-३, उद्धृते पद्ये)—

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हितश्रवणात्।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति।।

प्रशमरतिप्रकरण (श्लोक-71) में भी कहा गया है—

"इस लोक में माता, पिता, स्वामी, गुरु —इन सब के उपकार का बदला नहीं चुकाया जा सकता। किन्तु इन सब में भी गुरु के उपकार का बदला न इसलोक में चुकाया जा सकता है और न परलोक में।"

वस्तुतः श्रुतज्ञान को देने वाला, व्याख्याता या श्रोता व ग्रहण करने वाला भी असंख्यात गुणश्रेणी से कर्म-निर्जरा करता है —ऐसा धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 50) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है— "(प्रवचनीय श्रुतज्ञान का) किसलिए सभी समयों में व्याख्यान किया जाता है? (उत्तर— चूँकि वह व्याख्यान) श्रोता व व्याख्याता —इन दोनों की असंख्यात गुणश्रेणी से कर्म-निर्जरा का हेतु होता है (इसलिए)।" इस प्रकार ज्ञानदाता गुरु अपना और दूसरे शिष्यों का महान् उपकार करता है। आचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य (प्रारम्भिक, सम्बद्ध कारिका सं. 29-30) तथा स्याद्वादमञ्जरी (कारिका-3, उद्धृत पद्य) में कहा गया है—

"इस हितरूप 'श्रुत' के श्रवण करने से सभी श्रोताओं को एकान्त रूप से धर्म-लाभ भले ही न हो, किन्तु उन श्रोताओं पर अनुग्रह की भावना से जो व्याख्यान करता है, उस वक्ता को तो नियमतः धर्म-लाभ होता ही है।"

श्रममविचिन्त्यात्मगतं तस्माच्छ्रेयः सदोपदेष्टव्यम्।
आत्मानं च परं च हि हितोपदेष्टानुगृह्णाति।।

एवं गुरुकृतमहदुपकारं प्रति शिष्यस्य कर्तव्यं यत्स विनय-श्रद्धा-भक्ति-उपासनादिभिः गुरुं सम्यक् सेवेत। उक्तं च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके (प्रारम्भ, उद्धृतपद्य, पृ. २)—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, प्रभवति स च शास्त्रात् तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैः, न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।।

अत्रेदं विज्ञेयम्— संघस्याचार्योऽपि संघस्थसाधुप्रभृतीन् प्रति यथायोग्यज्ञानदानमपि स्वकर्तव्यरूपेण विदधाति। उक्तं च आदिपुराणे (३८/१६९-१७०)—

''जिनवचन रूपी मोक्षमार्ग का वक्ता अवश्य ही धर्म का आराधक होता है। इतना ही नहीं, हितकारी श्रुत का उपदेश देने वाला अपना और पर (शिष्यादि) का, दोनों का ही अनुग्रह (उपकार) करता है। इसलिए श्रम आदि का विचार किये बिना ही, श्रेयोमार्ग का उपदेश करना ही चाहिए।''

इस प्रकार गुरु द्वारा किये गये महान् उपकार के प्रति शिष्य का यह कर्तव्य होता है कि वह विनय, श्रद्धा, भक्ति व उपासना आदि द्वारा गुरु की अच्छी तरह सेवा करे। तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक (प्रारम्भ, पृ. 2 में उद्धृत पद्य) में कहा भी गया है—

''अपने अभीष्ट फल की सिद्धि का उपाय है— सम्यग्ज्ञान। वह सम्यग्ज्ञान शास्त्र से ही प्राप्त होता है। शास्त्र की उत्पत्ति 'आप्त' पुरुष से है। इसलिए उन (शास्त्र-ज्ञान के स्रोत महापुरुषों) के कृपा-प्रसाद से प्रबुद्ध (ज्ञानसम्पन्न) होने वालों के लिए वे पूज्य हैं। (वस्तुतः) साधुजन (गुरु-जनादि द्वारा) किये गये उपकार को भूलते नहीं हैं।''

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि श्रमण संघ के आचार्य भी अपने संघस्थ साधु आदि को यथायोग्य ज्ञान-दान भी अपने एक कर्तव्य के रूप में करते हैं। आदिपुराण (38/169-170) में कहा भी गया है—

श्रावकानार्यिकासंघं श्राविकाः संयतानपि।
सन्मार्गे वर्तयन्नेष गणपोषणमाचरेत्।।

श्रुतार्थिभ्यः श्रुतं दद्याद् दीक्षार्थिभ्यश्च दीक्षणम्।
धर्मार्थिभ्योऽपि सद्धर्मं स शश्वत् प्रतिपादयेत्।।

एवं गणाधीश आचार्योऽपि वा गुरुवत्पूज्यो भक्त्या च सेवितव्यः। गुरूणां पूज्यत्वादेव 'गुरुशुश्रूषया ब्रह्मलोकप्राप्ति'**: इति मनुस्मृतौ** (२/२२६, २३३) **प्रोक्तम्—**

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः।

गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते।।

वस्तुतो भक्तिर्विनयप्रदर्शनस्यैकः प्रकारः, यतो हि विनयसम्पन्नशिष्यस्यैव शिक्षा सार्थका भवति, विनयेनैव गुरुराराध्यते। उक्तं च भगवती-आराधना ग्रन्थे (गाथा १३०-१३१)—

"(वह गणाध्यक्ष) श्रावकों को, आर्यिका-संघ को, श्राविकाओं को और संयमी (साधु-वर्ग) को सन्मार्ग में प्रवृत्त कराते हुए गण का पोषण करें।"

"वह श्रुतज्ञान के इच्छुक को श्रुतज्ञान दे, दीक्षार्थियों को दीक्षा दे, और धर्मार्थियों को निरन्तर समीचीन धर्म का प्रतिपादन करें।"

इस तरह, गणाधीश या आचार्य भी गुरु की तरह पूज्य हैं और भक्ति द्वारा सेवनीय भी हैं। गुरुओं की पूज्यता होने के कारण ही मनुस्मृति (2/226, 233) में गुरु-शुश्रूषा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होना बताया गया है—

"आचार्य 'ब्रह्म' की मूर्ति हैं।"

"गुरु की शुश्रूषा से तो (शिष्य) ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।"

वस्तुतः विनयप्रदर्शन का ही एक प्रकार 'भक्ति' है, क्योंकि विनय-सम्पन्न शिष्य की ही शिक्षा सार्थक होती है और विनय से ही गुरु की आराधना होती है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 130-131) में कहा भी गया है—

विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं विणयफलं सव्वकल्लाणं।।

विणओ मोक्खद्दारं विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसंघो य।।

वस्तुतो गुरुजनानां बहुमानम्, तदीयगुणानुगमनम्, भक्तिभावः इत्यादिकानि विनयस्यैव अङ्गानि सन्ति —इति तत्रैव (गाथा १३२-१३३) **निरूपितम्। गुरुभक्त एव शिष्यः स्वगुरुं समाराध्य सज्ज्ञानार्जनं कर्तुं समर्थो भवति। भक्तिराहित्येन न स सम्यग्ज्ञानं प्राप्तुं सफलो भवति। सम्यग्ज्ञानाभावे अज्ञानमूलकानि सर्वाणि तस्य अनुष्ठानानि निरर्थकानि एव भवन्ति। अज्ञानवशात् अनात्मपदार्थेषु स आत्मीयबुद्धिं करोति, परद्रव्यरतत्वाद् कर्मबन्धं विधाय भाविदुःखपरम्परामेव स दृढीकरोति।**

उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-२१९)—

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।।

''विनय से रहित (शिष्य) की सारी शिक्षा निरर्थक होती है। शिक्षा का फल 'विनय' है और विनय का फल समस्त कल्याणों की प्राप्ति है।''

''विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से ही संयम, तप व ज्ञान (प्राप्त या सार्थक) होते हैं। विनय से ही आचार्य की एवं समस्त संघ की आराधना होती है।''

वस्तुतः गुरुजनों का बहुमान, उनके गुणों का अनुगमन व भक्ति भाव —इत्यादि अंग विनय के ही हैं —यह भी वहीं (गाथा 132-133) कहा गया है। गुरुभक्त शिष्य ही अपने गुरु की आराधना कर सम्यक् ज्ञान का अर्जन कर सकता है। भक्तिरहित होने से वह सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने में सफल नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के अभाव में उसके द्वारा किये गये सभी अज्ञानमूलक अनुष्ठान निरर्थक ही हो जाते हैं। अज्ञान के वशीभूत वह (शिष्य) अनात्म पदार्थों में आत्मीय बुद्धि रखता है, परद्रव्यरत होने से वह कर्म-बन्ध कर भावी दुःख-परम्परा को ही दृढ़ करता है।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-219) में कहा भी है—''अज्ञानी जीव सभी परद्रव्यों में निश्चय ही रागी होता है, इसलिए (मन-वचन-काय जनित) कर्मों के मध्य स्थित होता हुआ कर्मरूपी रज से उसी प्रकार लिप्त हो जाता है, जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ लोहा।''

इत्येवं हे भव्य! गुरुभक्तिहीनतां सर्वानिष्टकारिणीं विज्ञाय, दृढां गुरुभक्तिं विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण गुरुभक्तिमाहात्म्यं गाथाद्वयेन गाहाछन्दसा शास्त्रकाराः विशदयन्ति—

रज्जं पहाणहीणं पतिहीणं देसगामरट्ठबलं।
गुरुभत्तिहीण-सिस्साणुट्ठाणं णस्सदे सव्वं।। ७९।।

सम्मत्त विणा रुई भत्ति विणा दाणं दया विणा धम्मं।
गुरुभत्ति विणा तवगुणचारित्तं णिप्फलं जाण।। ८०।।

छाया— राज्यं प्रधानहीनं पतिहीनं देशग्रामराष्ट्रबलम्।
गुरुभक्तिहीनशिष्यानुष्ठानं नश्यति सर्वम्।।

सम्यक्त्वं विना रुचिं, भक्तिं विना दानं, दयां विना धर्मम्।
गुरुभक्तिं विना तपोगुणचारित्रं निष्फलं जानीहि।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (णस्सदे सव्वं) **सर्वं नश्यति, अस्तित्वरहितं भवति। किं तत्?**

इसलिए हे भव्य प्राणी! गुरुभक्ति से हीन होना समस्त अनिष्टों का कारण होता है —इसे जानकर, गुरुभक्ति को दृढ़ करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब पुनः अन्य प्रकार से शास्त्रकार गुरु-भक्ति के माहात्म्य को दो गाथाओं द्वारा गाहा छन्द से स्पष्ट कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार प्रधान (राजा) के बिना राज्य और सेनापति के बिना देश, गाँव, राष्ट्र व सैन्य-बल नष्ट (असुरक्षित व शक्तिहीन) हो जाते हैं, उसी प्रकार गुरु-भक्ति से हीन शिष्य का (समस्त) अनुष्ठान नष्ट (निरर्थक) हो जाता है।।79।।

सम्यक्त्व के बिना रुचि (श्रद्धा) को, भक्ति के बिना दान को, दया के बिना धर्म को और (उसी तरह) गुरु-भक्ति के बिना तप, गुण (मूलगुणादि) व चारित्र को निष्फल जानें।।80।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(नश्यति सर्वम्)** सब नष्ट हो जाता है, अस्तित्वहीन हो जाता है। क्या नष्ट हो जाता है?

उच्यते— (गुरुभत्तिहीणसिस्साणुट्ठाणं) **गुरोर्या भक्तिः श्रद्धान्वितगुणानुरागात्मिका, तया हीनाः ये शिष्याः, तेषामनुष्ठानं ज्ञानार्जनात्मकं यद् भवति, तत्सर्वं नश्यति, निरर्थकं, निष्प्रयोजनं, कृतमपि अकृतवद् भवतीत्यर्थः। अत्र दृष्टान्तद्वयेन पूर्वोक्तस्य समर्थनं विधीयते—** (रज्जं पहाणहीणं) **प्रधानं, राजा, शासकः, अधीशः, तेन हीनं राज्यमिव। यथा राजहीनं राज्यं विनाशं प्राप्नोत्येव, तथैव गुरुभक्तिरहितस्य सर्वमनुष्ठानं विनष्टं भवति, न तेन किमपि प्रयोजनं सिद्ध्यति —इति भावः।**

इदानीं द्वितीयदृष्टान्तः प्रस्तूयते। (पतिहीणं देसगामरट्ठबलं) **देशः, ग्रामः, राष्ट्रम्, बलं सैन्यम्, एतत्सर्वं नश्यति, यदा तेषां कश्चित् पतिः, स्वामी, रक्षको वा न भवति तदा। देशस्य राष्ट्रस्य राजा, सम्राट् वा शासनं करोति, एवमेव ग्रामस्य ग्रामणीः, बलस्य सेनापतिः रक्षां करोति, शासनव्यवस्थां वा सञ्चालयति। शासकादीनामभावे तत्र दुरवस्थैव जायते, अधर्मो वर्धते, बलवान् निर्बलान् हन्ति, समाजव्यवस्था सर्वा जर्जरिता जायते, नैतिकमूल्यानि क्षीयन्ते, पापकृत्यानि समेधन्ते, ततश्च परस्परसंघटनाभावे निर्बलं राष्ट्रादिकं शत्रुभिराक्राम्यते, एवं दुर्गतिविनाशपरम्परा प्रवर्तिता**

बता रहे हैं— **(गुरुभक्तिविहीनशिष्यानुष्ठानम्)** गुरु की जो श्रद्धायुक्त गुणानुराग रूपी भक्ति, उससे हीन जो शिष्य होते हैं, उनका ज्ञानार्जन-सम्बन्धी अनुष्ठान जो भी होता है, वह सब नष्ट हो जाता है, अर्थात् निरर्थक,निष्प्रयोजन तथा किया हुआ भी नहीं किया हुआ-सा हो जाता है। यहाँ दो दृष्टान्तों द्वारा पूर्वोक्त (तथ्य) का समर्थन किया जा रहा है— **(राज्यं प्रधानहीनम्)** प्रधान अर्थात् राजा, शासक या अधीश्वर, उससे रहित राज्य की तरह। जिस तरह राजा से रहित राज्य नष्ट होता ही है, उसी तरह गुरु-भक्ति से रहित व्यक्ति का समस्त अनुष्ठान नष्ट हो जाता है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता —यह भाव है।

अब दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा रहा है— **(पतिहीनं देशग्रामराष्ट्रबलम्)** देश, गाँव, राष्ट्र, बल यानी सेना —ये सब नष्ट हो जाते हैं, जब इनका कोई पति या स्वामी या रक्षक न हो तब। देश व राष्ट्र का शासन राजा या सम्राट् करता है, इसी तरह ग्राम का मुखिया, सेना का सेनापति रक्षा या शासन-सम्बन्धी व्यवस्था को संचालित करता है। शासकादि के अभाव में वहाँ दुर्व्यवस्था ही हो जाती है— अधर्म बढ़ जाता है, बलवान् निर्बलों को मार देते हैं, सारी सामाजिक व्यवस्था जर्जरित हो जाती है, नैतिक मूल्य क्षीण हो जाते हैं, पाप कार्य बढ़ने लगते हैं, इसके बाद परस्पर-संगठन न रहने से राष्ट्र आदि निर्बल हो जाते हैं और शत्रु उन पर आक्रमण कर देते हैं। इस प्रकार दुर्गति व विनाश की शृंखला बनती जाती है, इसी तरह गुरुभक्ति से हीन शिष्य का

भवति, तथैव गुरुभक्तिविहीनस्य शिष्यस्य विवेको नश्यति, कषाया वर्धन्ते, चारित्रबलमपक्षीयते, उच्छृंखल-अमर्यादित-निरङ्कुशप्रवृत्तिस्तस्य वर्द्धते, सामाजिकेन राजकीयेन दण्डेन दण्डितः, अपमानितो निन्दितो वा भवतीत्येवं तस्य दुर्गतिपरम्परा प्रवर्तिता भवति। एवं सति तस्य वैदुष्यमपि सर्वं निष्फलमेव।

राष्ट्रे यद्वा ग्रामादिषु अपि शासकस्य कुशलता, स्वस्थता, सबलता, निरापन्नता सर्वैर्जनैः सर्वत्र काम्यते, यतो हि शासके विपद्ग्रस्ते सर्वं राष्ट्रमेव विपद्ग्रस्तं भवति। अत एव जैनश्रावकः (शान्तिभक्ति, श्लोक-१४) **प्रतिदिनं राष्ट्रस्य शान्तिमथ च शासकस्य च शान्तिं सुखं वा वाञ्छन् सम्यग्भावनाः भावयति—**

सम्पूजकानां प्रतिपालकानाम्, यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शान्तिं भगवान् जिनेन्द्रः।।

शासकस्याभावे या दुरवस्था भवन्ति, तासां निरूपणं महाभारते (शान्तिपर्वणि ६७/१६, ६८/१०-१४) **कृतम्—**

विवेक नष्ट हो जाता है, कषायों में वृद्धि हो जाती है, चारित्र-बल क्षीण होने लगता है, उसकी सर्वत्र उच्छृंखल, अमर्यादित व निरङ्कुश प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, सामाजिक व राजकीय दण्ड से वह दण्डित, अपमानित व निन्दा का पात्र होता है— इस प्रकार उसकी दुर्गति-परम्परा चलती जाती है। ऐसा होने पर उसका (अनुष्ठान रूप) सारा वैदुष्य भी निष्फल हो जाता है।

राष्ट्र में या ग्राम आदि में शासक की कुशलता, स्वस्थता, सबलता, विपत्तिरहितता की कामना सभी लोग सर्वत्र किया करते हैं, क्योंकि शासक के विपत्तिग्रस्त होने पर सम्पूर्ण राष्ट्र ही विपत्तिग्रस्त हो जाता है। इसीलिए जैन श्रावक प्रतिदिन राष्ट्र की शान्ति के साथ-साथ शासक की भी शान्ति व उसके सुख की कामना करता हुआ समीचीन भावनाएँ इस प्रकार व्यक्त करता है—

"पूजा करने वाले, रक्षक, मुनिराज व सामान्य तपस्वी जन —इनकी एवं देश, राष्ट्र व नगर की तथा वहाँ के राजा की भी भगवान् जिनेन्द्र शान्ति करें।" (शान्तिभक्ति, श्लोक-14)

शासक के अभाव में जो बुरी स्थितियाँ होती हैं, उनका निरूपण महाभारत (शान्ति पर्व, 67/16, 68/10-14) में इस प्रकार किया गया है—

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः।।

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम्।।

यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः।।

विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम्।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः।।

एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा।।

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्।।

''यदि इस जगत् में भूतल पर दण्डधारी राजा न हो तो जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं, उसी प्रकार प्रबल मनुष्य दुर्बलों को लूट खाएँ। राजन्! जैसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं और एक दूसरे को देख नहीं पाते हैं (वैसी ही स्थिति राजा के अभाव में हो जाती है)।''

''जैसे थोड़े जल वाले तालाब में मत्स्यगण तथा रक्षक रहित उपवन में पक्षियों के झुंड परस्पर एक-दूसरे पर बारम्बार चोट करते हुए इच्छानुसार विचरण करते हैं, वे कभी तो अपने प्रहार से दूसरों को कुचलते और मथते हुए आगे बढ़ जाते हैं और कभी स्वयं दूसरे की चोट खाकर व्याकुल हो उठते हैं, इस प्रकार आपस में लड़ते हुए ये थोड़े ही दिनों में नष्टप्राय हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं है। इसी तरह राजा के बिना वे सारी प्रजा आपस में लड़-झगड़ कर बात-ही-बात में नष्ट हो जायेगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भांति दुःख के घोर अन्धकार में डूब जायेगी। यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलों की बहू-बेटियों को हर ले जायें और अपने घर-बार की रक्षा के लिये प्रयत्न करने वालों को मार डालें।''

सम्यक्तया राज्ञि शासके वा शासति सर्वं सुव्यवस्थितं भवतीत्यपि तत्र (६८/३३, ३५) **निरूपितम्—**

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः।।

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत् सर्वं वर्तते सम्यग् यदा रक्षति भूमिपः।।

आदिपुराणे (४२/१६) **च राज्ञः शासकस्य वा महत्त्वमुपयोगित्वं च वर्णितम्—**

ततो महान्वयोत्पन्ना नृपा लोकोत्तमा मताः।
पथि स्थिताः स्वयं धर्म्ये स्थापयन्तः परानपि।।

राज्ञः कर्तव्यविषयेऽपि तत्र (४२/२०१-२०३) **निर्दिष्टम्—**

राजा या शासक जब अच्छी तरह शासन करता रहे तो सब कुछ सुव्यवस्था हो जाती है—यह भी वहीं (68/33, 35) बताया गया है—

''जब राजा रक्षा करता है, तब सब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।''

''खेती आदि समुचित जीविका की व्यवस्था ही इस जगत् के जीवन का मूल है तथा वृष्टि आदि की हेतुभूत त्रयी (वेद) विद्या से ही सदा जगत् का धारण-पोषण होता है। जब राजा प्रजा की रक्षा करता है, तभी वह सब कुछ ठीक ढंग से चलता रहता है।''

आदिपुराण (42/16) में भी राजा या शासक की महत्ता या उपयोगिता इस प्रकार वर्णित है—

''महान् वंशों में उत्पन्न हुए राजा लोग लोकोत्तम पुरुष माने गये हैं। ये लोग स्वयं तो धर्म मार्ग में स्थित होते ही हैं, दूसरों (प्रजा) को भी धर्म में स्थित करते हैं।''

राजा के कर्तव्य के विषय में भी वहीं (42/201-203) इस प्रकार निर्देश प्राप्त होता है—

मध्यस्थवृत्तिरेवं यः समदर्शी समञ्जसः।
समञ्जसत्वं तद्भावः प्रजास्वविषमेक्षिता।।

गुणेनैतेन शिष्टानां पालनं न्यायजीविनाम्।
दुष्टानां निग्रहं चैव नृपः कुर्यात् कृतागसाम्।।

दुष्टा हिंसादिदोषेषु निरताः पापकारिणः।
शिष्टास्तु क्षान्तिशौचादिगुणैर्धर्मपरा नराः।।

द्वितीयगाथा व्याख्यायते। (गुरुभत्ति विणा तवगुणचारित्तं णिप्फलं जाण) **गुरु-भक्तिं विना तपः, गुणानि, चारित्रं चेत्यादीनि निष्फलानि, निरर्थकानि, मिथ्याभूतानि वा भवन्तीति जानीहि, बुद्ध्यस्व।**

अत्र त्रयो दृष्टान्ताः प्रस्तुताः— (सम्मत्त विणा रुई) **सम्यक्त्वं विना रुचिर्यथा निरर्थिका भवति, तद्वदेव गुरुभक्तिहीनस्य तपश्चरणादिकं सर्वं निष्फलमेव भवति।**

''मध्यस्थ रहकर सब पर समान दृष्टि रखने वाला 'समंजस' कहलाता है। इस प्रकार प्रजा को विषम (पक्षपातपूर्ण) दृष्टि से नहीं देखना —यही राजा का 'समंजसत्व' गुण होता है।''

''राजा को चाहिए कि वह इस समंजसत्व गुण से ही न्यायपूर्वक आजीविका करने वाले शिष्ट पुरुषों का पालन करे और दुष्ट पुरुषों का निग्रह करे।''

''दुष्ट वे कहलाते हैं जो हिंसा आदि दोषों में संलग्न रहकर पाप करते हैं, और शिष्ट वे कहलाते हैं जो क्षमा, संतोष आदि गुणों के द्वारा धर्म धारण करने में तत्पर रहते हैं।''

अब द्वितीय (80वीं) गाथा का व्याख्यान कर रहे हैं। **(गुरुभक्तिं विना तपोगुणचारित्रं निष्फलं जानीहि)** गुरु-भक्ति के बिना तप, गुण (मूलगुण व उत्तरगुण) व चारित्र —इत्यादि निष्फल, निरर्थक या मिथ्याभूत हो जाते हैं —इसे जानो, समझो।

यहाँ तीन दृष्टान्त दिये गये हैं— **(सम्यक्त्वं विना रुचिः)** सम्यक्त्व के बिना जैसे रुचि निरर्थक होती है, उसी तरह गुरु-भक्ति से रहित (शिष्य) का तपश्चरण आदि सब कुछ निष्फल ही होता है।

अयम्भाव:— सामान्यजीवानां रुचिस्तु विषयसेवने एव भवति, सा सम्यक्त्वहीना सती परिणामे दु:खमेवोत्पादयति। सा रुचिर्विषयसेवनादपि क्वचिदपि न शाम्यति, अपितु, यथाऽग्निरिन्धनेन वर्द्धते एव, तथैव वर्धते। त्रैलोक्यस्य समस्तपदार्था अपि एकस्य जनस्य रुचिं शामयितुं न समर्था:। विषयसेवने या रुचिर्जायते, सा सुखरूपप्रयोजनं साधयितुमेव भवति, किन्तु तस्य फलं दु:खमेव प्राप्यते। एवं सा रुचि: स्वसुखप्रयोजनसिद्ध्यभावे निष्फलैव जायते।

उक्तं च आदिपुराणे (११/१७४)—

आपातमात्ररसिका विषया विषदारुणा:।
तदुद्भवं सुखं नृणां कण्डूकण्डूयनोपमम्।।

अन्यच्च, तत्रैव (३६/७६) **प्रोक्तम्—**

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिण:।
किम्पाकपाकविषमान् विषयान् क: कृती भजेत्।।

तात्पर्य यह है— सामान्य जीवों की रुचि तो विषय-सेवन में ही हुआ करती है, वह रुचि सम्यक्त्वहीन होती है, इसलिए परिणाम में दु:ख ही उत्पन्न कराती है। वह रुचि विषय-सेवन करने पर भी शान्त नहीं होती, अपितु, जैसे अग्नि ईंधन से बढ़ती ही है, वैसे ही बढ़ती है। तीनों लोक के समस्त पदार्थ भी एक व्यक्ति की रुचि को शान्त नहीं कर पाते हैं। विषय-सेवन में होने वाली जो रुचि होती है, वह सुख रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए होती है, किन्तु उससे दु:ख रूप फल ही प्राप्त होता है। इस तरह वह रुचि अपने सुख रूप प्रयोजन की सिद्धि न कर पाने के कारण निष्फल ही रहती है।

आदिपुराण (11/174) में कहा गया है— ''प्रारम्भ में अच्छे (सुखप्रद) मालूम होने वाले विषय विष के समान दारुण (भयंकर) होते हैं। इससे उत्पन्न होने वाला सुख ऐसा ही (सुखाभास) होता है, मनुष्यों को जैसे खाज खुजलाने में होता है।''

और, वहीं (36/76) कहा गया है— ''ये विषय प्रारम्भ में तो बहुत अच्छे, रसीले प्रतीत होते हैं, किन्तु अन्त में प्राणहारक 'किम्पाक फल' (विषफल) के समान विषम (विपरीतफलदायी) होते हैं, इन्हें कौन बुद्धिमान् सेवन करेगा?''

किन्तु सम्यक्त्वेन संयुक्ता रुचिस्तु स्वात्मद्रव्यं प्रति भवति, न तु परद्रव्येषु। सम्यक्त्वी अनात्मीयानि परद्रव्याणि मनुते, अतस्तस्य मिथ्यात्वमूलको 'ममेदम्' **इति मोहो नैव भवति। ततश्च स्वात्मतत्त्वस्य श्रद्धानं ज्ञानं तत्र स्थितिरूपचारित्रं च समनुष्ठाय जीवः शाश्वतसुखनिधानमोक्षं प्राप्तुं शक्नोति।**

द्वितीयो दृष्टान्तः प्रस्तूयते— (भत्ति विणा दाणं) **भक्त्या रहितं दानं निष्फलमेव भवति, तद्वत्। तथा तृतीयदृष्टान्तः प्रस्तूयते—** (दया विणा धम्मं) **दयां विना धर्मः निरर्थको निष्प्रयोजनो भवति— तद्वदेव, गुरुभक्तिहीनस्य सर्वमनुष्ठानं निष्फलं निरर्थकमेव भवति।**

अयम्भावः— धर्मस्तत्रैव, यत्र दया भवति। अतएव धर्मस्य मूलं 'दया' **भण्यते। मूलाभावे तरुरिव, दया-अभावे धर्मस्य सद्भावो न सम्भवति। उक्तं च आदिपुराणे** (५/२१, ५/९) **प्रोक्तमपि—**

दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः।।

किन्तु (इसके विपरीत) सम्यक्त्व से युक्त रुचि निज आत्म-द्रव्य के प्रति होती है, परद्रव्यों में नहीं। (क्योंकि) सम्यक्त्वी पर-पदार्थों को 'अनात्मीय' (आत्मा से भिन्न) मानता है, इसलिए उसे मिथ्यात्व-आधारित 'यह मेरा है' ऐसा मोह होता ही नहीं। फलस्वरूप वह (सम्यक्त्वी) जीव निज आत्मतत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र का अनुष्ठान कर शाश्वत सुख के आधार मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा रहा है— **(भक्तिं विना दानम्)** भक्ति से रहित दान निष्फल ही होता है, उसी तरह। और तीसरा दृष्टान्त प्रस्तुत है— **(दयां विना धर्मम्)** दया के बिना किया गया धर्म निरर्थक व निष्प्रयोजन हो जाता है, उसी तरह गुरु-भक्ति से रहित समस्त अनुष्ठान निष्फल या निरर्थक ही होता है।

तात्पर्य यह है— धर्म वहीं है, जहाँ दया है। इसीलिए दया को धर्म का मूल कहा जाता है। मूल के अभाव में वृक्ष नहीं रह पाता, वैसे ही दया के अभाव में धर्म का सद्भाव सम्भव नहीं हो पाता। आदिपुराण (5/21, 5/9) में कहा भी गया है—

''धर्म का मूल दया है और दया का अर्थ है— प्राणियों पर अनुकम्पा। बाकी के सभी गुण दया की रक्षा के लिए ही होते हैं।''

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।।

अनगारधर्मामृतग्रन्थे (४/६-८) **च निरूपितम्—**

यस्य जीवदया नास्ति, तस्य सच्चरितं कुतः।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्।।

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः।
व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः।।

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन्।।

एवमेव दानमपि भक्तिसहितमेव कृतं सत् सफलं भवति, नान्यथा। इदमपि ज्ञातव्यम्— भक्तिश्च दातुर्गुणः। उक्तं च वसुनन्दिश्रावकाचारग्रन्थे (गाथा-२२४)—

"यदि मन दया से ओतप्रोत है तो फिर व्यर्थ ही सिद्धि के लिए क्यों क्लेश उठाते हो? और यदि मन दया से रहित है तो भी व्यर्थ सिद्धि के लिए क्यों प्रयत्न करते हो?"

अनगारधर्मामृत ग्रन्थ (4/6-8) में भी निरूपित किया गया है—

"जिसके (मन में) प्राणियों पर दया नहीं है, उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि जीवों को मारने वाले की देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नहीं होती।"

"व्रतरहित भी दयालु पुरुष को देवगति सुलभ होती है और दया से रहित व्रती पुरुष को भी नरक गति सुलभ होती है।"

"निर्दय मनुष्य भले ही चिरकाल तक तपस्या कर ले, अनेक व्रत करे, दान दे, किन्तु उस तप, व्रत व दान के फल से वह दरिद्र ही रहता है, उसे उनका कुछ भी फल प्राप्त नहीं हो पाता। केवल एक दया को पालने वाला उसके फल से पुष्ट होता है।"

इसी तरह, दान भी भक्ति के साथ किया गया सफल होता है, अन्यथा नहीं। यह भी जानना चाहिए कि भक्ति दाता का गुण होता है। वसुनन्दिश्रावकाचार ग्रन्थ (गाथा-224) में कहा भी गया है—

सद्धा भत्ती तुट्ठी विण्णाणमलुद्धया खमा सत्ती।
जत्थेदे सत्त गुणा तं दायारं पसंसंति।।

दाता नवधाभक्तिपूर्वकं ददाति, तदैव तस्य दानस्य साफल्यं भवति। अन्यथा प्रतिग्रह-प्रभृतिदानविधौ आदराभावे तस्य दानस्य निष्फलत्वमेव बोद्धव्यम्— यतः सर्वाः क्रिया भावसहिता एव सफला भवन्ति। अतो यदि तत्र दाने भक्तिर्नास्ति, तदा तद् दानं निष्फलमेव।

उक्तं च कल्याणमन्दिरस्तोत्रे (श्लोक-३८)— यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।।

उक्तदृष्टान्तमाध्यमेन गुरुभक्ति-महत्त्वं शास्त्रकारेण प्रकटितमत्र। सम्यग्ज्ञानदातुर्गुरोर्भक्तिं ये न कुर्वते, तेषां निश्चितमेव जीवनमन्धकारपूर्णमेव। उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (६/१८-१९)—

गुरोरेव प्रसादेन लभ्यते ज्ञानलोचनम्।
समस्तं दृश्यते येन हस्तरेखेव निस्तुषम्।।

''श्रद्धा, भक्ति, तुष्टि, विज्ञान, अलुब्धता, क्षमा, शक्ति —ये सात गुण जहाँ होते हैं, उस दाता की लोग प्रशंसा करते हैं।''

जब दाता नवधा भक्ति के साथ दान करता है, तभी उसके दान की सफलता होती है। अन्यथा, पड़गाहन आदि दान-विधि में आदर न हो तो वह दान निष्फल ही है —ऐसा जानना चाहिए, क्योंकि सभी क्रियाएँ भाव-सहित ही सफल होती हैं। इसलिए यदि उस दान में भक्ति नहीं हो तो वह दान भी निष्फल ही होता है।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र (श्लोक-38) में कहा भी गया है— ''चूँकि क्रियाएँ भावशून्य हों तो प्रतिफलित नहीं होती।''

उपर्युक्त दृष्टान्त के माध्यम से शास्त्रकार ने गुरु-भक्ति के महत्त्व को यहाँ प्रकट किया है। सम्यग्ज्ञान के दाता गुरु की भक्ति जो नहीं करते, उनका जीवन तो निश्चित रूप से अन्धकारपूर्ण ही हो जाता है। पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (6/18-19) में कहा भी गया है—

''गुरु के प्रसाद से ज्ञान रूपी आँखें प्राप्त होती हैं। उस ज्ञान रूपी नेत्रों से समस्त पदार्थ हाथ की रेखा की तरह ही स्पष्ट हो जाते हैं।''

ये गुरुं नैव मन्यन्ते, तदुपास्तिं न कुर्वते।
अन्धकारो भवेत्तेषाम्, उदितेऽपि दिवाकरे।।

इत्येवं हे भव्य! गुरुभक्तिमहत्त्वं सम्यग् विज्ञाय त्वया गुरुभक्तिर्न कदाचिदपि त्याज्या, तदुपदिष्टमार्गोऽपि सश्रद्धेनाचरणीय इति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'पदिभत्तिविहीण सदी' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'सम्मत्त विणा रुई' **इत्यादिकां गाथां यावत् गाथाचतुष्टयात्मकः सप्तमोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरमुनीन्द्रविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां सप्तमोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति सप्तमोऽधिकारः।।

''जो गुरु की अवमानना करते हैं और उनकी उपासना नहीं करते, उनके लिए, भले ही सूर्य उदित हो, किन्तु अन्धकार ही अन्धकार रहता है।''

इस प्रकार, हे भव्य! गुरु-भक्ति के महत्त्व को अच्छी तरह जानकर, गुरु-भक्ति को कभी न छोड़ना और उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग का भी श्रद्धापूर्वक आचरण करना —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'पदिभत्तिविहीण सदी'** इत्यादि (गाथा-77) से लेकर **'सम्मत्त विणा रुई'** इत्यादि (गाथा-80) तक, चार गाथाओं वाला —यह सप्तम अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में सप्तम अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति सप्तमोऽधिकारः।।

।। अट्ठमो अहियारो ।।

(अष्टमोऽधिकारः)

इदानीमष्टमोऽधिकार आत्मज्ञानमहत्त्वप्रकटनपरः प्रारभ्यते। अस्मिन्नधिकारे 'हीणादाण-वियारविहीणादो' **इत्यादिकां** (सं. ८१) **गाथामादिं कृत्वा** 'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ९२) **यावत् द्वादशगाथाः सन्ति। तत्र प्रथमा** 'हीणादाण वियार विहीणादो' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८१) **वर्तते, या मोक्षमार्गे हेयोपादेयविवेकविज्ञानस्य महत्त्वं निर्दिशति। ततः पश्चात्** 'कायकिलेसुववासं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८२) **वर्तते, या निजशुद्धात्मरुचिः कर्मक्षयकारणमिति परामृशति। तदनन्तरं** 'कम्म ण खवेदि' **इत्यादिकायां गाथायां** (सं. ८३) **प्रतिपादितं यदात्मज्ञानशून्यस्य बाह्यलिङ्गं निरर्थकम्। तत्पश्चात्** 'अप्पाणं पि ण पेच्छदि' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८४) **वर्तते, यस्यां शुद्धात्मदर्शनादिरहितस्य जीवस्य बाह्यलिङ्गं निरर्थकमिति प्रतिपादितम्। ततश्च'** 'जाव ण जाणदि अप्पा' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८५) **वर्तते, या मुनिभिर्निजशुद्धात्मभावना करणीयेति प्रेरयति।**

।। अष्टम अधिकार ।।

अब, आठवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है जिसमें आत्मज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। इस अधिकार में **'हीणादाणवियारविहीणादो'** इत्यादि गाथा (सं. 81) से लेकर **'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि'** इत्यादि गाथा (सं. 92) तक बारह गाथाएँ हैं। उनमें **'हीणादाण-वियारविहीणादो'** इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 81) है, जो मोक्षमार्ग में हेय-उपादेय के विवेक ज्ञान की महत्ता को बताती है। उसके बाद, **'कायकिलेसुववासं'** इत्यादि गाथा (सं. 82) है, जो यह बताती है कि निज शुद्धात्मा में रुचि कर्मक्षय का कारण होती है। इसके अनन्तर, **'कम्म ण खवेदि'** इत्यादि गाथा (सं. 83) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि आत्मज्ञान से रहित जीव का बाह्यलिङ्ग निरर्थक है। इसके बाद, **'अप्पाणं पि ण पेच्छदि'** इत्यादि गाथा (सं. 84) है, जिसमें यह बताया गया है कि शुद्धात्मदर्शन आदि से रहित जीव का बाह्य लिङ्ग निरर्थक है। इसके बाद, **'जाव ण जाणदि अप्पा'** इत्यादि गाथा (सं. 85) है, जो यह प्रेरित करती है कि मुनियों को निजशुद्धात्मभावना करनी चाहिए।

ततः परं 'णिय तच्चुवलद्धि विणा' **इत्यादिकायां गाथायां** (सं. ८६) **निवेदितं यत् निजतत्त्वोपलब्धिं विना निश्चयसम्यक्त्वोत्पत्तिर्न भवतीति। ततश्च** 'सालविहीणो राओ' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८७) **वर्तते, यत्र प्रतिपादितं यत् निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन विना जीवो न शोभते इति। ततः परं** 'मक्खी सिलिम्मि पडिदो' **इत्यादिगाथा** (सं. ८८) **वर्तते, यत्र परिग्रहस्य दुःखमूलकारणत्वं प्रतिपादितम्। तदनन्तरं** 'णाणब्भासविहीणो सपरं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ८९) **वर्तते, या प्रज्ञापयति यत् परमार्थतो ज्ञानाभ्यासं विना न मोक्षलाभ इति। तत्पश्चात्** 'अज्झयणमेव झाणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९०) **वर्तते, यत्र पञ्चमकाले जिनागमाध्ययनस्य मुख्यकर्तव्यता प्रतिपादिता वर्तते। तत्पश्चात्** 'पावारम्भणिवित्ती' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९१) **वर्तते, यस्यां शास्त्रस्वाध्याय एव पञ्चमकालस्य धर्मध्यानमिति निरूपयति। ततश्च** 'सुदणाणब्भासं जो ण' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९२) **वर्तते, या प्रतिपादयति यत् श्रुतज्ञानेन विना सम्यक्तपो न भवतीति। एवमस्याधिकारस्य पातनिका निर्दिष्टा।**

सम्प्रति हेयोपादेयविवेकाभावादेव बाह्यविषयसुखे जीवस्यानुरक्तिर्भवति —इति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन निरूपयन्ति—

इसके बाद, **'णिय तच्चुवलद्धि विणा'** इत्यादि गाथा (सं. 86) है, जिसमें यह बताया गया है कि निजतत्त्व की उपलब्धि के बिना निश्चयसम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती। इसके आगे, **'सालविहीणो राओ'** इत्यादि गाथा (सं. 87) है, जहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के बिना जीव की शोभा नहीं है। इसके बाद, **'मक्खी सिलिम्मि पडिदो'** इत्यादि गाथा (सं. 88) है, जहाँ परिग्रह दुःख का मूल कारण है —यह प्रतिपादित किया गया है। इसके बाद, **'णाणब्भासविहीणो सपरं'** इत्यादि गाथा (सं. 89) है, जो यह बताती है कि परमार्थ में ज्ञानाभ्यास के बिना मोक्ष का लाभ नहीं होता। इसके अनन्तर, **'अज्झयणमेव झाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 90) है, जिसमें यह प्रतिपादित है कि पञ्चम काल में जिनागमों का अध्ययन मुख्य कर्तव्य है। इसके बाद, **'पावारम्भणिवित्ती'** इत्यादि गाथा (सं. 91) है, जो यह बताती है कि शास्त्र-स्वाध्याय ही पञ्चम काल का धर्मध्यान है। इसके आगे **'सुदणाणब्भासं जो ण'** इत्यादि गाथा (सं. 92) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि श्रुतज्ञान के बिना सम्यक् तप नहीं होता। इस प्रकार, इस अधिकार की पातनिका जाननी चाहिए।

अब, हेय या उपादेय के विवेक न होने से ही बाह्य विषयों के सुख में जीव अनुरक्ति रहती है— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द के माध्यम से बता रहे हैं—

हीणादाणवियारविहीणादो बाहिरक्खसोक्खं हि।
किं तजियं किं भजियं, किं मोक्खं ण दिट्ठं जिणुद्दिट्ठं।। ८१ ।।

छाया— हानादानविचारविहीनत्वात् बाह्याक्षसौख्यं हि।
किं त्याज्यं किं भाज्यं किं मोक्षो न दृष्टः, जिनोद्दिष्टम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (बाहिरक्खसोक्खं हि) **अक्षपदेन इन्द्रियाणि तद्विषयाश्च अभिधीयन्ते। बाह्यानि यानि अक्षाणि इन्द्रियविषयात्मकानि, तेषु तैर्वा सुखं प्राप्यते— इतिअज्ञानिनामनुभवः। तत एवाज्ञानिनः वारं वारमिन्द्रियविषयसेवने तत्परा भवन्ति। वस्तुतस्तत्सुखं सुखाभासमेव, परिणामे दुःखप्रदत्वात्।**

उक्तं च आदिपुराणे (११/१७५-१७६)—

दग्धव्रणे यथा सान्द्रचन्दनद्रवचर्चनम्।
किञ्चिदाश्वासजननं तथा विषयजं सुखम्।।

गाथा-अर्थ— चूँकि (अज्ञानी) जीव के हेय व उपादेय के विवेक का अभाव होता है, इसलिए (जीव) बाह्य पदार्थों में सुख मानता है। वह नहीं जानता कि क्या त्याज्य है, क्या सेवनीय है और मोक्ष क्या है —ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।।81।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(बाह्याक्षसौख्यं हि)** 'अक्ष' पद से इन्द्रियों और उनके विषय (पदार्थ) का भी कथन होता है। बाह्य जो अक्ष यानी इन्द्रिय-विषयभूत पदार्थ, उनमें या उनसे (प्राप्त होने वाला) सुख प्राप्त होता है —यह अनुभव अज्ञानियों का है। इसीलिए (वे) अज्ञानी बार-बार इन्द्रिय-विषयों के सेवन में तत्पर हो जाते हैं। वस्तुतः तो वह सुख सुखाभास (नकली सुख) ही होता है, क्योंकि परिणाम में वह दुःख ही देता है।

आदिपुराण (11/175-176) में कहा भी गया है—

''जैसे जले हुए फोड़े में सघन चन्दन के घोल का लेप कुछ शान्ति देता है, वैसे ही विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख थोड़ा आश्वासन (सांन्त्वना) ही देता है।''

दुष्टव्रणे यथा क्षार-शस्त्रपातादयुपक्रमः।
प्रतीकारो रुजां जन्तोः तथा विषयसेवनम्।।

अन्यच्च, तत्रैव (११/१८५) **भणितम्—**

आयासमात्रमत्राज्ञः सुखमित्यभिमन्यते।
विषयाशाविमूढात्मा श्वेवास्थि दशनैर्दशन्।।

यदि बाह्यविषयजं सुखं सुखाभासमस्ति, कथं तर्हि सामान्यजनानां विषयसेवने रतिर्भवति? समाधीयते— (हीणादाणवियारविहीणादो) **हानादानविचारविहीनत्वात्, कस्य हानं त्यजनमुचितम्, कस्य च आदानमुचितम्, इति विचारो विवेको यो भवति, तेन हीनत्वात्, बाह्यविषयसेवने सुखं भवतीति मन्यते।**

अयम्भावः— हानोपादेयविवेकः सम्यग्ज्ञानस्यैव फलम्। हेयोपादेयज्ञानेन ज्ञानी जनो हितकार्ये प्रवृत्तः अहितकार्यस्य च वर्जनं करोति। किन्तु हिताहितविवेकशून्यस्तु विषयसुखाभासमपि

''जैसे दोषयुक्त फोड़े में क्षार व शस्त्रपात (चीरफाड़) आदि द्वारा उपचार किया जाता है, वैसे ही विषयों का सेवन जीव के लिए रोगों का प्रतीकार मात्र होता है।''

और भी, वहीं (11/185) यह भी कहा गया है—

''विषयों की आशा से विमूढ़ यह मूर्ख आत्मा दाँतों से हड्डी को चबाते हुए कुत्ते की तरह परिश्रम मात्र को ही सुख मानता है।''

यदि बाह्य विषयों से होने वाला सुख सुखाभास है तो फिर सामान्य जनों की कैसे विषय-सेवन में रति होती है? इसका समाधान यह दिया जा रहा है— **(हानादानविचारविहीनत्वात्)** हान (त्याग) व आदान (उपादान, ग्रहण) के विचार से शून्य होने के कारण। किसका छोड़ना उचित है, किसका आदान (सेवन, ग्रहण) उचित, यह विचार यानी विवेक जो होता है, उससे (वे सामान्य जन) रहित हैं, इसलिए 'बाह्य विषयों के सेवन में सुख होता है' —ऐसा वे मानते हैं।

आशय यह है— हान-उपादान का विवेक होना सम्यग्ज्ञान का ही फल है। ज्ञानी व्यक्ति हेय-उपादेय के ज्ञान के कारण हितकारी कार्य में प्रवृत्त होता है और अहितकारी कार्य का त्याग

सुखं मनुते, परिणामे दुःखदं विषयसेवनमपि हितकारि मत्वा तत्र प्रवर्तते। ज्ञानी तु तद्विपरीतो भवति। अतएव हेयोपादेयविदेव सम्यग्दृष्टिर्भण्यते। प्रोक्तं चाचार्यकुन्दकुन्दस्वामिकृते सूत्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५)—

सुत्तत्थं जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी।।

वस्तुतः सम्यग्ज्ञानी हंस इव दुग्धजलयोर्विवेकमिव आत्मानात्मविवेकं कर्तुं समर्थो भवति। उक्तं च समयसारकलशे (सं. ५९-६०)—

ज्ञानाद् विवेचकतया तु परात्मनोर्यः,
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढः,
जानीत एव हि करोति न किंचनापि।।

करता है। किन्तु जो हित-अहित के विवेक से शून्य होता है, वह विषय-सुखाभास को भी सुख मानता है और परिणाम में दुःखदायी विषयसेवन को भी हितकारी मानकर उसमें प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत स्थिति ज्ञानी की होती है। इसीलिए हेयोपादेय के ज्ञाता को ही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा सूत्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-5) में कहा भी गया है—

''सूत्र (आगम) में जिनेन्द्र भगवान् ने जीव, अजीव आदि अनेक प्रकार के पदार्थों का निरूपण किया है, उनको जो हेय व उपादेय रूप से जानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।''

वास्तव में सम्यग्ज्ञानी हंस के समान ही दूध व पानी के विवेक की तरह आत्मा-अनात्मा का विवेक करने में समर्थ होता है। समयसारकलश (सं. 59-60) में कहा भी है—

''जो व्यक्ति ज्ञान (से और भेदज्ञान) से विवेचना करते हुए स्व एवं पर (आत्मेतर) के विशेष यानी भेद को जानता है, वह जिस प्रकार हंस दूध व जल को अलग-अलग कर ग्रहण करता है, उसी प्रकार अचल चैतन्य धातु को सर्वदा आश्रयण करता हुआ मात्र जानता ही है, और कुछ भी नहीं करता।''

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम्।।

एवं सम्यग्ज्ञानाभावात् जीवस्य हानोपादानविवेकस्याभावो यो जायते, तेन कारणेन 'बाह्यविषयेषु सुखं प्राप्यते' **इति मिथ्याज्ञानं भवति, ततश्च तत्र प्रवृत्तिरपि जायते। सम्यग्ज्ञाने सति तु आत्मतत्त्वमुपादेयम्, आत्मेतरपदार्थाः हेयाः, इति सुदृढा प्रतीतिर्भवति, एवं तस्य ज्ञानिनः परद्रव्येषु त्याज्यबुद्धिरेव भवति।**

उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-३५)—

जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावा णाऊण मुंचदे णाणी।।

"जैसे अग्नि व जल की उष्णता व शीतलता की जो व्यवस्था है, वह ज्ञान से ही जानी जाती है। लवण व व्यञ्जन के स्वाद का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है। उसी प्रकार अपने रस से विकासमान नित्य चैतन्य धातु, तथा क्रोधादि भाव —इन दोनों का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है। यह भेदज्ञान कर्तृत्व भाव का भेदन (विनाश) करता हुआ प्रकट होता है (अर्थात् इस भेदज्ञान से कर्तृत्व भाव समाप्त हो जाता है, मात्र ज्ञाता भाव रहता है)।

इस प्रकार, सम्यग्ज्ञान के अभाव में जीव को हान-उपादान सम्बन्धी विवेक का अभाव जो हो जाता है, उस कारण से 'बाह्य विषयों में सुख मिलता है' —ऐसा मिथ्याज्ञान उसे हो जाता है, जिससे वहाँ उसकी प्रवृत्ति भी हो जाती है। किन्तु सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मतत्त्व ही उपादेय है, आत्मा से भिन्न पदार्थ हेय हैं—ऐसी सुदृढ़ प्रतीति हो जाती है, इस तरह उस ज्ञानी की परद्रव्यों में त्याज्य बुद्धि ही हो जाती है।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-35) में कहा भी गया है—

"जैसे लोक-व्यवहार में कोई व्यक्ति 'यह पर द्रव्य है' ऐसा जान कर उसे त्याग देता है, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति समस्त पर-भावों को 'ये परभाव हैं' ऐसा जानकर उन्हें छोड़ देता है।"

इन्द्रियाणां विषयेषु या प्रवृत्तिः, सा सम्यग्ज्ञानेन निरुद्ध्यते एव। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (७/१४)—

बोध एव दृढः पाशः, हृषीकमृगबन्धने।
गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे।।

एवं बाह्यविषयसेवनेन सुखं मन्वाना आत्मानात्मविवेकशून्या भवन्ति। तेषां का स्थितिः —इति प्रकारान्तरेण शास्त्रकारा निरूपयन्ति— (किं तजियं किं भजियं किं मोक्खं न दिट्ठं) **किं त्याज्यम्, किंच सेवनीयम्, कश्च मोक्षः, इति न तैः दृष्टं सम्यग् विज्ञातं भवति। तत्त्वज्ञानशून्यत्वात् अकार्यं कुर्वन्ति, कर्तव्यं परित्यजन्ति, तेन च तेषां दुर्गतिपरम्पैरव प्रवर्तते —इत्याशयः। सम्यग्ज्ञानी एतद्विपरीतः, ज्ञातृभावेन मध्यस्थभावेन वा विषयेषु प्रवृत्तोऽपि न कर्मभिर्बद्ध्यते, प्रत्युत शाश्वतसुखधाममोक्षमपि स प्राप्नोति।**

उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (७/२१)—

इन्द्रियों की विषयों में जो प्रवृत्ति होती है, वह भी सम्यग्ज्ञान के कारण रुक जाती है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (7/14) में कहा भी गया है—

''इन्द्रियों रूपी हरिणों को बांधने के लिए मात्र ज्ञान ही एक दृढ़ पाश है और यही मन रूपी सर्प को वश में करने के लिए गारुड़ नाम का महामन्त्र है।''

इस प्रकार, बाह्य विषयों के सेवन से सुख मानने वाले लोग आत्मा व अनात्मा के विवेक (भेदविज्ञान) से शून्य होते हैं। उनकी स्थिति क्या होती है —इसे प्रकारान्तर से शास्त्रकार (यहाँ) बता रहे हैं— **(किं त्याज्यं, किं भाज्यं किं मोक्षो न दृष्टः)** क्या त्याज्य है, क्या सेवन-योग्य है, मोक्ष क्या है— इसे उन्होंने देखा नहीं होता अर्थात् उन्हें उसका सम्यक्तया ज्ञान नहीं होता। तत्त्वज्ञान से शून्य होने के कारण वे अकार्य करते हैं, कर्तव्य का त्याग करते हैं, फलस्वरूप उनकी दुर्गति की एक परम्परा ही चालू हो जाती है —यह आशय है। इससे विपरीत सम्यग्ज्ञानी, ज्ञाता-भाव या मध्यस्थ भाव से विषयों में प्रवृत्त होता हुआ भी कर्मों से बंधता नहीं, अपितु शाश्वत सुखधाम रूप मोक्ष को भी प्राप्त करता है।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (7/21) में कहा भी गया है—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन् पथि तत्रैव पण्डितः।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम्।।

आत्मानुशासने (श्लोक-१८०) **च निर्दिष्टम्—**

रागद्वेषकृताभ्यां जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यप्रवृत्तिभ्याम्।
तत्त्वज्ञानकृताभ्यां ताभ्यामेवेक्ष्यते मोक्षः।।

एवं हानोपादानविवेकः परमावश्यको मुमुक्षूणां कृते —इति शास्त्रकारेणात्र सूचितम्। (जिणुद्दिट्ठं) **इति सर्वं जिनेन सर्वज्ञतीर्थंकरेण प्रतिपादितं, न च स्वमनीषया निरूपितमिति प्रोक्तकथनस्य प्रामाणिकताऽपि सूच्यते।**

इत्येवं सम्यग् विज्ञाय तत्त्वातत्त्वविवेकप्रदायिनः सम्यग्ज्ञानस्य हे भव्य! त्वया आराधना कर्तव्येति गाथायास्तात्पर्यम्।

''जिस मार्ग से मूर्ख चलता है, विद्वान् भी उसी रास्ते से चलता है, दोनों का रास्ता एक ही है, तो भी मूर्ख अपने आपको कर्मों से बांध लेता है, किन्तु विद्वान्-ज्ञानी उससे मुक्त हो जाता है।''

आत्मानुशासन (श्लोक-180) में भी बताया गया है—

''राग व द्वेष के द्वारा होनेवाली जो (अशुभ में) प्रवृत्ति या (शुभ से) निवृत्ति है, उनसे जीव के बन्ध होता है और तत्त्वज्ञान से होने वाली (शुभ में) प्रवृत्ति या (अशुभ से) निवृत्ति से मोक्ष होता है।''

इस प्रकार मुमुक्षु जनों के लिए हान-उपादान (हेय-उपादेय) सम्बन्धी विवेक होना परमावश्यक होता है —यह शास्त्रकार द्वारा यहाँ सूचित किया गया है। **(जिनोद्दिष्टम्)** यह सब जिन यानी सर्वज्ञ तीर्थंकर ने प्रतिपादन किया है, अपनी बुद्धि से इसे (गढ़कर) नहीं बताया गया है, इसलिए इस पूर्व कथन की प्रामाणिकता को भी यहाँ सूचित किया गया है।

इस तरह, हे भव्य! सम्यक्तया जानकर, तत्त्व-अतत्त्व का विवेक प्रदान करने वाले सम्यग्ज्ञान की तुम्हें आराधना करनी चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

निजशुद्धात्मरुचिरेव कर्मक्षयस्य साधनभूतेति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन निरूपयन्ति—

कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाण।
तं णियसुद्धप्परुई-परिपुण्णं चेदि कम्म णिम्मूलं।। ८२ ।।

छाया— कायक्लेशोपवासं दुर्द्धरतपश्चरणकारणं जानीहि।
तत् निजशुद्धात्मरुचिपरिपूर्णं च इति कर्म निर्मूलम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (कायकिलेसुववासं दुद्धरतवयरणकारणं जाण) **कायक्लेशः, उपवासश्च —इत्येतान् दुर्धरतपश्चरणस्य कारणं जानीहि। यः कायक्लेशं करोति, उपवासं च करोति, स** 'अयं घोरतपस्वी' **इति तु लोके प्रसिद्ध्यति, किन्तु कर्मक्षयं कर्तुं न प्रभवति—इत्याशयः। मुमुक्षोः कायक्लेश उपवासादिकं सम्यक्त्वाभावे न कर्मक्षयकारणं भवति, केवलं घोरतपश्चरण-प्रख्यापने तत्सर्वं कारणं सम्भवति —इत्याद्यर्थः प्रकरणसामर्थ्यात्।**

निजशुद्धात्मा में रुचि ही कर्मक्षय की साधन है— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द के माध्यम से बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— कायक्लेश व उपवास —ये दुर्द्धर (घोर) तपश्चरण के कारण हैं। और निज शुद्धात्मा के प्रति रुचि से परिपूर्ण (युक्त व्यक्ति का) कर्म निर्मूल (नष्ट) हो जाता है —यह जानो।।82।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(कायक्लेशोपवासं दुर्द्धरतपश्चरणकारणं जानीहि)** कायक्लेश व उपवास —इन्हें दुर्धर तपस्या का कारण जानो। जो कायक्लेश करता है, उपवास भी करता है, वह 'यह घोर तपस्वी है' इस प्रकार लोक में प्रसिद्धि प्राप्त करता है, किन्तु कर्म-क्षय नहीं कर पाता —यह आशय है। मुमुक्षु द्वारा किये गये कायक्लेश व उपवास आदि, सम्यक्त्व के अभाव में कर्मक्षय के कारण नहीं होते, मात्र घोर तपस्या की प्रसिद्धि में (ही) वे सब कारण सम्भव होते हैं—इत्यादि अर्थ यहाँ प्रकरण-सामर्थ्य से ज्ञात होता है।

तत्र, कायं क्लिश्नाति, कायकृते क्लेशदायकं, पीडकं वा यो भवति, स कायक्लेशः। मोक्षमार्गदृष्ट्या कायसुखाभिलाषात्याग एव कायक्लेशः। आतपस्थानम्, वृक्षमूलनिवासः, निरावरणशयनम्, बहुविधप्रतिमास्थानमित्यादिकाः अनेके कायक्लेशाः —इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (६९/१९) **संकेतितम्। कायक्लेशो बाह्यतपोरूप एव, यो ध्यानादिसिद्ध्यै, सुखासक्तिक्षयाय, तितिक्षासंवर्धनाय विधीयते।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/१९)— ''तत् किमर्थम्? देहदुःखतितिक्षासुखानभिष्वङ्ग-प्रवचनप्रभावनाद्यर्थम्।''

धवलाग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २६, पृ. ५८) **च निर्दिष्टम्—** ''किमट्ठमेसो कीरदे? सीदवादादवेहि बहुदोववासेहि तिसाछुआदिबाहाहि विसंठुलासणेहि य ज्झाणपरिचयट्ठं अभाविय-सीदबाहादिउववासादिबाहस्स मारणंतियअसादेण ओत्थअस्स ज्झाणाणुववत्तीदो।''

यहाँ, जो काय को क्लिष्ट करता है, काय के लिए क्लेश का दायक या पीड़ादायी होता है, वह कायक्लेश होता है। मोक्षमार्ग की दृष्टि से शारीरिक सुख की अभिलाषा का त्याग ही कायक्लेश होता है। आतापन योग, वृक्ष के मूल में निवास, निरावरण शयन और नाना प्रकार के प्रतिमास्थान इत्यादि अनेक कायक्लेश होते हैं —ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (69/19) में कहा गया है। कायक्लेश बाह्य तप रूप ही है, जो ध्यान आदि की सिद्धि के लिए तथा सुख के प्रति आसक्ति को क्षीण करने के लिए एवं सहनशीलता को बढ़ाने के लिए किया जाता है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/19) में कहा भी गया है— ''वह किस लिए किया जाता है? यह देह-दुःख को सहन करने के लिए, सुख-विषयक आसक्ति को कम करने के लिए और प्रवचन की प्रभावना करने के लिए किया जाता है।''

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26, पृ. 58) में भी कहा गया है— ''इसे क्यों किया जाता है? शीत, वात और आतप (धूप) के द्वारा, अनेक उपवासों द्वारा, तृषा, क्षुधा आदि बाधाओं द्वारा और व्याकुल करने वाले आसनों द्वारा ध्यान का अभ्यास करने के लिए किया जाता है, क्योंकि जिसने शीतबाधा आदि और उपवास आदि की बाधा का अभ्यास नहीं किया है, और जो मारणान्तिक असाता से खिन्न हुआ है, उसके ध्यान नहीं बन सकता।''

कायक्लेशस्वरूपलक्षणादिप्रतिपादकानि कानिचित् शास्त्रीयवाक्यानि प्रस्तूयन्ते। यथा मूलाचारग्रन्थे (गाथा-३५६) **प्रोक्तम्—**

ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गहेहिं बहुएहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो।।

धवलाग्रन्थे च (पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २६ पृ. ५८) **निर्दिष्टम्—** "रुक्खमूलब्भोका-सादावणजोग-पलियंक-कुक्कुटासण-गोदोहद्धपलियंक-वीरासण-मदयसयण-मयरमुह-हत्थिसोंडादीहि जं जीवदमणं सो कायकिलेसो।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे च (गाथा-४५०) **प्रत्यपादि—**

दुस्सहउवसग्गजयी आतावणसीयवायखिण्णो वि।
जो ण वि खेयं गच्छदि कायकिलेसो हवे तस्स।।

कायक्लेश के स्वरूप व लक्षणादि के प्रतिपादक कुछ शास्त्रीय वाक्य यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। जैसे— मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-356) में कहा गया है—

"खड़ा रहना, एक करवट से मृत (निश्चेष्ट) की तरह सोना (लेटे रहना), वीरासन आदि से बैठना इत्यादि अनेक तरह के कारणों से शास्त्रानुरूप आतापन आदि योगों के द्वारा शरीर को क्लेश देना 'कायक्लेश' तप होता है।"

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26, पृ. 58) में इस प्रकार कहा गया है— "वृक्ष के मूल में निवास, खुले प्रदेश में आकाश के नीचे आतापन योग, पल्यंकासन, कुक्कुटासन, गोदोहासन, अर्धपल्यंकासन, वीरासन, मृतक की तरह शयन (मृतकासन) तथा मकरमुख व हस्तिशुंड आदि आसनों द्वारा जीव का जो दमन किया जाता है, वह कायक्लेश तप होता है।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-450) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"दुःसह उपसर्ग को जीतने वाला जो मुनि आतापन, शीत, वात आदि से पीड़ित होने पर भी खेद को प्राप्त नहीं होता, उस मुनि के कायक्लेश नाम का तप होता है।"

वसुनन्दिश्रावकाचारग्रन्थे (गाथा-३५१) **च भणितम्—**

आयंबिल णिव्वियडी एयट्ठाणं छट्ठमाइखवणेहिं।
जं तणुतावं कायकिलिसो मुणेयव्वो।।

अनगारधर्मामृतग्रन्थे (७/३२) **तस्य प्रमुखतः षड् भेदाः संकेतिताः—**

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः ।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः,
कायक्लेशमिदं तपोर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत्।।

अस्मिन् श्लोके अयनाद्युपायाधारितकायक्लेशानां निर्देशः कृतः, तेषु प्रत्येकस्य स्वरूपादीनां पृथक् पृथक् निरूपणं भगवतीआराधनाग्रन्थे (गाथा २२४-२२९) **विस्तरेण कृतम्, विस्तारभयान्न लिख्यते।**

वसुनन्दिश्रावकाचार ग्रन्थ (गाथा-351) में कहा गया है— ''आचाम्ल (आयम्बिल), निर्विकृति, एकस्थान, चतुर्भक्त (उपवास), षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला) आदि के द्वारा जो शरीर को कृश किया जाता है, उसे कायक्लेश जानना चाहिए।''

अनगारधर्मामृत ग्रन्थ (7/32) में उसके प्रमुखतया छः भेदों को इस प्रकार बताया गया है— अयन— ''सूर्य सिर पर हो या मुँह के सामने हो, तब अन्यत्र जाना व लौटना, शयन मृतक के समान या दण्ड के समान आदि रूपों में लेटना, आसन— वीरासन आदि आसन लगाना, स्थान— एक पैर आगे करके या दोनों पैरों को बराबर करके खड़े रहना अवग्रह— न थूकना, न खुजाना आदि, धर्मोपकारक अवग्रह पालना, योग— आतापन आदि योग करना, इत्यादि के द्वारा तपस्वी साधु जो शरीर को कष्ट देता है, उक्त प्रकार से अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह व योग द्वारा शरीर को कष्ट दिया जाता है, उसे कायक्लेश तप कहते हैं। इस कायक्लेश को दुःख आ पड़ने पर समीचीन ध्यान की सिद्धि के लिए करना चाहिए।''

इस श्लोक में अयन आदि उपायों पर आधारित जिन कायक्लेशों का निर्देश है, उनमें प्रत्येक के स्वरूपादि का अलग-अलग निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 224-229) में विस्तार से किया गया है, उन्हें विस्तार-भय से नहीं लिखा जा रहा है।

उपवासश्च चतुराहारविसर्जनम्। प्रायोऽयमुपवासः षण्मासपर्यन्तमेव कर्तुं शक्यते, तदनन्तरं संक्लेशभावोत्पादात्। निरुपक्रमायुष्काणां संक्लेशरहितानां तपोबलजनितवीर्यान्तरायक्षयोपशमेन षण्मासाधिकोऽपि उपवासकालः सम्भवतीति धवलाग्रन्थे (पु. ९, खण्ड-४, भाग-१, सू. २२) **निर्दिष्टम्।**

उपवासप्रयोजनादिकं पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे (श्लोक-१५१) **प्रोक्तम्—**

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः।।

इदानीं गाथाया उत्तरार्द्धं व्याख्यायते— (तं णियसुद्धप्परुईपरिपुण्णं कम्म णिम्मूलं चेदि) **निजे शुद्धात्मनि या रुचिः, श्रद्धा, प्रतीतिः, प्रत्ययः, दर्शनं वा भवति, तया परिपूर्णं यत् कर्म, यद्वा तद्रुचिपूर्णस्य जीवस्य यत्कर्म, तत् निर्मूलं जायते, इति च जानीहि। यस्य जीवस्य निजशुद्धात्म-रुचिरस्ति, तस्यैव कर्म निर्मूलं जायते, न तु घोरतपश्चरणानुष्ठातुः तादृशरुचिरहितस्य —इत्याशयः।**

चारों प्रकार (खाद्य, पेय, स्वाद्य व लेह्य) के आहार का त्याग करना उपवास होता है। यह उपवास प्रायः छः मास तक ही किया जा सकता है, क्योंकि उस अवधि के बाद संक्लेश भावों की उत्पत्ति हो जाती है। (हाँ), निरुपक्रमायुष्क (अघातायुष्क) एवं संक्लेशरहित साधकों के तपोबल से जनित वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से छः मास से अधिक भी उपवास-काल सम्भव होता है —ऐसा धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 22) में निर्देश किया गया है।

उपवास के प्रयोजन आदि का कथन पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक-151) में इस प्रकार किया गया है—

"प्रतिदिन अंगीकार किये हुए सामायिक संस्कार को स्थिर करने के लिए पक्षों के दोनों अर्ध भागों— अष्टमी व चतुर्दशी के दिन उपवास अवश्य ही करना चाहिए।"

अब गाथा के उत्तरार्द्ध का व्याख्यान किया जा रहा है— **(तत् निजशुद्धात्मरुचिपरिपूर्णं कर्म निर्मूलं च इति)** निज शुद्धात्मा में जो रुचि, श्रद्धा, प्रतीति, प्रत्यय या दर्शन होता है, उससे परिपूर्ण जो कर्म होता है या उस रुचि आदि से पूर्ण जीव का जो कर्म है, वह निर्मूल हो जाता है, यह भी जानो। जिस जीव को निज शुद्धात्मा में रुचि होती है, उसके कर्म निर्मूल होते हैं, किन्तु घोर तपश्चरण करने वाले और उक्त रुचि से रहित जीव का कर्म निर्मूल नहीं होता —यह आशय है।

निजशुद्धात्मैव उपादेयः इति रुचिरूपं यद्वा निजपरमात्मनि रुचिरूपं, तदेव निश्चयसम्यक्त्वं भवति। निश्चयसम्यक्त्व युक्तस्यैव अर्थात् निश्चयसम्यक्त्ववीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्व-युक्तस्यैव तपश्चरणं कर्मणां निर्मूलनाशक्षमं भवति, नान्यथा —इति गाथाया सारः।

अत्र तात्पर्यार्थो विव्रियते— निजशुद्धात्मरुचिरूपसम्यक्त्वेन कर्मक्षय इति गाथायामत्र प्रतिपादितम्। शुद्धात्मरुचिः परद्रव्येभ्यो निवर्त्य निजपरमात्मनि स्थिरतां सम्यक्चारित्रं वा साधयति। तेन च शुद्धात्मस्वरूपावाप्तिः सम्भवति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-९५)—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते।।

तत्र चित्तलयाद् ध्यानसिद्धिः, ततश्च शुद्धात्मप्राप्तिः। उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-१८९)—

निजशुद्धात्मा ही उपादेय है— ऐसी रुचि रूप या निज परमात्मा में रुचि रूप ही 'निश्चयसम्यक्त्व' होता है। निश्चयसम्यक्त्व से युक्त, या निश्चय सम्यक्त्व रूप वीतराग चारित्र से अविनाभूत 'वीतरागसम्यक्त्व' से युक्त जो जीव होता है, उसका तपश्चरण कर्मों को निर्मूल नष्ट करने में समर्थ होता है, अन्यथा नहीं —यह गाथा का सार है।

यहाँ तात्पर्य रूप अर्थ को स्पष्ट कर रहे हैं— निज शुद्धात्मा में रुचि रूप सम्यक्त्व से कर्म का क्षय होता है —यह इस गाथा में प्रतिपादित किया गया है। शुद्धात्मा में होने वाली रुचि पर-द्रव्यों से हटाकर निज परमात्मा में स्थिरता या सम्यक्चारित्र की सिद्धि करती है। उससे शुद्धात्म-स्वरूप की उपलब्धि सम्भव होती है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-95) में कहा भी गया है—

''जिस किसी विषय में पुरुष की बुद्धि टिकती है, वहीं उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। और जिस विषय में पुरुष की श्रद्धा पैदा होती है, उस विषय में ही उसका मन लीन (ध्यानस्थ) हो जाता है।''

वहाँ (शुद्ध आत्मा में) चित्त लीन होने से ध्यान की सिद्धि (दृढ़ स्थिति) होती है, जिससे शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-189) में कहा गया है—

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मविमुक्कं।।

'शुद्धात्मरुचिः' **इत्यत्र शुद्धपदेनाशुद्धकर्मबद्धात्मनिरासः क्रियते। अशुद्धात्मरुचिर्न कार्यसाधिकेति शुद्धपदं सूचयति। समयसारग्रन्थे** (गाथा-१८६) **च तथ्यमिदं दृढीकृतम्—**

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।।

शुद्धात्मोपलब्धिरेव सिद्धिर्यद्वा मोक्षः —इति सिद्धभक्तौ (श्लोक-१) **पूज्यपादाचार्याः प्राहुः—** 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणाच्छादिदोषापहारात्।'

एवं हे भव्य! निजशुद्धात्मरुचिरूपसम्यक्त्वं दृढतया धारयेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''वह जीव दर्शन-ज्ञानमय होकर, अन्यमय न होकर, आत्मा का ध्यान करता है तो थोड़े समय में ही कर्मों से रहित (शुद्ध) आत्मा को प्राप्त करता है।''

'शुद्ध आत्मा में रुचि' इस (समस्त) पद में 'शुद्ध' पद से अशुद्ध कर्मबद्ध आत्मा का निराकरण किया गया है। अशुद्ध आत्मा में रुचि कार्यकारी (मोक्षरूपी कार्य की साधिका) नहीं होती —यह शुद्ध पद सूचित कर रहा है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-186) में इसी तथ्य को दृढ़ करते हुए कहा गया है—

''शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।''

शुद्धात्मा की उपलब्धि ही सिद्धि या मोक्ष है —यह सिद्धभक्ति में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है— ''प्रकृष्ट गुणों को आच्छादित करने वाले दोषों के नष्ट होने से निज (शुद्ध) आत्मा की उपलब्धि ही 'सिद्धि' (मोक्ष) है।''

इस प्रकार हे भव्य! निजशुद्धात्म-रुचि रूप सम्यक्त्व को दृढ़ता से धारण करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

आत्मज्ञानशून्यस्य न कर्मक्षयः, द्रव्यलिङ्गधारणमपि तस्य निरर्थकमिति शास्त्रकाराः गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

कम्म ण खवेदि परबह्म ण जाणदि सम्म-उम्मुक्को।
अत्थ ण तत्थ ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करेदि।। ८३।।

छाया— कर्म न क्षपयति, परब्रह्म न जानाति सम्यक्त्व-उन्मुक्तः।
अत्र न तत्र न जीवः, लिङ्गं गृहीत्वा किं करोति?

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सम्म-उम्मुक्को परबह्म ण जाणदि कम्म ण खवेदि, जीवो ण अत्थ ण तत्थ, लिंगं घेत्तूण किं करेदि —इति गाथान्वयः।

(कम्म ण खवेदि) **कर्म न क्षपयति, कर्मक्षयं कर्तुं समर्थो न भवति। कः? उच्यते—** (सम्म-उम्मुक्को) **यः सम्यक्त्व-उन्मुक्तः, सम्यक्त्वरहितः, मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः। तथा चात एव** (परबह्म ण जाणदि) **परब्रह्म परमात्मानं न जानाति, आत्मतत्त्वानभिज्ञः, आत्मानात्मभेदविज्ञानरहित इत्यर्थः।**

आत्मज्ञान से रहित (जीव) का कर्म-क्षय नहीं होता और उसके द्वारा धारण किया गया द्रव्यलिङ्ग भी निरर्थक होता है— इसे गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो सम्यग्दर्शन से रहित है और परब्रह्म (परमात्मा) को नहीं जानता, वह कर्म का क्षय नहीं करता। वह न यहाँ का है और न वहाँ का (उसका यह लोक भी बिगड़ा और परलोक भी)। वह (द्रव्य) लिङ्ग को धारण करके (भी) क्या करेगा?।।83।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सम्यक्त्व-उन्मुक्तः परब्रह्म न जानाति, कर्म न क्षपयति, जीवः अत्र न, तत्र न, लिङ्गं गृहीत्वा किं करोति —यह गाथा का अन्वय है।

(कर्म न क्षपयति) कर्म-क्षय नहीं करता, कर्मक्षय करने में समर्थ नहीं हो पाता। कौन? बता रहे हैं— **(सम्यक्त्व-उन्मुक्तः)** जो सम्यक्त्व से उन्मुक्त यानी सम्यक्त्व से रहित होता है, अर्थात् मिथ्यादृष्टि होता है। और इसीलिए **(परब्रह्म न जानाति)** परब्रह्म यानी परमात्मा को नहीं जानता, वह आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ होता है, अर्थात् आत्मा व अनात्मा के भेद-विज्ञान से रहित होता है।

अत्र ब्रह्मपदमात्मपदार्थाभिधायकः। 'जीवो बंभा' **इति भगवतीआराधनाग्रन्थे** (गाथा-८७२) 'आत्मा ब्रह्म' **इति च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे** (१२/२) **उक्तमपि।**

आत्मज्ञानरहितो मिथ्यादृष्टिरेव भवति, अतः 'सम्यक्त्व-उन्मुक्तः' **इति तद्विशेषणं यथार्थस्वरूपसूचकमेव। उक्तं च समयसारग्रन्थे** (गाथा-२०२)—

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।

आत्मज्ञानी कर्मक्षयं विधाय मुक्तो भवति, किन्तु आत्मज्ञानरहितो देहादिषु अनात्मपदार्थेषु आत्मबुद्धिं कुरुते, विषयभोगेष्वपि रुचिं करोति, अतः कदाचिदपि न मुक्तो भवतीत्यनयोरन्तरम्। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-९४)—

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते।।

यहाँ ब्रह्म पद आत्मपदार्थ का वाचक है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-872) में 'जीव ब्रह्मा' और पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (12/2) में 'आत्मा ब्रह्म' इस रूप में कहा भी गया है।

आत्मज्ञानरहित मिथ्यादृष्टि ही होता है, इसलिए 'सम्यक्त्व-उन्मुक्त यह यहाँ विशेषण यथार्थस्वरूप का सूचक ही है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-202) में कहा भी गया है—

''जो आत्मा को नहीं जानता, आत्मा से भिन्न पदार्थ को भी नहीं जानता और जीव व अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?''

आत्मज्ञानी कर्मों का क्षय कर मुक्त हो जाता है, किन्तु आत्मज्ञान से रहित व्यक्ति देह आदि अनात्म-पदार्थों में आत्म-बुद्धि रखता है और विषय-भोगों में रुचि रखता है, इसलिए कभी मुक्त नहीं होता —यही इन (ज्ञानी व अज्ञानी) में अन्तर है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-94) में कहा भी गया है—

''जो देह में आत्म-बुद्धि रखता है, वह भले ही समस्त शास्त्रों को पढ़ ले, जागृत होता हुआ भी मुक्त नहीं होता। किन्तु आत्मज्ञानी सोया हो या उन्मत्त भी हो तो भी मुक्त हो जाता है।''

अन्यच्च, तत्रैव (श्लोक ४१-४२)—

आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात् प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः।।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्।।

वस्तुत आत्मज्ञानमेव शास्त्रज्ञानं वैदुष्यं वा ज्ञेयम्। आत्मज्ञानाभावे शास्त्रज्ञोऽपि तपश्चरणादिकं यत्करोति तत्सर्वं बालचारित्रमेव। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४६६)—

जो णवि जाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो णवि जाणदि सत्थं आगमपाठं कुणंतो वि।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थेऽपि (गाथा-१००) **भणितम्—**

और भी, वहीं (श्लोक 41-42) बताया गया है—

"(देहादि पदार्थों में) आत्म-भ्रान्ति से होने वाला दुःख आत्म-ज्ञान (भेदविज्ञान) से शान्त (नष्ट) हो जाता है। इस (आत्मज्ञान) में जो प्रयत्नशील नहीं होते, वे भले ही परम तप कर लें, निर्वाण को प्राप्त नहीं करते।"

"शरीर में आत्मबुद्धि वाला (तप द्वारा) सुन्दर शरीर व उत्तम विषय-भोगों की चाह रखता है, किन्तु तत्त्वज्ञानी उनसे छूटना चाहता है।"

वस्तुतः आत्मज्ञान को ही शास्त्र-ज्ञान या विद्वत्ता समझना चाहिए। आत्मज्ञान के अभाव में शास्त्रज्ञाता भी जो तप आदि करता है, वह सब बालचारित्र ही है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-466) में भी कहा गया है—

"जो शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता, वह भले ही आगमों को पढ़ ले, किन्तु शास्त्रों को नहीं जानता है (शास्त्रज्ञ नहीं है)।"

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-100) में कहा भी गया है—

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चारित्ते।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं।।

अतएव समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५०) **परामृष्टम्—**

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद् वाक्कायाभ्यामतत्परः।।

किं स आत्मतत्त्वानभिज्ञो निर्ग्रन्थमुद्रां धृत्वा कर्मक्षयं कर्तुं समर्थः ? समाधीयते— (जीवो लिंगं घेत्तूण किं करेदि ?) **स मिथ्यादृष्टिरात्मज्ञानरहितो जीवः निर्ग्रन्थलिङ्गं धृत्वा किं करोति ? अर्थात् किं करिष्यति ? किमपि न कर्तुं समर्थः, मोक्षरूपप्रयोजनसिद्ध्यै तस्य निर्ग्रन्थलिङ्गधारणमपि न कस्मैचित्प्रयोजनाय समर्थं भवतीत्याशयः। तथा च** (अत्थ ण तत्थ ण) **स मिथ्यादृष्टिरज्ञानी वा अत्रापि न सफलः, तत्रापि न सफलः।**

''यदि वह अनेक श्रुत (शास्त्रों) को पढ़ता भी है और अनेक प्रकार के चारित्र को पालता भी है, तो आत्मस्वरूप से विपरीतवृत्ति होने से वह बालश्रुत व बालचारित्र ही कहलाता है।''

इसीलिए समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-50) में यह परामर्श दिया गया है—

''चिरकाल तक आत्मज्ञान को छोड़कर किसी दूसरे काम को अपनी बुद्धि में न रखे और यदि प्रयोजनवश कुछ (भोजनादि) करना ही पड़े तो वाणी व शरीर से अतत्पर (अनासक्त) होकर करे।''

आत्मतत्त्व से अनभिज्ञ वह जीव क्या निर्ग्रन्थ-मुद्रा धारण कर कर्मक्षय करने में समर्थ होता है ? उत्तर दे रहे हैं— **(जीवः लिङ्गं गृहीत्वा किं करोति ?)** वह मिथ्यादृष्टि व आत्मज्ञानरहित जीव निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करके भी क्या करता है ? अर्थात् क्या कर लेगा ? कुछ भी नहीं कर पाने में समर्थ होगा। मोक्ष रूपी प्रयोजन की सिद्धि की दृष्टि से उसका निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करना भी किसी प्रयोजन (की सिद्धि) हेतु समर्थ नहीं होता —यह आशय है। और, **(अत्र न तत्र न)** वह मिथ्यादृष्टि या अज्ञानी यहाँ भी सफल नहीं है और वहाँ भी सफल नहीं है।

सागारस्थितौ अनगारस्थितावपि स कर्मबन्धनमेव करिष्यति, उभयोरवस्थयोरेव न कर्मक्षयस्तस्य। अथवा इहलोकेऽपि वर्तमानभवे सम्मानप्रतिष्ठादिभाजनं न भवति, परलोकेऽपि स्वर्गादिसुखं न प्राप्नोतीत्यपि व्याख्येयम्।

उक्तं च लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२)—

धम्मेण होइ लिंगं ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती।
जाणेहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कायव्वो।।

एवं सम्यग् विज्ञाय, हे भव्य! व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रानुष्ठानपूर्वकं विशुद्धज्ञानदर्शन-स्वभावे निजशुद्धात्मनि परब्रह्मणि निश्चलावस्थानाय प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ पुनरपि शुद्धात्मज्ञानं विना द्रव्यलिङ्गस्य निरर्थकतां शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

सागार (गृहस्थ) की स्थिति में रहे या अनगार (द्रव्यलिङ्गी) की स्थिति में रहे, वह तो कर्म-बन्धन ही करेगा, दोनों ही स्थितियों में उसका कर्म-क्षय नहीं होगा। अथवा इस कथन की यह व्याख्या भी की जा सकती है कि वह इहलोक (वर्तमान जन्म) में भी सम्मान, प्रतिष्ठा आदि का पात्र नहीं होता और परलोक में भी स्वर्गादि सुख प्राप्त नहीं करता।

लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-2) में कहा भी गया है—

"धर्म से लिङ्ग होता है, लिङ्गभाव धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती। इसलिए भाव को धर्म जानो। भावरहित लिङ्ग से तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है?"

इस प्रकार सम्यक् रूप से जानकर, हे भव्य! व्यवहारसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र का अनुष्ठान करते हुए विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी निज शुद्ध आत्मा रूप परब्रह्म में निश्चल स्थिति प्राप्त करने हेतु प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, शुद्धात्म-ज्ञान के बिना द्रव्यलिङ्ग की निरर्थकता को उग्गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार पुनः बता रहे हैं—

अप्पाणं पि ण पेच्छदि ण मुणदि ण वि सद्दहदि ण भावेदि।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करेदि ?।। ८४।।

छाया— आत्मानमपि न प्रेक्षते न जानाति नापि श्रद्दधाति न भावयति।
बहुदुःखभारमूलं लिङ्गं गृहीत्वा किं करोति ?

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (अप्पाणं पि ण पेच्छदि, ण मुणदि ण वि सद्दहदि ण भावेदि) **जीवो बहिरात्मा अज्ञानी वा आत्मानं न तु प्रेक्षते, न तत्सम्मुखो भवति, न च तद्विषये जानाति, नापि श्रद्धानं तत्र करोति, न च तद्भावनां भावयति। बहिरनात्मपदार्थेष्वेव तस्य रुचिः, अतः सोऽन्तर्मुखो न भवति, इत्येवं स आत्मानं न प्रेक्षते। तद्विषयकचर्चादिष्वपि तस्य रुचिर्न भवति—इति आत्मानं न जानाति। आस्तिक्यरहितत्वाद् 'देहादिभ्यो भिन्नः कश्चिदात्मपदार्थो वर्तते, विषयसेवनादिकं नात्मनः स्वभावरूपम्, अपितु विभावरूपम्, ततश्च कर्मबन्धः, ततश्च दुःखपरम्परैव प्रवर्तते' —इति श्रद्धानं विश्वासो न भवति —इत्यतः स आत्मानं न श्रद्दधाति।**

गाथा-अर्थ— जो (जीव) आत्मा का निरीक्षण नहीं करता, न ही आत्मा को जानता है, न ही श्रद्धान करता है और भावना भी नहीं भाता, तो फिर वह अत्यन्त दुःख-भार के कारण द्रव्यलिङ्ग को धारण करके (भी) क्या करेगा ?।।84।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(आत्मानम् अपि न प्रेक्षते, न जानाति, नापि श्रद्दधाति, न भावयति)** बहिरात्मा या अज्ञानी जीव न तो आत्मा (आत्मतत्त्व) को देखता है, अर्थात् आत्मा के प्रति अभिमुख नहीं होता, न ही उसके विषय में जानता है, न ही उसमें श्रद्धान करता है और न ही उसकी भावना का अभ्यास करता है। उसकी रुचि बाह्य अनात्म-पदार्थों में ही रहती है, इसलिए वह अन्तर्मुख नहीं होता —इस प्रकार वह आत्मा को देखता (या निरीक्षण करता) नहीं है। उस (आत्मा) के विषय में होने वाली चर्चाओं में भी वह रुचि नहीं रखता, इसलिए वह आत्मा को नहीं जानता। आस्तिकता से रहित होने के कारण, उसे यह श्रद्धान या विश्वास नहीं होता कि देह आदि से भिन्न कोई आत्मा नामक पदार्थ भी है, विषय-सेवन आदि आत्मा का स्वभाव नहीं है, अपितु विभाव रूप है और उससे कर्मबन्ध होता है, जिससे दुःख की परम्परा चालू हो जाती है। इसलिए वह आत्मा के प्रति श्रद्धा वाला नहीं होता।

एवं तदात्मतत्त्वश्रद्धानाद्यभावात् तच्छुद्धस्वरूपभावनायाः सम्भावनैव नास्ति, इत्यतः स आत्मानं न भावयति —इति गाथापूर्वार्द्धस्य सारः।

उपर्युक्तस्थितेः विस्तृतरूपेण निरूपणं समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-१०, १२, १४, ५५-५६, ५८, ६१, ६८) **कृतं वरीवर्ति—**

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति।।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते।।

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिः, मन्यते हा हतं जगत्।।

इस तरह, उस आत्मतत्त्व के प्रति श्रद्धान न होने से, उस शुद्ध (आत्मीय) स्वरूप की भावना करने की सम्भावना ही नहीं रहती, इसलिए वह आत्मा की भावना नहीं करता। यह गाथा के पूर्वार्द्ध का सार है।

उपर्युक्त स्थिति का विस्तृत निरूपण समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-10, 12, 14, 55-56, 58, 61 व 68) में इस प्रकार किया गया है—

"मूढ़ात्मा (बहिरात्मा) अपने शरीर के समान अन्य के अचेतन देह को जो दूसरी आत्मा से अधिष्ठित है, देख कर उसमें परत्व का अध्यवसान करता है (अर्थात् दूसरे के शरीर को ही पर का आत्मा मानने लगता है)।"

"उस (विपर्यय ज्ञान) से अविद्या नाम का दृढ़ संस्कार उत्पन्न हो जाता है, जिससे जन्मान्तर में भी यह अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा समझने की भूल (भ्रम) करता है।"

"शरीरों में आत्मबुद्धि होने से ही 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मेरी पत्नी है', इत्यादि रूप से पुत्र-भार्या आदि विषयक कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं और यह मनुष्य उन्हें ही अपनी सम्पत्ति मानता है। खेद है कि सारा जगत् ऐसी ही कल्पनाओं से मारा जा रहा है।"

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात्।।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मात्मीयभूतेषु ममाहमिति जाग्रति।।

अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।
मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः।।

न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः।
निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते।।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे।।

''इन्द्रियों के विषयों में यद्यपि वैसी कोई भी ऐसी विशेषता नहीं होती जो आत्मा के लिए कल्याणकारी हो, फिर भी मूढ़ात्मा अज्ञान भाव से उन (इन्द्रिय-विषयों) में ही रमण करता है।''

''संसार के अज्ञानी प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधेरे के अधीन होकर अनादि काल से कुयोनियों में सोये पड़े हैं। वे ऊँची योनियों में आकर भी अपने आत्मा को नहीं समझते और अनात्मीय पदार्थों में आत्मत्व की कल्पना करते हैं। इसे ही वे जागना समझते हैं।''

''अन्तरात्मा सोचता है कि जैसे अज्ञानी जीव (बहिरात्मा) बिना बताये आत्मस्वरूप को नहीं जानते, वैसे वे बताने पर भी उसे नहीं जानते, इसलिए ऐसे लोगों को आत्मस्वरूप के विषय को समझाने का श्रम व्यर्थ है।''

''यद्यपि शरीर सुख व दुःख का अनुभव नहीं करते, क्योंकि वे जड़ होते हैं, तो भी बुद्धिहीन लोग शरीरों में ही निग्रह व अनुग्रह की बुद्धि को किया करते हैं। वे उस (देह) को उपवास आदि द्वारा दण्ड देते हैं, कृश करते हैं और वस्त्र-अलङ्कार आदि द्वारा सजाते हैं।''

''आत्मा का शरीर तो ज्ञान होता है, किन्तु वह देह रूप कंचुक से ढका हुआ होता है और अपने आपको नहीं समझता। यही कारण है कि संसार में चिरकाल तक वह भ्रमण करता रहता है। अपने ज्ञान का वास्तविक उपयोग नहीं होना ही इसका कारण है।''

आत्मतत्त्वप्रेक्षणोपायोऽपि तत्र समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३०, ३५) **निर्दिष्टः—**

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः।।

रागद्वेषादिकल्लोलैः, अलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः।।

(बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करेदि?) **बहूनां दुःखानां यो भारः, तस्य मूलं द्रव्यलिङ्गम्, तद् गृहीत्वा धृत्वा किं करोति? किमपि विशिष्टं विलक्षणं कार्यं न करोति। आत्मज्ञानाभावे या कर्मबन्धस्थितिरासीत्, सैव निर्ग्रन्थलिङ्गे धृतेऽपि प्रवर्तते, न किमपि अन्तरं जातमित्याशयः। वस्तुतस्तु निर्ग्रन्थलिङ्गे धृते तानि सर्वाणि सावद्यकार्याणि त्यक्तानि भवन्ति, यानि सागारावस्थायां मिथ्याज्ञान-जनितानि विधीयन्ते। किन्तु निर्ग्रन्थलिङ्गधारी अपि सावद्यकर्माणि करोति चेत्स दुर्गतिमेव प्राप्नोति।**

आत्मतत्त्व के निरीक्षण करने का उपाय भी वहाँ समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-30, 35) में इस प्रकार बताया गया है—

''सारी इन्द्रियों को वश में करके, निश्चल अन्तरात्मा के द्वारा क्षण भर भी देखते हुए व्यक्ति को जिस तत्त्व का प्रतिभास होता है, वही परमात्मा का वास्तविक स्वरूप है।''

''जिसका मन रूपी जल राग-द्वेष आदि कल्लोलों (तरंगों) से चंचल नहीं होता, वही आत्मा के तत्त्व को देख सकता है, अन्य व्यक्ति उस तत्त्व को नहीं देख सकता।''

(बहुदुःखभारमूलं लिङ्गं गृहीत्वा किं करोति?) बहुत से दुःखों का जो भार (समूह) है, उसका मूल है— द्रव्यलिङ्ग। उसे ग्रहण कर, धारण कर क्या कर लेता है? कुछ भी विशिष्ट, विलक्षण कार्य नहीं कर पाता। आत्मज्ञान के अभाव में उसके जो कर्मबन्ध की स्थिति थी, वही निर्ग्रन्थ लिङ्ग के धारण करने पर भी विद्यमान है, उसमें कुछ भी तो अन्तर नहीं आया है। वस्तुतः तो निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारण करने पर उन सभी सावद्य (दोषयुक्त) कार्यों को छोड़ दिया जाता है, जो सागार (गृहस्थ) की अवस्था में मिथ्याज्ञान के कारण किये जाते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थलिङ्ग का धारक भी यदि सावद्य कार्य करे तो वह दुर्गति को ही प्राप्त होता है।

उक्तं च लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा ५-६)—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पावो करमाणो लिंगिरूवेण।।

अत्र गाथायां द्रव्यलिङ्गं बहुदुःखभारमूलमुक्तम्, तद् मिथ्यादृष्टि-अज्ञानिजनानुभवदृष्ट्या ज्ञेयम्। अज्ञानी श्रद्धानरहित एव शीतोष्णादिपरीषह-केशलुञ्चन-पदविहार-एकभुक्ति-पञ्चमहा-व्रतादिपालनरूपं बहुदुःखभारमिव मन्यते, न तु ज्ञानी। ज्ञानी तु उपशमभावेन यद्वा समत्वभावेनैव परीषहजयं करोति। ज्ञानी तु समस्तश्रमणचर्याः उपेक्षाभावेन समत्वभावेन वा युक्तः पालयति, न हि तस्य अज्ञानिजनस्येव संक्लेशो भवति। दुर्धरतपश्चरणादिकमपि न खेदाय ज्ञानिनो भवति।

लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 5-6) में कहा भी गया है—

''जो अनेक प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को एकत्रित करता है, उसकी रक्षा करता है, तथा आर्तध्यान करता है, वह पाप से मोहित बुद्धि वाला व्यक्ति पशु है, मुनि नहीं।''

''जो व्यक्ति मुनिलिङ्ग को धारण करके भी निरन्तर अत्यधिक गर्व से भरकर कलह करता है, वाद-विवाद करता है या जुआ खेलता है, चूँकि वह मुनिलिङ्ग से ऐसा कुकृत्य करता है, इसलिए पापी है और नरकगामी होता है।''

इस गाथा में द्रव्यलिङ्ग को 'बहुत दुःखों के भार का मूल' कहा गया है, वह मिथ्यादृष्टि व अज्ञानी व्यक्ति के अनुभव को ध्यान में रखकर किया गया है, यह जानें। अज्ञानी श्रद्धारहित ही होता है, इसलिए शीत, उष्ण आदि परीषहों, केशलोंच, पैदल चलना, एक समय भोजन, पाँच महाव्रतों आदि का पालन —इन्हें अधिक दुःखों के भार जैसा मानता है, किन्तु ज्ञानी नहीं मानता। ज्ञानी तो उपशम भाव से अथवा समत्व भाव से ही परिषह-जय करता है। ज्ञानी तो समस्त श्रमणचर्या को उपेक्षा भाव या समत्व भाव से युक्त होकर पालन करता है, उसके अज्ञानीजन को जैसा होता है, वैसा संक्लेश नहीं होता। दुर्धर तपश्चरण आदि भी उस (ज्ञानी) के लिए खेदजनक नहीं होते।

उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३४)—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते।।

इष्टोपदेशग्रन्थेऽपि (श्लोक-४८) **प्रोक्तम्—**

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतम्।
न चासौ खिद्यते योगी बहिर्दुःखेष्वचेतनः।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (२९/४८) **च निर्दिष्टम्—**

स्वपरान्तरविज्ञानसुधास्यन्दाभिनन्दितः।
खिद्यते न तपः कुर्वन्नपि क्लेशैः शरीरजैः।।

तत्त्वार्थराजवार्तिकग्रन्थे (६/११/१७-२१) **च कायक्लेशतपश्चरणादिषु ज्ञानिनः साधोः दुःखाद्यभावः स्पष्टतया प्रतिपादितः।**

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-34) में कहा भी गया है—

''आत्मा व शरीर के भेद-विज्ञान से जो आनन्द उत्पन्न होता है, उससे जो आनन्दित है, वह तप के द्वारा भयानक दुष्कर्मों के फल को भोगता हुआ भी खेद को प्राप्त नहीं करता।''

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-48) में भी कहा गया है—

''वह आनन्द सदा आने वाले कर्मरूपी ईन्धन को जला डालता है। उस समय ध्यानमग्न योगी को बाह्य पदार्थों से होने वाले दुःखों का कुछ भी भान न होने से कोई खेद नहीं होता।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (29/48) में यह कहा भी गया है—

''भेदविज्ञानी मुनि आत्मा व पर (अनात्म) के अन्तर्भेद रूपी विज्ञान रूपी अमृत के वेग से आनन्दरूप होता है और तप करता हुआ भी शारीरिक क्लेशों से खिन्न नहीं होता।''

तत्त्वार्थराजवार्तिक ग्रन्थ (6/11/17-21) में भी 'कायक्लेश, तपश्चर्या आदि में ज्ञानी साधु को दुःखादि नहीं होते' —यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है।

एवं हे भव्य! बाह्यद्रव्येभ्यो विरज्य निजशुद्धचिदात्मतत्त्वं प्रति अभिमुखो यथासमयं निश्चयसम्यक्त्वचारित्रयोरनुष्ठानाय तत्परो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

निजशुद्धात्मभावनायाः कर्तव्यतां सम्प्रति शास्त्रकाराः उग्गाहाछन्दसा समर्थयन्ति—

जाव ण जाणदि अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव।
तेण अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए जोई ।। ८५।।

छाया— यावत् न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनः तावत्।
तेन अनन्तसुखम् आत्मानं भावयेत् योगी।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जाव अप्पाणं ण जाणदि, ताव अप्पणो दुक्खं, तेण जोई अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए —इति गाथान्वयः।

(जाव ण जाणदि अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव) **यावत्कालमयमात्मा आत्मानं निजं शुद्धात्मानं देहादिभ्यो जडपदार्थेभ्यो भिन्नं चिदानन्दमयं च, न जानाति, न तत्स्वरूपेणावगतो भवति, तावत्कालपर्यन्तमेव आत्मनो दुःखं भवति, आत्मज्ञाने सति तु दुःखं विलीयते —इत्याशयः।**

इस प्रकार, हे भव्य! बाह्य द्रव्यों से विरक्त होकर, निज शुद्ध चिदात्मा तत्त्व के प्रति अन्तर्मुख होकर, यथासमय 'निश्चय सम्यक्त्व' व 'निश्चय चारित्र' के अनुष्ठान हेतु तत्पर होओ — यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, निजशुद्धात्म-भावना करनी चाहिए —इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जब तक यह आत्मा स्वयं (के शुद्ध स्वरूप) को नहीं जान लेता, तभी तक उसके दुःख रहता है। अतः योगी को चाहिए कि वह अनन्तसुख स्वरूपी आत्मा की भावना (चिन्तन-मननादि) करता रहे।।85।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यावत् आत्मा आत्मानं न जानाति, तावत् आत्मनः दुःखम्, तेन योगी अनन्तसुखम् आत्मानं भावयेत् —यह गाथा का अन्वय है।

(यावत् न जानाति आत्मा आत्मानं दुःखमात्मनस्तावत्) जब तक यह आत्मा आत्मा को, अपनी शुद्ध आत्मा को देह आदि जड़ पदार्थों से पृथक् चिदानन्दमय रूप में, नहीं जानता है, अर्थात् उसके स्वरूप से परिचित नहीं होता है, उतने काल तक ही आत्मा को दुःख होता है। आत्मज्ञान होने पर तो दुःख विलीन हो जाता है —यह आशय है।

स्वयं शास्त्रकाराः अग्रे (१५३ गाथारूपेण) **सम्यक्त्वेन सुखं प्राप्यते— इति वक्ष्यन्ति।**

सम्मद्दंसणसुद्धं जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसणसुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही।।

अत्रेदं तात्पर्यम्— आत्मा अमूर्तपदार्थः। सोऽनन्तज्ञानसुखाद्यात्मकः, किन्तु बद्धकर्मवशाद् रागादिविभावपरिणामैः दुःखबहुलं सांसारिकं जीवनं यापयति। वस्तुतो दुःखस्य कारणं देहादिषु आत्मबुद्धिरेव।

उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-१५)— 'मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीः।'

सा आत्मबुद्धिरपि आत्मज्ञानाभावादेव भवति। आत्मज्ञाने सति देहादिभ्यः पृथग् भिन्नं वा आत्मानं जीवः पश्यति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-७, १३)—

स्वयं शास्त्रकार आगे (इसी ग्रन्थ की 153वीं गाथा द्वारा) कहने वाले हैं कि सम्यक्त्व से सुख प्राप्त होता है—

''जब तक शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं करता, तब तक दुःखी रहता है। और जब शुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है, तभी सुखी होता है।''

यहाँ (पूर्वोक्त कथन का) तात्पर्य इस प्रकार है— आत्मा एक अमूर्त पदार्थ है। वह अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख आदिरूप है, किन्तु बद्धकर्मों के कारण अपने रागादि विभाव परिणामों से दुःखबहुल सांसारिक जीवन जीता है। वस्तुतः दुःख का कारण (उस जीव की) देह आदि में आत्म-बुद्धि ही होती है।

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-15) में कहा गया है— ''देह में आत्म-बुद्धि (ममत्व आदि) होना —यही सांसारिक दुःख का मूल (कारण) है।''

अनात्मा में वह आत्मबुद्धि भी इसलिए होती है क्योंकि उसे आत्म-ज्ञान नहीं होता है। आत्मज्ञान होने पर जीव अपनी आत्मा (स्वयं) को देह आदि से पृथक् या भिन्न देखता है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-7 व 13) में कहा गया है—

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः आत्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहम्, आत्मत्वेनाध्यवस्यति।।

देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात्।
स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद् वियोजयति देहिनम्।।

अत एवाचार्यैरज्ञानस्यैव बन्धहेतुता कथिता। ज्ञातृभावस्योत्कृष्टस्थितौ तु सर्वदुःखाभाव एव। उक्तं च समयसारग्रन्थस्य (गाथा-१५३) **आत्मख्यातिटीकायाम्—** ''अज्ञानमेव बन्धहेतुः तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां..........शुभकर्म-असद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।'' **सम्यग्ज्ञानी तु स्वमात्मानं दुःखव्याधिभयाद्यतीतं पश्यति।**

उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-२७, २९)—

''बहिरात्मा इन्द्रियरूप द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने आदि में लगा रहता है। वह आत्मज्ञान से पराङ्मुख रहता है और अपने शरीर में ही आत्मपने का अध्यवसाय (निश्चय) करता है।''

''शरीर में आत्मत्व की बुद्धि करना निश्चय से आत्मा को देह का संयोग कराता है। इसी प्रकार, आत्मा में ही आत्म-बुद्धि करना आत्मा का देह के साथ वियोग करने का कारण होता है।''

इसीलिए आचार्यों ने अज्ञान को बन्ध का हेतु कहा है। ज्ञाता भाव की उत्कृष्ट स्थिति में तो समस्त दुःखों का अभाव ही हो जाता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-153) की आत्मख्याति टीका में कहा गया है— ''अज्ञान ही बन्ध का हेतु है। उसके अभाव में ज्ञानभूत ज्ञानी जनों के ....शुभ कर्मों का भले ही अभाव हो तो भी, मोक्ष होता है।'' सम्यग्ज्ञानी तो अपनी आत्मा को दुःख, व्याधि व भय आदि से परे देखता है।

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-27 व 29) में कहा भी है—

न मे मृत्युः कुतो भीतिः, न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धः, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावाः, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।

समयसारग्रन्थस्य (गाथा-७२) **आत्मख्यातिटीकायां च समर्थितमेतत्—** ''आकुलोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खलु आस्रवाः, भगवानात्मा तु नित्यमेव अनाकुलत्वस्वभावेन अकार्यकारणत्वाद् दुःखस्य अकारणमेव.....।'' **आत्मज्ञानान्तर्गर्भित-भेदविज्ञानबलेन ज्ञानी सांसारिकदुःखैरविचलित एव तिष्ठति, तथा क्रमशः शाश्वतसुखरूपं मोक्षमपि प्राप्तुं समर्थो भवति।**

उक्तं च समयसारकलशग्रन्थे (सं. १३१)—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन।।

''(ज्ञानी का चिन्तन इस प्रकार होता है—) मेरी मृत्यु नहीं हो सकती तो मुझे किसी का डर (भय) भी नहीं है। मुझे कोई रोग भी नहीं तो पीड़ा भी क्यों होगी? न मैं बच्चा हूँ, न ही बूढ़ा और न ही युवा, क्योंकि ये सभी (अवस्थाएँ) तो पुद्गल की हैं (आत्मा की, मेरी नहीं)।''

''मैं एक हूँ, ममत्वरहित हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगीन्द्रों (अप्रमत्तगुणस्थानवर्ती मुनियों) द्वारा जाना जाने वाला हूँ तथा बाह्य सभी संयोगजन्य (मोह) भाव मुझ से सर्वथा भिन्न हैं।''

समयसार ग्रन्थ (गाथा-72) की आत्मख्याति टीका में भी इसका समर्थन इस प्रकार प्राप्त होता है— ''ये (कर्मों के) आस्रव (मिथ्यात्व आदि) ही आकुलता के उत्पादक हैं, इसलिए (वे ही) दुःख के कारण हैं। भगवान् आत्मा तो नित्य ही अनाकुल स्वभाव के कारण न तो किसी का कार्य होता है, न ही कारण, इसलिए वह दुःख का कारण नहीं है.....।'' आत्मज्ञान में ही समाहित (उससे सम्बद्ध) भेदविज्ञान के बल से ज्ञानी व्यक्ति सांसारिक दुःखों से विचलित नहीं होता, और क्रमशः शाश्वतसुख स्वरूप मोक्ष को भी प्राप्त करने में समर्थ होता है।

समयसारकलश ग्रन्थ (सं. 131) में कहा भी गया है—

''जो भी कोई जीव सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से हुए हैं और जो भी कोई जीव बन्धन में हैं, वे भेदविज्ञान के न होने के कारण ही हैं।''

चारित्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-४३) **च प्रोक्तम्—**

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो।।

उपर्युक्तकथनमुपसंह्रियते गाथाया उत्तरार्द्धे— (तेण जोई अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए) **तस्मात् कारणात्, योगी अनन्तसुखात्मकमात्मानं भावयेत्। अहं शुद्धचिद्रूपः, अनन्तसुखादिसम्पन्नोऽहम्, परद्रव्यजनितदुःखाद्यैः अस्पृष्टोऽहम् —इत्यादिचिन्तनं वारंवारं कुर्यादिति गाथायाः सारः।**

उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-८)—

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता न संदेहो।।

चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-43) में भी कहा गया है—

''जो मनुष्य सम्यग्ज्ञानी है, चारित्रगुण से युक्त है और अपनी आत्मा में पर पदार्थ की इच्छा नहीं करता। ऐसा व्यक्ति शीघ्र ही अनुपम सुख प्राप्त करता है —यह निश्चय से जानो।''

उपर्युक्त कथन का उपसंहार गाथा के उत्तरार्द्ध में कर रहे हैं— **(तेन योगी अनन्त-सुखमात्मानं भावयेत्)** इस कारण से योगी अनन्तसुखात्मक आत्मा की भावना करे। मैं शुद्ध चिद्-रूप हूँ, अनन्तसुख आदि से सम्पन्न हूँ, पर-द्रव्यों से उत्पन्न होने वाले दुःख आदि से मैं अस्पृष्ट हूँ —इत्यादि चिन्तन को बार-बार दुहराये —यह गाथा का सार है।

शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-8) में कहा भी गया है—

''जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होकर तपश्चरण, मूलगुण व उत्तरगुणों से युक्त होते हैं, वे चतुर्गतिरूप संसार को छेदते हैं (नष्ट करते हैं) —इसमें सन्देह नहीं।''

एवं सम्यग् विज्ञाय हे भव्य! आत्मज्ञानं तदनुगामि भेदविज्ञानं च धृत्वा अनन्तसुखात्मके शुद्धचित्स्वरूपे निश्चलस्थित्यै प्रयतस्व, येन सर्वदुःखहानिः शाश्वतसुखोपलब्धिर्वा प्राप्येत —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

निजतत्त्वोपलब्धिं विना निश्चयसम्यक्त्वोत्पत्तिर्न भवतीति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि णियमेण।। ८६ ।।

छाया— निजतत्त्वोपलब्धिं विना सम्यक्त्वोपलब्धिः नास्ति नियमेन।
सम्यक्त्वोपलब्धिं विना निर्वाणं नास्ति नियमेन।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण) सम्यक्त्वस्य उपलब्धिः नियमतो नास्ति। **यत् सम्यक्त्वं सुखसाधकमुक्तं तस्य प्राप्तिः निस्सन्देहं नैव जायते। कथं न जायते?**

इस प्रकार, अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! आत्मज्ञान और उसके अनुगामी भेदविज्ञान को धारण कर, अनन्तसुखस्वरूपी शुद्धचित्स्वरूप (आत्मा) में निश्चल स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहो, ताकि सभी दुःखों का नाश या शाश्वत सुख की उपलब्धि हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

निज (शुद्धात्म—) तत्त्व की उपलब्धि के बिना निश्चय सम्यक्त्व की उत्पत्ति नहीं होती— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— आत्म-तत्त्व की प्राप्ति (प्रतीति आदि) के बिना नियमतः सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं हो पाती। सम्यक्त्व की प्राप्ति के बिना नियमतः निर्वाण प्राप्त नहीं होता।।86।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यक्त्वोपलब्धिः नास्ति नियमेन)** सम्यक्त्व की उपलब्धि नियमतः नहीं होती। जो सम्यक्त्व सुख का साधक कहा गया है, उसकी प्राप्ति निस्सन्देह नहीं होती। क्यों नहीं होती?

उच्यते— (णियतच्चुवलद्धि विणा) **निजात्मतत्त्वस्य उपलब्धिं विना, अर्थात् निजात्मतत्त्वस्य उपलब्धिर्यावत्कालं न भवति, तावत्कालम्। निजात्मतत्त्वस्य उपलब्धिः पूर्वं भवति, तदनन्तरमेव सम्यक्त्वमुपलभ्यते, नान्यथा —इत्याशयः। तत्त्वोपलब्धिरपि व्यवहारतस्तु आगमाभ्यासादिभिः, परमार्थतस्तु शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन सम्भवतीति ज्ञेयम्।**

अत्रेदं तात्पर्यम्— सम्यक्त्वं सप्ततत्त्वानां यद्वा नवपदार्थानां जीवाजीवादीनां सम्यगधिगमो भवति। जीवादीनि तत्त्वानि यथार्थतया अधिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्ते —इतिवस्तुस्थितिः। निश्चयेन तु तेषु तत्त्वेषु शुद्धात्मन उपादेयतां निश्चित्य, तच्छुद्धात्मरूपस्य यद् दर्शनम्, या च तस्य उपलब्धिः, संवित्तिः, प्रतीतिः, अनुभूतिर्वा, तस्यैव (निश्चय) **सम्यक्त्वसंज्ञा।**

समयसारग्रन्थे (गाथा-१३) **प्रोक्तम्—**

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

बता रहे हैं— **(निजतत्त्वोपलब्धिं विना)** निज आत्मतत्त्व की उपलब्धि के बिना। अर्थात् निज आत्मतत्त्व की जब तक उपलब्धि नहीं होती, तब तक। निज आत्मतत्त्व की उपलब्धि पहले होगी, उसके बाद ही सम्यक्त्व की उपलब्धि होगी, अन्यथा नहीं —यह आशय है। तत्त्व की उपलब्धि भी व्यवहार दृष्टि से आगम-अभ्यास आदि द्वारा होती है और परमार्थ दृष्टि से शुद्धात्मा के प्रति अभिमुख परिणाम द्वारा सम्भव होती है।

यहाँ यह तात्पर्य है— जीव व अजीव आदि सात तत्त्वों या नौ पदार्थों का सम्यग् अधिगम (ज्ञान) —यह 'सम्यक्त्व' होता है। जीव आदि तत्त्व यथार्थ रूप में अधिगत (ज्ञात) होकर 'सम्यग्दर्शन' रूप में परिणत होते हैं —यह एक वास्तविक स्थिति है। निश्चय नय से उन तत्त्वों में शुद्धात्मा की उपादेयता का निश्चय कर, उस शुद्धात्मरूप का जो दर्शन है, या जो उसकी उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति या अनुभूति है, उसी की (निश्चय—) सम्यक्त्व संज्ञा है।

इसी दृष्टि से समयसार ग्रन्थ (गाथा-13) में कहा गया है—

''भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध व मोक्ष ही सम्यक्त्व है।''

तत्रैव आत्मख्यातिटीकायां (गाथा-१३) **भणितम्—** "अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेन अभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्ते..........ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेन एको जीव एव प्रद्योतते। एवमसौ एकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेन अनुभूयते एव। या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेव, आत्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति।"

अत्रेदं ज्ञेयम्— दर्शनमोहस्य मिथ्यात्वम्, सम्यग्-मिथ्यात्वम्, सम्यक्त्वप्रकृतिरूपम् —इति त्रयो भेदाः। चारित्रमोहस्य च अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभभेदैश्चत्वारो भेदाः। एवं मोहनीयकर्मणः सप्तानां प्रकृतीनामुपशमेन, क्षयेन यद्वा क्षयोपशमेन च वीतरागदेव-जिनागम निर्ग्रन्थगुरूपदिष्टानां सप्ततत्त्व-नवपदार्थ-षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकायादीनां यथार्थदेवगुरुशास्त्राणां च श्रद्धानं तथा हेयोपादेयबुद्ध्या च स्वपरविशेषज्ञानं यद् भवति, तद् व्यवहारसम्यक्त्वं भवति। तदेव सरागसम्यक्त्वमपि कथ्यते, यच्च प्रशमसंवेग-आस्तिक्यादि-अभिव्यक्तिलक्षणं भण्यते। स्वपरकल्याणभावनानिष्कांक्षितरूपभक्तिभावादिभिरपि तदभिव्यक्तं भवति।

वहीं (गाथा-13 की) आत्मख्याति टीका में कहा गया है— "ये जीव आदि नौ तत्त्व भूतार्थनय से अधिगत होकर सम्यग्दर्शन हो जाते हैं..........तदनन्तर इन नौ तत्त्वों में भी भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। इस प्रकार एकत्व रूप से प्रकाशमान तत्त्व शुद्धनय से अनुभूति में आता ही है। यह जो अनुभूति है, वही आत्मख्याति है, और आत्मख्याति तो सम्यग्दर्शन ही है।"

यहाँ यह ज्ञातव्य है— दर्शनमोह के तीन भेद हैं— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। चारित्रमोह के अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ —ये चार भेद होते हैं। इस प्रकार, वीतरागदेव, जिनागम व निर्ग्रन्थगुरु —इन द्वारा उपदिष्ट सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, छः द्रव्यों या पाँच अस्तिकायों के प्रति तथा यथार्थ देव, गुरु व शास्त्र के प्रति मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम के कारण जो श्रद्धान होता है, तथा हेय-उपादेय बुद्धि से स्व-परविशेष ज्ञान जो होता है, वह व्यवहार सम्यक्त्व है। उसे ही सराग सम्यक्त्व भी कहते हैं, जो प्रशम, संवेग, आस्तिक्य आदि के रूप में अभिव्यक्ति-लक्षण वाला कहा जाता है। वह स्व-परकल्याण की भावना, निष्कांक्षित रूप भक्ति भावना —इत्यादि से भी अभिव्यक्त होता है।

चतुर्थपञ्चमषष्ठगुणस्थानवर्तिनां सरागचारित्राविनाभाविव्यवहारसम्यक्त्वमेव भवति, न तु वीतरागचारित्राविनाभूतनिश्चयसम्यक्त्वं भवति। यद्यपि अविरतसम्यग्दृष्टेरपि शुद्धात्मोपादेय-भावनारूपं निश्चयसम्यक्त्वं विद्यते, तथापि चारित्रमोहोदयेन स्थिरता न भवति। अतो वस्तुवृत्त्या निश्चयसम्यक्त्वं तु सप्तमगुणस्थानादेव प्रारभ्यते। निश्चयसम्यक्त्वस्योपलब्धिरपि वीतरागचारित्रा-विनाभाविनिश्चयभावश्रुत-ज्ञानात्मक-निजतत्त्वोपलब्धिं विना न सम्भवति। निश्चयभावश्रुतज्ञानं च शुद्धात्माभिमुखस्वसंवित्तिरूपं ज्ञेयम्।

अत एव मोक्षप्राभृते (गाथा-१४) **प्रोक्तम्—**

सद्दव्वरओ समणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण।
सम्मत्तपरिणदो पुण खवेइ दुट्ठट्ठकम्मेहिं।।

एतद्विषये विस्तृतनिरूपणं तु 'सम्यग्दर्शन'**-नामके तथा च** 'आध्यात्मिक शंका-समाधान' **नामके च मदीयग्रन्थे जिज्ञासुभिर्जैनैः द्रष्टव्यम्।**

चौथे, पाँचवें व छठे गुणस्थान में स्थित जीवों के सरागचारित्र का अविनाभावी 'व्यवहार सम्यक्त्व' ही होता है, किन्तु वीतराग-चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व नहीं होता। यद्यपि अविरतसम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थान वाले) को भी 'शुद्धात्मा उपादेय है' —ऐसी भावना के रूप में 'निश्चय सम्यक्त्व' होता है, किन्तु चारित्रमोह के उदय से उसमें स्थिरता नहीं रह पाती। इसलिए वस्तुतः निश्चय सम्यक्त्व तो सातवें गुणस्थान से ही प्रारम्भ होता है। निश्चय सम्यक्त्व की उपलब्धि भी वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चयभावश्रुतज्ञान-रूप निजतत्त्वोपलब्धि के बिना नहीं होती। निश्चय भावश्रुतज्ञान भी शुद्धात्मा के प्रति अभिमुख स्वसंवित्ति रूप परिणाम ही है —यह जानें।

इसी दृष्टि से मोक्षप्राभृत (गाथा-14) में कहा गया है—

''स्व-द्रव्य (शुद्धात्मरूप) में निरत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्त्वरूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों को नष्ट करता है।''

इस विषय में जिज्ञासुओं को विस्तृत निरूपण मेरी '**सम्यग्दर्शन**' और '**आध्यात्मिक शंका-समाधान**' —नामक इन दो कृतियों में देखना चाहिए।

इदानीं गाथाया उत्तरार्द्धो व्याख्यायते। (सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि णियमेण) **सम्यक्त्वोपलब्धिं विना नियमतो निर्वाणं नास्ति, न संभवति। सम्यक्त्वे सत्येव, सम्यग्ज्ञानम्, ततश्च हेयोपादेयबुद्धिः, चारित्रानुष्ठानम्, ततश्च निर्वाणमिति क्रमः प्रवर्तते। उक्तं च दर्शनप्राभृतग्रन्थे** (गाथा १५-१६)—

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणादि।।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।

अतो निर्वाणप्राप्त्यै सम्यक्त्वस्य आवश्यकता, सम्यक्त्वप्राप्त्यै च तत्त्वोपलब्धिरावश्यकी —इति तथ्यं हे भव्य! सम्यग् विचिन्त्य तत्त्वोपलब्धिपूर्वकसम्यक्त्वप्राप्त्यै प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अब, गाथा के उत्तरार्द्ध की व्याख्या की जा रही है— **(सम्यक्त्वोपलब्धिं विना निर्वाणं नास्ति नियमेन)** सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना नियम से निर्वाण नहीं है, यानी वह सम्भव नहीं है। सम्यक्त्व होने पर ही सम्यग्ज्ञान, फिर हेयोपादेयबुद्धि एवं चारित्र का अनुष्ठान, फिर निर्वाण —यह क्रम प्रवर्तमान होता है। दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 15-16) में कहा भी है—

''सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने से यह जीव श्रेय या अश्रेय (कर्तव्य, अकर्तव्य) को जानने लगता है।''

''श्रेय व अश्रेय को जानने वाला व्यक्ति अपने दुष्ट स्वभाव को नष्टकर शीलवान् (चारित्रनिष्ठ) हो जाता है, तथा शील (चारित्र) के फलस्वरूप स्वर्गादि अभ्युदय को प्राप्त करते हुए निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।''

इसलिए निर्वाण-प्राप्ति के लिए सम्यक्त्व की आवश्यकता होती है, सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए तत्त्वोपलब्धि आवश्यक है— इस तथ्य का हे भव्य! अच्छी तरह चिन्तन-मनन कर, तत्त्वोपलब्धिपूर्वक सम्यक्त्व की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानं विना तपसो निरर्थकतां दृष्टान्तमाध्यमेन शास्त्रकारा गाहा-छन्दसा निरूपयन्ति—

सालविहीणो राओ दाणदयाधम्मरहिदगिहिसोहा।
णाणविहीण तवो वि य जीव विणा देहसोहं व।। ८७।।

छाया— सालविहीनो राजा, दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा।
ज्ञानविहीनं तपोऽपि च जीवं विना देहशोभा इव।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सालविहीणो राओ दाणदयाधम्मरहिदगिहिसोहा, जीव विणा देहसोहं व णाणविहीण तवो वि य —इति गाथान्वयः।

(सालविहीणो राओ व) **दुर्गविहीनो राजा इव। राजा शासकः स्वरक्षार्थं दुर्गं निर्माप्य तत्र सुरक्षितो निवसति, दुर्गं विना स शत्रुभिराक्रान्तः पराजितो भवति, हन्यते च। राज्यस्य कस्यचिदपि अङ्गानि सप्त भवन्ति, यैः संयुक्तमेव राज्यं पूर्णं भवति।**

अब, निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान के बिना तप निरर्थक है— इसे दृष्टान्तों के माध्यम से गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार दुर्ग के बिना राजा की, दान व दया धर्म से रहित गृहस्थ की, तथा जीव (चैतन्य) के बिना देह की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार ज्ञान (निर्विकार स्वसंवेदन) के बिना तप भी शोभा प्राप्त नहीं करता।।87।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— सालविहीनो राजा दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा जीवं विना देहशोभा इव ज्ञानविहीनं तपोऽपि च —यह गाथा का अन्वय है।

(सालविहीनो राजा इव) दुर्ग (किले) से रहित राजा की तरह। राजा यानी शासक अपनी रक्षा हेतु दुर्ग का निर्माण कर वहाँ सुरक्षित होकर रहता है, दुर्ग के बिना वह हो तो शत्रु उस पर आक्रमण कर देते हैं और वह राजा पराजित हो जाता है और मारा भी जाता है। किसी भी राज्य के सात अङ्ग (घटक) होते हैं, जिनसे युक्त होकर ही राज्य पूर्ण (अखण्ड) होता है।

तानि अङ्गानि सन्ति-स्वामी, अमात्यः प्रजा, दुर्गम्, कोशः, दण्डः सैन्यं वा, मित्रराज्यं चेति। एतेषु राजा प्रमुखमङ्गम्, स नायको भवति, तेन नायकेन विना राज्यस्यास्तित्वमेव न सम्भवति। तस्य राज्ञो रक्षायै सेनादिसाधनानि भवन्ति, किन्तु तेषु दुर्गस्य महत्त्वं विशिष्टं भवति। दुर्गस्य बहवः प्रकारा मनुस्मृतौ (७/७०) **प्रोक्ताः—**

धन्वदुर्गं महीदुर्गम्, अब्दुर्गं वार्क्षमेव वा।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत् पुरम्।।

दुर्गस्य महत्ताऽपि तत्र (७/७३-७४) **निरूपिता—**

यथा दुर्गाश्रितानेतान् नोपहिंसन्ति शत्रवः।
तथाऽरयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमाश्रितम्।।

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्मात् दुर्गं विधीयते।।

वे अङ्ग हैं— स्वामी (राजा), अमात्य, प्रजा, दुर्ग, कोश, दण्ड या सेना और मित्र राज्य। इन (सातों) में राजा प्रमुख अङ्ग है, वह नायक होता है, उसके बिना राज्य का अस्तित्व ही सम्भव नहीं होता। उस राजा की रक्षा हेतु सेना आदि साधन होते हैं, किन्तु उनमें दुर्ग (किले) का महत्त्व विशिष्ट होता है। दुर्ग के अनेक भेद मनुस्मृति (7/70) में इस प्रकार बताये गये हैं—

"धनुदुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, गिरिदुर्ग —इन (छः प्रकार के) दुर्गों में आश्रय लेकर राजा नगर में निवास करे।"

वहीं (7/73-74) दुर्ग की महत्ता का भी निरूपण किया गया है—

"जैसे किसी दुर्गम स्थान में रहने वाले जीवों को शत्रु मार नहीं सकते, वैसे ही दुर्ग में आश्रय लेकर स्थित राजा को शत्रु मार नहीं पाते।"

"दुर्ग में स्थित एक धनुर्धारी भी सौ वीरों का सामना कर सकता है तथा दुर्ग के सौ सैनिक (बाहर लड़ रहे) दस हजार सैनिकों से लड़ सकते हैं, इसलिए दुर्ग का निर्माण अवश्य किया जाता है।"

एवं दुर्गं विना राजा शत्रुभीतः स्वरक्षायै एव चिन्ताग्रस्तः, प्रजारक्षणादिकार्ये सर्वथा असमर्थः, प्रजाजनेषु प्रतिष्ठारहितः, शोभाहीनो निरर्थक एव जायते, तद्वदेव ज्ञानेन विना तपोऽपि निरर्थकं भवतीति अन्वयो बोध्यः।

तथा (दानदयाधम्मरहिदगिहिसोहा व) **दानेन दयया धर्मेण च, यद्वा दयारूपधर्मेण च रहितो यो गृही गृहस्थः सागारधर्माराधकः, तस्य शोभा इव। दानादिरहितगृहस्थस्य शोभा न कुत्रापि भवति, तथैव ज्ञानविहीनं तपश्चरणमपि भवति। दानादिकानि श्रावकाणां कृते प्रमुखानि कर्तव्यानि भण्यन्ते, तानि विना श्रावकस्य जीवनं धर्मरहितत्वाद् निरर्थकं, निष्फलं, निष्प्रयोजनं शोभारहितमेव मन्यते। एतेषु दानं श्रावकोचितषट्कर्मसु परिगणितम्।**

ग्रन्थेऽस्मिन्नेव स्वयं शास्त्रकाराः (गाथा ११-१२) 'दानेन विना श्रावकस्य श्रावकत्वमेव न भवति, स तु पतितः' **इत्यादिकमूचिरे। दानेन विना गृहस्थस्य जन्मैव निरर्थकम्।**

इस प्रकार, दुर्ग के बिना राजा शत्रुओं से भयभीत होकर अपनी रक्षा के लिए ही चिन्ताग्रस्त रहेगा और प्रजा के रक्षण आदि कार्य में सर्वथा असमर्थ होगा, इसलिए प्रजाजनों में प्रतिष्ठारहित, शोभाहीन व निरर्थक ही हो जाएगा, उसी तरह ज्ञान के बिना तप भी निरर्थक होता है —इस वाक्य के साथ अन्वय जानना चाहिए।

तथा **(दानदयाधर्मरहितगृहिशोभा इव)** दान से, दया से, धर्म से या दयारूपी धर्म से रहित जो गृही यानी सागार धर्म का आराधक गृहस्थ हो, उसकी शोभा की तरह। दान आदि से रहित गृहस्थ की शोभा कहीं भी नहीं होती, उसी तरह ज्ञानहीन तप भी होता है। दान आदि को श्रावकों के लिए प्रमुख कर्तव्य कहा जाता है, उनके बिना श्रावक का जीवन धर्मरहित होने से निरर्थक, निष्फल, निष्प्रयोजन एवं शोभारहित ही माना जाता है। इनमें दान को श्रावकोचित छः (आवश्यक) कार्यों में परिगणित किया जाता है।

इस (रयणसार) ग्रन्थ में ही स्वयं शास्त्रकार ने (गाथा 11-12 में) 'दान के बिना श्रावक का श्रावकपना ही नहीं होता, तथा वह पतित हो जाता है', इत्यादि कथन किया है। दान के बिना गृहस्थ का जन्म ही निरर्थक होता है।

उक्तं च पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (२/२१)—

दानाय यस्य न धनं न वपुर्व्रताय, नैवं श्रुतं च परमोपशमाय नित्यम्।
तज्जन्म केवलमलं मरणाय भूरि, संसारदुःखमृतिजातिनिबन्धनाय।।

तथैव दयां विना धर्मस्य सद्भावोऽपि न भवति। दयामूलो भवेद्धर्मः (आदिपुराण-५/२१) **तथा धर्मः प्राणिदया** (आदिपुराण-१०/१५), **—इत्यादि ग्रन्थेषु शास्त्रकारैरुक्तमपि। ग्रन्थेऽस्मिन्नपि पूर्वं** (गाथा-८०) **दयां विना धर्मो निष्फलः प्रतिपादितः। धर्मेण विनाऽपि जीवनं निरर्थकमेव तथा मनुष्यभवप्राप्तिरपि निरर्थका भवत्यधार्मिकस्य।**

उक्तं चात्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२४)—

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुं मूलात् फलानि गृह्णन्ति ते पापाः।।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (2/21) में कहा भी गया है—

''जिस व्यक्ति का धन दान के लिए नहीं होता, शरीर व्रतधारण करने के लिए नहीं होता, और नित्य उत्कृष्ट उपशम भाव को उत्पन्न करने हेतु श्रुत-ज्ञान नहीं है, उसका जन्म केवल मरने के लिए ही होता है और वह मरण भी अत्यधिक सांसारिक दुःख एवं जन्म-मरण की परम्परा का ही कारण होता है।''

इसी तरह दया के बिना धर्म का सद्भाव भी नहीं रहता। शास्त्रकारों ने 'दया धर्म का मूल है' (आदिपुराण-5/21) तथा 'प्राणी दया ही धर्म है' (आदिपुराण-10/15) इत्यादि कथन ग्रन्थ में किये भी हैं। इस (रयणसार) ग्रन्थ में भी पहले (गाथा-80) दया के बिना धर्म की निष्फलता का प्रतिपादन किया जा चुका है। धर्म के बिना भी जीवन निरर्थक होता है तथा अधार्मिक को होने वाली मनुष्य भव की प्राप्ति भी निरर्थक हो जाती है।

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-24) में कहा भी गया है—

''जो प्राणी मोह के कारण धर्म को नष्ट करके विषय-सुखों का अनुभव करते हैं, वे पापी मानो वृक्षों को जड़ से उखाड़कर फलों को पाना चाहते हैं।''

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (१/१६९) **च भणितम्—**

जन्म प्राप्य नरेषु निर्मलकुले क्लेशान्मतेः पाटवम्,
भक्तिं जैनमते कथं कथमपि प्रागर्जितश्रेयसः।
संसारार्णवतारकं सुखकरं धर्मं न ये कुर्वते,
हस्तप्राप्तमनर्घ्यरत्नमपि ते मुञ्चन्ति दुर्बुद्धयः।।

तथा (जीव विणा देहसोहं व) **जीवः आत्मा चैतन्यलक्षणः, तेन विना देहः, तस्य शोभा इव। यथा चैतन्यशून्यं शरीरं मृतशवरूपमेव, गर्ह्यमस्पृश्यं शोभाहीनं घृणितं वा भवति, तद्वदेव। वस्तुतश्चैतन्येन जीवात्मना युक्त एव देहः, तत्रापि मनुष्यदेहः, तत्रापि दानदयादिधर्मानुष्ठातुरयं देहः सद्गुणभूषितत्वात् शोभते, वस्तुतस्तु देहोऽयमशुचिपदार्थमयोऽशुचिरेव।**

उक्तं च 'बारस अणुवेक्खा' **ग्रन्थे** (गाथा ४४-४५)—

पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (श्लोक-1/169) में भी कहा गया है—

''जिन्होंने निर्मल मनुष्य-वंश में जन्म लिया है, क्लेशपूर्वक बुद्धि की क्षमता को प्राप्त किया है, पूर्वोपार्जित पुण्य के कारण किसी तरह जिन-मत में भक्ति भी प्राप्त कर ली है, फिर भी जो संसार-समुद्र से तारने वाले धर्म का आचरण नहीं करते, वे दुर्बुद्धि हैं और उन्होंने हाथ में आये हुए महंगे रत्न को भी मानो गवाँ दिया है।''

और **(जीवं विना देहशोभा इव)** जीव यानी चैतन्यलक्षण आत्मा, उसके बिना शरीर, उसकी शोभा की तरह। जिस प्रकार, चैतन्यशून्य शरीर मृत शरीर (मुर्दे) की तरह निन्दनीय, अस्पृश्य व शोभाहीन या घृणित ही होता है, उसी तरह। वस्तुतः चैतन्य रूप जीवात्मा से युक्त ही शरीर हो, उसमें भी मनुष्य का देह, उसमें भी दान, दया आदि सद्धर्म करने वाले का देह हो, तो वह सद्गुणों से भूषित होने के कारण शोभित होता है, किन्तु वास्तव में तो यह (मात्र) देह अपने आप में अशुचि पदार्थों से युक्त एवं अशुचि रूप ही होता है।

बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ (गाथा 44-45) में कहा भी गया है—

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणप्पडणसहावं देहं इदि चिंतए णिच्चं।।

रसरुहिरमंसमेदट्ठीमज्जसंकुलं पुत्तपूयकिमिबहुलं।
दुग्गंधमशुचि चम्ममयमणिच्चमचेयणं पडणं।।

(णाणविहीण तवो वि य) **यथा चैतन्यशून्यो देहो न शोभते, तद्वदिव ज्ञानेन, सम्यग्ज्ञानेन, भेदविज्ञानेन वा रहितं तपश्चरणमपि निरर्थकं शोभाहीनं भवति, भावशून्यक्रियाया मृतशरीर-तुल्यत्वादिति भावः। ज्ञानहीनतपसो निरर्थकता मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-५९) **च प्रतिपादिता—**

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।

एवं हे भव्य! सम्यग्ज्ञानेन सहित एव तपश्चरणादिके प्रवर्तस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''यह शरीर दुर्गन्धि से भरा है, घृणित है, गन्दे मल से भरा है, अचेतन है, मूर्तिक है, सड़ने-गलने के स्वभाव वाला है —ऐसा सदा चिन्तन करते रहना चाहिए।''

''यह शरीर रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी व मज्जा से युक्त है, मूत्र, पीब व कीड़ों से भरा है, दुर्गन्धित है, अपवित्र है, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन है और पतनशील यानी नश्वर है।''

(ज्ञानविहीनं तपोऽपि च) जैसे चैतन्यशून्य देह भी शोभित नहीं होता, वैसे ही ज्ञान यानी सम्यग्ज्ञान से अर्थात् भेदविज्ञान से रहित तपश्चरण भी निरर्थक व शोभाहीन होता है, क्योंकि भावशून्य क्रिया मृतशरीर की तरह होती है —यह भाव है। ज्ञानहीन तप की निरर्थकता को मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-59) में भी इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

''जो ज्ञान तप से रहित है वह व्यर्थ है, और जो तप ज्ञान से रहित है, वह भी व्यर्थ है। इसलिए ज्ञान व तप —इन दोनों से युक्त व्यक्ति ही निर्वाण को प्राप्त करता है।''

इस प्रकार हे भव्य! सम्यग्ज्ञान से सहित होकर ही तपश्चर्या में प्रवृत्त होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति निर्ग्रन्थमुनीनां कृते परिग्रह एव दुर्गतिकारणं भवतीति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

मक्खी सिलिम्मि पडिदो मुवदि जहा तह परिग्गहे पडिदो।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी।। ८८।।

छाया— मक्षिका श्लेष्मणि पतिता म्रियते यथा तथा परिग्रहे पतितः।
लोभी मूढः क्षपणः कायक्लेशेषु अज्ञानी।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जहा मक्खी सिलिम्मि पडिदो मुवदि, तहा परिग्गहे पडिदो लोही मूढो अण्णाणी खवणो कायकिलेसेसु —इति गाथान्वयः।

(मक्खी सिलिम्मि पडिदो मुवदि जहा) **यथा मक्षिका श्लेष्मणि पतिता म्रियते। मक्षिका स्वभावतो दुर्गन्धि-घृणितपदार्थेषु तिष्ठति, श्लेष्मरसासक्ता सा तत्रैव संलिष्टा तत उत्पतितुं न समर्था भवति, अत एव तत्रैव प्राणान् मुञ्चति। रसनेन्द्रियरसविषयासक्ते रयं दुष्परिणामो भवतीति शास्त्रकारैरत्र सूच्यते। रसविषयासक्तिवशात् मीनोऽपि जालबन्धं प्राप्य दुर्गतिम्प्राप्नोति।**

अब, निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए परिग्रह ही दुर्गति का कारण (सिद्ध) होता है —इसे शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जैसे कफ में गिर कर मक्खी मर जाती है, वैसे ही परिग्रह में आसक्त, लोभी, मूढ़, अज्ञानी मुनि भी शारीरिक कष्टों में ही अपना जीवन गवाँ देता है।।88।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यथा मक्षिका श्लेष्मणि पतिता म्रियते तथा परिग्रहे पतितः लोभी, मूढः, अज्ञानी क्षपणः कायक्लेशेषु —यह गाथा का अन्वय है।

(मक्षिका श्लेष्मणि पतिता म्रियते यथा) जिस प्रकार मक्खी कफ में गिरकर मरण को प्राप्त होती है। मक्खी स्वभावतः दुर्गन्धित व घृणित पदार्थों में बैठती है, कफ के रस में आसक्त होने से वह वहीं लिपटी ही पड़ी रहती है, वहाँ से उड़ने में समर्थ नहीं हो पाती, इसलिए वह वहीं प्राण गवाँ देती है। रसना इन्द्रिय के विषय रस में होने वाली आसक्ति का यह दुष्परिणाम होता है —यह शास्त्रकार ने यहाँ सूचित किया है। रस विषय में आसक्ति के कारण मछली भी जाल में फँसकर दुर्गति को प्राप्त होती है।

उक्तं च हरिवंशपुराणे (१६/४०)—

आहारमिष्टमिह षड्रसभेदभिन्नम्, आहारयन् बहुविधं स्पृहयापदृष्टिः।
जिह्वावशो दलितशङ्कुविलग्नमांसपेशीप्रियश्चपलमीन इवैति बन्धम्।।

आदिपुराणग्रन्थेऽपि (११/१९९) **प्रोक्तम्—**

सरन् सरसि संफुल्लकह्लारस्वादुवारिणि।
मत्स्यो वडिशमांसार्थी जीवनाशं प्रणश्यति।।

राजवार्तिकग्रन्थे (९/७/७) **तु काकपक्षिणो दृष्टान्तः प्रदत्तः—** ''तथैव च जिह्वेन्द्रियविषयलोलाः मृतहस्तिशरीरस्थस्रोतोवेगावगाहिवायसवत् व्यसनमुपनिपतन्ति।''

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१३५१) **च मांसरसलोलुपस्य भीमेतिनामकस्य राज्ञ उदाहरणं प्रदत्तम्—**

हरिवंशपुराण (16/40) में कहा भी है—

''जिसकी विवेक-दृष्टि नष्ट हो गई है, ऐसा यह मनुष्य जिह्वा इन्द्रिय के वशीभूत होकर यथेच्छ छः प्रकार के रसों से युक्त नाना प्रकार के अभीष्ट आहार को ग्रहण करता हुआ वंशी के कांटे पर लगे मांस की लोभी मछली के समान बन्ध को प्राप्त होता है।''

आदिपुराण ग्रन्थ (11/199) में भी कहा है—

''जिसका जल खिले कमलों से अत्यन्त स्वादिष्ट हो रहा है, ऐसे तालाब में अपनी इच्छानुसार विहार करने वाली मछली वंशी में लगे हुए मांस की अभिलाषा से प्राण गवाँ बैठती है, वंशी में फंसकर मर जाती है।''

राजवार्तिक ग्रन्थ (9/7/7) में तो कौए का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है— ''इसी तरह जिह्वा इन्द्रिय के विषय में लोलुप व्यक्ति उसी कौए की तरह संकटों में पड़ जाते हैं जो मृत हाथी के शरीर (मस्तक) से बह रही मदजल की धारा में डुबकी लगाता है।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1351) में मांसरस के लोलुप भीम नामक राजा का उदाहरण दिया गया है—

माणुसमंसपसत्तो कंपिल्लवदी तधेव भीमो वि।
रज्जब्भट्ठो णट्ठो मदो य पच्छा गदो णिरयं।।

बृहत्कथाकोशे चास्य भीमराज्ञः कथा (सं. ११४) **विस्तरेण द्रष्टुं शक्यते।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— मक्षिकादयः श्लेष्माद्यशुचिपदार्थेष्वपि अभीष्टरससेवनसुखमेव समनुभवन्ति। अत्र विषये आदिपुराणग्रन्थे (११/१७९, १८३) **विशदीकृतमपि—**

निम्बद्रुमे यथोत्पन्नः कीटकस्तद्-रसोपभुक्।
मधुरं तद्-रसं वेत्ति तथा विषयिणोऽप्यमी।।

गूथकृमेर्यथा गूथरससेवा परं सुखम्।
तथैव विषयानीप्सोः सुखं जन्तोर्विगर्हितम्।।

''कंपिला नगरी का राजा भीम मनुष्य के मांस का प्रेमी था। वह राज्य से निकाला गया और मरकर नरक में गया।''

बृहत्कथाकोश में भी राजा भीम की कथा (सं. 114) विस्तार से देखी जा सकती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— मक्खी आदि प्राणी कफ आदि अशुचि (गन्दे) पदार्थों में भी अभीष्ट रस-सेवन का सुख अनुभव करते हैं। इस विषय में आदिपुराण ग्रन्थ (11/179, 183) में स्पष्टीकरण भी किया गया है—

''जिस प्रकार नीम के वृक्ष पर उत्पन्न होने वाला कीड़ा नीम के कडुवे रस को आनन्ददायी मानकर उसी में तल्लीन रहता है, अथवा जिस प्रकार विष्ठा का कीड़ा उसके दुर्गन्धित अपवित्र रस को (भी) उत्तम समझकर उसी में रहता हुआ आनन्द मानता है, उसी प्रकार विषयासक्त ये जीव भी विषयों में आनन्द मानते हैं।''

''अथवा जिस प्रकार विष्ठा के कीड़े को विष्ठा के रस का पान करना ही उत्कृष्ट सुख प्रतीत होता है, उसी प्रकार विषयासक्त जीव को सुख प्रतीत होता है, यह निन्दायोग्य है।''

स्वयं शास्त्रकारा अपि ग्रन्थेऽस्मिन् अग्रे (गाथा-१३१) **बहिरात्मनां जीवानाममेध्य-विषयेष्वपि प्रवृत्तिः स्वाभाविकीति वक्ष्यन्ति। एवमेव जीवाः पञ्चेन्द्रियविषयभोगे स्वभावतः, स्वानुकूलतामनुभवन्ति, अतएव तत्र प्रवर्तन्ते, किन्तु परिणामे दुःखमेवानुभवन्ति, तदपि स्वाभाविकमेव।**

उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (१/६४)—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं।।

इदानीमुत्तरार्द्धे दार्ष्टान्तः प्रस्तूयते— (तह परिग्गहे पडिदो खवणो) **तथा श्लेष्मपतिता पश्चान्मृता मक्षिकेव, परिग्रहे पतितः क्षपणो मुनिः स्वं चारित्रात्मानं नाशयति। कथम्भूतः क्षपणः ?**

(लोही मूढो अण्णाणी) **लोभकषायग्रस्तः, मोहनीयकर्मवशीभूतः, एवमज्ञानयुक्तः, भेदविज्ञानरहित इत्यर्थः।**

स्वयं शास्त्रकार भी इस ग्रन्थ में आगे (गाथा-131 में) बहिरात्मा जीवों की अपवित्र (गन्दे) विषयों में स्वभावतः प्रवृत्ति होती है —यह बताएँगे। इसी प्रकार, जीव पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में स्वभावतः अपनी अनुकूलता को अनुभव करते हैं, इसीलिए वे उनमें प्रवृत्त भी होते हैं, किन्तु परिणाम में दुःख ही अनुभव करते हैं, वह भी स्वाभाविक ही होता है।

प्रवचनसार ग्रन्थ (1/64) में कहा भी गया है—

''जिन जीवों की इन्द्रिय-विषयों में प्रीति है, उनको दुःख स्वभावतः होता है। यदि इन्द्रियजन्य दुःख निश्चय से सहज उत्पन्न होने वाला नहीं होता तो विषयों के सेवन में उनके इन्द्रियों की प्रवृत्ति भी नहीं होती।''

अब (गाथा के) उत्तरार्द्ध में दार्ष्टान्त की प्रस्तुति की जा रही है— **(तथा परिग्रहे पतितः क्षपणः)** तथा कफ में गिरकर बाद में मरने वाली मक्खी की तरह, परिग्रह में पतित (आसक्त) क्षपण यानी मुनि अपने चारित्रात्म-रूप को नष्ट कर डालता है। वह क्षपण (मुनि) कैसा है ?

(लोभी, मूढः, अज्ञानी) लोभ कषाय से ग्रस्त है, मोहनीय कर्म के वशीभूत है, एवं अज्ञानी है अर्थात् भेदविज्ञान से रहित है।

मोहेन अज्ञानेन वा विनाशोन्मुखी तस्य का क्रिया भवति? उच्यते— (कायकिलेसेसु) **कायक्लेशरूपा एव तस्य चेष्टा भवति, न तु भावचारित्ररूपा। स तासु क्रियासु एव स्वजीवनं व्यर्थं करोति, न तु मोक्षरूपस्वप्रयोजनं साधयितुं साफल्यमवाप्नोतीत्यर्थः। शास्त्रकारेणास्मिन्नेव ग्रन्थे मोहयुक्तस्य मूढमतेश्च दारुणव्रतादिक्रियाणां निरर्थकत्वं प्राक्** (गाथा ६३-६५) **स्पष्टं निरूपितमेव। अग्रे** (गाथा-९७) **च मिथ्यात्वग्रस्तस्य तीव्रकायक्लेशं निर्वाणप्राप्तिदृष्ट्या निरर्थकमेवेति ते प्रतिपादयिष्यन्ति। एताः क्रियाः मूढोजनः स्वर्गादिसुखसिद्धिप्रयोजनायैव करोति, इति तत्रैव पूर्वं** (गाथा-६५) 'परलोकदृष्टिः' **इतिपदेन च सूचितम्।**

समयसारग्रन्थे (गाथा-२७५) **च प्रोक्तम्—** धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं।

'परिग्रहे पतितः' **इत्यनेन तस्य पशुतुल्यता सूचिता। उक्तं च लिङ्गप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-५)—

मोह या अज्ञान के कारण उसकी कौन-सी क्रिया उसे विनाश तक पहुँचाती है? बता रहे हैं— **(कायक्लेशेषु)** कायक्लेश रूप ही उसकी चेष्टा होती है, भावचारित्र रूप नहीं होती। उन क्रियाओं में ही वह अपने जीवन को व्यर्थ गवाँ देता है, किन्तु मोक्ष रूप प्रयोजन को सिद्ध करने में वह सफल नहीं होता —यह अर्थ है। शास्त्रकार भी इसी ग्रन्थ में पहले (गाथा 63-65 में) यह बता चुके हैं कि मोहयुक्त मूढ़मति (मिथ्यादृष्टि जीव) की दारुण व्रतादि क्रियाएँ निरर्थक ही हैं, और आगे (गाथा-97 में) वे यह प्रतिपादित करेंगे कि मिथ्यात्व-ग्रस्त व्यक्ति का तीव्र कायक्लेश भी निर्वाण-प्राप्ति की दृष्टि से निरर्थक होता है। ये क्रियाएँ वह मूढ़ व्यक्ति करता है तो स्वर्गादि सुख की सिद्धि हेतु ही करता है —इसे वहीं पूर्व में (गाथा-65) 'परलोकदृष्टि' इस पद से सूचित भी किया गया है।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-275) में कहा भी गया है— ''वह धर्म का आचरण भोग के निमित्त से करता है, कर्मक्षय हेतु नहीं।''

'परिग्रह में पतित' इस कथन से उस क्षपण की पशुतुल्यता को सूचित किया गया है। लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-5) में कहा भी है—

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

अत्रेदं ज्ञेयम्— परिग्रहे पतनं विषयासक्तिमूलकमेव भवति। विषयसुखलालसां धृत्वैव तत्साधनरूपेण प्राणी परिग्रहं करोति, ततो दुर्गतिपरम्परा प्रारभ्यते।

स्पष्टीकृतं चैतद् आदिपुराणे (११/२०५-२११)—

विषयैर्विप्रलब्धोऽयम् अधीरति धनायति।
धनायामासितो जन्तुः क्लेशानाप्नोति दुस्सहान्।।

क्लिष्टोऽसौ मुहुरार्तः स्याद् इष्टालाभे शुचं गतः।
तस्य लाभेऽप्यसन्तुष्टो दुःखमेवानुधावति।।

''जो अनेक प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है, तथा आर्त ध्यान करता है, वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है, मुनि तो नहीं है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— परिग्रह में पतन (आसक्त होने) का मूल कारण विषयासक्ति होती है। विषय-सुख की लालसा रखकर ही प्राणी उस (सुख) के साधन के रूप में (वस्तुओं का) परिग्रह करता है, उससे उसकी दुर्गति की परम्परा चालू हो जाती है।

आदिपुराण (11/205-211) में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''विषयों से ठगा गया यह मूर्ख जीव पहले तो अधिक धन की इच्छा करता है और फिर उस धन के लिए प्रयत्न करते हुए दुःखी होकर अनेक दुस्सह क्लेशों को प्राप्त करता है।''

''क्लेशयुक्त होकर, वह पुनः दुःखी होता है और कदाचित् मनचाही वस्तु नहीं मिली तो शोक करता है। और वह वस्तु मिल भी जाय तो वह सन्तुष्ट न होने से पुनः उसी दुःख की ओर दौड़-भाग करता है।''

ततस्तद्-रागतद्द्वेषदूषितात्मा जडाशयः।
कर्म बध्नाति दुर्मोचं येनामुत्रावसीदति।।

कर्मणाऽनेन दौःस्थित्यं दुर्गतावनुसंश्रितः।
दुःखासिकामवाप्नोति महतीमतिगर्हिताम्।।

विषयानीहते दुःखी तत्प्राप्तावतिगृद्धिमान्।
ततोऽतिदुरनुष्ठानैः कर्म बध्नात्यशर्मदम्।।

इति भूयोऽपि तेनैव चक्रकेण परिभ्रमन्।
संसारापारदुर्वार्द्धौ पतत्यत्यन्तदुस्तरे।।

तस्माद् विषयजामेनां मत्त्वाऽनर्थपरम्पराम्।
विषयेषु रतिस्त्याज्या तीव्रदुःखानुबन्धिषु।।

''इस प्रकार यह जीव राग-द्वेष से अपनी आत्मा को दूषित कर ऐसे कर्मों का बन्ध करता है जो बड़ी कठिनाई से छूटते हैं और जिस कर्म-बन्ध के कारण यह जीव परलोक में अत्यन्त दुःखी होता है।''

''इस कर्मबन्ध के कारण ही, यह जीव नरक आदि दुर्गतियों में दुःखमय स्थिति को प्राप्त होता है और वहाँ चिरकाल तक अतिशय निन्दनीय बड़े-बड़े दुःख पाता रहता है।''

''वहाँ दुःखी होकर यह जीव फिर भी विषयों की इच्छा करता है और उनके प्राप्त होने में तीव्र लालसा रखता हुआ अनेक दुष्कर्म करता है जिससे दुःख देने वाले कर्मों का फिर बन्ध करता है।''

''इस प्रकार, दुःखी होकर फिर भी विषयों की इच्छा करता है, उसके लिए दुष्कर्म करता है, खोटे कर्मों का बन्ध करता है और उनके उदय से दुःख भोगता है। इस प्रकार चक्रक रूप से परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अत्यन्त दुःख से तैरने योग्य संसार रूपी अपार समुद्र में पड़ा रहता है।''

''इसलिए इस समस्त अनर्थ-परम्परा को विषयों से उत्पन्न हुआ मानकर तीव्र दुःख देने वाले विषयों में प्रीति का परित्याग कर देना चाहिए।''

निर्ग्रन्थमुद्रां धृत्वाऽपि परिग्रहादिषु यदि कश्चिदपि पतति, तस्य मूर्खस्य तदाचरणं महदाश्चर्यकरं भवतीति तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे (४/६१४-६१५) **भणितम्—**

खणमित्ते विसयसुहे जे दुक्खाइं असंखकालाइं।
पविसंति घोरणिरए ताण समो णत्थि णिब्बुद्धी।।

अंधो णिवडइ कूवे बहिरो ण सुणेदि साधु-उवदेसं।
पेच्छंतो णिसुणंतो णिरए जं पडइ तं चोज्जं।।

एवं हे भव्य! परिग्रहासक्तिं सर्वतोभावेन संत्यज्य सम्यग्ज्ञानपूर्वकं व्रततपश्चरणादिकं विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति ज्ञानाभ्यासविहीनस्य तत्त्वज्ञानस्याभावात् ध्यानाभावाच्च न कर्मक्षयः इति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण करके भी यदि कोई परिग्रह आदि में गिरता है (आसक्त होता है), उस मूर्ख का आचरण महान् आश्चर्यकारी होता है —यह तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (गाथा 4/614-615) में इस प्रकार बताया गया है—

''जो लोग क्षण मात्र रहने वाले विषय-सुख के निमित्त असंख्यात काल तक दुःखों का अनुभव करते हुए घोर नरकों में प्रवेश करते हैं, उनके समान निर्बुद्धि कोई दूसरा नहीं है।''

''यदि अन्धा कूएँ में गिरता है और बहरा सदुपदेश को नहीं सुनता है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, परन्तु जीव जो देखता व सुनता हुआ भी नरक में पड़ता है, यह तो आश्चर्य ही है।''

इस प्रकार, हे भव्य! परिग्रह में आसक्ति को सब प्रकार से छोड़कर, सम्यग्ज्ञान-पूर्वक व्रत, तपश्चरण आदि करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, ज्ञान-अभ्यास से रहित व्यक्ति के तत्त्व-ज्ञान न होने से तथा ध्यान (की सिद्धि) भी न होने से कर्म क्षीण नहीं होते— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणदे किं पि।
झाणं तस्स ण होदि हु ताव ण कम्मं खवेदि ण हु मोक्खं।। ८९।।

छाया— ज्ञानाभ्यासविहीनः स्वपरं तत्त्वं न जानाति किमपि।
ध्यानं तस्य न भवति हि तावत् न कर्म क्षपयति, न खलु मोक्षः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (ण हु मोक्खं) **मोक्षप्राप्तिर्न भवति। कथं न भवति? उच्यते** (ताव ण कम्मं खवेदि) **तावत् कालं कर्म न क्षपयति। यतो हि मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः, अतो यावत्कालं न कर्मक्षयः, तावत्कालं मोक्षोऽपि नेत्यर्थः। कथं च न कर्मक्षयः? तत्र बाधकं तत्त्वं किम्? उच्यते—** (झाणं तस्स ण होदि हु) **यतो हि तस्य ध्यानं न भवति। यावत्कालं प्रशस्तं ध्यानमेकाग्रता वा न सम्भवति, तावत्कालं कर्मक्षयो न भवति, कर्मक्षयाभावे मोक्षोऽपि नेत्याशयः।**

अयम्भावः —धर्म्यशुक्लध्याने मोक्षस्य हेतुभूते, 'परे मोक्षहेतू' (तत्त्वार्थसूत्र ९/२९) **इतिसूत्रेण प्रोक्तत्वात्। ध्यानेन विना कथंचिदपि मोक्षप्राप्तिर्न सम्भवति।**

गाथा-अर्थ— (सम्यक्) ज्ञान के अभ्यास से रहित जीव स्व (आत्म तत्त्व) व पर (आत्मेतर) तत्त्व को कुछ भी नहीं जानता, और आत्म-ध्यान भी उसके निश्चित ही नहीं होता, और जब तक ऐसा होता है तब तक न तो उसका कर्मक्षय होता है और न ही मोक्ष मिलता है।।89।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(न खलु मोक्षः)** मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। क्यों नहीं होती है? बता रहे हैं— **(तावत् न कर्म क्षपयति)** तब तक कर्मों का क्षय नहीं करता। समस्त कर्मों का क्षय होना 'मोक्ष' होता है, इसलिए जब तक कर्म-क्षय नहीं होता, तब तक मोक्ष भी नहीं होता —यह अर्थ है। तो कर्म-क्षय क्यों नहीं होता? उसमें बाधक तत्त्व क्या है? बता रहे हैं— **(ध्यानं तस्य न भवति हि)** चूँकि उसके ध्यान नहीं होता। जितने समय तक प्रशस्त ध्यान या एकाग्रता नहीं होती, तब तक कर्मक्षय नहीं होता, और कर्मक्षय न होने पर मोक्ष भी नहीं होता —यह आशय है।

तात्पर्य यह है— धर्म व शुक्ल ध्यान मोक्ष के साधन हैं, क्योंकि 'परे मोक्षहेतू' ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (9/29) में कहा गया है। ध्यान के बिना किसी भी तरह मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं होती।

उक्तं च अमितगतिकृतश्रावकाचारग्रन्थे (१५/९६)—

तपांसि रौद्राण्यनिशं विधत्ताम्, शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।
धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रः, न सिद्ध्यति ध्यानमृते तथाऽपि।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (१९/८) **च प्रोक्तम्—**

ध्यानादेव गुणग्राममस्याशेषं स्फुटीभवेत्।
क्षीयते च तथानादिकर्मौघध्वान्तसन्ततिः।।

किञ्च, कर्मक्षये कषायनिर्दहनं परमावश्यकम्। वस्तुतो मुक्तिः कषायमुक्तिरेव। कषायरिपुजये ध्यानमायुधं भवति।

प्रोक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१८८६)— एवं कसायजुद्धंमि हवदि खवयस्स आयुधं झाणं।

आचार्य अमितगति कृत श्रावकाचार ग्रन्थ (15/96) में कहा भी गया है—

''भले ही रात-दिन घोर तप कर लें, नित्य समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर लें, और आलस्यहीन होकर चारित्र को धारण करें, किन्तु ध्यान के बिना (मोक्ष की) सिद्धि नहीं होती, नहीं होती।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (19/8) में कहा गया है—

''ध्यान से ही आत्मा के समस्त (अनन्तज्ञानादि) गुण-समूह व्यक्त होते हैं और ध्यान से ही अनादि कर्म-समूह रूपी अन्धकार-परम्परा का नाश होता है।''

और, कर्म के क्षय में कषाय का नाश परम आवश्यक होता है। वस्तुतः कषायों से मुक्त होना ही मोक्ष होता है। कषाय रूपी शत्रु को पराजित करने में ध्यान एक आयुध होता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1886) में कहा भी गया है— ''कषायों से युद्ध करने में क्षपक (मुनि) के लिए ध्यान (एक) आयुध (सिद्ध) होता है।''

तच्च ध्यानं कथं न सम्पद्यते ? उच्यते— (णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणदे किं पि) **स्वं परं च तत्त्वं, आत्मानमनात्मानं च किञ्चिदपि न जानाति, कथं न जानाति ? ज्ञानाभ्यासविहीनः स यतो भवति, अतः तत्त्वातत्त्वविवेकशून्यो भवति, ततश्च ध्यानाभावः, ध्यानाभावे कर्मक्षयाभावः, कर्मक्षयाभावे न मोक्षः इतिगाथार्थः।**

एवं कर्मक्षयात्मकमोक्षसिद्ध्यै ज्ञानाभ्यासः परमावश्यकः, ज्ञानाभ्यासेन स्वपरतत्त्वविवेकः, ततश्च एकाग्रता, ततश्च ध्यानसिद्धिः, ततश्च कर्मक्षयः, ततश्च मोक्षः इति क्रमः शास्त्रकारेण सूचितः।

अत्रेदं ज्ञेयम्— स्वपरतत्त्वज्ञानाभावे, आत्मानात्मविवेकाभावे, भेदविज्ञानाभावे वा ध्यानसिद्धिर्न भवति —इति शास्त्रेषु प्रतिपादितम्। यथा ज्ञानार्णवग्रन्थे (४/२१) **प्रोक्तम्—**

वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् किं ध्येयं क्व च भावना।
ध्यानाभ्यासस्ततस्तेषां प्रयासायैव केवलम्।।

तो यह ध्यान क्यों नहीं हो पाता ? बता रहे हैं— **(ज्ञानाभ्यासविहीनः स्वपरं तत्त्वं न जानाति किमपि)** स्वयं को और पर तत्त्व को, यानी आत्मा व अनात्मा को थोड़ा भी नहीं जानता है। क्यों नहीं जानता ? चूँकि वह ज्ञानाभ्यास से हीन होता है, इसलिए वह तत्त्व-अतत्त्व के विवेक से शून्य होता है, इसी कारण से उसके ध्यान का अभाव है, ध्यान के अभाव होने से कर्मक्षय का अभाव है और कर्मक्षय के अभाव से मोक्ष नहीं है —यह गाथा का अर्थ है।

इस प्रकार, कर्म-क्षय रूपी मोक्ष की सिद्धि के लिए ज्ञानाभ्यास परमावश्यक है, ज्ञानाभ्यास से स्व-पर तत्त्व का विवेक होता है, उससे एकाग्रता, उससे ध्यान की सिद्धि, उससे कर्मक्षय, उससे मोक्ष —इस क्रम को शास्त्रकार ने सूचित किया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— स्व-परतत्त्व ज्ञान न होने पर, अर्थात् आत्म-अनात्म सम्बन्धी विवेक न होने पर, या भेदविज्ञान न होने पर, ध्यान की सिद्धि नहीं होती —यह शास्त्रों में प्रतिपादित है। जैसे, ज्ञानार्णव ग्रन्थ (4/21) में कहा गया है—

''वस्तु-तत्त्व का यथार्थ ज्ञान न हो तो क्या ध्येय होगा और कहाँ भावना हो सकती है ? अतः जो (अज्ञानी) ध्यान का अभ्यास करते हैं, वह ध्यान उनके मात्र परिश्रम (कष्ट) का ही कारण होता है (ध्यान सिद्धि तो नहीं हो पाती)।''

किम्बहुना, तत्त्वज्ञानाभावे रागादिवशात् प्रशस्तध्यानमेव न सम्भवतीति ज्ञानार्णवग्रन्थे (श्लोक २३/११९८) **प्रोक्तम्—**

अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः।
स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोः, तदसद्ध्यानमुच्यते।।

तत्त्वपरिज्ञाने च ज्ञानाभ्यासः स्वाध्यायो वा साधनं भवतीत्यतो 'ज्ञानाभ्यासविहीनः' **इति पदं प्रदत्तमत्र गाथायाम्। ज्ञानाभ्यासेन स्वपरतत्त्वज्ञानं भवति —इतिविषये शास्त्रीयवचनानि बहुशः प्राप्यन्ते। यथा तत्त्वानुशासनग्रन्थे** (श्लोक-81) **प्रोक्तम्—**

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-४१०) **च प्रोक्तम्—**

अधिक क्या, तत्त्वज्ञान के अभाव में रागादिवश प्रशस्त ध्यान ही सम्भव नहीं होता— यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ (23/1198) में कहा गया है—

''जो जीव वस्तु-स्वरूप के यथार्थ ज्ञान से रहित है और जिसका मन राग-द्वेषादि विकारों से आहत है, उसके मन की जो स्वतन्त्र (स्वच्छन्द) प्रवृत्ति होती है, वह असद् ध्यान कही जाती है।''

तत्त्वज्ञान में ज्ञानाभ्यास या स्वाध्याय साधन होता है —इस दृष्टि से 'ज्ञानाभ्यासविहीन' यह पद इस गाथा में दिया गया है। ज्ञानाभ्यास से स्वपरतत्त्वज्ञान होता है —इस विषय में शास्त्रीयवचन अनेकानेक प्राप्त होते हैं। जैसे, तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-81) में कहा गया है—

''स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करें और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करें। ध्यान व स्वाध्याय —इन दोनों की सम्पत्ति (प्राप्ति, सिद्धि) से परमात्मा प्रकाशित होता है (अनुभव में आता है)।''

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-410) में भी कहा गया है—

सज्झायं कुव्वंतो पंचेंदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एगग्गमणो विणयेण समाहिओ भिक्खू।।

किंच, निर्णीततत्त्व एव ध्याता भवतीति ध्यातृलक्षणनिरूपणे तत्त्वानुशासनग्रन्थे (४३-४५) **संकेतितम्—**

सम्यग्निर्णीतजीवादिध्येयवस्तुव्यवस्थितिः।
आर्तरौद्रपरित्यागात् लब्धचित्तप्रसत्तिकः।।

मुक्तलोकद्वयापेक्षः सोढाऽशेषपरीषहः।
अनुष्ठितक्रियायोगः, ध्यानयोगे कृतोद्यमः।।

महासत्त्वः परित्यक्त-दुर्लेश्याऽशुभभावनः।
इतीदृग्लक्षणो ध्याता धर्म्यध्यानस्य सम्मतः।।

एकाग्रतारूपध्यानं स्वपरतत्त्वज्ञानं च जिनागमाभ्यासादेव भवतः। प्रोक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (३/३२-३३)—

"विनय से युक्त मुनि स्वाध्याय को करते हुए पञ्चेन्द्रियों से संवृत एवं तीन गुप्तियों से सुरक्षित होकर एकाग्रमन वाला हो जाता है।"

इसके अतिरिक्त, जिसने तत्त्व का निर्णय कर लिया है, वही ध्याता होता है —ऐसा ध्याता के लक्षणों का निरूपण करते हुए तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (43-45 श्लोक) में बताया गया है—

"....जिसने जीवादि ध्येय वस्तुओं की स्थिति को भली प्रकार निर्णीत कर लिया हो, आर्त व रौद्र ध्यान के परित्याग से जिसने चित्त की प्रसन्नता प्राप्त कर ली हो, जो (अपने ध्यान-विषय में) इहलोक व परलोक दोनों की अपेक्षा से रहित हो, जिसने सभी परीषहों को सहन किया हो, जो क्रियायोग का अनुष्ठान किये हुए हो, ध्यानयोग में जिसने उद्यम (अभ्यास) किया हो, जो महासामर्थ्य वाला हो और जिसने अशुभ लेश्याओं व बुरी भावनाओं का परित्याग किया हो —इस प्रकार के लक्षणों वाला धर्मध्यान का ध्याता होता है।"

एकाग्रता रूप ध्यान एवं स्वपरतत्त्वविज्ञान जिनागमों के अभ्यास से ही होते हैं। प्रवचनसार ग्रन्थ (3/32-33) में कहा भी है—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तओ जेट्ठा।।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।

वस्तुतः कर्मक्षये ध्यानं स्वाध्यायः इतिद्वयमपि उपयोगीति स्वयं शास्त्रकारा अग्रे (गाथा ९०) **ग्रन्थेऽस्मिन् वक्ष्यन्ति।**

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-३३) **च समर्थ्यते तत्—** रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।

रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-१०) **च तपस्विनो ज्ञानध्यानसम्पन्नता सूचिता—** ज्ञानध्यानतपोरक्तः, तपस्वी स प्रशस्यते।

''श्रमण वही है जो एकाग्रता को प्राप्त है। एकाग्रता उसी के होती है जो जीव, अजीव आदि पदार्थों का निश्चय (सम्यग्ज्ञान) कर चुका है, और पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, अतः आगम के विषय में चेष्टा करना श्रेष्ठ है।''

''आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न आत्मा से भिन्न (शरीरादि) पदार्थों को। ऐसा स्व-परपदार्थ-ज्ञान न रखने वाला श्रमण कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है?''

वस्तुतः कर्मक्षय में ध्यान व स्वाध्याय —इन दोनों की उपयोगिता है —इसे स्वयं शास्त्रकार आगे इसी ग्रन्थ (गाथा-90) में कहने जा रहे हैं।

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-33) में भी इसका समर्थन इस प्रकार प्राप्त होता है— ''रत्नत्रय से युक्त होकर ध्यान व अध्ययन सदा करें।''

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-10) में भी तपस्वी के ज्ञान व ध्यान से सम्पन्न होने का संकेत किया गया है— ''ज्ञान, ध्यान व तप का धारक जो हो, वही तपस्वी प्रशंसायोग्य होता है।''

एवं हे भव्य! ज्ञानाभ्यासे सदा प्रयतस्व, येन स्वपरतत्त्वविज्ञानं, तदनु ध्यानसिद्धिमाध्यमेन कर्मक्षयः सम्भवेदिति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति सम्यग्ज्ञानप्राप्त्यै जिनागमाभ्यासस्य कर्तव्यतां गाहिणी-छन्दोमाध्यमेन शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

अज्झयणमेव झाणं पंचेन्दिय णिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो।। ९०।।

छाया— अध्ययनमेव ध्यानं पञ्चेन्द्रियाणां निग्रहः कषायाणामपि।
तस्मात् पञ्चमकाले प्रवचन-साराभ्यासमेव कुर्यात्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (अज्झयणमेव झाणं) **अध्ययनम्, शास्त्राध्ययनं स्वाध्यायो वा, तदध्ययनमेव ध्यानम्। ध्यानं च एकाग्रचिन्तानिरोधः, तस्मिन् ध्याने कारण-त्वादध्ययनमपि ध्यानमुच्यते, कारणे कार्योपचारात्।**

इस प्रकार हे भव्य! ज्ञानाभ्यास में सदा प्रयत्नशील रहो, ताकि स्वपरतत्त्व का ज्ञान और उसके बाद ध्यान-सिद्धि के माध्यम से कर्मक्षय सम्भव हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु जिनागम का अभ्यास करना चाहिए —इसे शास्त्रकार गाहिणी छन्द के द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— (वर्तमान) पंचम काल में अध्ययन ही ध्यान है। इस से पाँचों इन्द्रियों व कषायों का निग्रह भी होता है। इसलिए प्रवचन (जैन सिद्धान्त) के सारभूत (तत्त्व) का अभ्यास करना ही चाहिए।।90।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(अध्ययनमेव ध्यानम्)** अध्ययन यानी शास्त्र का अध्ययन या स्वाध्याय, वह अध्ययन ही ध्यान है। ध्यान का अर्थ है— एकाग्र चिन्ता-निरोध। उस ध्यान में अध्ययन कारण है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार (व्यवहार) करके अध्ययन को भी ध्यान कहा गया है।

इति 'सज्झायं कुव्वंतो भिक्खू एगग्गमणो होदि' **इति मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-४१०) **तथा प्रवचनसारग्रन्थे** (३/३२-३३) **च यदुक्तं तदाधृत्य शास्त्राध्ययनमेकाग्रतायां साधनमिति प्राग् गाथायाः** (गाथा-८९) **व्याख्याने प्रतिपादितमपि। शास्त्राध्ययनस्यान्यदपि फलं किम्? तदेवोच्यते—** (पंचेन्दिय निग्गहं कसायं पि) **शास्त्राध्ययनादेकाग्रता तु भवत्येव, पञ्चानामिन्द्रियाणां निग्रहः, कषायाणामपि निग्रहो भवति—इत्यर्थः। अपिपदेन मनसोऽपि निग्रहो भवतीति सूच्यते।**

स्वाध्यायेन मनोजयो भवतीति तत्त्वानुशासने (श्लोक-७९) **प्रोक्तमपि—**

संचिन्तयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः।
जयत्येव मनः साधुः, इन्द्रियार्थपराङ्मुखः।।

मनोजयेन स्वत एवेन्द्रियजयः सिद्ध्यति। प्रोक्तं च तत्त्वानुशासनग्रन्थे (श्लोक-७६)—

'स्वाध्याय करता हुआ भिक्षु एकाग्रमन होता है' —यह मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-410) में कहा गया है और प्रवचनसार ग्रन्थ (3/32-33) में भी यही जो कुछ कहा गया है —इसके आधार पर पूर्व गाथा (सं. 89) के व्याख्यान में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि शास्त्राध्ययन एकाग्रता (की सिद्धि) में साधन है। शास्त्राध्ययन का क्या कोई अन्य फल भी है? हाँ? उसे ही बता रहे हैं— **(पञ्चेन्द्रियाणां निग्रहः कषायाणामपि)** शास्त्राध्ययन से एकाग्रता तो सिद्ध होती ही है, पाँचों इन्द्रियों का निग्रह तथा कषायों का भी निग्रह होता है —यह अर्थ है। 'अपि' (भी) पद से यह सूचित है कि मन का निग्रह भी होता है।

स्वाध्याय से मनोजय होता है —यह तत्त्वानुशासन (श्लोक-79) में कहा भी गया है—

''जो साधक सदा अनुप्रेक्षाओं (अनित्य आदि भावनाओं) का अच्छी तरह चिन्तन करता है, और जो स्वाध्याय में उद्यमी एवं विषयों से पराङ्मुख रहता है, वह अवश्य ही मन को जीत लेता है।''

मनोजय से स्वतः ही इन्द्रिय-जय की सिद्धि हो जाती है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-76) में कहा भी गया है—

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मनः प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्मात्, जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः।।

प्रोक्तकथनस्यायमाशयः— शास्त्राध्ययनं मनःसहितपञ्चेन्द्रियाणां निग्रहं करोति, कषाय-नियन्त्रणमपि करोति। अर्थात् शास्त्राध्ययनेन मनोजयः कषायनिग्रहश्च सुकरतया भवतः। अयं स्वाध्यायतपसो महिमैव विज्ञेयः। एवं शास्त्राध्ययनं ध्यानसिद्धौ साधनं भवति, इत्येवंकारणाद् 'अध्ययनं ध्यानमेव' इत्यर्थः प्रतिफलति। कषायनिग्रहो मनोजयश्चेत्यादिकं ध्यानसामग्रीरूपेण तत्त्वानुशासनग्रन्थे (श्लोक-७५) **निरूपितमपि—**

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणम्।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मनि।।

वस्तुतः श्रुताध्ययनस्य विशिष्टफलं मनोजयः। मनोजयाभावे श्रुताध्ययनं व्यर्थमेव। प्रोक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (२०/२७/१०९९)—

''इन्द्रियों की प्रवृत्ति व निवृत्ति में मन ही समर्थ है, अतः मन को ही जीतना चाहिए। मन को जीत लेने पर व्यक्ति इन्द्रियों पर विजयी हो (ही) जाता है।''

उक्त कथन का आशय यह है— शास्त्रों का अध्ययन मन सहित पाँचों इन्द्रियों का निग्रह करता है और कषायों का नियन्त्रण भी करता है, अर्थात् शास्त्राध्ययन से मनोजय व कषायनिग्रह सरलता से हो जाते हैं। यह स्वाध्याय तप की महिमा ही समझनी चाहिए। इस तरह वह (शास्त्राध्ययन) ध्यान की सिद्धि में साधन होता है —इस कारण से 'अध्ययन ही ध्यान है' यह अर्थ प्रतिफलित होता है। कषाय-निग्रह व मनोजय आदि का 'ध्यान की सामग्री' रूप में निरूपण तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-75) में इस प्रकार किया गया है—

''परिग्रह-त्याग, कषायों का निग्रह, व्रतों का धारण, मन व इन्द्रियों की जय —ये सब ध्यान की उत्पत्ति में सहायभूत सामग्री हैं।''

वस्तुतः श्रुताध्ययन का विशिष्ट फल मनोजय है। मनोजय न हो तो श्रुत-अध्ययन व्यर्थ ही होता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (20/27/1099) में कहा भी गया है—

तप:श्रुतयमज्ञानतनुक्लेशादिसंश्रयम् ।
अनियन्त्रितचित्तस्य स्यान्मुनेस्तुषकण्डनम्।।

किञ्च, मन:शुद्ध्यैव ध्यानसिद्धि:। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (२०/१४/१०८६)—

ध्यानसिद्धिं मन:शुद्धि: करोत्येव न केवलम्।
विच्छिनत्त्यपि नि:शङ्का कर्मजालानि देहिनाम्।।

(तत्तो पंचमयाले पवयणसारब्भासमेव कुज्जाहो) **एतस्मात् पूर्वप्रतिपादितात् कारणात्, शास्त्राध्ययनस्य ध्यानमनोजयहेतुत्वाच्च, अस्मिन् वर्तमाने पञ्चमकाले प्रवचनसारस्य जिनवाणी-सारभूतस्य शास्त्रस्य अभ्यासमेव, शास्त्राध्ययनमेव कुर्यात् इति गाथाया उपदेशसार:।**

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य, हे भव्य! सर्वाभीष्टफलप्रदे जिनवाणीस्वाध्यायकर्मणि सततं निजोद्यमं विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

"जिस मुनि का मन वश में नहीं हुआ है, उसका तप, शास्त्राभ्यास, संयम, ज्ञान और कायक्लेश आदि का आश्रय लेना वैसे ही व्यर्थ है, जैसे भूसे को कूटना।"

और, मन:शुद्धि होने पर ही ध्यान की सिद्धि होती है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (20/14/1086) में कहा भी गया है—

"मन:शुद्धि केवल ध्यान की सिद्धि ही नहीं करती, वह निश्चित रूप से प्राणियों के कर्म-जाल को भी छिन्न-विच्छिन्न कर देती है।"

(तस्मात् पञ्चमकाले प्रवचनसाराभ्यासमेव कुर्यात्) इस पूर्वप्रतिपादित कारण से, तथा शास्त्राध्ययन चूँकि ध्यान का एवं मनोजय का हेतु है, इसलिए भी इस वर्तमान पञ्चम काल में प्रवचनसार यानी जिनवाणी के सारभूत शास्त्र का अभ्यास ही यानी शास्त्राध्ययन ही कर्तव्य है —यह गाथा का उपदेशात्मक सार है।

इस तरह, हे भव्य! अच्छी तरह तत्त्वज्ञान प्राप्त कर, समस्त अभीष्ट फल को देने वाले जिनवाणी के स्वाध्याय कार्य में निरन्तर अपना उद्यम करते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति (सम्यक्) **ज्ञानमेव धर्मध्यानम्— इति शास्त्रकारा गाहिणीछन्दसा निरूपयन्ति —**

पावारम्भणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणिदं सव्वजीवाणं।। ९१ ।।

छाया— पापारम्भनिवृत्तिः पुण्यारम्भे प्रवृत्तिकरणमपि।
ज्ञानं धर्मध्यानं जिनभणितं सर्वजीवेभ्यः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (जिणभणिदं सव्वजीवाणं) **सर्वेषां जीवानां कृते, तत्कल्याणाय जिनेन्द्रेण कथितमुपदिष्टम्। जिनवचनं स्वभावतः समस्तदुःखक्षयकरणसमर्थं भवत्येव, अतस्तदेव श्रद्धेयं ज्ञेयमनुष्ठेयं च भवतीति निर्विवादम्।**

उक्तं च दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१७)—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूयं।
जरमरणवाहिहरणं खयकरणं सव्वदुक्खाणं।।

अब, (सम्यक्) ज्ञान ही धर्मध्यान है— इसे शास्त्रकार गाहिणी छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— पाप-आरम्भ (हिंसादि कार्य) से निवृत्ति का और पुण्य-कार्य में प्रवृत्ति करने का तथा (सम्यक्) ज्ञान रूप धर्मध्यान का (उपदेश रूप) कथन सभी जीवों के लिए भगवान् जिनेन्द्र ने किया है।।91।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(जिनभणितं सर्वजीवेभ्यः)** सब जीवों के लिए, सभी जीवों के कल्याण के लिए, जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है —उपदेश दिया है। जिनवचन स्वभावतः समस्त दुःखों को क्षय करने में समर्थ होता ही है, इसलिए वही श्रद्धायोग्य है, जानने योग्य है और वही करने योग्य है —यह निर्विवाद (सत्य) है।

दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-17) में भी कहा गया है—

''यह जिनवचन रूपी औषधि विषय-सुख को दूर करने वाली है, अमृतरूप है, जरा-मरण रूपी व्याधि की पीड़ा को हरने वाली है तथा समस्त दुःखों का क्षय करने वाली है।''

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-८५) **च भणितम्—**

एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु।
संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं।।

जिनभणितं साररूपेण किम्? उच्यते— (पावारम्भणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि) **पापारम्भात्, हिंसा-असत्य-चौर्य-कुशील-परिग्रहादिकात् निवृत्तिः, विरतिः, तथैव पुण्यारम्भे च प्रवृत्तिः, अर्थात् देवपूजायां, गुरूपासनायां, स्वाध्याये, एकदेशसंयमानुष्ठाने, उत्तममध्यमजघन्य-पात्राण्युद्दिश्य विधीयमाने चतुर्विधे दाने, यथाशक्ति जप-तपोव्रतपालने, तीर्थयात्रायां, जिनवाणी-प्रचारप्रकाशनादिकार्ये, तीर्थक्षेत्रोद्धारे, जीवदयाश्रितकार्ये च प्रवृत्तिः प्रवर्तनं वा।**

एतत्सर्वं जिनेन्द्रदेवेन भणितम्, व्यवहारचारित्ररूपेण पालनीयमित्युपदिष्टमित्याशयः। उक्तं च बृहद्द्रव्यसंग्रहग्रन्थे (गाथा-४५)—

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-85) में भी कहा गया है—

''इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा बार-बार कहे गये जो वचन हैं, वे मुनियों व श्रावकों -दोनों के संसार (बन्धन) को नष्ट करने वाले हैं और सिद्धि को प्राप्त कराने में उत्कृष्ट कारण स्वरूप हैं।''

सार रूप में जिनेन्द्र भगवान् का कथन है क्या? बता रहे हैं— **(पापारम्भनिवृत्तिः पुण्यारम्भे प्रवृत्तिकरणमपि)** पापारम्भ से अर्थात् हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील (अब्रह्मचर्य) व परिग्रह आदि से निवृत्ति यानी विरति, उसी तरह पुण्यारम्भ में प्रवृत्ति अर्थात् देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, एकदेश संयम का अनुष्ठान, उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्रों को उद्देश्य से दिया जाने वाला चतुर्विध दान, यथाशक्ति जप, तप व व्रत का पालन, तीर्थयात्रा, जिनवाणी का प्रचार व प्रकाशन आदि का कार्य, तीर्थक्षेत्रों का उद्धार, जीवदया से जुड़े कार्य —इनमें प्रवृत्ति या प्रवृत्त होना।

इन सबका कथन जिनेन्द्र भगवान् ने किया है, व्यवहार चारित्र रूप में इनका पालन करने का उपदेश दिया है —यह आशय है। बृहद्द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-45) में भी कहा गया

असुहादो विणिवित्ती, सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणयादु जिणभणियं।।

रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-४९) **च भणितम्—**

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थेऽपि (गाथा-३८) **निर्दिष्टम्—** चारित्तं परिहारो पयंपियं जिणवरिंदेहिं।

(णाणं धम्मज्झाणं) **ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमेवात्र गृह्यते। तदेव धर्मध्यानं जिनेन्द्रदेवेन सम्यग्ज्ञानमेव धर्मध्यानम्, अर्थात् सम्यग्ज्ञानाराधनामेव धर्मध्यानमवेहीति जिनेन्द्रदेवेन भणितम्। यद्वा सम्यग्ज्ञानं धर्मध्यानं चेत्युभयं जिनेन्द्रदेवेन समुपदिष्टम्।**

है—

''अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभकार्यों में प्रवृत्ति —उसे व्यवहार चारित्र जानें। वह (व्यवहार चारित्र)व्रत, समिति व गुप्ति रूप है —ऐसा व्यवहार नय से जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है।''

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-49) में भी कहा गया है—

''पाप कर्मों के आस्रव के कारण— हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन व परिग्रह से विरत होना, यह सम्यग्ज्ञानी जीव का चारित्र होता है।''

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-38) में भी कहा गया है— ''(पाप आदि का)परिहार चारित्र होता है —ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने बताया है।''

(ज्ञानं धर्मध्यानं) ज्ञान से सम्यग्ज्ञान का यहाँ ग्रहण करना चाहिए। उसी को जिनेन्द्र भगवान् ने धर्मध्यान कहा है। वही (सम्यग्ज्ञान ही) धर्मध्यान है, अर्थात् सम्यग्ज्ञान आराधना को ही धर्मध्यान जानें —ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। अथवा, सम्यग्ज्ञान और धर्मध्यान —इन दोनों का उपदेश जिनेन्द्र भगवान् ने दिया है।

गाथाया द्वितीयव्याख्यानप्रकारोऽपि भवति। पापारम्भनिवृत्तिः, पुण्यकार्येषु च प्रवृत्तिः— इत्येतयोरनुष्ठाने कारणभूतं सम्यग्ज्ञानमेव भवति, तदेव धर्मध्यानमपि —इति जिनेन्द्रेण भणितमिति। पापनिवृत्तिः यद्वा पुण्यप्रवृत्तिर्ज्ञाने सत्येव भवति, ज्ञानाभावे कर्तव्याकर्तव्यविवेकस्याप्यभावात्।

उक्तं च भगवती—आराधनाग्रन्थे (गाथा-९)—

कायव्वमकायव्वयत्ति णाऊण होइ परिहारो।
तं चेव हवइ णाणं तं चेव य होइ सम्मत्तं।।

दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-15) **च भणितम्—**

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।।

गाथा का दूसरी तरह से भी व्याख्यान सम्भव है। पापारम्भ से निवृत्ति और पुण्य कार्यों में प्रवृत्ति —इन दोनों के अनुष्ठान के पीछे प्रमुख कारण सम्यग्ज्ञान ही है —वही सम्यग्ज्ञान धर्मध्यान भी है —ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का कहना है। चाहे पाप से निवृत्ति हो या पुण्य में प्रवृत्ति हो, वह ज्ञान के सद्भाव में ही होती है, क्योंकि ज्ञान के अभाव में कर्तव्य व अकर्तव्य सम्बन्धी विवेक नहीं रहता।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-9) में कहा भी गया है—

''यह कर्तव्य है और यह अकर्तव्य है—इस प्रकार जानकर ही त्याग होता है और यह जानना ही ज्ञान है और यही सम्यक्त्व (भी) है।''

दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-15) में भी कहा गया है—

''सम्यग्दर्शन से सम्यग्ज्ञान होता है और उस सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है और उस उपलब्धि के कारण जीव श्रेय या अश्रेय (सेवनीय या असेवनीय)को जानने-समझने लगता है।''

किञ्च, सम्यग्ज्ञाने सति विषयविरक्तिः, तया च धर्मध्यानं सुकरं भवति। विषयविरक्तिधर्मध्यानसामग्रीरूपेण तत्र साधिका भवति। ज्ञानवैराग्यसम्पन्न एव ध्याता भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (२५/३/१२६९)—

ज्ञानवैराग्यसम्पन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते।।

ज्ञानेन विषयविरक्तिर्भवतीति शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-४०) **प्रोक्तम्—** सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं।

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-२६८) **च निर्दिष्टम्—**

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।

तत्त्वनिश्चयोऽपि ध्यानयोगस्य साधको भवतीति ज्ञानार्णवग्रन्थे (२०/१/१०७१) **प्रोक्तम्—**

और, सम्यग्ज्ञान होने पर विषय-विरक्ति होती है और उससे धर्मध्यान सुकर हो जाता है। विषय-विरक्ति धर्मध्यान की सामग्री के रूप में वहाँ साधक होती है। ज्ञान-वैराग्य से सम्पन्न ही 'ध्याता' होता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (25/3/1269) में कहा भी गया है—

"ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न, मोक्षाभिलाषी, बन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व आदि परिणामों से रहित, चित्त की स्थिरता से युक्त, उद्यमी व शान्त, धीर 'ध्याता' ही प्रशंसनीय होता है।"

ज्ञान से विषय-विरक्ति होती है— यह शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-40) में बताया गया है— "और विषयविरक्ति ही शील है, ये दोनों ही ज्ञान हैं,इसके अतिरिक्त ज्ञान भला किसे कहें?"

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-268) में भी कहा गया है—

"जिससे राग (आदि) से विरक्ति हो, जिससे श्रेय (हित मार्ग) में अनुरक्ति हो, जिससे मैत्री की प्रभावना हो, वही जिन-शासन में 'ज्ञान' कहा जाता है।"

तत्त्वनिश्चय भी ध्यानयोग में साधक होता है— यह ज्ञानार्णव ग्रन्थ (20/1/1071) में कहा गया है—

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् संतोषात्तत्त्वनिश्चयात्।
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति।।

एवं ज्ञानं धर्मध्यानमेवेति कथनं संगच्छते। इत्येवं जिनोपदिष्टसम्यग्ज्ञानेन सह शुभकार्येषु प्रवृत्तः हे भव्य! धर्मध्यानात्मकक्रिया विधस्त्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति श्रुतज्ञानाभ्यासिनः एव तपश्चरणं समीचीनं भवतीति शास्त्रकारा गाहिणीछन्दसा निरूपयन्ति—

सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि सम्मं ण होदि तवयरणं।
कुव्वंतो मूढमदी संसारसुहाणुरत्तो सो।। ९२।।

छाया— श्रुतज्ञानाभ्यासं यो न करोति, सम्यक् न भवति तपश्चरणम्।
कुर्वन् मूढमतिः संसारसुखानुरक्तः सः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जो सुदणाणब्भासं ण कुणदि, तवयरणं सम्मं ण होदि। सो मूढमदी कुव्वंतो संसारसुहाणुरत्तो —इति गाथान्वयः।

''उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्वनिश्चय व देशत्याग —इन छः से मुनि को (ध्यान) योग की सिद्धि होती है।''

इस प्रकार, 'ज्ञान ही धर्मध्यान है' यह कथन संगत हो जाता है। इस तरह, जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट सम्यग्ज्ञान के साथ शुभ कार्यों में प्रवृत्त होते हुए हे भव्य! धर्मध्यान रूप क्रियाओं को करते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, श्रुतज्ञान का अभ्यास करने वाले का ही तपश्चरण समीचीन (यथार्थ) होता है— इसे शास्त्रकार गाहिणी छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— श्रुत (शास्त्र) का ज्ञानाभ्यास जो नहीं करता, उसका तपश्चरण समीचीन (यथार्थ) नहीं होता। (क्योंकि) वह (तब) तपश्चरण करता हुआ भी सांसारिक सुख में अनुरक्त होता है।।92।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यः श्रुतज्ञानाभ्यासं न करोति, तपश्चरणं सम्यक् न भवति। स मूढमतिः कुर्वन् संसारसुखानुरक्तः —यह गाथा का अन्वय है।

(सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि) **यः श्रुतज्ञानस्य अभ्यासं न करोति। श्रुतं च जिनप्रवचनमेव।**

उक्तं च राजवार्तिके (६/१३/२)— ''तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तगणधरावधारितं श्रुतम्।''

इदं द्रव्यश्रुतं भावश्रुतनिमित्तत्वात् 'श्रुतज्ञान'-**पदेन, आप्तप्रोक्तत्वात्** 'श्रुतज्ञानप्रमाण'-**पदेन चाभिधीयते। इदं सन्देहान्धकारनाशक्षममनादिनिधनं च भवति।**

उक्तं च जम्बूद्दीवपण्णत्तिसंगहग्रन्थे (१३/८२-८३)—

संदेहतिमिरदलणं बहुविहगुणजुत्त सग्गसोवाणं।
मोक्खग्गदारभूदं णिम्मलबुद्धि संदोहं।।

सव्वण्हुमुहविणिग्गयपुव्वावरदोसरहिदपरिसुद्धं ।
अक्खयमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं।।

(श्रुतज्ञानाभ्यासं यो न करोति) जो श्रुतज्ञान का अभ्यास नहीं करता। श्रुत से तात्पर्य यहाँ जिनप्रवचन से ही है।

राजवार्तिक (6/13/2) में कहा गया है— ''वह (सर्वज्ञ द्वारा) उपदिष्ट, जिसे अतिशय बुद्धि व ऋद्धि के धारक गणधरों ने धारण किया, 'श्रुत' कहलाता है।''

यह द्रव्यश्रुत भावश्रुत के ज्ञान में कारण होता है, इसलिए 'श्रुतज्ञान' पद से, तथा आप्त-कथित होने से 'श्रुतज्ञान प्रमाण' पद से भी कहा जाता है। यह सन्देह रूपी अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ एवं अनादिनिधन है।

जम्बूद्दीवपण्णत्तिसंगह ग्रन्थ (13/82-83) में कहा गया है—

''यह सन्देह रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला होता है, यह बहुत प्रकार के गुणों से युक्त, स्वर्ग का सोपान, मोक्ष का मुख्य द्वार, तथा निर्मल व उत्तम बुद्धियों का समूह रूप होता है।

''यह सर्वज्ञ के मुख से निर्गत, पूर्वापर-विरोध रूप दोष से रहित व शुद्ध, श्रुतज्ञान प्रमाण अक्षय व अनादिनिधन होता है।''

श्रुतज्ञानस्य एकचत्वारिंशत्पर्यायाः षट्खण्डागमग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-५, सू. ५०, पृ. २८०) **प्रोक्ताः—**"पावयणं पवयणीयं पवयणट्ठो गदीसु मग्गणदा, आदा, परंपरलद्धी, अणुत्तरं, पवयणं, पवयणी, पवयणद्धा, पवयणसण्णियासो, णयविधी, णयंतरविधी, भंगविधी, भंगविधिविसेसो, पुच्छाविधी, पुच्छाविधिविसेसो, तच्चं, भूदं, भव्वं, भवियं, अवितथं, अविहदं, वेदं, णायं, सुद्धं, सम्माइट्ठी, हेदुवादो, णयवादो, पवरवादो, मग्गवादो, सुदवादो, परवादो, लोइयवादो, लोगुत्तरीयवादो, अग्गं, मग्गं, जहाणुमग्गं, पुव्वं, जहाणुपुव्वं, पुव्वादिपुव्वं चेदि। (सू. ५०) 'एदे सुदणाणस्स इगिदालीसं परियायसद्दा' (धवला)।"

एते सर्वे पर्यायाः अन्वर्थकाः। विस्तरार्थस्तु तत्रैव धवलाटीकायां द्रष्टव्यः।

श्रुतं यतो हि अध्येतुर्मनसि रत्नत्रयप्राप्तिहेतुभूतं श्रुतज्ञानमुत्पाद्य मोक्षप्राप्त्यै सहकारि भवत्यतस्तस्य अभ्यासः, वारं वारं स्वाध्यायः कर्तव्यः। किन्तु मनुष्यगतिं प्राप्य, सद्धर्मश्रवणादि-अनुकूलपरिस्थितिं च प्राप्यापि श्रुताभ्यासं न कुर्वन्ति, तेषां विषये शास्त्रकाराः प्ररूपयन्ति—

श्रुतज्ञान के इकतालीस पर्याय षट्खण्डागम ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 50, पृ. 280) में इस प्रकार कहे गये हैं— "प्रावचन, प्रवचनीय, प्रवचनार्थ, गतियों में मार्गणता, आत्मा, परम्परालब्धि, अनुत्तर, प्रवचन, प्रवचनी, प्रवचनाद्धा, प्रवचनसंनिकर्ष, नयविधि, नयान्तर विधि, भंगविधि, भंगविधिविशेष, पृच्छाविधि, पृच्छाविधिविशेष, तत्त्व, भूत, भव्य, भविष्यत्, अवितथ, अविहत, वेद, न्याय, शुद्ध, सम्यग्दृष्टि, हेतुवाद, नयवाद, प्रवरवाद, मार्गवाद, श्रुतवाद, परवाद, लौकिकवाद, लोकोत्तरीयवाद, अग्रय, मार्ग, यथानुमार्ग, पूर्व, यथानुपूर्व और पूर्वातिपूर्व —ये श्रुतज्ञान के पर्याय हैं। (सू. 50) 'ये श्रुतज्ञान के इकतालीस पर्याय हैं।' (धवला)

ये सभी पर्याय अन्वर्थक हैं (प्रत्येक का अपना अपना विशिष्ट अर्थ है)। इनके (पृथक्-पृथक्) अर्थ को विस्तार से वहीं धवला टीका में देखा जा सकता है।

चूँकि (द्रव्य) श्रुत अध्येता के मन में रत्नत्रय की प्राप्ति में हेतु 'श्रुतज्ञान' को उत्पन्न कर मोक्ष की प्राप्ति में सहकारी होता है, इसलिए उसका अभ्यास, यानी बार-बार स्वाध्याय करना चाहिए। किन्तु मनुष्य-गति को प्राप्त कर और सद्धर्म-श्रवण आदि की अनुकूल परिस्थिति प्राप्त करके भी जो श्रुत-अभ्यास नहीं करते, उनके विषय में शास्त्रकार कह रहे हैं—

(सम्मं ण होदि तवयरणं) **ते तपश्चरणं तु कुर्वन्ति, किन्तु तेषां तपश्चरणं समीचीनं न भवति, प्रयोजनसिद्ध्यै न समर्थं भवति, निरर्थकमेव भवतीत्याशयः। शास्त्रकारेण ग्रन्थेऽत्र पूर्वमपि** (गाथा-८७, ८९) **ज्ञानहीनतपसो निष्प्रयोजनत्वं तथा ज्ञानाभ्यासरहितस्य कर्मक्षयेऽसामर्थ्यं च प्रतिपादितमेव, अतस्तस्यैव विशदीकरणमत्र कृतमिति विज्ञेयम्।**

किञ्च, श्रुतज्ञानाभ्यासे कृते मोहक्षयः, तत्त्वार्थश्रद्धानम्, पदार्थयाथात्म्यावगमश्चेत्यादिका लाभा भवन्ति, तदभावे तु सम्यक्त्वहीनत्वात् तत्तपश्चरणं बालतप एव, अतस्तस्य निरर्थकत्वमेव भवति।

अतएव पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (१/५०) **परामृष्टम्—**

अभ्यस्यतान्तरदृशं किमु लोकभक्त्या, मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन।
एतद् द्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः, क्लेशैश्च किं किमपरैः प्रचुरैस्तपोभिः।।

(सम्यक् न भवति तपश्चरणम्) वे तप तो करते हैं, किन्तु उनका तप समीचीन (यथार्थ) नहीं होता, प्रयोजन की सिद्धि में समर्थ नहीं होता, निरर्थक ही होता है —यह आशय है। शास्त्रकार ने इसी ग्रन्थ में पहले भी (गाथा-87 व 89 में) ज्ञानहीन तप की निष्प्रयोजनता को तथा ज्ञानाभ्यास-रहित की कर्मक्षय करने में अक्षमता का प्रतिपादन किया ही है, इसलिए उसी (पूर्वकथन) का स्पष्टीकरण यहाँ किया गया है —यह जानें।

और, श्रुतज्ञान का अभ्यास कर लिया जाय तो मोह का क्षय, तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान तथा पदार्थों का यथार्थ ज्ञान आदि-आदि लाभ होते हैं, किन्तु उसके अभाव में सम्यक्त्व-रहित स्थिति होने के कारण उनका तपश्चरण 'बालतप' ही होता है, इसलिए वह निरर्थक ही होता है।

इसीलिए पद्मनन्दिपंचविंशतिका ग्रन्थ (1/50) में कहा गया है—

"हे मुनिजन! अपने सम्यग्ज्ञान रूप अभ्यन्तर नेत्र का अभ्यास (प्रयोग) करें। आपको लोकभक्ति से क्या प्रयोजन है? इसके अतिरिक्त, आप मोह को कृश (क्षीण) करें। मात्र शरीर को कृश (क्षीण) करने से कोई लाभ होने वाला नहीं है, क्योंकि यदि ये दोनों बातें (मोहक्षय व सम्यग्ज्ञान) नहीं हैं तो फिर उनके बिना बहुत से यम-नियमों से, कायक्लेशों से एवं दूसरे प्रचुर तपों से कुछ भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होने वाला है।"

अतएव मोहक्षय-सम्यग्ज्ञानादिप्राप्त्यै आगमाभ्यासस्य कर्तव्यतां प्रवचनसारग्रन्थे (१/८६) **शास्त्रकाराः प्रतिपादितवन्तः—**

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदे णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।।

कथं च तस्य श्रुतज्ञानाभ्यासहीनस्य तपश्चरणं वृथैव भवति? समाधीयते— (कुव्वंतो सो मूढमदी संसारसुहाणुरत्तो) **यतः स ज्ञानाभ्यासरहितो जीवः तपः कुर्वन्नपि मूढमतिः, तथा संसारसुखानुरक्तः एव। मोहसद्भावेन विषयासक्तिसद्भावेन च तत्कृतं तपश्चरणं सम्यक्तपो न भवति, तेन च कर्मक्षयाभावः इत्याशयः।**

पूर्वमपि शास्त्रकारेण ग्रन्थेऽमुत्र (गाथा-९०) **शास्त्राध्ययनेन इन्द्रियकषायनिग्रहो भवतीत्युक्तम्, शास्त्राध्ययनाभावे तस्य जितेन्द्रियता न भवति, विषयवैराग्यमपि न भवति, भेदज्ञानाभावात् परपदार्थेष्वात्मीयबुद्ध्या प्रवर्तते, ततश्च विषयसुखाकांक्षाऽपि वर्धते—इति भावः।**

इसीलिए, मोहक्षय व सम्यग्ज्ञान आदि की प्राप्ति हेतु आगमाभ्यास करना चाहिए— ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (1/86) में शास्त्रकार ने प्रतिपादित किया है—

''जिन-शास्त्र से निश्चित ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा पदार्थों का ज्ञान होता है और मोह का क्षय भी होता है, इसलिए शास्त्रों का अध्ययन करना (ही) चाहिए।''

श्रुतज्ञान के अभ्यास से रहित व्यक्ति का तप वृथा किस प्रकार होता है? इसका समाधान दे रहे हैं— **(कुर्वन् स मूढमतिः संसारसुखानुरक्तः)** क्योंकि वह ज्ञानाभ्यास से रहित जीव तप करते हुए भी, मूढ़मति और संसार-सुख में अनुरक्त ही होता है (इसलिए)। मोह के बने रहने से और विषयासक्ति के कारण उसके द्वारा किया गया तप 'सम्यक् तपश्चरण' नहीं होता, इसलिए उससे कर्मक्षय भी नहीं होता —यह आशय है।

पहले भी शास्त्रकार ने इसी ग्रन्थ में (गाथा-90 में) यह कहा है कि शास्त्राध्ययन से इन्द्रियों व कषायों का निग्रह होता है। शास्त्राध्ययन न होने पर वह जितेन्द्रिय नहीं हो पाता, विषय-विरक्ति भी नहीं हो पाती, भेदज्ञान के अभाव में पर-पदार्थों में आत्मीय बुद्धि से प्रवृत्ति होती है, जिसके परिणामस्वरूप विषय-सुख की आकांक्षा भी बढ़ती जाती है —यह भाव है।

बाह्यरूपेण तपःकुर्वतोऽपि अन्तरङ्गे सुखासक्तिरूपकालुष्यं दधतो जनस्य अश्वविष्ठासदृशी स्थितिर्भवति। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१३४१)—

घोडगलिंडसमाणस्स तस्स अब्भंतरम्मि कुधिदस्स।
बाहिरकरणं किं से काहिदि बगणिहुदकरणस्स।।

अत एवोक्तं पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/४४४)—

नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यरागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः।।

वस्तुतो ज्ञानाभ्यासेनैव रागादिदहनं सम्भवति, नान्यथा। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (१८२ श्लोक)—

बाह्य रूप से वह तप कर भी रहा है, किन्तु अन्तरङ्ग में सुखासक्ति रूप कलुषता धारण करते रहने से उस जीव की स्थिति घोड़े की लीद जैसी होती है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1341) में कहा भी गया है—

''जैसे घोड़े की लीद ऊपर से चिकनी भीतर से खुरदरी होती है, वैसे ही किसी का बाह्य आचरण तो समीचीन होता है, किन्तु आन्तरिक परिणाम शुद्ध नहीं होते, उसे घोड़े की लीद के समान कहा गया है। (आभ्यन्तर परिणाम-शुद्धि न होने से) बाह्य क्रिया क्या करेगी? वह तो नदी के तट पर स्थिरचित्त बैठे (और मन में मछली खाने की भावना लिए हुए) बगुले की तरह ही है।''

इसी दृष्टि से पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (श्लोक-2/444) में कहा गया है—

''मिथ्यादृष्टि के सदा राग आदि भावों का सद्भाव रहता है, इसलिए मात्र क्रिया रूप धर्म पाया जाता है, वास्तव में वह धर्म नहीं, अपितु अधर्म ही है।''

वस्तुतः ज्ञानाभ्यास से ही राग आदि का दहन (क्षय) सम्भव हो पाता है, अन्यथा नहीं। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-182) में कहा गया है—

मोहबीजाद् रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।।

एवं हे भव्य! श्रुतज्ञानाभ्यासजनितेन सम्यग्ज्ञानेन व्रततपश्चरणादिषु तत्परो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'हीणादाणवियार विहीणादो' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि' **इत्यादिगाथां यावत् द्वादशगाथात्मकः अष्टमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरमुनीन्द्रविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां अष्टमोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति अष्टमोऽधिकारः।।

''जैसे बीज से मूल व अंकुर पैदा होते हैं, वैसे ही मोह-बीज से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। अतः जो इन्हें जलाना चाहते हैं, वे ज्ञान रूपी आग से ही इसे जला सकते हैं।''

इस प्रकार, हे भव्य! श्रुतज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न सम्यग्ज्ञान के साथ व्रत, तपश्चरण आदि में तत्पर रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'हीणादाणवियार विहीणादो'** इत्यादि (गाथा-81) से लेकर **'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि'** इत्यादि (गाथा-92) तक, बारह गाथाओं वाला —यह अष्टम अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में अष्टम अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति अष्टमोऽधिकारः।।

।। नवमो अहियारो।।

(नवमोऽधिकारः)

अथेदानीं मुनिस्वरूपनिरूपणप्रवणो नवमोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्याधिकारस्य पातनिकां निर्दिशामः। अत्र 'तच्चवियारणसीलो' **इत्यादिकां** (सं. ९३) **गाथामादिं कृत्वा** 'ण सहंति इदरदप्पं' **इत्यादिगाथां** (सं. १०५) **यावत् त्रयोदशगाथाः सन्ति। तासु प्रथमा** 'तच्चवियारणसीलो' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९३) **वर्तते, या. निरूपयति यद् भावलिङ्गी मुनिवरो नित्यं तत्त्वविचारणशीलो भवतीति। ततः परं** 'विकहादिविप्पमुक्को' **इत्यादिका** (सं. ९४), 'णिंदावंचणदूरो' **इत्यादिका** (सं. ९५), 'अवियप्पो णिद्दंदो' **इत्यादिका** (सं. ९६), **एवं तिस्रो गाथाः सन्ति, यत्र मुनिराजस्वरूपं निरूपितमस्ति। तदनन्तरं** 'तिव्वं कायकिलेसं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९७) **वर्तते, यत्र मिथ्यात्वसहिततपसा निर्वाणं नैव प्राप्यते—इति निरूपितम्। ततः परं** 'रायादिमलजुदाणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९८) **वर्तते, या निरूपयति यत्सरागावस्थायां शुद्धात्मदर्शनं नैव सम्भवतीति। ततोऽनन्तरं** 'दंडत्तयसल्लत्तय' **इत्यादिका गाथा** (सं. ९९) **वर्तते, यत्र दीर्घसंसारिमुनिस्वरूपं निरूपितम्।**

।। नवम अधिकार।।

अब मुनि-स्वरूप का निरूपण करनेवाला नवम अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बता रहे हैं। इसमें **'तच्चवियारणसीलो'** इत्यादि गाथा (सं. 93) से लेकर **'ण सहंति इदरदप्पं'** इत्यादि गाथा (सं. 105) तक तेरह गाथा हैं। इनमें प्रथम गाथा **'तच्चवियारणसीलो'** इत्यादि गाथा (सं. 93) है, जो यह बताती है कि भावलिङ्गी मुनिवर नित्य तत्त्वविचारणाशील रहता है। इसके बाद, **'विकहादिविप्पमुक्को'** इत्यादि गाथा (सं. 94), **'णिंदावंचणदूरो'** इत्यादि गाथा (सं. 95), **'अवियप्पो णिद्दंदो'** इत्यादि गाथा (सं. 96), इस प्रकार तीन गाथा हैं, जिनमें मुनिराज के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसके बाद **'तिव्वं कायकिलेसं'** इत्यादि गाथा (सं. 97) है, जिसमें 'मिथ्यात्वसहित तप से निर्वाण नहीं प्राप्त होता' —यह बताया गया है। इसके बाद, **'रायादिमलजुदाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 98) है, जो यह बताती है कि सरागावस्था में शुद्धात्मदर्शन सम्भव नहीं होता। इसके अनन्तर, **'दंडत्तयसल्लत्तय'** इत्यादि गाथा (सं. 99) है, जिसमें दीर्घसंसारी मुनि के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

तदनन्तरं 'देहादिसु अणुरत्ता' **इत्यादिकायां गाथायां** (सं. १००) **सम्यक्त्वविहीनसाधुस्वरूपं भणितम्। तत्पश्चात्** 'आरंभे धणधण्णे' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०१), **तथा** 'संघविरोहकुसीला' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०२), **एवं द्वे गाथे भवतः, यत्र जिनधर्मविराधकस्वरूपं निर्दिष्टम्। ततश्च** 'जोइस वेज्जा मंतोवजीवणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०३) **मुनिभिरनाचरणीयाणां दूषितकार्याणां निर्देशं विदधाति। ततः परं** 'जे पावारंभरदा' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०४), **तथा** 'ण सहंति इदरदप्पं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०५), **एवं द्वे गाथे भवतः, यत्र सम्यक्त्वरहितसाधुस्वरूपं निरूपितमस्ति। एवं नवमाधिकारे समुदायपातनिका विज्ञेया।**

भावलिङ्गी मुनिवरो नित्यं तत्त्वस्वरूपविचारणशीलो भवतीति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

तच्चवियारणसीलो मोक्खपहाराहणासहावजुदो।
अणवरयं धम्मकहापसंगओ होदि मुणिराओ।। ९३।।

छाया— तत्त्वविचारणशीलः मोक्षपथाराधनास्वभावयुतः।
अनवरतं धर्मकथाप्रसङ्गो भवति मुनिराजः।।

इसके बाद, **'देहादिसु अणुरत्ता'** इत्यादि गाथा (सं. 100) में सम्यक्त्वविहीन साधु का स्वरूप बताया गया है। तदनन्तर, **'आरंभे धणधण्णे'** इत्यादि गाथा (सं. 101), तथा **'संघविरोहकुसीला'** इत्यादि गाथा (सं. 102) —इस प्रकार दो गाथा हैं, जिनमें जिनधर्म के विराधक का स्वरूप कहा गया है। इसके बाद, **'जोइस वेज्जा मंतोवजीवणं'** इत्यादि गाथा (सं. 103) में मुनियों द्वारा आचरण न करने योग्य (अर्थात्) दूषित कार्यों का निर्देश किया गया है। तदनन्तर, **'जे पावारंभरदा'** इत्यादि गाथा (सं. 104) तथा **'ण सहंति इदरदप्पं'** इत्यादि गाथा (सं. 105), इस प्रकार दो गाथा हैं, जिनमें सम्यक्त्वरहित साधु के स्वरूप का निरूपण हुआ है। इस प्रकार, नवम अधिकार की समुदाय पातनिका जाननी चाहिए।

भावलिङ्गी मुनिवर नित्य तत्त्वविचार (चिन्तन-मनन) करते रहते हैं— इसे गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— मुनिवर तत्त्व का चिन्तन-मनन करने वाले होते हैं, मोक्षमार्ग की आराधना करते रहने का भी उनका स्वभाव हुआ करता है, और उनके धर्मकथा का व्यसन रहा करता है।।93।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः स्पष्ट एव। (होदि मुणिराओ) **मुनिराजो भवति। मुनिषु राजते, यद्वा मुनीनां राजा, ईशः स मुनिराज उच्यते। श्रेष्ठ उत्तमो वा मुनिः** 'मुनिराज' **पदेनात्र अभिहितः। स कीदृशो भवति? तदेवात्र गाथायां स्पष्टीकृतम्—** (तच्चविचारणसीलो) **तत्त्वानि जीवादीनि, तेषां विचारणमेव शीलं स्वभावो वा यस्य स तत्त्वविचारणशीलः, तादृशो मुनिराजो भवति। तत्त्वविचारणायामेव आत्मानात्मविवेको भेदज्ञानं वा समुत्पद्यते। वस्तुतः साधुर्लोकव्यवहारविरतो भवति।**

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४०२)— 'लोयववहारविरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स' **इति। एवं लोकव्यवहारविमुखस्य तस्य विषयवैराग्यजन्म यदा भवति, तदैव आत्माभिमुखपरिणामः सततं प्रवर्तते, प्रशस्तध्यानपरम्पराऽपि तदा दृढीभवति। ततश्च रत्नत्रयाराधना सुकरा भवति। अत एव शास्त्रकारैः सर्वदा तत्त्वविचारणाय परामर्शो दत्तः।**

यथा, ज्ञानार्णवग्रन्थे (२३/१६) **प्रोक्तम्—**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अर्थ स्पष्ट ही है। **(भवति मुनिराजः)** मुनिराज होते हैं। मुनियों में जो विराजित (शोभित, प्रतिष्ठित) हैं, या जो मुनियों के राजा यानी ईश हैं, उन्हें मुनिराज कहा जाता है। यहाँ मुनिराज पद से श्रेष्ठ व उत्तम मुनि का कथन किया गया है। वे मुनिराज कैसे होते हैं? इसी को इस गाथा में स्पष्ट करते हुए कहा गया है— **(तत्त्वविचारणशीलः)** तत्त्व यानी जीव आदि (पदार्थ), उन्हीं का विचार करना शील या स्वभाव है जिसका, वह तत्त्वविचारणशील होता है, वैसे मुनिराज होते हैं। तत्त्व-विचारणा से ही आत्मा व अनात्मा का विवेक या भेदज्ञान उत्पन्न होता है। वस्तुतः साधु तो लोकव्यवहार से विरत होता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 402) में कहा भी है— 'लोकव्यवहार से विरत जो होता है, उसी के निर्ग्रन्थता होती है।' इस प्रकार लोकव्यवहार से विमुख हुए उस (मुनि) के विषय-वैराग्य जब उत्पन्न होता है, आत्माभिमुख परिणाम भी तभी प्रारम्भ होता है और प्रशस्त ध्यान की परम्परा भी तभी दृढ़ होती है। इससे रत्नत्रय की आराधना सरल होती है। इसी दृष्टि से शास्त्रकारों ने सतत तत्त्व-विचारणा करते रहने का परामर्श दिया है।

उदाहरणार्थ, ज्ञानार्णव ग्रन्थ (23/16) में कहा गया है—

अस्तरागो मुनिर्यत्र, वस्तुतत्त्वं विचिन्तयेत्।
तत्प्रशस्तं मतं ध्यानं सूरिभिः क्षीणकल्मषैः।।

समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५७) **च भणितम्—**

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषाम्, आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः।।

तत्रैव (श्लोक-२५) **निरूपितम्—** क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्याः, तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।।

प्रशमरतिप्रकरणग्रन्थे (श्लोक-१२९) **च निर्दिष्टम्—**

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।
जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः।।

"जिसका राग अस्त हो गया है, ऐसा वीतराग साधु जिस ध्यान में वस्तु के स्वरूप का विचार करता है, उसे ही क्षीणकल्मष (पापरहित) आचार्यों ने प्रशस्त ध्यान कहा है (अर्थात् वीतराग द्वारा किया गया ध्यान ही प्रशस्त ध्यान होता है)।"

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-57) में भी कहा गया है—

"(जो अन्तरात्मा होता है, वह) अपने आत्मस्वरूप में व्यवस्थित होकर अपने शरीर को 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं है' —ऐसी अनात्मबुद्धि से सदा देखता है और इसी प्रकार दूसरे जीवों के शरीरों को भी 'यह शरीर उनका आत्मा नहीं है' ऐसा वास्तविक रूप से जानता है।"

और, वहीं (श्लोक-25 में) भी कहा गया है— "मैं जब स्वयं को ज्ञानात्मक रूप में देख रहा होता हूँ, तब मेरे रागादि विकार स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।"

प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ (श्लोक-129) में भी कहा गया है—

"लौकिक चिन्ता को छोड़कर, आत्म-परिज्ञान के चिन्तन में तन्मय साधु लोभ, क्रोध व काम को जीतकर वेदनाहीन होता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"

इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक ३६-३७, ४१, ४४) **च निरूपितम्—**

अभवच्चित्तविक्षेपः एकान्ते तत्त्वसंस्थितः।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्वं निजात्मनः।।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।
तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि।।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति।।

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते।
अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्ध्यते न विमुच्यते।।

समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-८०) **च भणितम्—**

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक 36-37, 41 व 44) में भी कहा गया है—

''एकान्त में चित्त के विक्षेपों से रहित एवं तत्त्व-चिन्तन में संस्थित योगी एकान्त में निज आत्मतत्त्व का दृढ़तापूर्वक अभ्यास करे।''

''जैसे-जैसे साधु के स्वानुभव में उत्तम तत्त्व (अर्थात् आत्मतत्त्व) का प्रतिभास होता है, वैसे-वैसे स्वतः प्राप्त होने वाले विषयों से भी उसे विरक्ति होती जाती है (अर्थात् वे भी अच्छे नहीं लगते)।''

''जिसने आत्मतत्त्व को स्थिर कर लिया है, वह बोलता हुआ भी नहीं बोलता, चलता हुआ भी नहीं चलता और देखता हुआ भी नहीं देखता।''

''स्वात्म-तत्त्व में स्थित रहने वाले योगी की जब शरीरादि बाह्य पदार्थों में प्रवृत्ति नहीं होती और उनकी विशेषताओं यानी अच्छाई या बुराई आदि का अनुभव नहीं होता और न ही उन पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना होती है, तब वह कर्मों से नहीं बंधता, किन्तु छूटता ही है।''

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-80) में परामर्श दिया गया है—

पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत्।
स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत्।।

तत्रैव च (श्लोक-५०) **परामृष्टम्—**

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद् वाक्कायाभ्यामतत्परः।।

(मोक्खपहाराहणासहावजुदो) **मोक्षपथः मोक्षमार्गः, तस्य आराधनाया अनुष्ठानस्य वा यः स्वभावः, तेन स मुनिराजो युक्तो भवति। स्वभावत एव तस्य रुचिः प्रवृत्तिर्वा मोक्षमार्गानुष्ठान-सम्बद्धा भवतीत्याशयः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्य धारणादिकमेव आराधना भवति। आराधनायाः पर्यायाः भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२) **प्रोक्ताः—**

''जिसको आत्म-दर्शन हो गया है, ऐसे योगी को पहले यह जगत् उन्मत्त की तरह मालूम होता है, किन्तु फिर आत्म-दर्शन का अच्छी तरह अभ्यास हो जाने पर यह जगत् काठ व पत्थर की तरह मालूम होने लगता है।''

वहीं (श्लोक-50 में) यह परामर्श दिया गया है—

''आत्म-ज्ञान से भिन्न किसी दूसरे काम में कभी अधिक समय तक अपनी बुद्धि को न उलझाएँ। हाँ, प्रयोजनवश (अर्थात् परोपकार के लिए) कुछ करना ही पड़े तो अनासक्त होकर वाणी व शरीर से वह कार्य करें।''

(मोक्षपथाराधनास्वभावयुतः) मोक्षपथ यानी मोक्षमार्ग, उसकी आराधना या अनुष्ठान करने का जो स्वभाव होता है, उससे वह मुनिराज युक्त होता है। स्वभाव से ही उसकी रुचि या प्रवृत्ति मोक्षमार्ग अनुष्ठान से सम्बद्ध होती है —यह आशय है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग को धारण करना आदि ही उसकी आराधना होती है। आराधना के पर्याय भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2) में इस प्रकार कहे गये हैं—

उज्जोयणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया।।

एतेषां पर्यायाणां तात्पर्यमपि अनगारधर्मामृते (१/९६) **विशदीकृतं वर्तते—**

दृष्ट्यादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद्, वृत्तिः स्वस्योद्द्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य।
निर्वाहः स्यात् भवभयभृतः पूर्णता सिद्धिरेषाम्, निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते।।

मोक्षमार्गाराधना एकैव, तथापि सम्यग्दर्शनाराधना, सम्यग्ज्ञानाराधना, सम्यक् चारित्राराधना, सम्यक्तप-आराधना इत्यादिभेदैरपि निरूप्यते। परमार्थदृष्ट्या एताः सर्वा आराधनाः आत्माराधना, स्वभावाराधना वा ज्ञेया। उक्तं च 'बारस अणुवेक्खा' **ग्रन्थे** (गाथा-१३)—

''सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र व तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधन (दर्शनादि परिणाम-निष्पत्ति) और निस्तरण —ये सब 'आराधना' कही गई हैं।''

इन पर्यायों का तात्पर्य (निर्युक्तिपरक अर्थ) भी अनगारधर्मामृत (1/96) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व तप —इन के दोषों को दूरकर, उन्हें निर्मल करने को आचार्यों ने 'उद्योतन' कहा है। उनमें सदा स्वयं को एकमेव रूप से वर्तन करना 'उद्यवन' होता है। लाभ, पूजा, ख्याति आदि की अपेक्षा न करके निस्पृह भाव से उन सम्यग्दर्शन आदि को निराकुलतापूर्वक वहन करना निर्वहण (धारणा) है। संसार से भयभीत अपनी आत्मा में इन सम्यग्दर्शनादि परिणामों को पूर्ण करना साधन (सिद्धि) है। परीषह व उपसर्ग आने पर भी स्थिर रहकर अपने को मरणान्त तक ले जाना (अर्थात् समाधिपूर्वक मरण करना) 'निस्तरण' होता है।''

मोक्षमार्ग की आराधना एक ही है, तथापि सम्यग्दर्शन आराधना, सम्यग्ज्ञान-आराधना, सम्यक् चारित्र-आराधना एवं सम्यक् तप-आराधना —इत्यादि भेदों से भी उसका निरूपण होता है। परमार्थ दृष्टि से इन सभी आराधनाओं को (समग्रतया) आत्माराधना या स्वभाव-आराधना जानना चाहिए। बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ (गाथा-13) में कहा भी गया है—

सम्मत्तं सण्णाणं सचारित्तं हि सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।

यतो हि उद्योतनादिषु प्रोक्तेषु प्रवृत्तिः भक्तिरूपा भवति, अत आराधनासंज्ञया सा भण्यते। उक्तं च तत्रैव (१/९८)—

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेः, तद्गतातिशयेषु या।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते।।

बृहन्नयचक्रे (माइल्लधवलकृते, गाथा-३५) **च प्रोक्तम्—**

समदा तह मज्झत्थं सुद्धो भावो य वीयरायत्तं।
तह चारित्तं धम्मो सहावआराहणा भणिया।।

नियमसारग्रन्थे (गाथा-७५) **च साधोश्चतुर्विधाराधनानुरागो भवतीति निर्दिष्टम्।**

''सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन), सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप —ये चारों आत्मा में स्थित हैं, इसलिए मेरी तो आत्मा ही शरण (आराध्य) है।''

चूँकि 'उद्योतन' आदि जो कहे गये हैं, उनमें जो प्रवृत्ति है वह भक्तिरूप होती है, इसलिए उसे 'आराधना' कहा जाता है। इसीलिए वहीं (1/98 में) कहा गया है—

''सम्यग्दर्शन परिणाम को प्राप्त हुए (अर्थात् सम्यग्दृष्टि) व्यक्ति की सम्यग्दर्शन आदि में पाये जाने वाले 'उद्योतन' आदि रूप अतिशयों में जो प्रवृत्ति होती है, उसे सम्यग्दर्शनादि (रत्नत्रय) की भक्ति कहते हैं, वही 'आराधना' है।''

बृ. नयचक्र (माइल्ल धवलकृत, गाथा-35) में कहा भी गया है—

''समता, माध्यस्थ्य, शुद्ध भाव, वीतरागता, चारित्र व धर्म —ये सब स्वभाव-आराधना कहलाते हैं।''

नियमसार ग्रन्थ (गाथा-75) में भी 'साधु का चतुर्विध आराधना में अनुराग होता है'— ऐसा बताया गया है।

(अणवरयं धम्मकहापसंगओ) **अनवरतं, निरन्तरं सर्वकालम्, धर्मकथायामेव प्रसङ्गः अनुरागोऽपि तस्य मुनिराजस्य भवति। एतेन तस्य विकथासु कदाचिदपि प्रवृत्तिर्न भवतीत्यपि संसूचितमेव। विकथाविषये प्रागस्य ग्रन्थस्य** (गाथा-५९) **व्याख्याने निरूपितमेवेत्यतः पुनर्न निरूप्यते।**

सद्धर्मकथायाः स्वरूपं प्रोक्तम् 'आदिपुराणे' (१/१२०)—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसार्थसंसिद्धिरञ्जसा ।
सद्धर्मस्तन्निबद्धा या सा सद्धर्मकथा स्मृता।।

सद्धर्मकथा चतुर्विधा— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेजनी चेति। तासां प्रत्येक-कथायाः स्वरूपं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा ६५४-६५६) **निरूपितम्—**

आक्खेवणी य संवेगणी य णिव्वेयणी य खवयस्स।
पावोग्गा होंति कहा ण कहा विक्खेवणी जोग्गा।।

(अनवरतं धर्मकथाप्रसङ्गः) अनवरत यानी निरन्तर, सर्वदा, धर्मकथा में ही प्रसङ्ग यानी अनुराग भी उन मुनिराज का होता है। इस कथन से यह सूचित कर दिया गया है कि उसकी विकथाओं में प्रवृत्ति कभी नहीं होती। विकथाओं के विषय में इसी ग्रन्थ (गाथा-59) के व्याख्यान में पहले कहा जा चुका है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहा जा रहा है।

सद्धर्मकथा का स्वरूप आदिपुराण (1/120) में इस प्रकार बताया गया है—

''जिससे जीवों को (स्वर्गादि) अभ्युदय तथा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, वास्तव में वही सद्धर्म कहलाता है और उससे सम्बद्ध जो कथा होती है, वह सद्धर्मकथा होती है।''

सद्धर्मकथा चार प्रकार की होती हैं— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी व निर्वेजनी। इनमें प्रत्येक के स्वरूप को भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 654-656) में इस प्रकार बताया गया है—

''चार प्रकार की कथाएँ होती हैं— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेजनी। इनमें आक्षेपणी, संवेजनी व निर्वेजनी कथा श्रवण-योग्य होती हैं, किन्तु विक्षेपणी कथा नहीं।''

आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ।
ससमयपरसमयगदा कथा दु विक्खेवणी णाम।।

संवेयणी पुण कहा णाणचरित्ततववीरियइड्ढिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा सरीरभोगे भवोघे य।।

एवं मुनिराजः तत्त्वज्ञानविचारणादिप्रवृत्तः आत्मारामरूपेण परमसुखी सन्नेव तिष्ठति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३४)—

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते।।

आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-६५) **च भणितम्—**

"जिसमें ज्ञान व चारित्र का उपदेश हो, उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं। जिस कथा में स्वसमय व परसमय की चर्चा होती है (अर्थात् जिसमें परकीय सिद्धान्त का कथन तथा उसका खण्डन करने हेतु स्वसिद्धान्त का कथन होता है), वह विक्षेपणी कथा होती है।"

"ज्ञान, चारित्र व तपोभावना से उत्पन्न शक्ति-सम्पदा का निरूपण करने वाली कथा 'संवेजनी' होती है। शरीर, भोग व भव-सन्तति की ओर से विमुख करने वाली कथा 'निर्वेजनी' कही जाती है।'

इस प्रकार, मुनिराज तत्त्वज्ञान-विचारणा में प्रवृत्त होता हुआ 'आत्माराम' रूप में परम सुखी ही रहता है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-34) में कहा भी गया है—

"आत्मा व शरीर का विवेक ज्ञान हो जाने से जो आह्लाद उत्पन्न होता है, उससे आनन्दित होता हुआ तपस्वी घोर तप करते हुए पुरातन कर्मों के परिणाम स्वरूप होने वाली यातनाओं को भोगता हुआ भी कभी खिन्न (उद्विग्न) नहीं होता।"

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-65) में भी कहा गया है—

अर्थिनो धनमप्राप्य, धनिनोऽप्यवितृप्तितः।
कष्टं सर्वेऽपि सीदन्ति परमेको मुनिः सुखी।।

इत्येवं श्रेष्ठमुनेः स्वरूपादिकं विज्ञाय, हे भव्य! तदुत्तमस्थितिप्राप्त्यै श्रद्धानानुष्ठानतत्परो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

पुनरपि प्रकारान्तरेण गाथात्रयेण शास्त्रकारा उग्गाहा-गाहाछन्दोमाध्यमेन मुनिस्वरूपं विशदयन्ति—

विकहादिविप्पमुक्को आहाकम्मादिविरहिदो णाणी।
धम्मुद्देसणकुसलो अणुपेहाभावणाजुदो जोई।।९४।।

णिंदावंचणदूरो, परिसहउवसग्गदुक्ख सहमाणो।
सुहझाणज्झयणरदो गयसंगो होदि मुणिराओ।।९५।।

अवियप्पो णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ णियदो।
णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ।।९६।।

छाया— विकथादिविप्रमुक्तः, आधाकर्मादिविरहितः ज्ञानी।
धर्मदेशनाकुशलः, अनुप्रेक्षाभावनायुतो योगी।।

''धन की आकांक्षा वाले लोग धन को नहीं प्राप्त होकर दुःखी होते हैं और धनी प्राप्त धन से असन्तुष्ट होने के कारण दुःखी होते हैं। दुनिया में इस प्रकार सभी दुःखी हैं, केवल एक साधु ही सुखी है।''

इस प्रकार, श्रेष्ठ मुनि के स्वरूप आदि को जानकर हे भव्य! उस उत्तम स्थिति की प्राप्ति के लिए उसके श्रद्धान, व अनुष्ठान में तत्पर रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

पुनः अन्य प्रकार से तीन गाथाओं द्वारा शास्त्रकार उग्गाहा व गाहा छन्दों के माध्यम से मुनि के स्वरूप को स्पष्ट कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— वे योगी (मुनिराज) विकथा आदि से मुक्त रहते हैं, अधःकर्म आदि (दोषपूर्ण) क्रियाओं से रहित होते हैं, धर्मोपदेश देने में कुशल होते हैं, और बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना (चिन्तन) में निरत रहते हैं।।94।।

निन्दावञ्चनदूरः, परीषहोपसर्गदुःखं सहमानः।
शुभध्यानाध्ययनरतः गतसङ्गो भवति मुनिराजः।।

अविकल्पः निर्द्वन्द्वः निर्मोहः निष्कलङ्कः नियतः।
निर्मलस्वभावयुक्तः योगी स भवति मुनिराजः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुस्पष्ट एव। (सो होइ मुणिराओ) **स जीवो मुनिराजः श्रमणोत्तमो वा भवति। को भवति? तदेव गाथात्रये विशदीक्रियते—** (विकहादिविप्पमुक्को) **चौरविकथादिभ्यः स्त्रीकथाराज-कथाभक्तपानविकथाप्रभृतिभ्यः संसारभोगाकांक्षावर्धिकाभ्यः यो विप्रमुक्तः, विरतः, अनासक्तो वा भवति, स प्रशस्तमुनिः मुनिराजो वा भवति। स तु धर्मकथास्वेव अनुरक्तो भवतीति पूर्वस्यां** (९३ सं.) **गाथायां निर्दिष्टमेव। एवं स आत्मकल्याण-कारिकार्येष्वेव प्रवर्तते, नान्यत्र।**

उक्तं च प्रशमरतिप्रकरणग्रन्थे (श्लोक-१४७)—

वे (दूसरों की) निन्दा व वंचना (ठगने की प्रवृत्ति) से दूर रहा करते हैं, परीषह व उपसर्ग के दुःखों को सहन करने वाले होते हैं, शुभ ध्यान व स्वाध्याय में निरत रहते हैं, ऐसे परिग्रह-रहित मुनिराज होते हैं।।95।।

जो निर्विकल्प, निर्द्वन्द्व, निर्मोही, निष्कलंक, स्थिरस्वभावी एवं निर्मल स्वभाव से युक्त होता है, वह मुनिराज व योगी होता है।।96।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय स्पष्ट ही है। **(स भवति मुनिराजः)** वह जीव मुनिराज या श्रमणोत्तम होता है। वैसा कौन होता है? इसी को इन तीन गाथाओं में स्पष्ट किया गया है— **(विकथादिविप्रमुक्तः)** सांसारिक भोग की आकांक्षा को बढ़ाने वाली चौरकथा, स्त्रीकथा, राजकथा, भक्तपानकथा आदि विकथाओं से जो विप्रमुक्त, यानी विरत या अनासक्त होता है, वह प्रशस्त मुनि या मुनिराज होता है। वह तो धर्मकथाओं में अनुरक्त रहता है —यह पिछली (सं. 93) गाथा में बताया ही गया है। इस तरह वह आत्मकल्याण करने वाले कार्यों में ही प्रवृत्त होता है, अन्य कामों में नहीं।

प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ (श्लोक-147) में कहा भी गया है—

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वार्थम्।।

तथा (आधाकम्मादिविरहिदो) **अधःकर्मादिविरहितः, जीवहिंसादोषयुक्तमाहारयोग्यं वस्तु अधःकर्म भण्यते, जीवहिंसादोषसम्पृक्तवसतिस्थानमपि अधःकर्म भण्यते, स मुनिराजः तादृशदोषसम्पृक्तमाहारं वसतिकां च न सेवते —इत्याशयः। अधःकर्मस्वरूपं मूलाचारग्रन्थे** (गाथा ४२४) **प्रोक्तम्—**

छज्जीवनिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं।।

धवलाग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २२, पृ. ४६) **च भणितम्—** ''तं ओद्दावण-विद्दावण-परिदावण-आरंभकदणिप्फण्णं तं सव्वं आधाकम्मं णाम।...जीवस्य उपद्रवणं ओद्दावणं णाम। अङ्गच्छेदनादिव्यापारः विद्दावणं णाम। संतापजननं परिदावणं णाम। प्राणिप्राणवियोजनं आरंभो णाम।''

''मुनि को सदा वही विचारना चाहिए, वही बोलना चाहिए और वही करना चाहिए जो कभी इहलोक में न स्वयं को, न दूसरों को और न दोनों के लिए दुःखदायी हो एवं जो परलोक में समस्त अर्थों (प्रयोजनों) का साधक हो।''

और **(अधःकर्मादिरहितः)** अधःकर्म आदि से रहित होता है। जीव-हिंसा के दोष से युक्त आहारयोग्य वस्तु को अधःकर्म कहा जाता है। इसी तरह जीव-हिंसा के दोष से युक्त 'वसतिका' (निवास-स्थान) को भी अधःकर्म कहा जाता है। वह मुनिराज उस दोष से युक्त आहार व वसति —दोनों का सेवन नहीं करता —यह आशय है। अधःकर्म का स्वरूप मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-424) में इस प्रकार बताया गया है—

''पृथ्वीकाय आदि षट्काय के जीवों को दुःखी करना व मारना या इन्हें दूसरों के द्वारा दुःखी कराना या मारना या इसमें अपनी अनुमोदना करना —इनसे उत्पन्न जो भी वस्तु है, वह 'अधःकर्म' है।''

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 22, पृ. 46) में भी कहा गया है— ''जो उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ रूप कार्य से निष्पन्न होता है, वह सब 'अधःकर्म' है। जीव का उपद्रव करना उपद्रावण होता है, अङ्गच्छेद आदि क्रिया करना विद्रावण है, सन्ताप पैदा करना परितापन है और प्राणियों का प्राण ले लेना आरम्भ है।''

वसतिका (वासस्थानं) **चापि अधःकर्मदोषयुक्ता सम्भवति, अतस्तस्या अपि त्यागः कर्तव्य इति भगवती-आराधनाग्रन्थे** (गाथा-२३२) **निर्दिष्टम्—**

उग्गमउप्पादणएसणाविसुद्धाए अकिरियाए दु।
वसति असंसत्ताए णिप्पाहुडियाए सेज्जाए।।

तत्रैव विजयोदयाटीकायां (गाथा-२३२) **स्पष्टीकृतम्—** "वृक्षच्छेदस्तदानयनम्, इष्टकापाकः, भूमिखननं, पाषाणसिकतादिभिः पूरणं, धरायाः कुट्टनं, कर्दमकरणं, कीलानां करणम्, अग्निनायसस्तापनं कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं वासिभिस्तक्षणं परशुभिश्छेदनम् —इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता, अन्येन वा कारिता वसतिः आधाकर्मशब्देन उच्यते।"

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-७९) **च अधःकर्मदोषसहितो मोक्षमार्गच्युत एव भवतीति निरूपितम्—**

वसतिका (निवास का स्थान) भी अधःकर्म सम्बन्धी दोष से युक्त हो सकती है, इसलिए उसका भी त्याग करना चाहिए— यह भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-232) में बताया गया है—

"उद्गम, उत्पादन व एषणा दोषों से रहित, दुष्प्रमार्जन आदि संस्कार से रहित, जीवों की उत्पत्ति से रहित तथा शय्या रहित वसति में अन्दर या बाहर में विविक्तशयनासन तप के धारी मुनि निवास करते हैं।"

वहीं (गाथा-232 की) विजयोदया टीका में स्पष्ट करते हुए कहा गया है— "वृक्ष काट कर उन्हें लाना, ईंटों का ढेर पकाना, जमीन खोदना, पत्थर व बालू आदि से गड्ढे भरना, जमीन को कूटना, कीचड़ करना, खम्भे तैयार करना, आग से लोहा गलाना, करौंत से लकड़ी चीरना, वासी (वसूले) से छीलना, फरसे (या कुल्हाड़ी) से काटना —इत्यादि क्रियाओं से षट्काय जीवों को पीड़ित कर स्वयं या दूसरे से कोई वसति बनाई हुई हो, वह वसति 'अधःकर्म' (दोष से युक्त) कही जाती है।"

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-79) में भी यह कहा गया है कि अधःकर्म दोष से सहित जीव मोक्षमार्ग से च्युत होता है—

जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायणासीला।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।।

तथा (णाणी धम्मुद्देसणकुसलो) **स ज्ञानवान् सम्यग्ज्ञानी, तथा च धर्मदेशनाकुशलोऽपि भवति। सम्यग्ज्ञानबलेन विषयेभ्यो विरज्य स कर्मबन्धरहितो भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे** (७/१४-१५, २०)—

बोध एव दृढः पाशः, हृषीकमृगबन्धने।
गारुडश्च महामन्त्रः, चित्तभोगिविनिग्रहे।।

निशातं विद्धि निस्त्रिंशं भवारातिनिपातने।
तृतीयमथवा नेत्रं विश्वतत्त्वप्रकाशने।।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं निःशेषं यस्य योगिनः।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे।।

"जो पाँच प्रकार के (कोशा, सूती, सन या जूट निर्मित, चर्मज व ऊनी) वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह ग्रहण करते हैं, याचना करते हैं तथा अधःकर्म में रत हैं, वे मुनि मोक्षमार्ग से पतित होते हैं।"

तथा **(ज्ञानी धर्मदेशनाकुशलः)** वह ज्ञानवान् या सम्यग्ज्ञानी, तथा धर्मदेशना में कुशल भी होता है। सम्यक् ज्ञान के बल से विषयों से विरक्त होकर वह कर्मबन्ध से रहित होता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (7/14-15, 20) में कहा गया है—

"इन्द्रियों रूपी हरिणों को बांधने के लिए मात्र (सम्यक्) ज्ञान ही एक दृढ़ पाश है और यही चित्त रूपी सांप को वश में करने के लिए गरुड़ नाम का महामंत्र है।"

"बार-बार जन्म लेने रूप शत्रु को मारने के लिए ज्ञान एक तीक्ष्ण तलवार है अथवा यह विश्व तत्त्व को प्रकाशित करने के लिए तीसरा नेत्र है।"

"जिस योगी का समस्त अनुष्ठान ज्ञानपूर्वक होता है, उस योगी के किसी भी क्षण में कर्म का बन्ध नहीं होता है।"

एवं स सम्यग्ज्ञानी स्वयं वैराग्यादिलाभान्वितः, परानपि समुपकर्तुं प्रयतते तथा परेभ्यः सज्ज्ञानं प्रयच्छति। धर्मोपदेशश्च धर्मकथाद्यनुष्ठानमिति सर्वार्थसिद्धौ (९/२५) **प्रतिपादितम्।**

अत्रेदमवधेयम् —ख्यातिलाभादिप्रयोजनं विनैव धर्मोपदेशः कार्यः। अत एवोक्तं राज-वार्तिकग्रन्थे (९/२५/५)**—** ''दृष्टप्रयोजनपरित्यागाद् उन्मार्गनिवर्तनार्थं सन्देहव्यावर्तनापूर्वपदार्थ-प्रकाशनार्थं धर्मकथाद्यनुष्ठानं धर्मोपदेश इत्याख्यायते।''

धर्मोपदेशफलान्यपि भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-११०) **प्रोक्तानि—**

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छिती य तित्थस्स।।

तथा (अणुपेहाभावणाजुदो जोई) **एवं स मुनिराजः अनुप्रेक्षाभावनायुक्तः, योगी अध्यात्म-साधनारतश्च भवति। युनक्ति आत्मानं मोक्षेण इति योगी। एवं मोक्षसाधनारत एव योगी भवति।**

इस प्रकार, वह सम्यग्ज्ञानी स्वयं वैराग्य आदि के लाभ से युक्त होता हुआ, दूसरों को भी उपकृत करने के लिए प्रयत्नशील होता है और दूसरों को भी सम्यक् ज्ञान प्रदान करता है। धर्मोपदेश का अर्थ है— धर्मकथा आदि करना —ऐसा सर्वार्थसिद्धि (9/25) में प्रतिपादित है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात है— ख्याति, लाभ आदि का प्रयोजन न रखकर ही धर्मोपदेश करना चाहिए। इसीलिए राजवार्तिक ग्रन्थ (9/25/5) में कहा गया है— ''लौकिक ख्याति, लाभ आदि फल की आकांक्षा न रखते हुए, उन्मार्ग की निवृत्ति के लिए तथा सन्देह दूर करने के लिए एवं अज्ञात पदार्थ के प्रकाश के लिए धर्मकथा करना 'धर्मोपदेश' कहा जाता है।''

धर्मोपदेश के फलों का निरूपण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-110) में इस प्रकार किया गया है—

''दूसरों को उपदेश करने से अपने और दूसरों का उद्धार, सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन, वात्सल्यप्रदर्शन, धर्म की प्रभावना, जिन-वचन में भक्ति, तथा तीर्थपरम्परा (श्रुत व मोक्षमार्ग) की अविच्युति —ये फल होते हैं।''

तथा **(अनुप्रेक्षाभावनायुतो योगी)** इसी प्रकार वह मुनिराज अनुप्रेक्षा-भावना से युक्त, और योगी अर्थात् अध्यात्मसाधना में रत होता है। योगी वह होता है जो आत्मा (स्वयं) को मोक्ष से जोड़ता है। इस तरह मोक्ष-साधना में रत ही योगी होता है।

तत्र योगिनः स्वरूपं बृ. नयचक्रे (माइल्लधवलविरचिते, गाथा-३८९) **प्रोक्तम्—**

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो।
जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि संदेहो।।

चारित्रसारग्रन्थे (श्लोक-४) **च भणितम्—**

कन्दर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापारः।
उग्रतपो दीप्तगात्रः, योगी विज्ञेयः परमार्थः।।

स योगी अनुप्रेक्षाः सततं भावयति। ता अनुप्रेक्षा द्वादश भवन्ति। यथा अध्रुवानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, धर्मानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा चेति। ज्ञातेऽर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना भवति। अनुप्रेक्षाणां भावना, अर्थात् अनुप्रेक्षासम्बन्धिनी भावना, तासां पुनःपुनः चिन्तनम्, तत्र युतो निरतो योगी मुनिवरो भवति।

योगी का स्वरूप बृ. नयचक्र (माइल्ल धवल-रचित, गाथा-389) में इस प्रकार बताया गया है—

"जिसने श्वास को जीत लिया है, जिसके नेत्रों के पलक झपकने बन्द हो गये हैं, जो काय के व्यापार से रहित है, ऐसी अवस्था को जो प्राप्त है वह निस्सन्देह 'योगी' है।"

चारित्रसार ग्रन्थ (श्लोक-4) में भी कहा गया है—

"कन्दर्प (काम) व दर्प (अभिमान) का जिसने दलन कर दिया है (या कन्दर्प के दर्प को चूर-चूर कर दिया है), जो दम्भ से रहित है, जो काम के व्यापार से रहित है और जिसका शरीर उग्र तप से दीप्त हो रहा है, उसी को परमार्थ रूप से योगी जानना चाहिए।"

वह योगी अनुप्रेक्षाओं को सदा भाता है। वे अनुप्रेक्षाएँ बारह होती हैं। जैसे— अध्रुवानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, धर्मानुप्रेक्षा और बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा। ज्ञात अर्थ में बार-बार चिन्तन करना 'भावना' होती है। अनुप्रेक्षा की भावना अर्थात् अनुप्रेक्षा-सम्बन्धी भावना, अर्थात् उनका बार-बार चिन्तन, उसमें योगी मुनिराज युत यानी निरत (संलग्न) रहते हैं।

एता अनुप्रेक्षाः शुभभावरूपाः इत्यस्मिन्नेव ग्रन्थे (गाथा ६०-६१) **निर्दिष्टम्। एताभिरशुभ-योगस्य संवरो भवति इति** 'बारस अणुवेक्खा'**-ग्रन्थे** (गाथा-६३) **निरूपितम्।**

समग्रतया एतासामनुप्रेक्षाणां च फलानि ज्ञानार्णवे (२/१९२/२४५) **इत्थं प्रतिपादितानि—**

विद्धयति कषायाग्निः, विगलति रागो विलीयते ध्वान्तम्।
उन्मिषति बोधदीपो हृदि पुंसां भावनाभ्यासात्।।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (६/४२) **एता भावनाः कर्मक्षयहेतवो भवन्तीति प्रतिपादितम्—**

द्वादशापि सदा चिन्त्या अनुप्रेक्षा महात्मभिः।
तद्भावना भवन्त्येव कर्मणः क्षयकारणम्।।

स्वामिकार्तिकेयमते— एता भावनाः भव्यजन-आनन्दजनन्यः (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-१) **निर्दिष्टाः—**

ये अनुप्रेक्षाएँ शुभभाव रूप हैं —ऐसा इसी ग्रन्थ (गाथा 60-61) में कहा गया है। इनसे अशुभ योग का संवर होता है —यह बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ (गाथा-63) में बताया गया है।

'ज्ञानार्णव' (2/192/245) में समग्रतया इन अनुप्रेक्षाओं का फल इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

''भावनाओं के अभ्यास से व्यक्ति के हृदय में कषाय की आग बुझती है, राग विगलित (धीरे-धीरे क्षीण) होता है, अंधेरा नष्ट होता है, और ज्ञान-दीप प्रकट होता है।''

'पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका' ग्रन्थ (6/42) में भावनाओं को कर्मक्षयकारक बताते हुए कहा गया है—

''महात्माओं को चाहिए कि वे सदैव बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करें। उनके लिए वे भावनाएँ कर्म-क्षय का कारण होती हैं।''

स्वामी कार्तिकेय (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-1) के मत में ये भावनाएँ भव्यजनों के लिए आनन्द की जननी कही गई हैं।

तथा (णिंदावंचणदूरो) **निन्दा वञ्चना च, उभाभ्यां दूरः असंस्पृष्टः सन् तिष्ठति। यथार्थस्य अयथार्थस्य वा दोषस्य यदुद्‌भावनं, तत्प्रति इच्छा** 'निन्दा' **कथ्यते। यद्वा अनिष्टफलवादो निन्दा। परनिन्दा नोचितेति भगवती-आराधनाग्रन्थे** (३७१-३७४) **निरूपितम्—**

सगणे परगणे वा परपरिवादं च मा करेज्जाह।
अच्चासादणविरदा होह सदा वज्जभीरू य।।

आयासवेरभयदुक्खसोयलहुगत्तणाणि य करेई।
परिणिंदा वि हु पावा दोहग्गकरी सुयणवेसा।।

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छति आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।।

दट्ठूण अण्णदोसं सप्पुरिसो लज्जिओ सयं होइ।
रक्खइ य सयं दोसं व तयं जणजंपणभएण।।

तथा **(निन्दावञ्चनदूरः)** निन्दा और वञ्चना (ठगी) —इनसे वह दूर यानी असंस्पृष्ट रहता है। यथार्थ या अयथार्थ (असत्य) दोष का जो उद्‌भावन, उसके प्रति इच्छा को 'निन्दा' कहा जाता है। अथवा अनिष्ट फल का कथन 'निन्दा' है। दूसरे की निन्दा नहीं करनी चाहिए — इसे भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 371-374) में इस प्रकार बताया गया है—

''अपने गण में या दूसरे गण में स्थित दूसरों की निन्दा नहीं करना चाहिए। तथा अतिआसादना (आशातना) से विरत रहो और सदा पाप से डरो।''

''परनिन्दा करने से आयास (वृथा परिश्रम), वैर भाव, भय, दुःख, शोक व लघुता आदि प्रकट होते हैं। वह पापरूप है, दुर्भाग्यकारिणी है और सज्जनों को अप्रिय होती है।''

''जो दूसरों की निन्दा करके स्वयं को गुणी कहलाने की इच्छा रखता है, वह मानो दूसरे के द्वारा कटु औषधि पीने से अपनी नीरोगता चाहता है।''

''सत्पुरुष दूसरों के दोष देखकर स्वयं लज्जित होते हैं। वे तो लोकापवाद-भय से अपनी तरह दूसरों के दोषों को छिपाते हैं।''

किंच, परनिन्दा नीचैर्गोत्रकर्मण आस्रवभूता भवतीति तत्त्वार्थसूत्रे (६/२५) **तथा राजवार्तिके** (६/११/१५) **च परनिन्दा असद्वेद्यकर्मण आस्रवभूतेति प्रतिपादितम्, अतस्तस्या हेयता स्पष्टैव। वंचना मायैव। तद्भेदाः पञ्च— निकृतिः, उपधिः, सातिप्रयोगः, प्रणिधिः, प्रतिकुञ्चनं चेति भगवती-आराधनाग्रन्थस्य** (२५ गाथायाः) **विजयोदयाटीकायां निर्दिष्टम्। तत्र अतिसन्धानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलाषस्य वञ्चना** 'निकृतिः' **कथ्यते। सद्भावं प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तैन्यादिदोषे प्रवृत्तिः** 'उपधिः' **भवति। अर्थेषु विसंवादः, स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरणं दूषणं प्रशंसा वा** 'सातिप्रयोगः' **कथ्यते। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमानं, संयोजनया द्रव्यविनाशनमिति** 'प्रणिधिः' **अभिधीयते। आलोचनं कुर्वतो दोषविनिगूहनं** 'प्रतिकुञ्चनम्' **भण्यते।**

तथा (परिसहउवसग्गदुक्ख सहमाणो) **परीषहाः, उपसर्गाश्च, तेषां यद् दुःखं तत्सहनशीलश्च मुनिराजो भवति। मार्गाच्च्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहा भवन्ति। ते च द्वाविंशतिसंख्यकाः।**

और, परनिन्दा नीच गोत्र कर्म का आस्रव रूप होती है —यह तत्त्वार्थसूत्र (6/25) में तथा यह असातावेदनीय कर्म का आस्रव रूप भी होती है —यह राजवार्तिक (6/11/15) में कहा गया है, इसलिए उसकी हेयता तो स्पष्ट ही है। वञ्चना 'माया' (का दूसरा नाम) है। उसके पाँच भेद हैं— निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुञ्चन —ऐसा भगवती-आराधना ग्रन्थ की 25वीं गाथा की विजयोदया टीका में बताया गया है। धन के विषय में या किसी कार्य के विषय में अभिलाषा वाले मनुष्य को फँसाने की चतुरता को 'निकृति' कहा जाता है। अच्छे परिणाम को ढककर (छिपा कर), धर्म के निमित्त से चोरी आदि दोषों में प्रवृत्ति करना 'उपधि' (नामक माया) है। धन के विषय में विसम्वाद (झगड़ा) करना, अपने हाथ में रखी धरोहर का हरण कर लेना, प्रयोजन के अनुसार दूषण लगाना या प्रशंसा करना —यह सातिप्रयोग (माया) है। हीनाधिक कीमत की एक जैसी वस्तुओं को आपस में मिलाना, तौल-माप के पदार्थों को कम-ज्यादा रखकर लेन-देन करना, (सच्चे व झूठे) पदार्थों को मिलाकर पदार्थ (के गुण आदि) को नष्ट करना —यह 'प्रणिधि' (माया) कहा जाता है। आलोचना करते समय अपने दोष को छिपाना —प्रतिकुंचन (माया) कहा जाता है।

और **(परीषह-उपसर्गदुःखं सहमानः)** परीषह और उपसर्ग, उनके जो दुःख, उनको सहन करने के स्वभाव वाला मुनिराज होता है। (मोक्ष-) मार्ग से च्युति न हो और कर्म-निर्जरा हो—इसके लिए परीषहों को सहना होता है। इन परिषहों की संख्या बाईस है।

तत्त्वार्थसूत्रे (९/९) **च तन्नामानि प्रोक्तानि—** ''क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारति-स्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।'' **एकस्य जनस्य युगपदेकोनविंशतिपरीषहाः सम्भवन्ति। एतत्परीषहदुःखसहनमेव समतापूर्वकं परीषहजयो भवति।**

उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षा-ग्रन्थे (गाथा-९८)—

सो वि परिसहविजओ छुहादिपीडाण अइरउद्दाणं।
सवणाणं च मुणीणं उवसमभावेण जं सहणं।।

उपसर्गाः परनिमित्तका असह्यपीड़ाविशेषा भवन्ति। एते चतुर्भेदाः भवन्ति, यथा सुर-निमित्तकाः, मनुष्यनिमित्तकाः, तिर्यग्निमित्तकाः, अचेतननिमित्तकाश्च। कथितं चैतत् भावप्राभृतग्रन्थस्य (गाथा-९३) **टीकायाम्— 'देवमानवतिर्यगचेतनोपद्रवेभ्य उपसर्गेभ्यः' इति।**

एतेषां सोदाहरणनिरूपणं च अनगारधर्मामृते (६/१११) **विहितम्—**

तत्त्वार्थसूत्र (9/9) में इनके नामों का निर्देश इस प्रकार प्राप्त होता है— ''क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन —ये (बाईस) परीषह होते हैं।'' एक व्यक्ति को एक साथ अधिकतम उन्नीस परीषह हो सकते हैं। इन परीषहों के दुःख को समतापूर्वक सहन कर लेना —यही परीषह-जय होता है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-98) में कहा गया है—

''अत्यन्त भयानक भूख आदि की वेदना को ज्ञानी मुनि जो शान्त भाव से सहन करते हैं, उसे ही परीषह-जय कहते हैं।''

पर-निमित्तक (दूसरों के द्वारा कृत) असह्य विशेष पीड़ा 'उपसर्ग' होते हैं। इनके चार भेद हैं, जैसे (1) सुरनिमित्तक, (2) मनुष्यनिमित्तक, (3) तिर्यंच निमित्तक, (4) अचेतन निमित्तक। भावप्राभृत (गाथा-93) की टीका में 'देव, मानव, तिर्यञ्च, अचेतन द्वारा कृत उपद्रव रूप उपसर्ग' यह कथन किया भी गया है।

इनका सोदाहरण निरूपण अनगारधर्मामृत (6/111) में इस प्रकार किया गया है—

स्वध्यानाच्छिवपाण्डुपुत्रसुकुमालस्वामिविद्युच्चरप्रष्ठाः सोढविचिन्नृतिर्यगमरोत्थानोपसर्गाः क्रमात्।
संसारं पुरुषोत्तमाः समहरंस्तत्तत्पदं प्रेप्सवो लीनाः स्वात्मनि येन तेन जनितं धुन्वन्त्वजन्यं बुधाः।।

दृष्टिभेदेन दशविधत्वमपि उपसर्गाणां हरिवंशपुराणे (१०/४२) **प्रोक्तम्—**

स्त्रीपुंनपुंसकैस्तिर्यग्नृसुरैरष्ट ते कृताः।
शरीराचेतनत्वाभ्याम्, उपसर्गा दशोदिताः।।

एवं बाह्याभ्यन्तरद्रव्यपरिणतिरूपाः असंकल्पोपस्थिताः शारीरमानसप्रकृष्टपीड़ाहेतवः क्षुधादयः परीषहा अनिच्छिता अपि षोढव्या भवन्ति, उपसर्गास्तु परनिमित्तकाः स्वेच्छया षोढव्या इति विशेषः। तथा (सुहझाणज्झयणरदो) **शुभध्यानाध्ययनरतो मुनिराजो भवति। धर्मध्यानं शुक्लध्यानं चेति द्वे शुभध्याने।**

''आत्मस्वरूप का ध्यान करने से शिवभूति मुनि, पाण्डव, सुकुमाल (गजसुकुमाल) स्वामी तथा विद्युच्चर (आदि) प्रमुख महापुरुषों ने क्रमशः अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंच-कृत व देवकृत उपसर्गों को सहन करके संसार का नाश किया, इसलिए उस पद को प्राप्त करने के इच्छुक विद्वान् स्वात्मा में लीन होकर अचेतन आदि में से किसी के भी द्वारा होने वाले उपसर्गों को सहन करें।''

दृष्टिभेद से हरिवंशपुराण (10/42) में उपसर्गों के दस प्रकार भी बताये गये हैं—

स्त्री, पुरुष व नपुंसक के भेद से तीन प्रकार के तिर्यञ्च, (स्त्री, पुरुष व नपुंसक के भेद से) तीन प्रकार के मनुष्य, तथा (पुरुष व स्त्री के भेद से) दो प्रकार के देव, इन आठ के द्वारा कृत उपसर्ग आठ हुए, इसके अतिरिक्त, शरीरनिमित्तक व अचेतन-कृत —इन दो उपसर्गों को मिला कर कुल दस उपसर्ग कहे गये हैं।

इस प्रकार, शारीरिक व मानसिक अत्यधिक पीड़ा के हेतु क्षुधा आदि परीषह, जो बाह्य व आभ्यन्तर द्रव्य की परिणति रूप होते हैं और असंकल्पित (अनिच्छित) रूप से उपस्थित होते हैं, जो अनिच्छित होते हुए भी सहन करने योग्य होते हैं। किन्तु उपसर्ग पर-कृत होते हैं और स्वेच्छा से सहन करने योग्य होते हैं —यह विशेष (ज्ञातव्य) है। तथा **(शुभध्यानाध्ययनरतः)** शुभ ध्यान व अध्ययन में निरत मुनिराज होते हैं। धर्मध्यान व शुक्लध्यान —ये दो शुभ ध्यान हैं।

तयोरेकतरे (वर्तमानकाले तु धर्मध्याने) तथा अध्ययने स्वाध्याये च रतो मुनीन्द्रो भवति। यद्वा ध्यानमेवाध्ययनम्, तत्र रतः स भवति। वस्तुतो ध्याने निश्चयव्यवहारोभयमोक्षमार्गानुष्ठानं स्वतः सिद्ध्यतीत्यतस्तदुपयोगित्वं स्पष्टमेवेति बृ. द्रव्यसंग्रहे (गाथा-४७) **निर्दिष्टम्—**

दुविहं पि मोक्खहेउं ज्झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह।।

तथा च (गयसंगो होदि मुणिराओ) **गतसङ्गः, परिग्रहरहितः, मुनिराजः स भवति। परिग्रहो द्विविधः— बाह्य, आभ्यन्तरश्च। मुनिवरः सर्वविधपरिग्रहरहितो भवतीत्याशयः। अतएव रत्नकरण्डश्रावकाचारे** (श्लोक-१०) **प्रशस्ततपस्विनः स्वरूपं निर्दिष्टमस्ति—**

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तः, तपस्वी स प्रशस्यते।।

इन दोनों में से किसी एक में (वर्तमानकाल में मात्र धर्मध्यान में) तथा अध्ययन यानी स्वाध्याय में संलग्न मुनिराज होते हैं। अथवा ध्यान ही अध्ययन है— उसमें वे रत (संलग्न) रहते हैं। वस्तुतः ध्यान में निश्चयमोक्षमार्ग व व्यवहारमोक्षमार्ग दोनों का अनुष्ठान स्वतः सिद्ध हो जाता है, इस दृष्टि से उसकी उपयोगिता स्पष्ट ही है —यह बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-47) में बताया गया है—

''मुनि चूँकि ध्यान में निश्चय व व्यवहार दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग को प्राप्त (अनुष्ठित) करता है, इसलिए तुम चित्त की एकाग्रता करके, उस ध्यान का अभ्यास करो।''

तथा **(गतसङ्गो भवति मुनिराजः)** गतसङ्ग यानी परिग्रहरहित वह मुनिराज होता है। परिग्रह दो प्रकार का होता है— बाह्य व आन्तरिक। मुनिवर इन सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होते हैं —यह आशय है। इसीलिए रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-10) में प्रशस्त तपस्वी का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

''तपस्वी (साधु) वह है जो विषयों की आशा के वश में न हो, आरम्भ व परिग्रह से रहित हो एवं ज्ञान, ध्यान व तप करने में तत्पर हो।''

वस्तुतः सर्वपरिग्रहरहितोऽपि मुनिवरस्त्रैलोक्याधिपत्यसुखं समनुभवति। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-११०)—

अकिञ्चनोहमित्यास्स्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः।।

प्रशमरतिप्रकरणग्रन्थे (श्लोक-२४२) **च भणितम्—**

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि।।

तथा च (अवियप्पो) **विकल्परहितः। आभ्यन्तरे सुखी अहं, दुःखी अहम् —इतिहर्षविषादकारणं विकल्पः। यद्वा बाह्यपदार्थेषु आत्मीयरूपसंकल्प एव विकल्पः। एते विकल्पा रागेण द्वेषेण वा सम्पृक्ता भवन्ति। किन्तु शाश्वतानुपमसुखप्राप्तिर्निर्विकल्पसमाधिमाध्यमेनैव सम्भाव्यते, नान्यथा।**

वस्तुतः समस्त परिग्रहों से रहित होते हुए भी मुनिवर त्रैलोक्य के आधिपत्य का सुख अनुभव करते हैं। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-110) में कहा गया है—

''मैंने तुम्हें आत्मा का यह उत्कृष्ट रहस्य बताया है, जिसे केवल योगीजन ही जानते (अनुभव करते) हैं, और वह (रहस्य) यह है कि तुम अकिंचनता का अनुभव करो, इससे तुम तीनों लोकों के अधिपति हो जाओगे।''

प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ (श्लोक-242) में कहा भी गया है—

''जिसे वैषयिक (इन्द्रिय-विषय सम्बन्धी) सुख की अभिलाषा नहीं रह गई हो और जो प्रशम भाव से उत्पन्न गुणों से विभूषित हो, वह सूर्य की तरह अपनी सारी तेजस्विता को प्रकाशित करता रहता है।''

तथा **(अविकल्पः)** विकल्पों से रहित (होता है)। अन्तर में मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ —इस तरह के हर्ष या विषाद का कारण (मानसिक) विकल्प होता है। अथवा बाह्य पदार्थों में (यह मेरा है—) आत्मीय संकल्प ही विकल्प होता है। ये विकल्प या तो राग से या द्वेष से सम्पृक्त होते हैं। किन्तु शाश्वत व अनुपम सुख की प्राप्ति निर्विकल्प समाधि के माध्यम से ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा नहीं।

एतस्मात्कारणात् मुनिवरः संकल्पविकल्पत्यागेन परमात्मभावनां भावयति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-२७)—

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्।।

पूर्णसमत्वस्थितिः सर्वसंकल्पनाशे एव सम्भवति। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (१८/१५/९०२, १८/३२/९१९)—

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषार्तिसूचकान्।
स्वाधीनं कुरुते चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्।।

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम्।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः, स स्याद्रत्नत्रयास्पदम्।।

तथा च समयसारकलशे (सं. ६९) **प्रोक्तम्—** विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः तदेव साक्षादमृतं पिबन्ति।

इसी कारण से मुनिवर संकल्प-विकल्प त्याग कर परमात्म तत्त्व की भावना भाते (अभ्यास करते) हैं। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-27) में कहा भी गया है—

"इस प्रकार बहिरात्म-स्वरूप को छोड़कर अन्तरात्मा में स्थित होते हुए समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित परमात्मा की भावना करनी चाहिए।"

पूर्ण समत्व की स्थिति भी समस्त संकल्पों के नाश (विलय) होने पर ही सम्भव हो पाती है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (श्लोक-18/15/902, 18/32/919) में कहा भी गया है—

"(मनोगुप्ति का साधक साधु) राग व द्वेष के सूचक सब संकल्प-विकल्पों को छोड़कर अपने मन को स्वाधीन करता हुआ उसे समत्वभाव में प्रतिष्ठित करता है।"

"जो योगी समस्त विकल्प-समूह को नष्ट करके -स्वयं उस चिदानन्दमय स्वरूप अपने आत्म-स्वरूप में लीन होता है, वह रत्नत्रय का आश्रय अर्थात् साक्षात् मोक्षमार्ग बन जाता है।"

समयसारकलश (सं. 69) में भी कहा गया है— "विकल्पों के जाल से छूटकर शान्तचित्त साधक (ही) साक्षात् अमृत का पान करते हैं।"

(णिद्दंदो णिम्मोहो णिक्कलंकओ) **स मुनिराजः निर्द्वन्द्वः, निर्मोहः, निष्कलङ्कश्च भवति। इष्टानिष्टकल्पना द्वन्द्वम्, तेन स निर्गतः, रहितो भवति। मोहेन च रहितः, रागादिकालुष्यशून्यत्वात् निष्कलंकश्च भवति। एवं स शुद्धात्मस्वरूपे तिष्ठति —इत्याशयः।**

शुद्धात्मस्वरूपमभिप्रेत्य नियमसारग्रन्थे (गाथा ४३-४४) **च प्रोक्तम्—**

णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।।

णिग्गंथो नीरागो णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो णिम्माणो णिम्मदो अप्पा।।

तथा च (णियदो) **नियतः, स्थिरस्वभावतया तिष्ठति। अनात्मद्रव्येभ्यः पूर्णतः पृथग्भूतो यदाऽऽत्मा एकत्वे तिष्ठति, तदवस्थाया अविच्युतिरेव परमार्थतो नियतस्वभावो भण्यते।**

(निर्द्वन्द्वः, निर्मोहः, निष्कलङ्कः) मुनिराज निर्द्वन्द्व, निर्मोह व निष्कलङ्क भी होते हैं। इष्ट व अनिष्ट की कल्पना ही द्वन्द्व है, उससे वे निर्गत यानी रहित होते हैं। वे मोह से रहित और राग आदि कालुष्य से शून्य होने से निष्कलङ्क भी होते हैं। इस तरह वे (मुनिराज) शुद्धात्मस्वरूप में स्थित होते हैं —यह आशय है।

शुद्धात्मा के इसी स्वरूप को ध्यान में रखकर नियमसार ग्रन्थ (गाथा 43-44) में कहा गया है—

"आत्मा निर्दण्ड (मन, वचन व काय के व्यापार से रहित) है, निर्द्वन्द्व है, निर्मम (ममत्वहीन) है, निष्कल (शरीररहित) है, निरालम्ब है, नीराग (रागरहित) है, निर्दोष है, निर्मूढ़ (मोहरहित) है और निर्भय है।"

"आत्मा निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) है, नीराग (रागरहित) है, निःशल्य है, समस्त दोषों से निर्मुक्त है, निष्काम है, निष्क्रोध, निर्मान व निर्मद है।"

तथा **(नियतः)** नियत यानी स्थिरस्वभावी रूप में (मुनिराज) रहते हैं। आत्मा जब अनात्म द्रव्यों से पूर्णतया पृथक् होकर एकत्व रूप में स्थित होती है, तब उस अवस्था से च्युत न होना ही परमार्थ रूप से नियत स्वभाव कहा जाता है।

समयसार-कलशे (सं. ६) **च** 'एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतः....द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्' **इत्यादि यदुक्तं तन्नियतस्वभावस्य निरूपणमेव। तदग्रे समयसारकलशे** (सं. ७) **च निर्दिष्टम्—**

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति।।

तथा च (णिम्मलसहावजुत्तो जोई सो होइ मुणिराओ) **एवं निर्मलस्वभावयुक्तः, योगी यो भवति, स मुनिराजो भवति। अत्रेदं ज्ञेयम्— आत्मनो निर्मलत्वं पापरहितत्वं रागादिराहित्यं वा भवति। यद्वा निर्मलत्वं ज्ञानावरणादिकर्माष्टकराहित्यं परमार्थतः। यद्वा अज्ञानमदर्शनं चेत्यादिजीवपरिणामाः भावमलं, तेन रहितत्वादात्मा निर्मलस्वभावो भवति।**

उक्तं च तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे (१/१०-१३, १७)—

दोण्णि वियप्पा होंति हु मलस्स इमं दव्वभावभेएहिं।
दव्वमलं दुविहप्पं बाहिरमब्भंतरं चेय।।

समयसारकलश (सं. 6) में 'शुद्ध नय के आधार पर अन्य द्रव्यों से पृथक् एवं एकत्व में नियत (आत्मा का श्रद्धानादि सम्यग्दर्शन है)' —इत्यादि जो कहा गया है, वह नियतस्वभाव का ही निरूपण है। वहीं आगे समयसारकलश (सं. 7) में बताया भी गया है—

''इसके अनन्तर, शुद्ध नय के अधीन जो आत्मज्योति प्रकट होती है, वह नव तत्त्वों में स्थित होते हुए भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।''

और, **(निर्मलस्वभावयुक्तो योगी स भवति मुनिराजः)** इस प्रकार निर्मल स्वभाव से युक्त जो योगी होता है, वह मुनिराज होता है। यहाँ ज्ञातव्य है— पाप से रहित होना या राग आदि से रहित होना —यही आत्मा की निर्मलता है। अथवा परमार्थ दृष्टि से ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों से रहित होना आत्मा की निर्मलता है। अथवा, अज्ञान व अदर्शन —इत्यादि जीवगत परिणाम भावमल है, उससे रहित होने से आत्मा निर्मलस्वभावी होती है।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (1/10-13, 17) में कहा भी गया है—

''द्रव्य व भाव के भेद से मल के दो प्रकार हैं। इनमें द्रव्यमल भी दो प्रकार का है— एक बाह्य द्रव्यमल और दूसरा आन्तरिक द्रव्यमल।''

सेदमलरेणुकद्दमपहुदी बाहिरमलं समुद्दिट्ठं।
पुणु दिढजीवपदेसे णिबंधरूवाइ पयडिठिदिआइं।।

अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेकमेज्जमाणं तु।
णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं।।

अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो।
भावमलं णादव्वं अणाणदंसणादिपरिणामो।।

पावं मलंति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाणं।

प्रोक्तनिर्मलशुद्धात्मस्वरूपपरमात्मनि योगी ध्यानबलेन निश्चलवृत्त्या तिष्ठति —इतिगाथाया आशयः। एतां स्थितिमेवाभिप्रेत्य उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३५)—

रागद्वेषादिकल्लोलैः अलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्मात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः।।

''पसीना, मल, धूल, कीचड़, आदि बाह्य द्रव्यमल कहे गये हैं। और दृढ़ रूप से जीव के प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह रूप बन्ध को प्राप्त तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश —इन चतुर्विध बन्ध से भेद को प्राप्त होने वाला ज्ञानावरण आदि आठ प्रकार का सम्पूर्ण कर्मरूपी पाप रज, चूँकि जीव के प्रदेशों में सम्बद्ध है, इस हेतु से वह (ज्ञानावरणादि) आभ्यन्तर द्रव्यमल है। अज्ञान, अदर्शन आदि जीव-परिणामों को भावमल जानना चाहिए।''

''जीवों के पाप को उपचार से 'मल' कहा जाता है।''

उपर्युक्त निर्मल शुद्धात्म-स्वरूप परमात्मा में योगी ध्यान-बल के द्वारा निश्चल वृत्ति से स्थित रहता है —यह गाथा का आशय है। इसी स्थिति को लक्ष्य कर समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-35) में कहा गया है—

''जिसका मन राग आदि तरंगों से चंचल (अस्थिर) नहीं होता, वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता (अनुभव करता) है, दूसरा कोई नहीं।''

एवं गाथात्रयेण शास्त्रकारा मुनिराजस्य व्यावहारिकीं पारमार्थिकीं च मनःस्थितिं निरूपितवन्तः। एतत्सर्वं सम्यक्तया अवबुद्ध्य, हे भव्य! तादृशप्रशस्तस्थितिप्राप्त्यै सदैव प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ, मिथ्यात्वसहिततपसा निर्वाणं नैव प्राप्यते— इति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो मिच्छभावसंजुत्तो।
सव्वण्हुवदेसे सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेदि।। ९७।।

छाया— तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन् मिथ्यात्वभावसंयुक्तः।
सर्वज्ञोपदेशे स निर्वाणसुखं न गच्छति।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सो णिव्वाणसुहं ण गच्छेदि) **स जीवो निर्वाणसुखं न गच्छति, नानुभवति, नैव प्राप्नोतीत्याशयः। निर्वाणं समस्तकर्मक्षयजनितावस्थारूपम्। तदेव सुखं यद्वा तत्रैव सुखं नान्यत्रेति** 'निर्वाणसुख'-**पदेन शास्त्रकारा उपदिष्टवन्तोऽत्र गाथायाम्।**

इस तरह, तीन गाथाओं के द्वारा शास्त्रकार ने मुनिराज की व्यावहारिक व पारमार्थिक मानसिक स्थिति का निरूपण किया है। इस सबको अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! वैसी प्रशस्त स्थिति की प्राप्ति हेतु सदैव प्रयत्नरत रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, मिथ्यात्व सहित किये गये तप से निर्वाण प्राप्त नहीं होता है —इसे शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— तीव्र कायक्लेश करता हुआ भी (यदि जीवात्मा) मिथ्यात्व भाव से युक्त होता है तो वह निर्वाण-सुख को प्राप्त नहीं करता —ऐसा सर्वज्ञ भगवान् के उपदेश में (निर्दिष्ट) है।।97।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(स निर्वाणसुखं न गच्छति)** वह जीव निर्वाण-सुख को नहीं जाता है यानी अनुभव नहीं करता है, उसे प्राप्त नहीं करता है —यह आशय है। निर्वाण वह अवस्था है जो समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होती है। वही सुख है या वहीं सुख है, अन्यत्र नहीं —इस तथ्य को शास्त्रकार ने 'निर्वाणसुख' पद से इस गाथा में समझाया है।

संसारावस्थायां पूर्वकृतपुण्यकर्मवशाद् यत् सुखं प्राप्यते, तत्सुखाभासमेव, न वास्तविकम्। यतो हि तदनित्यं दुःखमिश्रितं च भवति, परिणामे दुःखप्रदमपि भवति। उक्तं च 'बारस अणुवेक्खा'**— ग्रन्थे** (गाथा ४-५, १०)—

सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे।।

जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे।
अहमिंदट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया।।

णवणिहि चउदहरयणं हयमत्तगइंदचाउरंगबलं।
चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दए कालो।।

तथा च तत्रैव (गाथा-३६) **प्रोक्तम्—**

संसार-अवस्था में पूर्व में किये गये पुण्य कर्म के प्रभाव से जो सुख प्राप्त होता (भी) है, तो वह सुखाभास (नकली सुख) ही है, वास्तविक सुख नहीं, क्योंकि वह (सुख) अनित्य है, दुःख-मिश्रित है और परिणाम में दुःखदायी भी है। बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ (गाथा 4-5, 10) में कहा भी गया है—

''सभी प्रकार की (सुख-) सामग्री, इन्द्रियाँ, रूप, नीरोगता, यौवन, बल, तेज, सौभाग्य व सौन्दर्य —ये सब इन्द्रधनुष के समान शाश्वत नहीं हैं।''

''(यहाँ तक कि) अहमिन्द्र के पद, बलदेव आदि की पर्यायें भी उसी तरह चिरस्थायी नहीं हैं, जिस प्रकार जल का बबूला, इन्द्रधनुष, बिजली एवं मेघ की शोभा (नश्वर, क्षणिक) होती है।''

''(अधिक क्या कहें,) चक्रवर्ती की नौ निधियाँ, चौदह रत्न, घोड़े, मदमत्त हाथी एवं चतुरंगिणी सेना भी उसके लिए शरण नहीं सिद्ध होतीं, और देखते-देखते काल उन्हें हर ले जाता है (नष्ट कर देता है)।''

वहीं (गाथा-36) यह भी कहा गया है—

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च।।

प्रवचनसारग्रन्थे (१/६३-६४) **च वैषयिकसुखस्य, दीर्घकालस्थायिनः स्वर्गसुखस्यापि, दुःखात्मकतैव प्रतिपादिता—**

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ इंदिएहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु।।

जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।

इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक ५-६) **च विशदीकृतम्—**

हृषीकजमनातङ्कं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।।

''संसार में जीवों को संयोग के साथ-साथ वियोग, लाभ के साथ-साथ अलाभ, सुख के साथ दुःख एवं मान के साथ अपमान, दोनों प्राप्त होता रहता है।''

प्रवचनसार ग्रन्थ (1/63-64) में यह बताया गया है कि वैषयिक (सांसारिक) सुख, भले ही वह दीर्घकाल तक स्थायी स्वर्ग सुख हो, दुःख रूप ही होता है—

''सहज उत्पन्न इन्द्रियों से पीड़ित मनुष्य, धरणेन्द्र और देवों के इन्द्र उस इन्द्रिय-जन्य दुःख को सह नहीं पाते और रमणीय विषयों में रमण करते हैं।''

''जिन जीवों को विषयों में प्रीति है, उनके दुःख स्वभावतः होता है —यह जानें।''

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक 5-6) में भी इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

''देवगण स्वर्ग में इन्द्रियजनित और आतंक (बाधा) से रहित दीर्घकालीन अनुपम सुख को भोगते हैं। वह सुख स्वर्गीय देवों के सुख जैसा होता है (अर्थात् उस सुख की कोई दूसरी उपमा नहीं होती)।''

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दु:खं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि।।

किन्तु मोक्षसुखं शाश्वतमेकान्तसुखरूपमनुपमं बाधारहितं च भवति। प्रोक्तं च नियमसारग्रन्थे (गाथा १७८-१८०)—

ण वि दुक्खं ण वि सुक्खं ण वि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
ण वि मरणं ण वि जणणं तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।

ण वि इंदिय उवसग्गा ण वि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।

ण वि कम्मं णोकम्मं ण वि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
ण वि धम्मसुक्कझाणे तत्थेव य होइ णिव्वाणं।।

''किन्तु वह सुख भी वासना मात्र से उत्पन्न होने के कारण दु:ख रूप ही है, क्योंकि आपत्ति-काल में जिस प्रकार रोग चित्त में उद्वेग (घबराहट) पैदा कर देते हैं, उसी प्रकार भोग भी उद्वेग पैदा कर देते हैं।''

किन्तु मोक्ष-सुख तो शाश्वत, एकान्तसुखरूप, अनुपम एवं बाधारहित होता है। नियमसार ग्रन्थ (गाथा 178-180) में कहा भी गया है—

''जहाँ न दु:ख है, न सांसारिक (अस्थायी) सुख है, न कोई पीड़ा है, न कोई बाधा है, न मृत्यु है और न ही जन्म है, वहीं निर्वाण होता है।''

''जहाँ न इन्द्रियाँ हैं, न उपसर्ग है, न मोह है, न विस्मय है, न निद्रा है, न तृषा है और न क्षुधा है, वहीं निर्वाण है।''

''जहाँ न कर्म है, न नोकर्म है, न चिन्ता है, न आर्त या रौद्र ध्यान है, न धर्म या शुक्ल ध्यान है, वहीं निर्वाण है।''

तर्हि कीदृशो जीवो निर्वाणसुखं प्राप्तुं न प्रभवति? उच्यते— (मिच्छभावसंजुत्तो) **मिथ्यात्वभावेन युक्तः, स निर्वाणसुखं न प्राप्नोति, सम्यक्त्वं प्राप्यैव तत्सुखं प्राप्तुं शक्यते— इत्याशयः। तस्य जीवस्य मिथ्यात्वपरिणाम एव निर्वाणप्राप्तौ बाधक इति विज्ञेयमत्र। वस्तुतो निर्वाणस्य साधकं रत्नत्रयानुष्ठानमेव, तच्च रत्नत्रयं सर्वज्ञतीर्थंकरेण उपदिष्टम्। किन्तु मिथ्यात्ववशेन तस्य जीवस्य सर्वज्ञोपदेशे श्रद्धानमेव न भवति, अतोऽनुष्ठानमपि न सम्भवति। अतो निर्वाणसुखं न प्राप्यते तेन जीवेनेति शास्त्रकारैरत्र निर्दिष्टम्।**

प्रोक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा ३८-४०)—

पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंते वि हु मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो।।

मोहोदएण जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा।।

तब, कैसा जीव निर्वाण-सुख को प्राप्त नहीं कर पाता? बता रहे हैं— **(मिथ्यात्वभावसंयुक्तः)** मिथ्यात्व भाव से युक्त (जो जीव है) वह निर्वाण-सुख नहीं प्राप्त करता। सम्यक्त्व को प्राप्त करके ही उस (निर्वाण) का सुख पाया जा सकता है —यह आशय है। उस जीव का मिथ्यात्व परिणाम ही निर्वाण-प्राप्ति में बाधक है —यह यहाँ जानने की बात है। वस्तुतः निर्वाण का साधक रत्नत्रय का अनुष्ठान ही होता है और वह रत्नत्रय सर्वज्ञ तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट है। किन्तु मिथ्यात्व के कारण, उस जीव की सर्वज्ञ तीर्थंकर के उपदेश में श्रद्धा ही नहीं होती, इसलिए उसका अनुष्ठान भी संभव नहीं होता। इसलिए उस (मिथ्यात्वी) जीव को निर्वाण-सुख प्राप्त नहीं होता —यह यहाँ शास्त्रकार ने बताया है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 38-40) में भी कहा गया है—

"जिसे सूत्र (आगम) में निर्दिष्ट एक भी पद या अक्षर रुचता नहीं और शेष (अन्य) में जिसकी रुचि होती है, उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिए।"

"मोह के उदय से जीव (सर्वज्ञ द्वारा) उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता, किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असमीचीन भाव यानी 'अतत्त्व' का श्रद्धान करता है।"

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो।।

अत एव मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-३९) **प्रोक्तम्—** दंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं।।

'बारस अणुवेक्खा'-ग्रन्थे (गाथा-१९) **च भणितम्—** दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।

किं मिथ्याज्ञानी जीवः कायक्लेशतपसाऽपि निर्वाणसुखं न प्राप्नोति? समाधीयते— नैव प्राप्नोति। तदेवात्र प्रोक्तम् (तिव्वं कायकिलेसं कुव्वंतो) **तीव्रं दुर्द्धरं घोरं कायक्लेशरूपं तपश्चरणं कुर्वन्नपि निर्वाणसुखं न प्राप्नोति। कायक्लेशविषये प्राक्** (८२ गाथायां) **व्याख्याने निरूपितं, तत एव द्रष्टव्यम्।**

वस्तुतो जीवो मिथ्यात्ववशेन अस्मिन् दुःखबहुले संसारे एव भ्रमति। उक्तं च चारित्र-प्राभृतग्रन्थे (गाथा-१७)—

"मिथ्यात्व का वेदन (अनुभव) करने वाला जीव विपरीतश्रद्धानी होता है। उसे धर्म उसी तरह नहीं अच्छा लगता, जिस प्रकार ज्वर से ग्रस्त व्यक्ति को निश्चय से मधुर रस (भी) अच्छा नहीं लगता।"

इसीलिए मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-39) में भी कहा गया है— "सम्यग्दर्शन से रहित जीव (कभी) इच्छित लाभ (मोक्ष) नहीं प्राप्त करता।"

बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ (गाथा-19) में भी कहा गया है— "(सम्यक्) दर्शन से भ्रष्ट जीव को निर्वाण नहीं है।"

क्या मिथ्याज्ञानी जीव कायक्लेश तप करके भी निर्वाण-सुख नहीं प्राप्त करता? उत्तर— नहीं प्राप्त करता। इसे ही यहाँ बताया जा रहा है— **(तीव्रं कायक्लेशं कुर्वन्)** तीव्र, दुर्धर या घोर कायक्लेश रूप तप करता हुआ भी निर्वाण-सुख को प्राप्त नहीं करता। कायक्लेश के विषय में पहले (82 गाथा के) व्याख्यान में कहा जा चुका है, वहीं से जान लेना चाहिए।

वस्तुस्थिति यह है कि जीव मिथ्यात्व के कारण इस दुःखबहुल संसार में ही भ्रमण करता रहता है। चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-17) में कहा भी गया है—

मिच्छद्दंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहिं।
बज्झंति मूढजीवा मिच्छत्ताबुद्धिउदएण।।

अत एव चारित्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१५) **परामृष्टम्—** अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते। (सव्वण्हुवदेसे) **इति सर्वं सर्वज्ञोपदेशे, तत्प्रवचनावयवभूते आगमे निर्दिष्टम्।**

एवं मिथ्यात्वं महदनर्थकारीति विज्ञाय हे भव्य! निरतिचारसम्यक्त्वं दृढतया धारयेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति सरागावस्थायां शुद्धात्मदर्शनं (शुद्धात्मानुभूतिः) **नैव सम्भवतीति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—**

रायादिमलजुदाणं णियप्परूवं ण दिस्सदे किं पि।
समलादरिसे रूवं ण दिस्सदे जहा तहा णेयं।। ९८।।

छाया— रागादिमलयुतानां निजात्मरूपं न दृश्यते किमपि।
समलादर्शे रूपं न दृश्यते यथा तथा ज्ञेयम्।।

''मूढ़ जीव मिथ्यात्व तथा मिथ्याज्ञान के उदय से अज्ञान व मोह रूपी दोषों से मलिन मिथ्यादर्शन के मार्ग में ही बंधे हुए पड़े रहते हैं।''

इसीलिए चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-15) में यह परामर्श दिया गया है— ''(हे भव्य!) तुम सज्ज्ञान द्वारा अज्ञान को तथा विशुद्ध सम्यक्त्व से मिथ्यात्व को छोड़ो।'' **(सर्वज्ञोपदेशे)** यह सब सर्वज्ञ के उपदेश में, उसके प्रवचन के अवयव (अंग) भूत आगम में निर्दिष्ट है।

इस प्रकार, मिथ्यात्व को महान् अनर्थकारी जानकर हे भव्य! निरतिचार सम्यक्त्व को दृढ़ता से धारण करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, सराग अवस्था में शुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन (शुद्धात्मा की अनुभूति) सम्भव नहीं है— यह शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा कह रहे हैं—

गाथा-अर्थ— राग (एवं मिथ्यात्व) आदि मल से युक्त जीवों को निज आत्म-स्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं देता, जैसे मलिन दर्पण में रूप दिखाई नहीं देता, उसी तरह (इसे) समझना चाहिए।।98।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (णियप्परूवं ण दिस्सदे किं पि) **निजात्मरूपं किमपि न दृश्यते, आत्मस्वरूपं किञ्चिदपि नानुभूयते —इत्यर्थः। केषां जीवानां कृते कथनमेतद्? उच्यते—**(रायादिमलजुदाणं) **रागादिमलयुक्तानां जीवानां निजात्मरूपदर्शनं न सम्भवति —इत्यर्थः। प्रोक्ततथ्यं समर्थयितुं दृष्टान्तं शास्त्रकारा निर्दिशन्ति—** (समलादरिसे रूवं ण दिस्सदे जह तहा णेयं) **यथा समले आदर्शे रूपं मुखादिच्छविः न स्पष्टतया यद्वा किञ्चिदपि न दृश्यते, तथैव ज्ञेयं, यद् रागादिमलमलिने मनसि आत्मस्वरूपं न दृष्टिपथमायाति, अनुभवगम्यं न भवति —इत्याशयः।**

अत्रायं विशेषः— रागादिमलयुक्तत्वात् स्वात्मदर्शनस्याभावः प्रतिपादितोऽत्र। अत्रादिपदेनान्य-कषायाणां तथा अप्रशस्तध्यानयोरशुभलेश्यानामपि ग्रहणं कार्यम्। अत्र वैशद्यार्थं किञ्चिन्निरूप्यते —यतो हि अप्रशस्तो रागो यत्र भवति, तत्र द्वेषोऽपि समुद्भवति।

उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/२५/११३३)—

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(निजात्मरूपं न दृश्यते किमपि)** निज आत्मस्वरूप कुछ भी दिखाई नहीं देता, अर्थात् थोड़ा भी (शुद्ध) आत्मस्वरूप अनुभूत नहीं होता। किन जीवों के लिए यह कथन किया गया है? बता रहे हैं— **(रागादिमलयुतानाम्)** राग आदि मलों से युक्त जीवों को निजात्मस्वरूप का दर्शन सम्भव नहीं होता। यहाँ उक्त तथ्य का समर्थन करने हेतु दृष्टान्त रूप से शास्त्रकार निर्देश कर रहे हैं— **(समलादर्शे रूपं न दृश्यते यथा तथा ज्ञेयम्)**। जिस प्रकार मल युक्त दर्पण में मुख आदि की छवि या रूप को स्पष्ट रूप से या कुछ भी नहीं देख पाते हैं, उसी प्रकार यह जानें कि रागादि मल से मलिन मन में आत्मस्वरूप दृष्टिगोचर— अनुभवगम्य नहीं होता —यह (गाथा का) आशय है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— राग आदि मल से युक्त होने के कारण निज आत्म-दर्शन का अभाव यहाँ प्रतिपादित किया गया है। यहाँ 'आदि' पद से अन्य कषायों का तथा अप्रशस्त दोनों ध्यान एवं अशुभ लेश्याओं का भी ग्रहण किया गया है। इस विषय में स्पष्टता हेतु कुछ बता रहे हैं— चूँकि जहाँ अप्रशस्त राग है, वहाँ द्वेष भी प्रादुर्भूत होता है।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/25/1133) में कहा भी गया है—

यत्र रागः पदं धत्ते, द्वेषस्तत्रैति निश्चयः।
उभावेतौ समालम्ब्य विक्रामत्यधिकं मनः।।

एताभ्यां रागद्वेषाभ्यां क्रोधादिकषाया अपि स्वतः सम्बद्धाः भवन्त्येव। यथा क्रोध-मानकषायौ द्वेषे, मायालोभकषायौ च रागे अन्तर्भूतौ एव। कषायेभ्यश्च असद्ध्याने अपि सम्भवतः। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (३/३०/२७६)—

पापाशयवशान्मोहात् मिथ्यात्वाद् वस्तुविभ्रमात्।
कषायैर्जन्यतेऽजस्रम्, असद्ध्यानं शरीरिणाम्।।

अप्रशस्तलेश्या (कषायानुरञ्जितयोगप्रवृत्तिरूपाः) **अपि तीव्रकषायजनिता एव। एवं** (अप्रशस्त) **रागसद्भावे समस्तकषाया असद्ध्याने अशुभलेश्याश्च भवन्तीति फलितम्।**

एवं रागादिवशात् संसारभ्रमणं सुनिश्चितमेव जीवस्य। ततश्च दुःखपरम्परा प्रवर्तते एव। उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-११)—

"जहाँ राग अपना कदम रखता है, वहीं द्वेष भी आकर बैठ जाता है —यह निश्चित है। और इन दोनों के आश्रय से मन अधिक पराक्रम दिखाता है (इष्ट-अनिष्ट कल्पनाएँ करता है)।"

इन राग व द्वेष के साथ क्रोध आदि कषाय भी स्वतः सम्बद्ध होते ही हैं। उदाहरणार्थ— द्वेष में क्रोध व मान कषाय, तथा राग में माया व लोभ कषाय अन्तर्भूत ही हैं। कषायों के होने पर असद्ध्यान (आर्त व रौद्र) भी सम्भावित हैं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (3/30/276) में कहा भी गया है—

"पापपूर्ण आशय (अर्थात् अशुभ उपयोग) के कारण, मोह, मिथ्यात्व, वस्तु के विपरीत ज्ञान एवं कषायों के निमित्त से निरन्तर जीवों के अप्रशस्त ध्यान हुआ करता है।"

(इसी तरह) अप्रशस्त (कषायानुरंजित योगप्रवृत्ति रूप) लेश्या भी तीव्र कषायों द्वारा जनित होती ही हैं। इस तरह, एक अशुभ राग के सद्भाव में समस्त कषाय, अप्रशस्त ध्यान व अशुभ लेश्या भी होती हैं —यह प्रतिफलित होता है।

इस प्रकार, राग आदि के कारण संसार का भ्रमण जीव के लिए सुनिश्चित ही हो जाता है, फलस्वरूप दुःख की परम्परा प्रवर्तित हो जाती है। इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-11) में कहा भी गया है—

रागद्वेषद्वयी - दीर्घनेत्राकर्षण - कर्मणा।
अज्ञानात् सुचिरं जीवः, संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ।।

रागादयो मलरूपाः संकेतिता अत्र। रागः कषाय एव, कषायश्च राजवार्तिकग्रन्थे (२/६/२) **कालुष्यरूप एव निर्दिष्टः—** ''चारित्रमोहविशेषोदयात् कलुषभावः कषाय औदयिकः।''

रागादिमले अपगते एव शुद्धात्मदर्शनं सम्भवतीति ज्ञानार्णवे (३/३१/२७७) **प्रोक्तम्—**

क्षीणे रागादिसन्ताने प्रसन्ने चान्तरात्मनि।
यः स्वरूपोपलम्भः स्यात् स शुद्धाख्यः प्रकीर्तितः।।

किन्तु अप्रशस्तरागादिसद्भावे मनस्तत्त्वविमुखमेव भवतीति ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/१४/११२१, २१/१५/११२२) **प्रोक्तम्—**

''अज्ञानवश यह जीव राग-द्वेष रूपी 'दही बिलोने की लम्बी डोरी' के आकर्षण से संसार-समुद्र में चिरकाल तक भ्रमण करता रहता है।''

यहाँ राग आदि को 'मल' रूप में इंगित किया गया है। (चूँकि) राग कषाय ही है और कषायों को राजवार्तिक ग्रन्थ (2/6/2) में कालुष्य रूप ही कहा गया है— ''चारित्र-मोह विशेष के उदय से उत्पन्न कालुष्य रूप कषाय 'औदयिक' भाव है।''

राग आदि रूप मल के हटने पर ही शुद्धात्मदर्शन सम्भव है —ऐसा ज्ञानार्णव (3/31/277) में कहा गया है—

''राग आदि की परम्परा के नष्ट होने पर, अन्तरात्मा की प्रसन्नता होती है (वहाँ स्वपरविवेक प्रकट होता है) और तभी जीव को आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है, वही शुद्धध्यान भी कहा जाता है।''

किन्तु (इसके विपरीत) अप्रशस्त राग आदि की सत्ता बनी रहे तो मन आत्म तत्त्व से विमुख ही रहता है —ऐसा ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/14/1121, 21/15/1122) में कहा गया है—

रागाद्यभिहतं चेत: स्वतत्त्वविमुखं भवेत्।
ततः प्रच्यवते क्षिप्रं ज्ञानरत्नादिमस्तकात्।।

रागादिभिरविश्रान्तैः वञ्च्यमानं मुहुर्मनः।
न पश्यति परं ज्योतिः, पुण्यपापेन्धनानलम्।।

अत्र गाथायां मलिनादर्शनिदर्शनं प्रस्तुतम्। अन्यत्र जलस्य चञ्चलस्य यद्वा पङ्कयुक्तस्य दृष्टान्तेन तथ्यमेतत् समर्थितमस्ति। यथा समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३५) **निरूपितम्—**

रागद्वेषादिकल्लोलैः, अलोलं यन्मनोजलम्।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं, स तत्त्वं नेतरो जनः।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/१७/११२४) **च भणितम्—**

रागादिपङ्कविश्लेषात् प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम्।।

'राग आदि से आहत चित्त आत्म-तत्त्व से विमुख हो जाता है और तब प्राणी ज्ञान रूप रत्न के पर्वत के शिखर से शीघ्र ही गिर जाता है।''

''निरन्तर विद्यमान रहने वाले राग आदि द्वारा बार-बार ठगा गया मन उस उत्कृष्ट ज्योति को नहीं देखता है, जो पुण्य-पाप रूप ईन्धन को भस्म करने में अग्नि के समान है।''

यहाँ गाथा में मलिन दर्पण का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। अन्य स्थलों पर चञ्चल या कीचड़ भरे जल का दृष्टान्त देकर उक्त तथ्य का समर्थन किया गया है। जैसा कि समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-35) में प्रतिपादित किया गया है—

''जिसका मन रूपी जल राग व द्वेष आदि तरङ्गों से चंचल नहीं होता, वही पुरुष आत्मा के यथार्थ स्वरूप को देखता (अनुभव करता) है, दूसरा कोई नहीं।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/17/1124) में भी कहा गया है—

''राग आदि रूप कीचड़ के हट जाने पर निर्मलता को प्राप्त हुए मुनि के चित्त रूप जल के भीतर समस्त तत्त्व-समूह प्रतिभासित होने लगता है।''

समयसारग्रन्थे (गाथा २७८-२७९) **तु स्फटिकदृष्टान्तेन आत्मरागयोः स्थितिः स्पष्टीकृता वर्त्ते—**

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।।

एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं।।

किंच, रागादयो बलादेव आत्मतत्त्वविमुखां बाह्यविषयक-संयोजनां वर्धयन्ति। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२३७)—

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यात्, निवृत्तिस्तन्निषेधनम्।
तौ च तद्धर्मसम्बद्धौ, तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्।।

रागादिकारणात् मिथ्याज्ञानमपि वर्धते, रागाद्यभावे तु तन्नश्यति। यथोक्तं ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/१९/११२६)—

समयसार ग्रन्थ (गाथा 278-79) में तो स्फटिक के दृष्टान्त द्वारा आत्मा व राग की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

"जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वयं शुद्ध है, वह राग (लालिमा) आदि रूप स्वयं परिणमन नहीं करती, किन्तु अन्य लाल आदि द्रव्यों से लाल आदि वर्ण रूप हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानी स्वयं शुद्ध है, वह राग रूप स्वयं परिणमन नहीं करता, बल्कि राग आदि दोषों से रागादि रूप हो जाता है।"

दूसरी बात, राग आदि बाह्य विषयक संयोग को ही बढ़ाते हैं जो आत्मतत्त्व से विमुख होता है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-237) में कहा भी गया है—

"राग व द्वेष का नाम प्रवृत्ति है और इनके अभाव का नाम निवृत्ति है। चूँकि ये दोनों बाह्य विषय से सम्बन्ध रखते हैं, अतः उनका (बाह्य वस्तु का) ही परित्याग कर देना चाहिए।"

राग आदि कारणों से मिथ्याज्ञान भी बढ़ता है और उनके अभाव में वह विलीन हो जाता है। जैसा कि ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/19/1126) में कहा गया है—

प्रशाम्यति विरागस्य दुर्बोधविषमग्रहः।
स एव वर्धतेऽजस्रं रागार्तस्येह देहिनः।।

एवं रागद्वेषाद्यभावे सति विषयासक्तिर्नश्यति, तदैव स्वसंवेदनमाध्यमेन शुद्धात्मानुभूतिः सम्भवति। उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-३८)—

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि।
तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्।।

किन्तु शुद्धात्मसंवित्तेः प्राक् क्षायोपशमिकं ज्ञानं यद् भवति, तत्र रागादिसद्भावोऽवश्यं भवतीत्यतो ज्ञानस्याशुद्धपरिणतिरभिधीयते। उक्तं च पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/९०३-९०४)—

क्षायोपशमिकं ज्ञानं प्रत्यर्थं परिणामि यत्।
तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियाऽस्ति वै।।

"जो मुनि राग-द्वेष से रहित हो चुका है, उसका मिथ्याज्ञान रूप भयानक पिशाच शान्त हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत जो जीव राग से पीड़ित होता है, उसका वही मिथ्याज्ञान रूपी पिशाच निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार, राग-द्वेषादि का अभाव होने पर विषयासक्ति नष्ट होती है, तभी स्वसंवेदन के माध्यम से शुद्धात्मानुभूति सम्भव होती है। इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-38) में कहा भी गया है—

"जैसे-जैसे सहज सुलभ इन्द्रिय-भोगों से रुचि कम होती जाती है, वैसे-वैसे स्वपरसंवित्ति से विशुद्ध आत्मा का स्वरूप भी उदित (प्रकट) होता जाता है।"

किन्तु शुद्धात्म-संवित्ति से पहले जो भी क्षायोपशमिक ज्ञान होता है, वहाँ राग आदि का अवश्य सद्भाव रहता ही है, इस दृष्टि से ज्ञान की अशुद्ध परिणति कही जाती है। पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/903-904) में कहा गया है—

"क्षायोपशमिक ज्ञान एक-एक पदार्थ के प्रति परिणमन करता है, किन्तु वह ज्ञान का स्वरूप नहीं होता, इसका कारण राग-क्रिया है।"

प्रत्यर्थं परिणामित्वम् अर्थानामेतदस्ति यत्।
अर्थमर्थं परिज्ञानं मुह्यद् रज्यद् द्विषद् यथा।।

अन्यच्च, तत्रैव (२/९०६) **प्रोक्तम्—**

अस्ति ज्ञानाविनाभूतो रागो बुद्धिपुरस्सरः।
अज्ञातेऽर्थे यतो न स्याद् रागभावः खपुष्पवत्।।

अत्रेयमारेका जागर्ति— अयं प्रोक्तो बुद्धिपूर्वको रागः कीदृशीं भूमिकां यावत् तिष्ठति? एतत्समाहितं पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/९०७-९०८)—

अस्त्युक्तलक्षणो रागश्चारित्रावरणोदयात्।
अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ।।

अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मः, रागश्चाबुद्धिपूर्वजः।
अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः, स्याद् विवक्षावशान्न वा।।

''जितने भी पदार्थ हैं, उनमें से एक-एक पदार्थ के प्रति ज्ञान परिणमन जो करता है, वह या तो मोह करता है, या राग करता है या द्वेष करता है।''

और, वहीं श्लोक (2/906) में यह भी कहा गया है—

''बुद्धिपूर्वक राग ज्ञान का अविनाभावी है —यह स्पष्ट ही है, क्योंकि अज्ञात पदार्थ में आकाश-पुष्प की तरह रागभाव नहीं पाया जाता है।''

यहाँ यह शंका उठती है— यह पूर्वोक्त बुद्धिपूर्वक राग किस भूमिका (गुणस्थान) तक रहता है? इसका समाधान पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/907-908) में इस प्रकार दिया गया है—

''इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षणवाला जो (बुद्धिपूर्वक) राग है, वह चारित्रमोहनीय के उदय से अप्रमत्त गुणस्थान के पहले-पहले तक पाया जाता है। इसके आगे के गुणस्थानों में नहीं।''

''ऊपर के गुणस्थानों में अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म राग जो होता है, वह क्षीणकषाय गुणस्थान से पहले-पहले ही होता है। फिर विवक्षा-भेद से वह है भी और नहीं भी है।''

अतएव गृहिणां तु अशुद्धात्मनोऽनुभव एव, किन्तु स क्रमेण परमनिर्वाणसौख्यकारणं सम्भवतीति प्रवचनसारग्रन्थस्य (गाथा-३/५४) **तत्त्वदीपिकाटीकायां निर्दिष्टम्।**

अत्रायं विशेषः—आत्मनः साक्षाद्दर्शनमनुभवः स्वसंवेदनं भण्यते, यत्र मुनिः स्वयं ज्ञेयज्ञायकभावरूपतां प्राप्नोति। एतद् वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं निर्विकल्पसमाधिस्थितानां मुनीनामेव भवति, नान्येषाम्। विषयसुखानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तु रागिणां सामान्यजनानामपि भवति, किन्तु शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपस्वसंवेदनज्ञानं तु वीतरागस्यैव भवति। चतुर्थपञ्चमगुण-स्थानवर्तिनां 'निजशुद्धात्मा एव उपादेयः' **इति रुचिरूपं सम्यक्त्वं गृहस्थावस्थायां तीर्थकरभरतादीनां यद्यपि भवति, किन्तु तेषां सम्यक्त्वं वीतरागचारित्राविनाभाविनिश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकमित्यतः कारणात्** 'निश्चयसम्यक्त्वं' **गौणरूपेण कथ्यते, वस्तुतस्तत्सम्यक्त्वं सराग-सम्यक्त्वमेव। अत्रान्यद् वक्तव्यं तद् प्रागपि** (गाथा-६, ११ आदि) **व्याख्याने प्रोक्तम्।**

एवं हे भव्य! क्रमशो वीतरागदशाप्राप्त्यै सततं प्रयतस्वेति गाथातात्पर्यम्।

इसीलिए गृहस्थों को अशुद्ध आत्मा का अनुभव ही होता है, किन्तु वह क्रमशः परम निर्वाण के सुख का कारण सम्भव होता है —ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा 3/54) की तत्त्वदीपिका टीका में बताया गया है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— आत्मा का साक्षात् दर्शन या अनुभव 'स्वसंवेदन' कहा जाता है, जहाँ मुनि स्वयं ज्ञेय व ज्ञायक दोनों भाव रूप को प्राप्त करता है। यह वीतरागनिर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकल्प समाधि में स्थित मुनियों को ही होता है, अन्य को नहीं। विषय-सुखानन्द रूप स्वसंवेदन ज्ञान तो रागयुक्त सामान्य जनों को भी होता है, किन्तु शुद्धात्म-सुखानुभूति रूप स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग को ही होता है। चतुर्थ व पंचम गुणस्थान में स्थित जीवों को होने वाला 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' इस रुचि रूप में जो सम्यक्त्व होता है, वह गृहस्थावस्था में तीर्थंकर व भरत आदि को यद्यपि होता है, किन्तु उनका सम्यक्त्व परम्परया वीतराग चारित्र से अविनाभूत 'निश्चय सम्यक्त्व' का साधक होता है, इस दृष्टि से गौणरूप से उसे 'निश्चय सम्यक्त्व' कह दिया जाता है, वस्तुतः वह सम्यक्त्व भी सराग सम्यक्त्व ही है। यहाँ जो कुछ और कहना है, उसे पहले भी (गाथा-6, 11 आदि) व्याख्यान में कहा जा चुका है।

इस प्रकार हे भव्य! क्रमशः वीतरागदशा की प्राप्ति हेतु सतत उद्यत रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति दीर्घसंसारिमुनेः स्वरूपं-शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

दंडत्तय सल्लत्तय मंडिदमाणो असूयगो साहू।
भंडणजायणसीलो हिंडदि सो दीहसंसारे।। ९९।।

छाया— दण्डत्रयेण शल्यत्रयेण मण्डितमानः असूयकः साधुः।
भण्डन-याचनशीलः हिण्डते स दीर्घसंसारे।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (हिंडदि सो दीहसंसारे) **स जीवो दीर्घसंसारे भ्रमति। कर्म-विपाकवशाद् आत्मनश्चतसृषु गतिषु भवाद् भवान्तरप्राप्तिः, स संसारः कथ्यते। तस्य मूलं मिथ्यात्वकषायादिकमेव। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा ३२-३३)—

एक्कं चयदि सरीरं अण्णं गिण्हेदि णवणवं जीवो।
पुणु पुणु अण्णं अण्णं गिण्हदि मुंचेदि बहुवारं।।

एवं जं संसरणं णाणादेहेसु होदि जीवस्स।
सो संसारो भण्णदि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स।।

अब, दीर्घसंसारी मुनि के स्वरूप का निरूपण शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— तीन दण्डों (मन-वचन-काय का असंयम) व तीन शल्यों (माया, मिथ्यात्व, निदान) से युक्त, अभिमान से पूर्ण, ईर्ष्यालु, तथा कलह व याचना के स्वभाव वाला जो साधु होता है, वह दीर्घ संसार में भटकता रहता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(हिण्डते स दीर्घसंसारे)** वह जीव दीर्घ (लम्बे) संसार में भ्रमण करता रहता है। कर्मविपाक के कारण आत्मा द्वारा चारों गतियों में एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करना, उसे 'संसार' कहा जाता है। उसका मूल मिथ्यात्व व कषाय आदि ही हैं। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 32-33) में कहा गया है—

''जीव एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे नये शरीर को ग्रहण करता है। बाद में उसे भी छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार अनेक बार शरीर को धारण करता है और अनेक बार उसे छोड़ता है। मिथ्यात्व व कषाय आदि से युक्त जीव का इस प्रकार अनेक शरीरों में जो संसरण (भ्रमण) होता है, उसे 'संसार' कहते हैं।''

'दीर्घ'-**इतिपदं संसारस्यानन्तत्वं सूचयति। अस्मिन् संसारभ्रमणे का हानिः? उच्यते— संसारपरम्परा अनन्ता, भयप्रदा दुःखबहुला च। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा-६२, ७२)—

एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छियदो।।

एवं अणाइकाले पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणे जीवो मिच्छत्तदोसेण।।

संसारोऽयं घोरकाननेन दुस्तरसमुद्रेण वा सदृशः शास्त्रकारेण 'बारस अणुवेक्खा'-**ग्रन्थे** (गाथा-३७, ५६-५७) **वर्णितः—**

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे।

जम्मसमुद्दे बहुदोसवीचिए दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासवकारणं होदि।।

'दीर्घ' यह पद संसार की अनन्तता को सूचित करता है। आखिर इस संसार-भ्रमण में हानि क्या है? बता रहे हैं— संसारपरम्परा अनन्त है, भयप्रद है और दुःख ही दुःख से भरी है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-62 व 72) में कहा भी गया है—

"परमार्थ से विचार किया जाय तो यह संसार साररहित है, दुःखों का एक भयानक सागर है, इसमें क्या कोई भी सुखी है? (अर्थात् कोई नहीं)"

"अनेक दुःखों की उत्पत्ति का स्थान यह संसार है, यह (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव संसार —इन रूपों में) पाँच प्रकार का है, इसमें यह जीव मिथ्यात्व रूपी दोष के कारण अनादि काल से (अनन्त काल तक) भ्रमण करता है।"

यह संसार घोर जंगल या दुस्तर समुद्र के समान है —ऐसा शास्त्रकार ने 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-37 एवं 56-57) में वर्णित भी किया है—

"कर्म के निमित्त ही यह जीव संसार रूपी घोर जंगल में भटकता रहता है।"

"यह संसार एक समुद्र है जिसमें दोष रूपी तरंगें हैं, यह दुःख रूपी जलचर जीवों से भरा हुआ है, इसमें कर्मास्त्रव के कारण जीव का परिभ्रमण होता रहता है।"

कम्मासवेण जीवो बूडदि संसारसागरे घोरे।

संसार-भ्रमणस्य कारणानि कानि? तान्येवोच्यन्ते— (दंडत्तय) **दण्डत्रयेण, दण्डत्रयकारणेन संसारभ्रमणं भवति। सावद्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिः दण्डरूपेणाभिधीयते। दण्डस्य त्रयः प्रकाराः— मनोदण्डः, वचनदण्डः, कायदण्डश्च। मनोदण्डश्च रागविकल्पात्मकः, द्वेषविकल्पात्मकः, मोहविकल्पात्मकश्च। कायदण्डश्च सप्तविधः— प्राणिवधः, चौर्यम्, मैथुनम्, परिग्रहः, आरम्भः, ताडनम्, उग्रवेशधारणं चेति। वचनदण्डश्च सप्तविधः— अनृतभाषणम्, वचसा उपघातः, पैशून्यम्, कठोरभाषणम्, स्वप्रशंसनम्, परितापनम्, हिंसा चेति। एतैर्दण्डैर्युक्तो जीवो दीर्घसंसारे परिभ्रमति, अतः परमसौख्यमोक्षं नैव प्राप्नुवन्ति इत्याशयः।**

तथा (सल्लत्तय) **शल्यत्रयेण युक्तो जीवोऽपि संसारभ्रमणं करोति। यथा शरीरे प्रविष्टं कण्टकं पीडादायकं भवति, तथैव इमानि शल्याणि कर्मोदयविकारभूतानि शारीरमानस-पीड़ादायकानि भवन्ति। एतानि त्रीणि सन्ति। तेषां नामानि भगवती-आराधनाग्रन्थे** (५४०-५४१) **निर्दिष्टानि—**

"इस घोर संसार-सागर में जीव कर्मास्त्रव के कारण डूबता (व उतराता) रहता है।"

संसार-भ्रमण के आखिर कारण कौन हैं? उन्हें ही बता रहे हैं— **(दण्डत्रयेण)** तीन दण्डों के कारण से संसार-भ्रमण होता है। मन, वचन व शरीर की सावद्य (दोषपूर्ण) प्रवृत्ति 'दण्ड' रूप से कही जाती है। दण्ड के तीन प्रकार हैं— मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड। मनोदण्ड के तीन भेद हैं— रागविकल्पात्मक, द्वेषविकल्पात्मक, और मोहविकल्पात्मक। कायदण्ड सात प्रकार का है— प्राणीवध, चोरी, मैथुन, परिग्रह, आरम्भ, ताड़न (मारना-पीटना), और उग्रवेश का धारण। वचनदण्ड के सात प्रकार हैं— असत्यभाषण, वचन से कहकर किसी के ज्ञान का उपघात करना, चुगली करना, कठोर वचन बोलना, अपनी प्रशंसा करना, सन्तापकारी वचन बोलना, और हिंसा भरे वचन बोलना। इन दण्डों से युक्त जीव दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता रहता है, इसलिए परम सौख्य रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त करता —यह आशय है।

तथा **(शल्यत्रयेण)** तीन शल्यों से युक्त जीव भी संसार में भ्रमण करता है। जिस प्रकार शरीर में घुसा कांटा (शल्य) पीड़ाकारी होता है, उसी प्रकार ये शल्य कर्मोदय के विकार स्वरूप होते हैं और शारीरिक व मानसिक पीड़ा के दायक होते हैं। ये शल्य तीन हैं। उनके नाम भगवती आराधना ग्रन्थ (गाथा 540-541) में इस प्रकार बताये गये हैं—

मिच्छादंसणसल्लं मायासल्लं णिदाणसल्लं च।
अहवा सल्लं दुविहं दव्वे भावे य बोद्धव्वं।।

तिविहं तु भावसल्लं दंसणणाणे चरित्तजोगे य।
सच्चित्ते य अचित्ते य मिस्सगे वा वि दव्वम्मि।।

शल्यत्रयं व्रतित्वविराधकम्, 'निःशल्यो व्रती' **इति तत्त्वार्थसूत्रे** (७/१८) **प्रोक्तत्वात्। एतेषु शल्येषु मिथ्यादर्शनोदयजनितं जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानं, यद्वा देवगुरुशास्त्रविषये, अर्हत्परमेश्वरोपदिष्टमोक्षमार्गे वा विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वम्। अथवा अन्तरङ्गे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये च परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वम्। तदेव शल्यमिव मिथ्याशल्यमभिधीयते। आत्मनः कुटिलता, स्वाभिप्रायप्रच्छादनार्थमनुष्ठानं वा माया कथ्यते। तस्याः निकृतिप्रभृति-पञ्चभेदाः प्राग्** (९५ गाथायाः) **व्याख्याने निरूपिताः। निदानं तु विषयभोगाकांक्षा। एवमेतैः शल्यैर्युक्तो जीवः दीर्घसंसारे भ्रमतीत्यन्वयः।**

"शल्य के तीन भेद हैं— मिथ्यादर्शन शल्य, माया शल्य और निदान शल्य। अथवा शल्य के दो भेद हैं— द्रव्यशल्य और भावशल्य।"

"भावशल्य के तीन भेद हैं— दर्शनशल्य, ज्ञानशल्य और चारित्रयोग शल्य। द्रव्यशल्य के भी तीन भेद हैं— सचित्त, अचित्त और मिश्र।"

ये तीनों शल्य 'व्रती' होने के विराधक (नाशक) हैं— ऐसा तत्त्वार्थसूत्र 'निःशल्यो व्रती' इस सूत्र (7/18) में कहा गया है। इन शल्यों में मिथ्यात्व शल्य है— जीव आदि तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रति मिथ्यादर्शन के उदय से होने वाला अश्रद्धान, अथवा देव, गुरु व शास्त्र के विषय में, अथवा अर्हन्त परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्ग में विपरीत श्रद्धान। अथवा अन्तरङ्ग में वीतराग निजात्मतत्त्व की अनुभूति के प्रति होने वाली रुचि के विषय में विपरीत अभिनिवेश का उत्पादक भाव और बाह्य विषयों में परकीयशुद्धात्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिनिवेश का उत्पादक भाव 'मिथ्यात्व' होता है। उसे ही शल्य (कांटे) की तरह होने के कारण 'मिथ्याशल्य' कहा जाता है। आत्मा की कुटिलता को तथा अपने अभिप्राय को छिपाने के अनुष्ठान (प्रयास आदि) को माया कहते हैं। उसके 'निकृति' आदि पाँच भेदों का निरूपण पहले (गाथा-95 के) व्याख्यान में किया जा चुका है। विषय-भोगों की आकांक्षा 'निदान' है। इस प्रकार इन शल्यों से युक्त जीव दीर्घ संसार में भ्रमण करता है —यह (वाक्य रूप में) अन्वय है।

तथा (मंडिदमाणो) **दर्पेण मानकषायेण वा मण्डितो यद्वा युक्तो जीवः संसारे भ्रमति, न तस्मान्मुच्यते —इत्यर्थः। मानकषायाविष्टो जनो विवेकहीनः सन् निन्दितं कर्म करोति, तद्वशाद् संसारबन्ध एव तस्य। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे** (१८/८८, ९१)—

लुप्यते मानिनः शश्वद् विवेकामललोचनम्।
प्रच्यवन्ते ततः शीघ्रं शीलशैलाग्रसंक्रमात्।।

मानमालम्ब्य मूढात्मा विधत्ते कर्म निन्दितम्।
कलङ्कयति चाशेषाचरणं चन्द्रनिर्मलम्।।

तथा (असूयगो साहू) **असूयायुक्तः मुनिः। असूया च परगुणेषु दोषाविष्करणमुच्यते। तच्च तीव्रकषायलक्षणं स्वीक्रियते। उक्तं कार्तिकेयानुप्रेक्षा-ग्रन्थे** (गाथा-९२)—

अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि।।

तथा **(मण्डितमानः)** दर्प या मान कषाय से मण्डित या युक्त जीव संसार में भ्रमण करता है, अर्थात् उससे मुक्त नहीं होता। मान कषाय से आविष्ट व्यक्ति विवेकहीन होकर निन्दित कर्म करता है, जिसके कारण उसका संसार-बन्ध ही होता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (18/88, 91) में भी कहा गया है—

''अभिमानी प्राणी का विवेक रूप निर्मल नेत्र निरन्तर बन्द रहता है। इसलिए वह शीलरूपी पर्वत के शिखर के मार्ग से शीघ्र पतित हो जाता है।''

''मूढ़ प्राणी मान (कषाय) का आश्रय लेकर निन्दित कार्य करता है और निर्भीक होकर चन्द्र के समान अपने निर्मल चरित्र को भी कलंकित करता है।''

तथा **(असूयकः साधुः)** असूया से युक्त मुनि। परकीय गुणों में दोष निकालना —इसे 'असूया' कहते हैं। वह तीव्र कषाय का लक्षण माना गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-92) में कहा भी गया है—

''अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना और बहुत काल तक वैर भाव बनाये रखना —ये तीव्र कषाय वाले जीवों के चिह्न हैं।''

अस्मिन्नेव ग्रन्थे प्राक् (४४ गाथायां) **असूयाग्रस्तस्य सम्यक्त्वरहितत्वं निरूपितमेव। अग्रेऽपि** (१०१ गाथायां) **शास्त्रकारा असूयाग्रस्तं मुनिं जिनधर्मविराधकं निदर्शयिष्यन्ति।**

तथा (भंडणजायणसीलो) **भण्डनशीलः, याचनाशीलश्च दीर्घसंसारी भवतीत्यर्थः। प्राक्** (४४ गाथायां) **च भंडनयाचनशीलस्य गर्वितस्य च सम्यक्त्वरहितत्वं निरूपितमेव।**

गाथायां संसारभ्रमणस्य यानि कारणानि निर्दिष्टानि, तानि मिथ्यात्वकषाययोर्मुख्यतोऽन्तर्भवन्ति। अतएवान्यत्र शास्त्रेषु एनयोरेव प्रमुखतया संसारभ्रमणहेतुत्वं निरूपितम्।

यथोक्तं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-33)— सो संसारो भण्णदि मिच्छकसाएहिं जुत्तस्स।।

एवं संसारभ्रमणहेतून् सम्यग् विज्ञाय हे भव्य! सावधानतया तेषां परिवर्जनं कुर्वन् मुक्तिमार्गे सततमग्रेसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

इसी ग्रन्थ (रयणसार की गाथा-44) में असूयाग्रस्त का सम्यक्त्व से रहित होना बताया जा चुका ही है। आगे भी (गाथा-101 में) शास्त्रकार असूयाग्रस्त मुनि को जिनधर्मविराधक के रूप में निरूपित करने वाले हैं।

तथा **(भण्डनयाचनशीलः)** अर्थात् भण्डनशील और याचनाशील दीर्घ संसार वाला होता है। पहले भी (गाथा-44 में) भण्डन व याचना स्वभाव वाले को तथा गर्वयुक्त को सम्यक्त्वरहित बताया ही जा चुका है।

इस गाथा में संसार-भ्रमण के जो कारण बताये गये हैं, वे मुख्य रूप से मिथ्यात्व व कषाय —इन (दोनों) में अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए अन्य शास्त्रों में इन्हीं दोनों को प्रमुख रूप से संसार-भ्रमण के हेतु के रूप में निरूपित किया गया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-33) में यह कहा भी गया है— ''मिथ्यात्व व कषाय से युक्त जीव का (संसरण) 'संसार' कहा गया है।''

इस प्रकार, संसार-भ्रमण के हेतुओं को अच्छी तरह जानकर हे भव्य! उनका सावधानी से परित्याग करो और मुक्तिमार्ग में सतत अग्रसर होते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति सम्यक्त्वहीनसाधोः स्वरूपं शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
आदसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता।।१००।।

छाया— देहादिषु अनुरक्ताः विषयासक्ताः कषायसंयुक्ताः।
आत्मस्वभावे सुप्ताः ते साधवः सम्यक्त्वपरित्यक्ताः (परित्यक्तसम्यक्त्वाः)।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (ते साहू सम्मपरिचत्ता) **ते साधवः, मुनयः, सम्यक्त्वेन रहिताः, सम्यक्त्वात् प्रच्युताः, भ्रष्टाः सन्ति। तेषां प्रवृत्तय एव तेषां सम्यक्त्वच्युतिं समर्थयन्ति, इति भावः। कास्ताः प्रवृत्तयः, याभिस्तेषां सम्यक्त्वहीनता समर्थ्यते? उच्यते—** (देहादिसु अणुरत्ता) **अनात्मीय-पदार्थेषु, स्वशरीरादिषु ते अनुरक्तिं बिभ्रति। तेषामयमनुराग एव सम्यक्त्वहीनत्वं समर्थयति। अत्रादिपदेन गृह-भूमि-कलत्र-पुत्र-मित्र-धनधान्यादीनां ग्रहणम्। देहादिषु आत्मीय-भावोऽनुरागो वा मूढदृष्टेर्लक्षणम्। उक्तं च पञ्चाध्यायीग्रन्थे** (२/१०४७)—

अब, सम्यक्त्वहीन साधु के स्वरूप को शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो शरीर आदि में अनुरक्त हैं, विषयों में आसक्त हैं, कषाय से युक्त हैं और आत्म-स्वभाव में सोये हुए (रुचिहीन या प्रमादी) हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित (ही) हैं।।100।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(ते साधवः परित्यक्तसम्यक्त्वाः)** वे साधु या मुनि सम्यक्त्व से रहित, सम्यक्त्व से प्रच्युत यानी भ्रष्ट हैं, उनकी प्रवृत्तियाँ ही उनकी सम्यक्त्व से च्युति का समर्थन करती हैं —यह भाव है। वे कौन-सी प्रवृत्तियाँ हैं जिनसे सम्यक्त्वहीनता का समर्थन होता है? बता रहे हैं— **(देहादिषु अनुरक्ताः)** स्वशरीर आदि अनात्मीय (आत्मेतर) पदार्थों में वे अनुरक्ति रखते हैं। उनका यह अनुराग ही उनकी सम्यक्त्वहीनता का समर्थन करता है। यहाँ 'आदि' पद से घर, भूमि, स्त्री, पुत्र, मित्र, धन-धान्य आदि का ग्रहण होता है। देह आदि में आत्मीय भाव व अनुराग होना मूढ़दृष्टि का लक्षण है। पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/1047) में कहा गया है—

अप्यनात्मीयभावेषु यावन्नोकर्मकर्मसु।
अहमात्मेति बुद्धिर्या दृग्मोहस्य विजृम्भितम्।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-११) **च प्रोक्तम्—**

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं सो मण्णए मणुओ।।

अनुरागपदं द्वेषस्यापि उपलक्षकम्। अतः शत्रुताऽपि मोहजनितैव। अतएव इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-८) **भणितम्—**

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।
सर्वथाऽन्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते।।

ममत्वाहम्भावावपि मोहजनितावेव मन्तव्यौ। अत एव तत्त्वानुशासनग्रन्थे (१२-१४ श्लोक) **प्रोक्तम्—**

''उसके जो अनात्मीय कर्म-नोकर्म आदि भावों में 'मैं आत्मा हूँ' ऐसी बुद्धि होती है, वह 'दर्शन मोह' का चमत्कार है।''

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-11) में भी कहा गया है—

''यह मनुष्य मोह के उदय से मिथ्याज्ञान में रत है तथा मिथ्याभाव से वासित होता हुआ शरीर को आत्मा मान रहा है।''

अनुराग पद द्वेष का उपलक्षक अर्थात् सूचक है। इसलिए शत्रुता भी (किसी को शत्रु समझना-मानना भी) मोहजनित ही है। इसी दृष्टि से इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-8) में कहा गया है—

''वस्तु के स्वभाव से अनभिज्ञ यह मूढ़ प्राणी अपने स्वरूप से पूर्णतया भिन्न स्वरूप वाले शरीर, घर, धन, पत्नी, पुत्र, मित्र व शत्रु आदि पदार्थों को अपना मानने लगता है।''

ममत्व व अहंकार— ये दोनों ही मोह से उत्पन्न होते हैं —ऐसा जानें। इसीलिए तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक 12-14) में कहा गया है—

बन्धहेतुषु सर्वेषु मोहश्चक्रीति कीर्तितः।
मिथ्याज्ञानं तु तस्यैव सचिवत्वमशिश्रियत्।।

ममाहंकारनामानौ सेनान्यौ तौ च तत्सुतौ।
यदायत्तः सुदुर्भेदः, मोहव्यूहः प्रवर्तते।।

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो यथा देहः।।

प्रवचनसारग्रन्थे (२/९१) **च निर्दिष्टम्—**

जो ण वियाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदत्ति मोहादो।।

मोहाविष्टत्वात्पदार्थानां यथार्थज्ञानं मत्तस्येव विलुप्यते —इति इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-७) **प्रोक्तम्—**

"बन्ध के समस्त हेतुओं में मोह (कर्म) को चक्रवर्ती राजा कहा गया है। मिथ्याज्ञान इसी राजा के मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित है।"

"उस मोह के ममत्व और अहंकार —ये दो पुत्र हैं जो दोनों उस मोह के सेनापति हैं, जिनके अधीन मोह-व्यूह (मोह चक्रवर्ती का सैन्य-सन्निवेश) अत्यधिक दुर्भेद्य बना रहता है।"

"सदा अनात्मीय, विशेषतः कर्मजनित निज शरीर आदि में जो आत्मीय अभिनिवेश है, उसका नाम ममकार (ममत्व) है, जैसे यह मानना —यह मेरा शरीर है।"

प्रवचनसार ग्रन्थ (2/91) में भी यह बताया गया है—

"जो जीव इस प्रकार स्वभाव को प्राप्त कर, आत्मा और पर (अनात्मा) को नहीं जानता है, वह मोह के कारण 'मैं शरीर आदि रूप हूँ', 'ये शरीर आदि मेरे हैं' —ऐसी मिथ्या परिणति करता रहता है।"

मोहाविष्ट होने से पदार्थों का यथार्थ ज्ञान उसी तरह विलुप्त हो जाता है, जैसे मदमत्त व्यक्ति का, यह इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-7) में कहा गया है—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।

अत एवाज्ञानेन इन्द्रियविषयेषु परिणामे दुःखप्रदेष्वपि मूढस्य रतिर्भवति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५५)—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु, यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथाऽपि रमते बालः, तत्रैवाज्ञानभावनात्।।

तथा (विसयासत्ता कसायसंजुत्ता) **विषयेषु पञ्चेन्द्रियार्थेषु आसक्तिं दधानाः, तथा कषायैः क्रोधमानमायालोभैः विशेषतस्तीव्रैः संयुक्ताः ग्रस्ताः, आविष्टाः, तत्प्रेरिता वा ये साधवो भवन्ति, तेऽपि सम्यक्त्व-रहिता एव मन्तव्याः। निजात्मपदार्थं मुक्त्वा सर्वे पदार्थाः परद्रव्यरूपाः, तेषु रतिर्यदि कस्यचित् साधोर्दृश्यते, तर्हि स मिथ्यादृष्टिरेव मन्तव्यः। उक्तं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (१३, १५-१७ गाथा)—

"जिस तरह मादक कोदों खाने से उन्मत्त हुआ व्यक्ति पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, उसी तरह मोहनीय कर्म के द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पाता।"

इसीलिए अज्ञान के कारण, जो इन्द्रिय-विषय परिणाम में दुःखप्रद हैं, फिर भी उनमें मूढ़ व्यक्ति की रति (अनुरक्ति, प्रीति) होती है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-55) में कहा भी गया है—

"(पाँचों) इन्द्रिय-विषयों में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्मा का कल्याण करने वाला हो, फिर भी यह अज्ञानी अपने अज्ञान (मिथ्यात्व) के संस्कारवश उन्हीं इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहता है।"

तथा **(विषयासक्ताः कषायसंयुक्ताः)** पाँचों इन्द्रियों के (पृथक्-पृथक् पाँच) विषय हो रहे पदार्थों में आसक्ति रखने वाले, तथा विशेषतः तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ —इन कषायों से संयुक्त, ग्रस्त, आविष्ट या उनसे प्रेरित जो साधु होते हैं, उन्हें भी सम्यक्त्वरहित समझना चाहिए। निज आत्म-पदार्थ को छोड़कर सभी पदार्थ पर-द्रव्य हैं, उनमें यदि किसी साधु की रति दिखाई देती है तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-13, 15-17) में कहा भी गया है—

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिणउवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं।।

परदव्वादो दुगई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि।।

आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं।।

विषयरक्तः सम्यग्ज्ञानरहित एव, तस्य मूढस्य संसारभ्रमणं निश्चितमेव भवति। उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-४, ७)—

''पर द्रव्यों में रत पुरुष नाना कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है और पर-द्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध व मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह (इतना-सा) संक्षिप्त उपदेश है।''

''जो साधु पर-द्रव्य में रत है, वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व रूप परिणत होता हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मों से बंधता है।''

''पर-द्रव्यों से दुर्गति और स्वद्रव्य से सुगति होती है —ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति करो और पर-द्रव्य से विरति करो।''

''आत्म-स्वभाव से अतिरिक्त जो (भी) सचित्त, अचित्त या मिश्र द्रव्य हैं, वे सब पर-द्रव्य हैं —ऐसा यथार्थद्रष्टा सर्वज्ञ देव ने कहा है।''

विषय-आसक्त जीव तो सम्यग्ज्ञान रहित ही होता है। उस मूढ़ जीव के तो संसार-भ्रमण निश्चित ही होता है। शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-4 व 7) में कहा भी गया है—

तावं ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं।।

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।।

वस्तुतः श्रामण्यदीक्षा मोहकषायत्यागसंकल्पपूर्वकमेव प्रारभ्यते। उक्तं च बोधप्राभृत-ग्रन्थे (गाथा-४४)—

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

श्रामण्यदीक्षां गृहीत्वाऽपि ये विषयवाञ्छां न त्यजन्ति, तर्हि तन्मूढता महदाश्चर्यकरी एव। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-१६८)—

"जब तक जीव विषयों के वशीभूत रहता है, तब तक वह (सम्यक्) ज्ञान को नहीं जानता (प्राप्त करता), और ज्ञान के बिना विषयों से विरक्त हुआ जीव पुराने बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।"

"जो कोई मनुष्य ज्ञान को जानकर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं, वे विषयों में मोहित रहने वाले मूढ़ प्राणी चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं।"

वस्तुतः श्रमण-दीक्षा तो मोह व कषाय के त्याग सम्बन्धी संकल्प के साथ ही प्रारम्भ होती है। बोधप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-44) में कहा भी गया है—

"जो गृहवास व परिग्रह के मोह से रहित है, जिसमें बाईस परीषह सहे जाते हैं, कषाय जीती जाती है, और जो पाप के आरम्भ से रहित है, ऐसी दीक्षा जिनेन्द्र देव ने कही है।"

श्रमण-दीक्षा ग्रहण करके भी जो विषय-इच्छा को नहीं छोड़ते हैं तो उनकी यह मूढ़ता तो महान् आश्चर्यकारी ही है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-168) में कहा गया है—

सन्त्येव कौतुकशतानि जगत्सु किन्तु,
विस्मापकं तदलमेतदिह द्वयं नः।
पीत्वाऽमृतं यदि वमन्ति विसृष्टपुण्याः,
संप्राप्य संयमनिधिं यदि च त्यजन्ति।।

स मूढमतिः स्वतपश्चरणमपि दिव्यभोगसेवनाकांक्षयैव करोति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक ४२)—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्।।

अतः कषायविजयाय यः प्रमादः, सोऽज्ञानजनित एवेति आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२१२) **प्रोक्तम्—**

करोतु न चिरं घोरं तपः क्लेशासहो भवान्।
चित्तसाध्यान् कषायारीन् न जयेत्तदज्ञानता।।

''ऐसे तो लोक में सैकड़ों कौतुक आश्चर्यजनक हैं, लेकिन उनमें दो कार्य हमें अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रतीत होते हैं। प्रथम तो आश्चर्य हमें उन पर होता है जो पहिले तो अमृत का पान करते हैं और फिर बाद में वमन करके उसे निकाल देते हैं। दूसरा आश्चर्य यह है कि जो पूर्व में तो विशुद्ध संयम रूप निधि को ग्रहण करते हैं और बाद में उसे छोड़ देते हैं।''

वह मूढ़मति अपने तपश्चरण भी दिव्य (स्वर्गीय) विषयभोगों के सेवन की इच्छा से करता है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-42) में कहा भी है—

''शरीर में जिसको आत्मबुद्धि हो गई है, ऐसा (बहिरात्मा) जीव सुन्दर शरीर व दिव्य (स्वर्गीय) विषय-भोगों को चाहता है, किन्तु ज्ञानी (अन्तरात्मा) उनसे छूटना चाहता है।''

कषाय-विजय के लिए जो प्रमाद होता है, वह अज्ञान-जनित ही है— ऐसा आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-212) में कहा गया है—

''यदि आप कष्टों को न सह सकने के कारण बहुत समय तक घोर-कठिनतम तपश्चरण को नहीं कर सकते हो तो मत करो, किन्तु जो मन से साधने योग्य है, ऐसे क्रोध आदि कषायों को नहीं जीतते हो तो वह आपकी अज्ञानता है।''

तथा (आदसहावे सुत्ता) **आत्मस्वभावे सुप्ताः, निजात्माराधनायां न जागृताः, निरुत्साहाः भवन्ति, अर्थात् व्यावहारिकेषु परद्रव्याश्रितेषु कार्येषु सोत्साहाः जागृता इव भवन्तीत्याशयः। ते साधवः सम्यक्त्वरहिता विज्ञेयाः इति गाथार्थः पर्यवसितः। उक्तं चैतत् मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-३१)—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे।।

समाधिशतकग्रन्थेऽपि (श्लोक-७८) **समर्थितमेतत्—**

व्यवहारे सुषुप्तो यः, स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन्, सुषुप्तश्चात्मगोचरे।।

परमात्मप्रकाशग्रन्थे (२/४६) **च भणितम्—**

जा णिसि सयलहँ देहियँ जोग्गिउ तहिं जग्गेइ।
जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मणिवि सुवेइ।।

तथा **(आत्मस्वभावे सुप्ताः)** जो आत्म-स्वभाव में सुप्त, सोये हुए हैं, निजात्मा की आराधना में जागृत नहीं हैं, उत्साहरहित होते हैं, अर्थात् पर-द्रव्यों पर आश्रित व्यावहारिक कार्यों में उत्साहयुक्त, जागे हुए जैसे होते हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित होते हैं —ऐसा जानना चाहिए, —यह गाथा का अर्थ पर्यवसित (फलित) होता है। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-31) में भी यह कहा गया है—

''जो मुनि व्यवहार में सोता है, वह आत्म-कार्य में जागता है, और जो व्यवहार में जागता है, वह आत्म-कार्य में सोता है।''

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-78) में भी इसका समर्थन इस प्रकार है—

''जो (लौकिक) व्यवहार में सोये हुए होते हैं, वे आत्मा के विषय में जागृत रहते हैं। और जो (लौकिक) व्यवहार में जागते हैं, वे आत्मा के विषय में (आत्म-कल्याण में) सोये हुए (प्रयत्नरहित, उद्यमहीन) होते हैं।''

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (2/46) में भी कहा गया है—

''जो सारे संसारी जीवों की रात्रि है, उसमें परम तपस्वी जागता है, और जिसमें सारे संसारी जीव जाग रहे होते हैं, उस दशा को योगी रात मानकर योगनिद्रा में सोता है।''

किन्तु आत्मकर्मणि जागृता एव परमसौख्यं प्राप्तुं सफला भवन्ति। उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-४७)—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः।
जायते परमानन्दः, कश्चिद् योगेन योगिनः।।

एवं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! देहादिषु परद्रव्येषु अनुरक्तिं परित्यज्य निजात्मस्वरूपाराधनायै प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति जैनधर्मविराधकमुनीनां स्वरूपं शास्त्रकारा गाहाछन्दोद्वयेन निरूपयन्ति—

आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंखिया तहासूया।
वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा।।१०१।।

संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिदगुरुकुला मूढा।
रायादिसेवया ते जिणधम्मविराहया साहू।।१०२।।

किन्तु जो आत्मा के कार्य में जागृत होते हैं, वे ही परम सुख को पाने में सफल होते हैं। इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-47) में कहा भी गया है—

"(प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप) व्यवहार को बाहर ही रखकर (उन्हें त्यागकर) जो आत्मा आत्मा के अनुष्ठान (स्वस्वरूप की प्राप्ति) में लीन रहता है, उस आत्मनिष्ठ योगी को परम समाधि रूप ध्यान से किसी (वचनातीत) परम आनन्द की प्राप्ति होती है।"

इस प्रकार, अच्छी तरह समझकर, हे भव्य प्राणी! देह आदि पर-द्रव्यों में अनुरक्ति छोड़ कर निज आत्मस्वरूप की आराधना के लिए प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, जैन धर्म की विराधना (प्रतिष्ठा धूमिल) करने वाले मुनियों के स्वरूप को दो गाहा छन्दों के द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

छाया— आरम्भे धनधान्ये उपकरणे कांक्षितास्तथा असूयका:।
व्रत-गुण-शीलविहीना: कषायकलहप्रिया: मुखरा:।।

संघविरोधकुशीला: स्वच्छन्दा: गुरुकुलरहिता: मूढा:।
राजादिसेवका: ते जिनधर्मविराधका: साधव:।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वय: सुगम एव। (ते जिणधम्मविराहया साहू) **ते साधव: जिनधर्मविराधका:, जिनधर्मस्य विनाशका:, तत्प्रतिष्ठाविनाशे हेतुभूता वा भवन्ति। अयं च धर्म: केनोपदिष्ट: ? सर्वज्ञजिनेन्द्रेण —इति जिणधम्मपदेनाभिहितमेव। सैव धर्म: संसारदु:खार्णवतारणे समर्थ:।**

उक्तं च भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-८३)— संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं। **तद्धर्मस्य स्वरूपादिविषये शास्त्रकारै: संक्षेपेण यत् प्रोक्तं, तदत्र प्रस्तूयते। यथा ज्ञानार्णवग्रन्थे** (२/१६३, १६८) **प्रोक्तम्**—

गाथा-अर्थ— जो साधु आरम्भ (व्यापार आदि) में, धन-धान्य में तथा उपकरण में आकांक्षा (विशेष चाह) रखते हैं, जो ईर्ष्यालु हैं, जो व्रत, गुण व शील से रहित हैं, जो कषाय व कलहों में प्रीति रखते हैं, जो वाचाल हैं, संघ में विरोध करने का जिनका स्वभाव है, जो स्वच्छन्द (अमर्यादित) हैं, जो गुरु-कुल में नहीं रहते, जो मूढ़ (मोहग्रस्त हैं), और जो राजा आदि के सेवक हैं, वे जैन धर्म की विराधना करने वाले हैं।।(101-102)।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम ही है। **(ते जिनधर्मविराधका: साधव:)** वे साधु जिन-धर्म के विराधक, विनाशक या जिन-धर्म की प्रतिष्ठा को नष्ट करने में हेतु होते हैं। इस धर्म का उपदेश किसके द्वारा दिया गया है ? वह सर्वज्ञ जिनेन्द्र (तीर्थंकर) द्वारा दिया गया है —ऐसा 'जिनधर्म' पद से कह दिया गया है। वही धर्म संसार रूपी दु:खसागर को पार कराने में समर्थ है।

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-83) में कहा भी गया है— "जिनेन्द्र देव ने संसार पार करने वाले धर्म का उपदेश दिया है।" उस धर्म के स्वरूप आदि के बारे में शास्त्रकारों ने जो संक्षेप से कहा है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। उदाहरणार्थ ज्ञानार्णव ग्रन्थ (2/163, 168) में कहा गया है—

न धर्मसदृशः कश्चित् सर्वाभ्युदयसाधकः।
आनन्दकुजकन्दश्च हितः पूज्यः शिवप्रदः।।

यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद् वाक्चित्तकर्मभिः कार्यम्।
स्वप्नेऽपि नो परेषाम्, इति धर्मस्याग्रिमं लिङ्गम्।।

आदिपुराणग्रन्थे (५/२२) **च भणितम्—**

धर्मस्य तस्य लिङ्गानि, दमः क्षान्तिरहिंस्रता।
तपो दानं च शीलं च योगो वैराग्यमेव च।।

तथा च तत्रैव (२/३७) **सामान्यस्वरूपं प्रोक्तम्—**

स धर्मो विनिपातेभ्यो यस्मात्संधारयेन्नरम्।
धत्ते चाभ्युदयस्थाने निरपायसुखोदये।।

''धर्म के समान कोई भी पदार्थ प्राणियों के सम्पूर्ण अभ्युदय का साधक नहीं है। यह धर्म ही आनन्द रूप वृक्ष का मूल (जड़), सबका हितकारी, पूजनीय एवं मोक्ष का प्रदाता है।''

''जो-जो कार्य स्वयं अपने लिए अनिष्ट है, उस-उस कार्य को वाणी, मन व क्रिया से स्वप्न में भी दूसरों के लिए नहीं करना चाहिए —यह (इस) धर्म का प्रधान लक्षण है।''

आदिपुराण ग्रन्थ (5/22) में भी कहा गया है—

''उस धर्म के चिह्न हैं— मन को वश में करना, क्षमा, दया, इच्छाओं का निरोध (तप), दान, शील (ब्रह्मचर्य), योग व वैराग्य।''

और, वहीं (2/37) (इस) धर्म का सामान्य स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

'''धर्म' शब्द का अर्थ है— धारण (रक्षा) करने वाला। धर्म मनुष्य को पतन से बचाता है और अविनश्वर सुख के उदय वाले अभ्युदय-स्थान में प्रतिष्ठित करता है।''

सैव धर्मो रत्नत्रयरूपेणापि शास्त्रकारैर्निर्दिष्टः। यथोक्तं रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श. ३)—

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः।।

स धर्मः शरण्यः सर्वेषामिति च पद्मपुराणे (४/३५-३६) **परामृष्टम्—**

अस्मिंस्त्रिभुवने कृत्स्ने जीवानां हितमिच्छताम्।
शरणं परमं धर्मः, तस्माच्च परमं सुखम्।।

सुखार्थं चेष्टितं सर्वं तच्च धर्मनिमित्तकम्।
एवं ज्ञात्वा जना यत्नात्, कुरुध्वं धर्मसंग्रहम्।।

तस्य धर्मस्य अनुष्ठानेन सहैव तस्य प्रभावनाऽपि जैनधार्मिकाणां कृते कर्तव्यतया आचार्यामृतचन्द्रस्वामिभिरुपदिष्टा पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे (श्लोक-३०)—

वही धर्म रत्नत्रय के रूप में भी शास्त्रकारों द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। जैसा कि रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-3) में कहा गया है—

''धर्मेश्वर (तीर्थंकर देव) ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र को ही धर्म कहा है, क्योंकि ये ही आत्मा के उद्धार के हेतु हैं। इनके विपरीत (मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्याचारित्र) जो हैं, वे संसार के कारण होते हैं।''

और वह धर्म ही सभी के लिए शरणयोग्य है —ऐसा पद्मपुराण (4/35-36) में सुझाया गया है—

''इस सम्पूर्ण त्रैलोक्य में अपना हित चाहने वाले जीवों के लिए धर्म ही परमशरण है, इसलिए वही परमसुख (का कारण) है।''

''सारी चेष्टाएँ सुख के लिए होती हैं और उस (सुख) का कारण धर्म (ही) है —ऐसा जान कर हे मानव! सदा धर्म का संग्रह (पालन) करो।''

इस धर्म के अनुष्ठान के साथ-साथ, उसकी प्रभावना करना भी (प्रत्येक) जैन धार्मिकों के लिए एक कर्तव्य है —ऐसा आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक-30) में उपदेश दिया है—

आत्मा प्रभावनीयः, रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।

तस्यां धर्मप्रभावनायां व्यवहारनयस्याश्रयणं समपेक्षितमिति च तैः समयसारग्रन्थटीकायां (गाथा-१२, आत्मख्यातिटीका) **भणितम्—**

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुअह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं।।

एवं जिनधर्मस्य सर्वहितकारित्वेऽपि केचित्प्राणिनस्तस्य धर्मस्य प्रतिष्ठां स्वनिन्दिताचरणेन विनाशयन्ति, ते सर्वे निन्द्याः पापिनश्च। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२४)—

कृत्वा धर्मविघातं विषयसुखान्यनुभवन्ति ये मोहात्।
आच्छिद्य तरुं मूलात्, फलानि गृह्णन्ति ते पापाः।।

"रत्नत्रय के तेज से निरन्तर अपनी आत्मा की प्रभावना करनी चाहिए (अर्थात् आत्मा के तेज को रत्नत्रय द्वारा प्रकट करना चाहिए)। और (साथ ही) दान, तप, जिनपूजा व विद्यातिशय द्वारा जिन-धर्म की प्रभावना करनी चाहिए (अर्थात् दान आदि द्वारा जिन-धर्म के माहात्म्य को प्रकट करना चाहिए)।"

उक्त धर्म-प्रभावना में व्यहारनय का आश्रयण अपेक्षित है —यह भी उन्होंने (आचार्य अमृतचन्द्र ने) समयसार ग्रन्थ (गाथा-12) की टीका (आत्मख्याति) में बताया है—

"यदि तुम जिन-मत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहारनय व निश्चयनय दोनों को मत छोड़ना। क्योंकि एक (व्यवहार नय) के बिना तीर्थ का उच्छेद हो जाता है और दूसरे (निश्चय नय) के बिना 'तत्त्व' का।"

इस प्रकार, जिन-धर्म के सर्वहितकारी होने पर भी, कुछ प्राणी उस धर्म की प्रतिष्ठा को अपने निन्दनीय आचरण से नष्ट करते हैं, वे सभी निन्दा के पात्र हैं और पापी हैं। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-24) में कहा भी गया है—

"जो लोग मोह से धर्म का विघात कर विषय-सुखों का अनुभव करते हैं, वे पापी लोग मानो वृक्ष को मूल से उखाड़ कर फलों को ग्रहण करना चाहते हैं।"

श्रमणानां काः काः प्रवृत्तयः, यद्वा के के दोषाः, यद्युक्ताः श्रमणाः जिनधर्मं विराधयन्ति ? तदेवात्र गाथाद्वयेन विशदीक्रियते— (आरंभे धणधण्णे उवयरणे कंखिया) **आरम्भे, धनधान्ये, उपकरणे च कांक्षिताः। येषां कांक्षा, आसक्तिः अर्थात् आरम्भकार्येषु गृहस्थोचितसावद्यकार्येषु, धनधान्यादिपरिग्रहे तथा किम्बहुना, उपकरणेषु च मूर्च्छा भवति, ते वीतरागधर्मविपरीताचरणं कुर्वन्तो धर्मविराधकाः सन्तीति विज्ञेयम्।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— आरम्भः प्राणिपीड़ाहेतुर्व्यापारः। उक्तं च धवलायाम् (पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २२)—प्राणिप्राणवियोजनं आरंभो णाम।

आरम्भकार्ये कांक्षाभावः श्रमणधर्मविराधनैव। मूलाचारग्रन्थे (गाथा-९५९) **आरम्भप्रवृत्तो मुनिः संसर्गयोग्योऽपि नेति भणितम्—**

दंभं परपरिवादं णिसुणत्तण पावसुत्तपडिसेवं।
चिरपव्वइदं पि मुणी आरंभजुदं ण सेविज्ज।।

श्रमणों की कौन-कौन सी प्रवृत्तियाँ हैं या वे कौन-कौन से दोष हैं, जिनसे युक्त श्रमण जिन-धर्म को विराधित करते हैं? इसी का यहाँ स्पष्टीकरण किया जा रहा है— **(आरम्भे धनधान्ये उपकरणे कांक्षिताः)** आरम्भ में, धनधान्य में, उपकरण में जिनकी कांक्षा यानी आसक्ति है, अर्थात् आरम्भ-कार्यों यानी गृहस्थ अवस्था के योग्य सावद्य कार्यों में, धनधान्य आदि के परिग्रह में, और अधिक क्या कहा जाय, उपकरणों में भी जिनकी मूर्च्छा होती है, वे वीतराग धर्म के विपरीत आचरण करने वाले होने से धर्मविराधक हैं —यह जानना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— आरम्भ का अर्थ है— प्राणियों को पीड़ा देने आदि में कारण होने वाला व्यापार। धवला (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 22) में कहा भी गया है— "प्राणियों के प्राणों का वियोग करना 'आरम्भ' कहलाता है।"

आरम्भ-कार्य में कांक्षा का होना —यह श्रमण धर्म की विराधना ही है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-959) में आरम्भ में प्रवृत्त मुनि को संसर्ग के लिए भी अयोग्य बताया गया है—

"मानयुक्त, अन्य-निन्दक, चुगली करने वाला, पापसूत्रों के अनुरूप प्रवृत्ति करने वाला और आरम्भ सहित श्रमण -वह भले ही चिर काल से दीक्षित हो, उपासना करने योग्य नहीं है।"

धनधान्यादिषु परिग्रहभूतेषु च मूर्च्छा, आसक्तिर्वा श्रमणस्य कृते धर्मविराधिका क्रियैव भवतीति शास्त्रकारस्य आशयः। स्वयं शास्त्रकाराः अग्रे (१०३ गाथायां) **धनधान्यपरिग्रहणं श्रमणानां दूषणं प्रतिपादयिष्यन्ति। भगवती-आराधनाग्रन्थे** (१९४६-१९५१ गाथा) **पार्श्वस्थादि-भ्रष्टाचारिमुनीनां स्वरूपं वर्णितं, तत्र परिग्रहासक्तिदोषस्य विशेषतया निर्देशो विहितः। तत्र** (गाथा-१९४८) **प्रोक्तम्—**

गंथअणियत्ततण्हा बहुमोहा सबलसेवणासेवी।
सद्दरसरूवगंधे फासेसु य मुच्छिदा घडिदा।।

यथार्थश्रामण्यधारिणां जिनधर्मप्रतिष्ठासंवर्धकानां तु अहमिन्द्रपदमपि हेयम्भवति, किम्पुनः धनधान्यादिकम्। उक्तं च अनगारधर्मामृतग्रन्थे (१/४६)—

कथयतु महिमानं को नु धर्मस्य येन, स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः।
समरससुखसंविल्लक्षितात्यक्षसौख्याः, तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः।।

धन, धान्य आदि परिग्रह रूप पदार्थों में मूर्च्छा या आसक्ति श्रमण के लिए एक धर्मविराधक क्रिया ही होती है —यह शास्त्रकार का आशय है। स्वयं शास्त्रकार आगे ही (103 गाथा में) धनधान्य के परिग्रह को श्रमणों के दूषण रूप में बताएँगे। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 1946-1951) में पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट आचरण वाले मुनियों का जो स्वरूप कहा गया है, वहाँ परिग्रह में आसक्ति रूप दोष का विशेष रूप से निर्देश किया गया है। (अतः) वहीं (गाथा-1948) कहा गया है—

"उनकी परिग्रह की तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वे अज्ञान में डूबे रहते हैं। गृहस्थों के आरम्भ में फँसे रहते हैं और शब्द, रस, रूप, गन्ध व स्पर्श में ममत्व भाव रखते हैं।"

जो यथार्थ श्रामण्य (श्रमणचर्या) के धारक होते हैं, और जिन-धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाले होते हैं, उनके लिए तो अहमिन्द्र का पद भी हेय होता है, फिर धन-धान्य आदि की तो बात ही क्या? अनगारधर्मामृत ग्रन्थ (श्लोक-1/46) में भी कहा गया है—

"उस धर्म की महिमा को कौन कह सकता है जिसके माहात्म्य से विवेकज्योति (भेदविज्ञान) प्राप्त कर चुके शान्तमोह, तथा समरस (यथाख्यात चारित्र) के सुख की अनुभूति से अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करने वाले मुनीन्द्र 'अहमिन्द्र' तक के पद से भी विमुख हो जाते हैं।"

यथार्थश्रमणस्य स्वरूपमिदं मनसि धृत्वैव प्रवचनसारग्रन्थे (३/३९) **सिद्धान्तितम्—**

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि।।

अन्यच्च तत्रैव (३/४३) **निर्दिष्टम्—**

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं।।

उपकरणेष्वपि मूर्च्छाभावः परिग्रहदोषमेवोत्पादयति। अत एव मूलाचारग्रन्थे अपरिग्रहस्वरूपं यत् (गाथा-९) **निरूपितम्, तद्व्याख्याने** (आचारवृत्तौ) **स्पष्टमुक्तम्—** "इतरेषु च संयम-ज्ञान-शौचोपकरणेषु (निर्ममः) ममत्वरहितत्वं निःसंगत्वम् (असंगः) असंगव्रतत्वम्। किमुक्तं भवति— जीवाश्रिता ये परिग्रहाः, ये चानाश्रिताः क्षेत्रादयः जीवसम्भवाश्च, तेषां सर्वेषां मनोवाक्कायैः सर्वथा त्यागः, इतरेषु च संयमाद्युपकरणेषु च असङ्गम्, अतिमूर्च्छारहितत्वम् इत्येतद् असङ्गव्रतम्।"

यथार्थश्रमण के इस स्वरूप को मन में रखकर ही प्रवचनसार ग्रन्थ (3/39) में यह सिद्धान्त रूप में कहा गया है—

"जिसमें शरीर आदि पर-पदार्थों में परमाणु जितना भी ममत्व भाव है, वह भले ही समस्त आगमों का धारक हो, सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होता है।"

और, वहीं (3/43) यह भी कहा गया है—

"यदि साधु पर-द्रव्य को प्राप्त कर मोह करता है, या राग करता है या द्वेष करता है तो वह अज्ञानी है और वह विविध कर्मों से बंधता ही है।"

उपकरणों में भी मूर्च्छा भाव परिग्रह सम्बन्धी दोष को ही उत्पन्न करने वाला होता है। इसीलिए मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-9) में अपरिग्रह का स्वरूप जो बताया गया है, उसकी व्याख्या (आचारवृत्ति) में यह स्पष्टीकरण किया गया है— "अन्य पदार्थों, जैसे संयम, ज्ञान व शुद्धि के उपकरणों में (निर्मम) ममत्वरहित होना यानी निस्संगता (असंग) असंग— (अपरिग्रह) व्रत होता है। तात्पर्य क्या निकला? यह निकला कि जो क्षेत्रादि जीवाश्रित परिग्रह हैं, और जो क्षेत्र आदि जीव-अनाश्रित परिग्रह हैं और इसी तरह जो जीव से सम्भव परिग्रह भी हैं, उन सभी का मन, वचन व काय से सर्वथा त्याग, तथा अन्य संयमादि के उपकरणों में असङ्गभाव, अतिमूर्च्छा न होना —ये असंग (अपरिग्रह) महाव्रत है।"

सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/४६) **बकुशनिर्ग्रन्थानां शरीरोपकरणविभूषाभिलाषित्वं निरूपितम्, तथा चाग्रे** (९/४७) **बहुविशेषोपकरणाकांक्षी उपकरणबकुश इतिभेदोऽपि प्रतिपादितः। अत एव तस्योपकरणादिषु आसक्तेः, कदाचिदार्तध्यानं सम्भवतीति दृष्ट्या कृष्णादिलेश्यानामपि सद्भावः, अतस्तस्य षडपि लेश्याः प्रतिपादिताः। संयमोपकरणेष्वपि मोहत्यागाय आत्मानुशासनग्रन्थे** (श्लोक-२२८) **परामर्शः प्रदत्तः—**

रम्येषु वस्तुवनितादिषु वीतमोहः, मुह्येद् वृथा किमिति संयमसाधनेषु।
धीमान् किमामयभयात् परिहृत्य भुक्तिं, पीत्वौषधिं व्रजति जातुचिदप्यजीर्णम्।।

वस्तुतः श्रमणाणामुपकरणानि जिनमुद्रादीनि एव भवन्तीति प्रवचनसारग्रन्थे (३/२५) **निर्दिष्टम्—**

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/46) में बकुश निर्ग्रन्थों के बारे में कहा गया है कि वे शरीर व उपकरण की सजावट की अभिलाषा रखते हैं, और आगे (9/47) 'विशेष उपकरण की आकांक्षी' बकुश का एक विशेष भेद 'उपकरण बकुश' का भी कथन किया गया है। इसीलिए, उस बकुश की उपकरण आदि में आसक्ति होने के कारण कभी उसे आर्तध्यान भी हो सकता है, इस प्रकार उनमें कृष्ण आदि (अशुभ) लेश्याओं का भी सद्भाव होता है, अतः इस दृष्टि से उनके छहों लेश्याओं का होना बताया गया है। संयम-उपकरणों में भी मोह के त्याग हेतु आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-228) में यह परामर्श दिया गया है—

"हे भव्य! जब तुमने रमणीय बाह्य वस्तुओं व स्त्री-पुत्रादि के विषय में मोह छोड़ दिया है, तब फिर संयम के साधनों (पिच्छी, कमण्डलु) आदि के विषय में क्यों व्यर्थ ही मोह को प्राप्त हो रहे हो? क्या कोई बुद्धिमान् रोग-भय से भोजन को परित्याग करता हुआ औषधि को पीकर कभी अजीर्णता को प्राप्त होता है? (अर्थात् नहीं होता। वह इतनी औषधि भी नहीं पीता कि अजीर्ण रोग हो जाए। इसी तरह मुनि संयमोपकरण के प्रति भी इतना मोह नहीं करता कि वह संयम-बाधक बन जाए।)

वस्तुतः श्रमणों के उपकरण जिनमुद्रा आदि होते हैं —ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (3/25) में कहा गया है—

उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च पण्णत्तं।।

यथार्थश्रमण एतैरुपकरणैः संयमसाधनां सम्पादयतीति विज्ञेयम्।

(तहासूया) **तथा असूयकाः, असूयादोषयुक्ता अपि जिनधर्मविराधकाः भवन्ति। असूया च परगुणेषु दोषाविष्करणं विज्ञेयम्। लिङ्गप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-१४) **तु परोक्षे दोषकथनमपि निन्द्यकार्यं निरूपितम्—**

गिण्हदि अदत्तादाणं परिनिंदा वि य परोक्खदूसेहिं।
जिणलिंगं धारंतो चोरेण व होइ सो समणो।।

तथा (वयगुणसीलविहीणा कसायकलहप्पिया मुहरा) **व्रतैः, गुणैः** (मूलोत्तरगुणैः), **शीलेन च विहीनाः तथा येषां कषायाः कलहश्च प्रिया अभीष्टा भवन्ति, ते तथा च ये मुखराः भाषासमिति-प्रातिकूल्येन भाषमाणाः, ते जिनधर्मविराधका विज्ञेयाः।**

''जिनमार्ग में यथाजातरूप (निर्ग्रन्थ मुद्रा), गुरुवचन, गुरु-विनय और शास्त्राध्ययन —ये उपकरण कहे गये हैं।''

यथार्थ श्रमण इन उपकरणों से संयम-साधना सम्पन्न करता है —यह जानना चाहिए।

(तथा असूयकाः) और असूयक यानी असूया दोष से युक्त भी जिन-धर्म के विराधक होते हैं। दूसरों के गुणों में दोष देखने को 'असूया' जानना चाहिए। लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-14) में तो परोक्ष में भी किसी के दोष कहने को निन्दनीय कार्य बताया गया है—

''जो श्रमण जिनलिङ्ग को धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दोष लगा लगाकर दूसरे की निन्दा करता है, वह चोर के समान है, साधु नहीं है।''

तथा **(व्रतगुणशीलविहीनाः कषायकलहप्रियाः मुखराः)** जो व्रतों से, गुणों (मूल व उत्तरगुणों) से तथा शील से भी रहित हैं, तथा जिन्हें कषाय व कलह प्रिय व अभीष्ट हैं, वे और जो मुखर यानी भाषासमिति के प्रतिकूल भाषण करने वाले हैं, उन्हें जिन-धर्म के विराधक जानना चाहिए।

तत्र व्रतमभिसन्धिकृतो नियमो ज्ञेयः। इदं कर्तव्यम्, इदं न कर्तव्यमिति नियमो यः क्रियते, तद् व्रतम्। तदपि अणुव्रतम्, महाव्रतमितिभेदेन द्विविधम्। अत्र प्रकरणवशात् महाव्रतं व्रतपदेन गृह्यते। अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहेतिरूपेण, महाव्रतानि पञ्च भवन्ति। गुणाश्च मूलगुणा उत्तरगुणाश्च भवन्ति।

तत्र मूलगुणाः अष्टाविंशतिः। तद्यथा— पञ्च महाव्रतानि, पञ्च समितयः, पञ्चेन्द्रियाणां निरोधः, केशलोचः, षडावश्यकानि, अचेलकत्वम्, अस्नानम्, भूमिशयनम्, अदन्तधावनम्, स्थितिभोजनम्, एकभुक्तिश्चेति अष्टाविंशतिः मूलगुणाः।

चतुरशीतिशतसहस्रसंख्यकाः (८४०००) **उत्तरगुणाः। शीलं च ब्रह्मचर्यम्। तस्यापि अष्टादशसहस्रभेदाः** (१८०००) **भवन्ति। विस्तरस्तु मूलाचारे** (गाथा-१०१९) **तथा तत्तद्ग्रन्थेभ्यो विज्ञेयम्। एतैर्गुणैः संयुक्तो मुनिः पूर्णचन्द्र इव श्रमणसंघे शोभते।**

उक्तं च भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१५९)—

इनमें संकल्प-पूर्वक लिये गये नियम को 'व्रत' जानना चाहिए। यह मेरे लिए कर्तव्य है, और यह अकर्तव्य है —इस प्रकार जो नियम लिया जाता है, वह 'व्रत' होता है। वह भी अणुव्रत व महाव्रत रूप में दो प्रकार का होता है। यहाँ प्रकरण के अनुरूप व्रत-पद से महाव्रत अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह —इस रूप में महाव्रत पाँच होते हैं। मूलगुण व उत्तरगुण —ये गुण होते हैं।

इनमें मूलगुण अट्ठाईस हैं। जैसे— पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचों इन्द्रियों का निरोध, केशलोंच, छः आवश्यक, अचेलकता (दिगम्बरता), अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन लेना, दिन में एक बार भोजन लेना —ये (मिलाकर) अट्ठाईस मूलगुण हैं।

चौरासी हजार (84000) उत्तरगुण होते हैं। शील यानी ब्रह्मचर्य। उसके अठारह हजार (18000) भेद होते हैं। मूलाचार (गाथा-1019) में तथा अन्यान्य ग्रन्थों से इनके बारे में विस्तार से जानना चाहिए। इन गुणों से संयुक्त मुनि पूर्ण चन्द्रमा की तरह श्रमणसंघ में सुशोभित होता है।

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-159) में कहा गया है—

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।।

अन्यच्च तत्रैव (गाथा-१५४) **प्रोक्तम्—**

ते वि य भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो।।

तथा कषायकलहप्रियाः, कषायदोषदूषिताः, कलहविरोधद्वेषात्मकप्रवृत्तियुक्ताश्च जिनधर्मविराधका भवन्ति। एवमेव मुखराः, मर्यादाहीनसम्भाषणसम्प्रवृत्ताः अपि तद्वदेव ज्ञेयाः। एतत्तथ्यसमर्थने लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा-६) **च प्रोक्तम्—**

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।।

''जिस प्रकार आकाश में ताराओं की पंक्ति से घिरा हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा सुशोभित होता है, उसी प्रकार जिन-मत रूपी आकाश में गुण-समुदाय रूपी मणियों की मालाओं से युक्त मुनीन्द्र शोभित होता है।''

और भी, वहीं (गाथा-154) यह कहा गया है—

''हम उन्हीं को मुनि कहते हैं जो समस्त कला, शील व संयम आदि गुणों से समन्वित होते हैं। जो अनेक दोषों का स्थान है, तथा अत्यन्त मलिन चित्त वाला है, वह मुनि तो दूर की बात, श्रावक के भी समान नहीं है।''

तथा कषाय-कलहप्रिय, अर्थात् कषाय-दोष से दूषित तथा कलह, विरोध व द्वेष भरी प्रवृत्ति वाले जिन-धर्म के विराधक होते हैं। इसी तरह जो मुखर यानी मर्यादाहीन सम्भाषण करने वाले हैं, उन्हें भी उन्हीं की तरह (जिनधर्मविराधक) जानें। इस तथ्य के समर्थन में लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-6) में कहा गया है—

''जो जीव मुनि-लिङ्ग का धारक होते हुए भी निरन्तर अत्यधिक गर्व से भरा हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है अथवा जुआ खेलता है, वह चूँकि मुनिलिङ्ग में रहते हुए (ऐसे कुकृत्य) करता है, इसलिए पापी है और नरकगामी है।''

तथा मूलाचारग्रन्थे (गाथा-९५७) **च भणितम्—**

चंडो चवलो मंदो तह साहू पुट्ठिमंसपडिसेवी।
गारवकसायबहुलो दुरासओ होदि सो समणो।।

मौखर्यं च श्रावकाणां कृतेऽपि अनर्थदण्डविरतेरतीचाररूपं तत्त्वार्थसूत्रे (७/३२) **प्रतिपादितम्। श्रमणानान्तु एतेन समितिभङ्गः स्पष्ट एव, तथा हिंसादिदोषा अपि मौखर्येण सम्बद्धाः, अतस्ते त्याज्या एव। तथा** (संघविरोहकुसीला सच्छंदा रहिदगुरुकुला मूढा) **संघविरोधे कुशलाः स्वार्थसिद्ध्यै स्वमानादिकषायपूर्त्यै च येन केनापि प्रकारेण कलहमुद्भावयितुं परस्परं वैमनस्यं च प्रतिष्ठापयितुं ये प्रवणाः, ते वस्तुतो धर्मविराधका एव। तथा स्वच्छन्दप्रवृत्तयः, गुर्वाज्ञां विना गुरुकुलवासं मुक्त्वा निर्मर्यादमेकलविहारिणो वा भवन्ति, ते सर्वे मूढा मोहग्रस्ताः, हिताहितविवेकरहिताः, ते च जिनधर्मविराधनां कुर्वन्ति इत्याशयः।**

मूलाचारग्रन्थेऽपि (गाथा-९६१) **भणितम्—**

और, मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-957) में भी कहा गया है—

''जो साधु क्रोधी, चंचल, आलसी व चुगलखोर है एवं गौरव व कषाय की बहुलता वाला है, वह श्रमण आश्रय (सेवा) के योग्य नहीं है।''

मुखरता श्रावकों के लिए भी अनर्थदण्डविरति के अतीचार रूप में तत्त्वार्थसूत्र (7/32) में प्रतिपादित है। मुनियों के लिए समिति का तो भंग इससे होता ही है, हिंसा आदि दोष भी मुखरता से जुड़े हुए होते ही हैं, इसलिए वे त्याज्य ही हैं। तथा **(संघविरोधकुशीलाः स्वच्छन्दा गुरुकुलरहिताः मूढाः)** जो संघ के विरोध में कुशल हैं, स्वार्थ की सिद्धि के लिए और अपने अभिमान आदि कषायों की पूर्ति के लिए जिस किसी भी प्रकार से कलह पैदा करने एवं परस्पर वैमनस्य बढ़ाने के लिए जो कुशल हैं, वे भी वस्तुतः धर्म के विराधक ही हैं। तथा स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले, अर्थात् गुरु की आज्ञा के बिना गुरुकुल में रहना छोड़कर मर्यादाहीन रूप में एकलविहारी होकर रहते हैं, वे सभी मूढ़ यानी मोहग्रस्त हैं, हित व अहित के विवेक से रहित हैं, वे जिन-धर्म की विराधना करते हैं —यह आशय है।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-961) में भी कहा गया है—

आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।।

किम्बहुना, ये श्रमणसंघहितकार्ये निरुत्साहा अपि भवन्ति, तेऽपि देवेष्वपि उत्पद्य सुरम्लेच्छा भवन्ति। उक्तं च भगवती-आराधना-ग्रन्थे (गाथा-१९५२)—

किं मज्झ णिरुच्छाहा हवंति जे सव्वसंघकज्जेसु।
ते देवसमिदिबज्झा कप्पंते हुंति सुरमिच्छा।।

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा १९४३-१९४४) **तथा विजयोदयाटीकायां स्वच्छन्दप्रवृत्तीनां** 'यथाछन्द'-**नाम्ना अभिहितानां मुनीनां दुष्प्रवृत्तयः संकेतिताः, यथा आगमविपरीतोपदेशः, असंयमे दोषाभावस्य समर्थनमित्यादिकाः। तथा** (रायादिसेवया) **राजादिसेवकाः ये श्रमणाः सन्ति। के च ते? उच्यते— ये राज्यशासनप्रदत्तसौख्याभिलाषिणः, यद्वा भयाल्लोभाद्वा राजकीयसदसत्-कार्यप्रशंसकाः, यद्वा राजपिण्डभोक्तारो राजादिसेवका ज्ञेयाः।**

''जो श्रमण आचार्य-संघ को छोड़कर एकाकी विहार करता है और उपदेश को ग्रहण नहीं करता है, वह पापश्रमण कहलाता है।''

अधिक क्या कहना, जो श्रमण-संघ के कल्याण में उत्साहहीन भी हैं, वे भी देवयोनि में उत्पन्न होकर भी 'सुरम्लेच्छ' (नीच कोटि के) होते हैं। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1952) में भी कहा गया है—

''मुनि अवस्था में 'मुझे इससे क्या?' ऐसा कह कर संघ के कार्यों में अनादर भाव रखने वाले जीव देवों की समिति से बहिष्कृत सौधर्मादि कल्पों में, अन्त में बसने वाले चाण्डाल जाति के देव होते हैं।''

और, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 1943-44) में तथा उसकी विजयोदया टीका में स्वच्छन्द प्रवृत्ति वाले 'यथाछन्द' नामक मुनियों की दुष्प्रवृत्तियों का संकेत किया गया है, जैसे — आगमविपरीत कथन, असंयम में दोष न होने का समर्थन आदि-आदि। तथा **(राजादिसेवकाः)** राजा आदि के सेवक जो श्रमण हैं। वे कौन हैं? बता रहे हैं— जो राज्यशासन द्वारा प्रदत्त सुख-सुविधा के अभिलाषी हैं, या भय व लोभ से राजकीय अच्छे-बुरे कार्य के प्रशंसक हैं या राजपिण्ड ग्रहण करने वाले हैं, उन्हें राजसेवक जानना चाहिए।

अतएव श्रमणाः राजपिण्डसेवनं नैव कुर्वन्ति, यतो हि राजपिण्डत्यागश्च दशविधश्रमण-कल्पे परिगणितः। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-९११)—

अच्चेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिदियम्मं ।
वदजेट्ठ पडिक्कमणं मासं पज्जो समणकप्पो।।

विषयभोगसाधनप्राप्तीच्छया राजप्रभृतीनां स्तुतिप्रशंसाकरणं स्त्रीसंसर्गवदेव शीलविराधकं भण्यते। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा १०३०-१०३१)—

इत्थीसंसग्गी पणिदरसभोयण गंधमल्लसंठप्पं।
सयणासणभूसणयं छट्ठं पुण गीयवाइयं चेव।।

अत्थस्स संपओगो कुसीलसंसग्गि रायसेवा य।
रत्ती वि य संयरणं दस सीलविराहणा भणिया।।

एवं हे भव्य! जिनधर्मविराधिकाः सर्वाः प्रवृत्तीः परित्यज्य जिनधर्माराधनायां सततोद्यतो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

इसलिए श्रमण राजपिण्ड का सेवन नहीं करते, क्योंकि दस प्रकार के श्रमण-कल्प में राजपिण्ड का त्याग भी परिगणित है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-911) में कहा गया है—

"अचेलकत्व, औद्देशिक त्याग, शय्यागृह-त्याग, राजपिण्ड-त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास, पर्या —ये दस श्रमण-कल्प होते हैं।"

विषय-भोगों के साधन प्राप्त करने की इच्छा से राजा आदि की स्तुति या प्रशंसा करना स्त्रीसंसर्ग की तरह ही शीलविराधक कहा गया है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 1030-1031) में भी कहा गया है—

"स्त्री-संसर्ग, प्रणीतरसभोजन, गन्ध-माला (आदि) का ग्रहण, कोमल शयन-आसन, भूषण, गीत-वादित्र-श्रवण, अर्थ-संग्रह, कुशीलसंसर्ग, राजसेवा और रात्रि-संचरण —ये दस (प्रवृत्तियाँ) शील की विराधक कही गई हैं।"

इस प्रकार हे भव्य! जिन-धर्म की विराधक सभी प्रवृत्तियों से दूर होकर जिन-धर्म की आराधना में सतत उद्यत होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति श्रमणत्वदूषकाणां कार्याणां शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपणं विदधति—

जोइसवेज्जामंतोवजीवणं वायवस्स ववहारं।
धणधण्णपरिग्गहणं समणाणं दूसणं होदि।।१०३।।

छाया— ज्योतिर्विद्यामन्त्रोपजीवनं वातिकस्य व्यवहारः।
धनधान्यपरिग्रहणं श्रमणानां दूषणं भवति।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगम एव। (समणाणं दूसणं होदि) **श्रमणानाम्, अनगाराणां महाव्रतिनां दूषणं दोषोद्भावकं कार्यं भवति। तेन श्रमणानां श्रामण्यमेव दूषितं भवति, तथा सामान्य-धार्मिकजनेषु जिनधर्मच्छविरपि दूषिता प्रतिष्ठाहीना भवतीत्याशयः। किं किं कार्यं दूषणोत्पादकम्?**

उच्यते— (जोइसवेज्जामंतोवजीवणं) **ज्योतिर्विद्या-मन्त्रोपजीवनम्। ज्योतिर्विद्यापदं निमित्तशास्त्र-संग्राहकमत्र विज्ञेयम्। निमित्तशास्त्रमष्टाङ्गं भण्यते। तान्यष्टौ अङ्गानि मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-४४९) **उक्तानि—**

अब, श्रमणत्व में दोष पैदा करने वाले कार्यों का निरूपण गाहा छन्द से शास्त्रकार कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो ज्योतिष विद्या, मन्त्र-विद्या द्वारा जीविका चलाना, वातविकार से ग्रस्त (भूत-प्रेतादि से आविष्ट की चिकित्सा करने) का व्यापार करना, धन-धान्य का परिग्रह करना— ये श्रमण के दूषण हैं।।103।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम ही है। **(श्रमणानां दूषणं भवति)** श्रमणों यानी अनगार महाव्रतियों का दूषण अर्थात् उनमें दोष पैदा करने वाला कार्य होता है। उस (कार्य) से श्रमणों का श्रामण्य ही दूषित हो जाता है, साथ ही सामान्य धार्मिक जनों में जैन धर्म की छवि भी दूषित या प्रतिष्ठाहीन हो जाती है —यह आशय है। कौन-कौन सा कार्य दोष-उत्पादक है?

बता रहे हैं— **(ज्योतिर्विद्या-मन्त्रोपजीवनम्)** ज्योतिष विद्या एवं मन्त्र का सहारा लेकर जीविका चलाना। 'ज्योतिर्विद्या' पद निमित्तशास्त्र का वाचक यहाँ समझना चाहिए। निमित्तशास्त्र के आठ अंग कहे जाते हैं। वे आठ अंग मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-449) में इस प्रकार कहे गये हैं—

वंजणमंगं च सरं छिण्णं भूमिं च अंतरिक्खं च।
लक्खण सुविणं च तहा अट्ठविहं होइ णेमित्तं।।

सामान्यतः यदन्तरिक्षनिमित्तशास्त्रं, तदेव ज्योतिषशास्त्रनाम्ना प्रसिद्धम्। अन्यनिमित्त-शास्त्राण्यपि ज्योतिर्विज्ञानस्य शाखाभूतानि भवन्ति। एतेषां निमित्तशास्त्राणां स्वरूपादिपरिचयो राजवार्तिकग्रन्थे (३/३६/३) **तथा तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे** (४/१००३-१०१६) **द्रष्टव्यः। अथवा** 'जोइसवेज्जा' **इतिप्राकृतपदस्य** 'ज्योतिषवैद्यक' **इत्यपि संस्कृतच्छाया क्रियते। ततश्च ज्योतिषं वैद्यक-शास्त्रं चेत्युभयशास्त्रयोर्ग्रहणं भवति। एवं ज्योतिषशास्त्रं** (निमित्तशास्त्रं) **यद्वा वैद्यकशास्त्रम् उभयं वा, तदाश्रित्य श्रमणेन यदि जीविका उपार्ज्यते, यद्वा स्वलौकिकप्रतिष्ठादिलाभाय एतच्छास्त्रप्रयोगो विधीयते, तर्हि तत्कार्यं श्रमणचर्यां दूषयत्येवेति गाथाशयः।**

एवं मन्त्रविद्योपजीवनमपि श्रामण्यदूषणम्। मन्त्रविद्याया महत्त्वं सर्वविदितमेव। सा विद्या जनोपकारिण्येव, किन्तु नात्र विद्याया निन्दनं विधीयते, अपितु श्रमणानां जीविकासाधनरूपेण तस्या हेयत्वं संकेतितमत्र।

"(1) व्यञ्जन, (2) अङ्ग, (3) स्वर, (4) छिन्न, (5) भूमि, (6) अन्तरिक्ष, (7) लक्षण, (8) स्वप्न —ये आठ प्रकार के निमित्त होते हैं।"

इनमें सामान्यतया जो (छठा) अन्तरिक्ष निमित्तशास्त्र है, वही ज्योतिष शास्त्र (विद्या) के नाम से प्रसिद्ध है। अन्य निमित्त शास्त्र भी उसकी शाखाएँ हैं। इन निमित्तशास्त्रों के स्वरूप आदि का परिचय राजवार्तिक ग्रन्थ (3/36/3) तथा तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (4/1003-1016) में देखा जा सकता है। अथवा 'जोइसवेज्जा' इस प्राकृत पद की संस्कृत छाया 'ज्योतिषवैद्यक' यह भी की जाती है। तब ज्योतिष व वैद्यक (चिकित्साशास्त्र) —इन दोनों का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार, ज्योतिषशास्त्र (निमित्तशास्त्र) या वैद्यक शास्त्र या दोनों का आश्रय लेकर श्रमण के द्वारा यदि जीविका चलाई जाती है, या अपनी लौकिक प्रतिष्ठा आदि के लाभ हेतु इन शास्त्रों का प्रयोग किया जाता है, तो वह कार्य श्रमण-चर्या को दूषित ही करता है —यह गाथा का आशय है।

इस प्रकार, मन्त्र विद्या आदि के आधार पर भी जीविका चलाना श्रामण्य का दोष है। मन्त्र विद्या का महत्त्व सर्वविदित ही है। यह विद्या जनोपकारिणी ही है, किन्तु यहाँ इस विद्या की निन्दा नहीं की गई है, अपितु श्रमणों के लिए जीविका-साधन के रूप में उसकी हेयता का संकेत यहाँ किया गया है।

एवमेव (वायवस्स ववहारं) **वातिकस्य वातग्रस्तस्य भूतप्रेतयक्षाद्याविष्टस्य व्यवहारः, चिकित्सा, उपचारो वा मन्त्रादिविज्ञैः क्रियते। किन्तु श्रमणानां कृते तदुपयोगः, विशेषतो जीविकायै, प्रतिष्ठावृद्ध्यै, लोकरञ्जनाय यद्वा लोकानुग्रहप्राप्त्यै, क्रियमाणो वर्जनीय एव। एतत्सर्वं कार्यं श्रामण्यदोषोद्भावकमेव। यथार्थसाधुः न कदाचिदपि ज्योतिषमन्त्र-विद्यादिकमाश्रित्य जीविकोपार्जनं करोति।**

एवं (धणधण्णपरिग्गहणं) **अनगारो गृहं, परिवारं, वैभवं च त्यक्त्वैव प्रव्रज्यां गृह्णाति, किन्तु यदि तेन धनधान्यपरिग्रहणं विधीयते, तत्तस्य चारित्रदोषमेव समर्थयति। प्रोक्तं सर्वं कार्यजातं भ्रष्टचारित्राणामेव भवति, न यथार्थसाधूनामिति शास्त्रकारेण निर्दिष्टमत्र। यथार्थसाधुस्वरूपं नियमसारग्रन्थे** (गाथा-७५) **समासतः प्रोक्तम्—**

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाहारणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।।

इसी तरह, **(वातिकस्य व्यवहारम्)** वातिक यानी वातग्रस्त अर्थात् भूत-प्रेत-यक्ष के आवेश वाले का व्यवहार, चिकित्सा या उपचार मन्त्रज्ञाताओं आदि द्वारा किया जाता है, किन्तु श्रमणों के लिए उसका उपयोग करना, विशेषकर जीविका, प्रतिष्ठा-वृद्धि या लोकरञ्जन या लौकिक जनों का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए किया जाना वर्जनीय ही है। ये सभी कार्य श्रामण्य-दोष को पैदा करने वाले हैं। यथार्थ साधु तो कभी ज्योतिष, मन्त्र विद्या आदि का सहारा लेकर जीविका नहीं चलाता।

इस प्रकार, **(धनधान्यपरिग्रहणम्)** अनगार यदि घर, परिवार और वैभव को छोड़कर ही दीक्षा लेता है, फिर भी यदि उसके द्वारा धन, धान्य आदि परिग्रह ग्रहण किया जाता है तो यह उसके चारित्रविषयक दोष का ही समर्थन करता है। कहे गये सभी कार्य भ्रष्टचारित्रों के ही होते हैं, न कि यथार्थ साधुओं के —ऐसा शास्त्रकार आचार्यश्री ने यहाँ निर्देश किया है। यथार्थ साधु के स्वरूप को नियमसार ग्रन्थ (गाथा-75) में संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है—

''जो (लौकिक) व्यापारों से निर्मुक्त, चतुर्विध आराधना में ही सदा संलग्न, निर्ग्रन्थ, निर्मोह —ऐसे साधु हुआ करते हैं।''

ज्योतिर्विद्यामन्त्रादिप्रयोगस्य वर्जनीयताऽनेकशास्त्रेषु प्रतिपादिताऽस्ति। कानिचिच्छास्त्रीय-वचनान्यत्र उदाह्रियन्ते। श्रमणानां कृते कन्दर्पादिकाः पञ्च कुत्सिताः संक्लिष्टभावनाः वर्जनीया मन्यन्ते। तासां नामानि भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१८१) **प्रोक्तानि— (1) कान्दर्पी, (2) कैल्बिषी, (3) आभियोगिकी, (4) आसुरी, (5) संमोही चेति। तासु कुत्सितभावनासु निमित्तप्रतिसेवनमासुरी भावना प्रोक्ता। मन्त्राभियोगे रतो मुनिराभियोग्यभावनायुक्तः कथितः। एते उभे भावने श्रमणैर्वर्जनीये, संसारभ्रमणहेतुत्वाद् दुर्गतिदायकत्वाच्च।**

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा १८४-१८५, १८७)—

मंताभिओगकोदुगभूदीयम्मं पउंजदे जो हु।
इड्ढिरससादहेदुं अभिओगं भावणं कुणई।।

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी।
णिक्किवणिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणई।।

ज्योतिर्विद्या व मन्त्र आदि के प्रयोग की वर्जनीयता का प्रतिपादन अनेक शास्त्रों में किया गया है। (उनमें से) कुछ शास्त्रीय वचनों को उदाहरण रूप में यहाँ दिया जा रहा है। श्रमणों के लिए 'कन्दर्प' आदि पाँच कुत्सित संक्लिष्ट भावनाओं को वर्जनीय माना गया है। उनके नाम भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-181) में इस प्रकार कहे गये हैं— (1) कान्दर्पी, (2) कैल्बिषी, (3) आभियोगिकी, (4) आसुरी, और (5) संमोही। इन कुत्सित भावनाओं में निमित्त शास्त्र के आधार पर जीविका चलाना 'आसुरी भावना' कही गई है। मन्त्र-प्रयोग में निरत मुनि को अभियोग्य भावना से युक्त कहा गया है। ये दोनों भावनाएँ श्रमणों के लिए वर्जनीय हैं क्योंकि वे संसार-भ्रमण में हेतु हैं और दुर्गतिदायिनी हैं।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 184-185, 187) में कहा गया है—

"जो द्रव्य-लाभ, मीठा रस और सुख के लिए मंत्राभियोग (अर्थात् भूत आदि बुलाना आदि), कौतुक (अकाल में वर्षा आदि कराना), और भूतिकर्म (बच्चों की रक्षा हेतु भभूत देना आदि) करता है, वह 'अभियोग्य भावना' को करता है।"

"अनुबद्ध क्रोध और कलह के दोष से जिसका तप संयुक्त है, ज्योतिष आदि से आजीविका करता है, दूसरे को कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नहीं करता, वह आसुरी भावना करता है।"

एदाहि भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं।।

प्रोक्तसंक्लिष्टभावनायुक्तो मुनिः पशुवदेव कथितः। उक्तं च लिङ्गप्राभृते (गाथा-१२)—

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

किञ्च, चारित्रदोषयुक्तसाधुषु 'संसक्त'-**संज्ञकस्य परिगणनं क्रियते। संसक्तश्च मन्त्राद्युपजीवी भवतीति चारित्रसारग्रन्थे** (१४४) **प्रोक्तम्—** ''मन्त्रवैद्यकज्योतिष्कोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः''। **संसक्तो दोषसंयुक्त एव भवति, अजितेन्द्रियत्वात् कषायग्रस्तत्वाच्च।**

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१३०८)—

''रत्नत्रय से च्युत हुआ जीव इन कुत्सित भावनाओं से देवों में जो दुष्ट (अधम) गति है, उसे प्राप्त करता है। उस देवदुर्गति से च्युत होकर वह जीव अनन्त संसार-समुद्र में भ्रमण करता रहता है (उससे पार नहीं जा पाता)।''

उपर्युक्त संक्लिष्ट भावना से युक्त मुनि पशुतुल्य ही कहा गया है। लिङ्गप्राभृत (गाथा-12) में कहा गया है—

''जो पुरुष मुनिवेश धारण करके भी कान्दर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस-सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है, वह मायाचारी, मुनिलिङ्ग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।''

इसके अतिरिक्त, चारित्रदोष से युक्त साधुओं में 'संसक्त' नामक साधु का परिगणन किया गया है। संसक्त साधु मन्त्र आदि के आधार पर जीविका चलाने वाला होता है —ऐसा चारित्रसार ग्रन्थ (144) में कहा गया है —''मन्त्र, वैद्यक, ज्योतिष शास्त्र के आधार पर जीविका चलाने वाला और राजा आदि का सेवक 'संसक्त' होता है।'' संसक्त (का अर्थ) दोष-संयुक्त ही होता है, क्योंकि वह जितेन्द्रिय नहीं होता और कषायग्रस्त होता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1308) में कहा भी गया है—

इंदियकसायवसिया केई ठाणाणि ताणि सव्वाणि।
पाविज्जंते दोसेहिं तेहिं सव्वेहिं संसत्ता।।

किञ्च, मुनीनाम् आहारग्रहणेऽपि निमित्तदोषः, मन्त्रदोषः, चिकित्सादोषश्च इत्यादिकाः दोषाः प्रोक्ताः, तैरपि निमित्तशास्त्रादीनां पूर्णतया वर्जनीयत्वं श्रमणचर्यायां स्पष्टमेव सिद्ध्यति। शास्त्रेषु आहारसम्बन्धिनः षोडश उत्पादनदोषाः प्रोक्ताः, तेषु निमित्त-चिकित्सा-मन्त्रसहचरिता दोषाः अपि भवन्ति।

उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा ४४५-४४६)—

धादीदूदणिमित्ते आजीवं वणिवग्गे य तेगिंछे।
कोधी माणी मायी लोही य हवति दस एदे।।

पुव्वी पच्छा संथुदि विज्जामंते य चुण्णजोगे य।
उप्पादणा य दोसो सोलसमो मूलकम्मे य।।

''इन्द्रिय और कषायों के वशीभूत कोई मुनि उन सब दोषों से 'संसक्त' होकर उन (यथायोग्य) सभी अशुभ स्थान रूपी परिणामों को प्राप्त करते हैं।''

और, मुनियों के आहारग्रहण में भी निमित्तदोष, मन्त्रदोष व चिकित्सा दोष इत्यादि दोष कहे गये हैं, उनसे भी निमित्त शास्त्र आदि (का उपयोग) श्रमणचर्या में पूर्णतया वर्जित है—यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है। शास्त्रों में आहार-सम्बन्धी सोलह उत्पादन-दोष कहे गये हैं, इनमें निमित्त, चिकित्सा व मन्त्र के साहचर्य से होने वाले दोष भी होते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 445-446) में कहा गया है—

''धात्री, दूत, निमित्त, आजीव, वनीपक, चिकित्सा, क्रोधी, मानी, मायावी व लोभी — ये दस उत्पादन-सम्बन्धी दोष हैं।''

''पूर्व स्तुति, पश्चात् स्तुति, विद्या, मन्त्र, चूर्णयोग और मूलकर्म —इस प्रकार कुल सोलह उत्पादन-दोष होते हैं।''

तत्र निमित्तदोषस्य स्पष्टीकरणं मूलाचारग्रन्थस्य (गाथा-४४९) **आचारवृत्तौ कृतम्—**
''व्यञ्जनं मशकतिलकादिकम्। अङ्गं च शरीरावयवः। स्वरः शब्दः। छिन्नः छेदः, खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिच्छेदो वा। भूमिः भूमिविभागः। अन्तरिक्षमादित्यग्रहाद्युदयास्तमनम्। लक्षणं नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिकम्। स्वप्नश्च सुप्तस्य हस्तिविमानमहिषारोहणादिदर्शनं च तथाष्टप्रकारं भवति निमित्तम्। व्यञ्जनं दृष्ट्वा यच्छुभाशुभं ज्ञायते पुरुषस्य तद्व्यञ्जननिमित्तमित्युच्यते। तथाङ्गं शिरोग्रीवादिकं दृष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुभाशुभं ज्ञायते तदङ्गनिमित्तमिति। तथा यं स्वरं शब्दविशेषं श्रुत्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तत्स्वरनिमित्तमिति। यं प्रहारं छेदं वा दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तच्छिन्ननिमित्तं नाम। तथा यं भूमिविभागं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते तद्भौमनिमित्तं नाम। यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थितं ग्रहयुद्धं ग्रहास्तमनं ग्रहनिर्घातादिकं समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते, तदन्तरिक्षं नाम। यत्लक्षणं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं ज्ञायते, तल्लक्षणनिमित्तं नाम। यं स्वप्नं दृष्ट्वा पुरुषस्यान्यस्य वा शुभाशुभं परिच्छिद्यते तत्स्वप्ननिमित्तं नाम।

इनमें निमित्तदोष का स्पष्टीकरण मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-449) की आचारवृत्ति (टीका) में इस प्रकार किया गया है— मशक, तिलक आदि 'व्यञ्जन' हैं। शरीर के अवयव 'अंग' हैं। शब्द को 'स्वर' कहते हैं। छेद का नाम 'छिन्न' है। खड्ग आदि का प्रहार अथवा वस्त्रादि का छिन्न होना कट-फट जाना यह सब (छेद या) 'छिन्न' है। भूमिविभाग को 'भूमि' कहते हैं। सूर्य, ग्रह आदि के उदय-अस्त सम्बन्धी ज्ञान को 'अन्तरिक्ष' कहते हैं। नन्दिकावर्त, पद्मचक्र आदि लक्षण कहे जाते हैं। सोये हुए व्यक्ति द्वारा (नींद में) हाथी, विमान, भैंसे पर आरोहण आदि देखना 'स्वप्न' है। इस तरह 'निमित्त ज्ञान' आठ प्रकार का होता है। (उसका स्पष्टीकरण) किसी पुरुष के व्यञ्जन यानी मसा-तिल आदि को देखकर जो शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह 'व्यञ्जन निमित्त' है। किसी पुरुष के सिर, ग्रीवा आदि अवयव देखकर जो उसका शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह 'अंग निमित्त' है। किसी पुरुष या अन्य प्राणी के शब्दविशेष को सुनकर जो शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह 'स्वर निमित्त' है। किसी प्रहार या छेद को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह 'छिन्न निमित्त' है। किसी भूमिविभाग को देखकर किसी पुरुष या अन्य का जो शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह 'भौमनिमित्त' है। आकाश में होने वाले ग्रह युद्ध, ग्रहों का अस्तमन, ग्रहों का निर्घात आदि देखकर जो प्रजा का शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह 'अंतरिक्ष निमित्त' है। जिस लक्षण को देखकर पुरुष या अन्य का शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह 'लक्षणनिमित्त' है। जिस स्वप्न को देखकर पुरुष या अन्य किसी का शुभ या अशुभ जाना जाता है, वह 'स्वप्न निमित्त' है।

तथा चशब्देन भूमिगर्जनदिग्दाहादिकं परिगृह्यते। एतेन निमित्तेन भिक्षामुत्पाद्य यदि भुंक्ते तदा यस्य निमित्तनामोत्पादनदोषः, रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनादिति।''

सम्प्रति चिकित्सादोषो निरूप्यते। स चाष्टविधः। यथोक्तं मूलाचारग्रन्थे (गाथा-४५२)—

कोमारतणुतिगिंछारसायणविसभूदखारतंतं च।
सालंकियं च सल्लं तिगिंछदोसो दु अट्ठविहो।।

कौमारचिकित्सा, तनुचिकित्सा इत्यादिभेदेन अष्टप्रकारं यत् चिकित्साशास्त्रम्, तेनोपकारं विधाय यो मुनिराहारादिकं गृह्णाति, तदा स चिकित्सादोषेण दूषितो भवति। मन्त्रोत्पादनदोष इदानीं निरूप्यते। उक्तं मूलाचारग्रन्थे (गाथा-४५८)—

तथा 'च' शब्द से भूमि, गर्जना, दिग्दाह आदि को भी ग्रहण करना चाहिए (अर्थात् इनके निमित्त से भी जो जनता का शुभ-अशुभ जाना जाता है, वह सब इनमें ही शामिल हो जाता है)। इन निमित्तों के द्वारा जो भिक्षा को उत्पन्न कराकर आहार लेते हैं (अर्थात् निमित्त ज्ञान के द्वारा श्रावकों को शुभ-अशुभ बतलाकर पुनः बदले में उनसे दिया हुआ आहार जो मुनि ग्रहण करते हैं) उनके यह 'निमित्त' नाम का उत्पादन दोष होता है। इसमें रसों का आस्वादन अर्थात् गृद्धता और दीनता आदि दोष लगते हैं।

अब चिकित्सा-दोष का निरूपण किया जा रहा है। वह दोष आठ प्रकार का होता है। जैसा कि मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-452) में कहा गया है—

''कौमार, तनुचिकित्सा, रसायन, विष, भूत, क्षारतन्त्र, शालाकिक और शल्य —ये आठ प्रकार के चिकित्सा-दोष हैं।''

कौमारचिकित्सा, तनुचिकित्सा इत्यादिभेदों के कारण जो चिकित्साशास्त्र आठ प्रकार का है, उससे (किसी का) उपकार कर जो मुनि आहार आदि ग्रहण करता है, वह चिकित्सा-दोष से दूषित होता है। अब मन्त्रोत्पादन-दोष बता रहे हैं। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-458) में कहा गया है—

सिद्धे पढिदे मंते तस्य य आसापदाणकरणेण।
तस्स य माहप्पेण य उप्पादो मंतदोसो दु।।

अयमाशयः— सिद्धे पठिते मंत्रे पठितमात्रेण यो मंत्रः सिद्धिमुपयाति स पठितसिद्धो मंत्रस्तस्य मंत्रस्याशाप्रदानकरणेन तवेमं मन्त्रं दास्यामीत्याशाकरणयुक्त्या तस्य माहात्म्येन च यो जीवत्याहारादिकं च गृह्णाति तस्य मंत्रोत्पादनदोषः, लोकप्रतारणजिह्वागृद्ध्यादिदोषदर्शनादिति। ज्योतिर्विद्यादिप्रयोगेन जीविकामर्जयतां मुनीनां निन्दा ज्ञानार्णवे (४/५०-५३) **विहिताऽपि दृश्यते—**

वश्याकर्षणविद्वेषं मारणोच्चाटनं तथा।
जलानलविषस्तम्भो रसकर्म रसायनम्।।

पुरक्षोभेन्द्रजालं च बलस्तम्भो जयाजयौ।
विद्याच्छेदस्तथा वेधं ज्योतिर्ज्ञानं चिकित्सितम्।।

"जो पढ़ते ही सिद्ध हो, वह मन्त्र है। उस मन्त्र के लिए अन्य को आशान्वित करना और उसके माहात्म्य से आहार उत्पन्न कराना —वह मंत्रदोष है।"

तात्पर्य यह है— जो मंत्र पढ़ने मात्र से सिद्ध हो जाता है, वह पठितसिद्ध मन्त्र है। उस मन्त्र की आशा प्रदान करना अर्थात् 'तुम्हें मैं यह मन्त्र दूँगा' ऐसी आशा प्रदान करने की युक्ति से और उस मन्त्र के माहात्म्य से जो जीते हैं, आहार उत्पन्न कराकर लेते हैं, उनके 'मन्त्र' नाम का उत्पादन दोष होता है, क्योंकि इसमें लोकप्रतारणा, जिह्वा की गृद्धता आदि दोष देखे जाते हैं। ज्योतिर्विद्या आदि के प्रयोग से जीविका चलाने वाले मुनियों की निन्दा ज्ञानार्णव (4/50-53) में इस प्रकार की गई है—

"जो लोग वशीकरण, आकर्षण, विद्वेष, मारण, उच्चाटन (मन्त्र के प्रभाव से किसी वस्तु को अपने स्थान से उड़ा देना), जल, अग्नि एवं विष को रोकना, रसकर्म (सुवर्णादि बनाने की क्रिया), रसायन (आयुर्वेद में निर्दिष्ट रसायनों का प्रयोग), नगर को क्षोभित करने वाला इन्द्रजाल (मायाकर्म), सेना को कीलित करना, जीत-हार, विद्या को नष्ट करना, विद्ध करना, ज्योतिष का जानना, चिकित्सा का परिज्ञान।"

यक्षिणीमन्त्रपातालसिद्धयः कालवञ्चना।
पादुकाञ्जननिस्त्रिशभूतभोगीन्द्रसाधनम् ।।

इत्यादिविक्रियाकर्मरञ्जितैर्दुष्टचेष्टितैः ।
आत्मानमपि न ज्ञातं नष्टं लोकद्वयच्युतैः।।

अन्यच्च, तत्रैव (३७/१०/२०८९) भणितम्—

क्षुद्रध्यानपरप्रपञ्चचतुरा रागानलोद्दीपिताः,
मुद्रामण्डलयन्त्रमन्त्रकरणैराराधयन्त्यादृताः ।
कामक्रोधवशीकृतानिह सुरान् संसारसौख्यार्थिनः,
दुष्टाशाभिहताः पतन्ति नरके भोगार्तिभिर्वञ्चिताः।।

एवमेव धनादिपरिग्रहोऽपि श्रमणानां निश्चयेन अपरिग्रहमहाव्रतभङ्गदोषयुक्तः। परिग्रहा-सक्तस्य हिंसादि दोषाणामपि प्रसक्तिर्भवत्येव। अतः सर्वथा परिग्रहः श्रामण्ये दोषोत्पादकत्वात् त्याज्य एव।

"यक्षिणी, मन्त्र व पाताल की सिद्धि, मृत्यु को रोकना, पादुका साधन (खड़ाउओं को पहनकर जल के ऊपर से तथा आकाश में गमन करना), अंजन साधन (भूमि के भीतर स्थित सुवर्णादि धातुओं को देख सकना), निस्त्रिंशसाधन (अग्नि व जलमय अस्त्र-शस्त्रादि को सिद्ध करना, भूतसाधन (व्यन्तर देवों को साधना), सर्पसाधन (सर्प को वश में करना) इत्यादि विविध प्रकार की क्रियाओं में अनुरक्त होकर दुराचरण में प्रवृत्त हो रहे हैं, वे आत्मस्वरूप को जानने में असमर्थ होकर दोनों लोकों से भ्रष्ट हो जाते हैं।"

और भी, वहीं (ज्ञानार्णव, 37/10/2089) यह भी कहा गया है—

"जो क्षुद्र ध्यान के द्वारा दूसरों के ठगने में चतुर होते हुए रागरूप अग्नि से जल रहे हैं वे यहाँ संसार-सुख के अभिलाषी होकर मुद्रा, मण्डल, यन्त्र और मन्त्ररूप उपायों के द्वारा आदरपूर्वक काम व क्रोध के वशीभूत हुए कुदेवों की आराधना करते हैं, और दुष्ट आशा के वशीभूत होते हुए भोगों की पीड़ा से ठगे जाकर नरक में पड़ते हैं।"

इसी तरह, धनादि का परिग्रह भी श्रमणों के लिए निश्चय ही अपरिग्रह महाव्रत के भङ्ग का दोष पैदा करता है। परिग्रह में आसक्त जीव को हिंसा आदि दोषों से भी युक्त होना ही पड़ता है। इसलिए परिग्रह श्रामण्य में दोषों का उत्पादक होने से सर्वथा त्याज्य ही है।

एवं लोकद्वयदुर्गतिदायकं श्रामण्यदूषणं सर्वविधं विज्ञाय हे भव्य! तस्माद् विरज्य यथार्थश्रामण्यपालनाय दृढां स्वमतिं विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति, पुनरपि सम्यक्त्वरहितमुनेः स्वरूपं शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

जे पावारंभरदा कसायजुत्ता परिग्गहासत्ता।
लोयववहारपउरा ते साहू सम्म-उम्मुक्का।।१०४।।

छाया— ये पापारम्भरताः कषाययुक्ताः परिग्रहासक्ताः।
लोकव्यवहारप्रचुराः ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः स्पष्ट एव। (ते साहू सम्म-उम्मुक्का) **ते साधवः, मुनयोऽनगारा वा, सम्यक्त्वेन उन्मुक्ताः, रहिताः, ततश्च्युताः वा भवन्ति। मिथ्यात्ववर्द्धकेषु कार्येषु प्रवृत्ताः निरताः मोक्षमार्गादपि परिभ्रष्टाः स्वदुर्गतिमार्गमुद्घाटयन्ति —इति भावः। कीदृशाः साधवः सम्यक्त्वरहिताः ?**

इस प्रकार दोनों लोकों में दुर्गति देने वाले सभी प्रकार के श्रामण्य-दोषों को जानकर, हे भव्य! उससे विरक्त होकर यथार्थ (सच्चे) श्रामण्य के पालन हेतु अपनी दृढ़ बुद्धि बनाओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, सम्यक्त्वरहित मुनि के स्वरूप का पुनः निरूपण शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो साधु पाप कार्यों में संलग्न रहते हैं, कषायों से युक्त हैं, परिग्रह में आसक्त हैं, और लोक-व्यवहार में अधिक संलग्न हैं, वे सम्यक्त्व से रहित हैं।।104।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय स्पष्ट ही है। **(ते साधवः सम्यक्त्वोन्मुक्ताः)** वे साधु या मुनि या अनगार सम्यक्त्व से उन्मुक्त, रहित या उससे च्युत होते हैं। वे मिथ्यात्व को बढ़ाने वाले कार्यों में प्रवृत्त या निरत होकर मोक्षमार्ग से भी भ्रष्ट होकर अपने लिए दुर्गति के मार्ग का उद्घाटन करते हैं—यह भाव है। कैसे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं?

उच्यते— (जे पावारंभरदा) **ये केचन श्रमणाः पापारम्भरताः भवन्ति, ते सम्यक्त्वरहिताः सन्तीति विज्ञेयम्। किञ्च** (कसायजुत्ता, परिग्गहासत्ता, लोयववहारपउरा) **तथा ये कषाययुक्ताः, अर्थात् तीव्रकषायवन्तः, परिग्रहे मूर्च्छाभावं दधानाः, तथा लोकव्यवहारे समधिकं प्रवृत्ताः, तेऽपि सम्यक्त्वरहिता विज्ञेयाः इति गाथार्थः।**

आरम्भकार्ये तत्पराणां कषाययुक्तानां च सम्यक्त्वहीनत्वं प्रागपि शास्त्रकारेण (गाथा १००-१०१) **निरूपितमस्ति। वस्तुतस्ते मोक्षमार्गच्युता एव भवन्ति। अत एव शास्त्रकारेण मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-८०) **मोक्षमार्गस्थितानां पापारम्भकषायादिरहितत्वं प्रतिपादितम्—**

णिग्गंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि।।

निरारम्भ एव श्रमणो निर्वाणमार्गसाधकः इति च मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१२) **निरूपितम्। मूलाचारग्रन्थे** (गाथा १००१-१००२) **च यथार्थश्रामण्यमुद्दिश्य यन्निरूपितं तदपि प्रोक्ततथ्यं समर्थयति—**

बता रहे हैं— **(ये पापारम्भरताः)** जो कोई श्रमण पापारम्भ में निरत हैं, वे सम्यक्त्वरहित हैं —यह जानें। और, **(कषाययुक्ताः, परिग्रहासक्ताः, लोकव्यवहारप्रचुराः)** जो कषाय-युक्त हैं अर्थात् तीव्र कषायों वाले होते हैं, परिग्रह में मूर्च्छा (आसक्ति) रखते हैं तथा लोक-व्यवहार में ही अधिक प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें भी सम्यक्त्वरहित जानें —यह गाथा का अर्थ है।

आरम्भ कार्य में तत्पर एवं कषाययुक्त सम्यक्त्वहीन हैं —इस (तथ्य) का निरूपण शास्त्रकार ने पहले भी (गाथा 100-101 में) किया है। वस्तुतः वे लोग मोक्षमार्ग से च्युत ही हो जाते हैं। इसीलिए शास्त्रकार ने मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-80) में यह प्रतिपादित किया है कि मोक्षमार्ग में स्थित जीव पापारम्भ व कषाय आदि से रहित होते हैं—

''जो परिग्रह से रहित हैं, मोह से मुक्त हैं, बाईस परीषहों को सहन करते हैं, कषायों को जीतते हैं तथा पाप व आरम्भ (हिंसादि) से दूर रहते हैं, वे मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत (संस्थित) हैं।''

आरम्भ-रहित श्रमण ही निर्वाणमार्ग का साधक होता है —यह मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-12) में कहा गया है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 1001-1002) में यथार्थ श्रमण के स्वरूप को लक्ष्य करके जो कहा गया है, वह भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन कर रहा है—

कोहमदमायलोहेहि परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं।।

णिस्संगो णिरारम्भो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।
एगागी झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।।

कषाया दुःखसहस्त्रदायकाः, अतस्ते सर्वथा मुनिभिर्निवारणीया इति मूलाचारग्रन्थे (गाथा ७३७, ७४०) **प्रतिपादितम्—**

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति।।

तम्हा कम्मासवकारणानि सव्वाणि ताणि रुंधेज्जो।
इंदियकसायसण्णागारवरागादिआदीणि ।।

"क्रोध, मान, माया व लोभ के द्वारा यह जीव परिग्रह में आसक्त होता है। इसलिए समस्त साधुओं को उभय (बाह्य व आन्तरिक) परिग्रह का त्याग करना चाहिए।"

"जो निस्संग, निरारम्भ, भिक्षाचर्या में शुद्ध भाव से युक्त, एकाकी, ध्यानलीन एवं समस्त गुणों से युक्त हो, वही श्रमण होता है।"

कषाय हजारों दुःखों को देने वाली होती हैं, इसलिए मुनियों को उनका निवारण सभी प्रकार से करना चाहिए —ऐसा मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-737 व 740) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"क्रोध, मान, माया व लोभ —ये दुष्ट आस्रव रूप कषाय शत्रु हजारों दोषों के स्थान हैं और वे हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं।"

"इन्द्रियाँ, कषाय, संज्ञा, गौरव, राग आदि ये कर्मास्त्रव के कारण हैं। इसलिए इन सबका निरोध करें।"

किम्बहुना, यत्र कषायोत्पत्तिः सम्भवति, तत्क्षेत्रमेव मुनिना त्याज्यमिति च तत्र (गाथा-९५१) **परामृष्टम्—**

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थिजणबहुलं।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेज्ज।।

परिग्रहासक्तस्य दुर्गतिः प्रागपि शास्त्रकारेण (गाथा-८८ आदि) **प्रत्यपादितैव। अणुमात्र-परिग्रहासक्तिरपि यथार्थश्रमणस्य न भवति। वस्तुतस्तादृशा एव श्रमणाः जिनधर्मप्रभावकाः सन्ति —इति मूलाचारग्रन्थे** (गाथा ७८३-७८६) **स्पष्टं निरूपितम्—**

ते सव्वसंगमुक्का अममा अपरिग्गहा जहाजादा।
वोसट्ठचत्तदेहा जिणवरधम्मं समं णेंति।।

सव्वारंभणियत्ता जुत्ता जिणदेसिदम्मि धम्मम्मि।
ण य इच्छंति ममत्तिं परिग्गहे बालमित्तम्मि।।

अधिक क्या कहें, जिस क्षेत्र में कषाय उत्पन्न होने की सम्भावना हो, उस क्षेत्र को ही मुनि छोड़ दें —ऐसा वहीं (गाथा-951) सुझाव दिया गया है—

''जहाँ पर कषायों की उत्पत्ति हो, जहाँ आदर भाव न हो, इन्द्रिय-विषयों की तथा स्त्री-जनों की बहुलता हो, दुःख हो, उपसर्ग की अधिकता हो, उस क्षेत्र को मुनि छोड़ दे।''

परिग्रह में आसक्त व्यक्ति की दुर्गति का प्रतिपादन शास्त्रकार द्वारा (गाथा-88 में) पहले भी किया जा ही चुका है। अणुमात्र भी परिग्रह में आसक्ति किसी यथार्थ श्रमण की नहीं होती। वस्तुतः वैसे (यथार्थ) श्रमण ही जिन-धर्म के प्रभावक होते हैं —यह मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 783-786) में स्पष्ट रूप से इस प्रकार कहा गया है—

''वे (श्रमण) समस्त ग्रन्थों (परिग्रहों) से रहित, निर्मम (ममत्वहीन), अपरिग्रही, यथाजातरूप धारी, (शारीरिक) संस्कार से रहित होते हैं और जिनधर्म को (जन्म-जन्मों तक) साथ में ले जाने वाले होते हैं।''

''मुनि समस्त आरम्भों से निवृत्त हो चुके होते हैं, जिनोपदिष्ट धर्म में तत्पर रहते हैं और उनका बाल मात्र भी ममत्व परिग्रह में नहीं होता।''

अपरिग्गहा अणिच्छा संतुट्ठा सुट्ठिदा चरित्तम्मि।
अवि णीए वि सरीरे ण करेंति मुणी ममत्तिं ते।।

ते णिम्ममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा।
समणा अप्पडिबद्धा विज्जू जह दिट्ठणट्ठा वा।।

सूत्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-11, 19) **च निर्दिष्टम्—**

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि।
सो होइ वंदणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए।।

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो।।

लौकिकक्रियासु च ये साधवो निरतास्तेऽपि सम्यक्त्वरहिता अत्र निर्दिष्टाः। लौकिक-व्यवहारस्य वर्जनीयताविषये प्रागपि (गाथा-९३) **व्याख्याने निरूपितम्।**

''जो मुनि अपरिग्रही हैं, इच्छारहित हैं, सन्तुष्ट हैं, चारित्र में स्थित (दृढ़) हैं, वे मुनि अपने शरीर में भी ममत्व नहीं रखते।''

''वे शरीर में भी ममत्व न रखने वाले मुनि आवास-रहित होते हैं। जहाँ पर सूर्य अस्त हुआ, वहीं ठहर जाते हैं किसी से प्रतिबद्ध नहीं होते, वे तो बिजली के समान दिखाई पड़ते हैं और प्रस्थान कर जाते हैं।''

सूत्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-11 व 19) में भी कहा गया है—

''जो संयम से सहित है, जो आरम्भ व परिग्रह से विरत है, वही सुर, असुर व मनुष्य सहित लोक में वन्दना के योग्य हैं।''

''जिस लिङ्ग (मुनि-वेशादि) में थोड़ा बहुत भी परिग्रह का ग्रहण होता है, वह निन्दनीय लिङ्ग है, क्योंकि जिनागम में परिग्रहरहित को ही निर्दोष साधु माना गया है।''

लौकिक क्रियाओं में जो साधु संलग्न रहा करते हैं, वे भी सम्यक्त्व-रहित यहाँ बताये गये हैं। लौकिक व्यवहार (उनके लिए) वर्जित होता है —इसे पहले भी (गाथा-93 के) व्याख्यान में बताया जा चुका है।

अत्रेदं ज्ञेयम्— श्रमणानां कृते स्वात्मकल्याणसाधनं प्रमुखत्वेन कर्तव्यम्। ज्ञान-उपदेशादिभिः परकल्याणं गौणकर्तव्यं भवति। अतः कदाचित् मुनिः परकल्याणकार्येष्वपि प्रवर्तमानो दृश्यते, किन्तु संसारवर्धिकासु लौकिकक्रियासु तु न कदाचित् प्रवर्तते।

अतएव मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२७, ३२) **स्पष्टमुक्तम्—**

सव्वे कसाय मुत्तं गारव-मय-राय-दोस-वामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएहि झाणत्थो।।

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण।।

प्रवचनसारग्रन्थे (३/२६) **च भणितम्—**

इह लोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— श्रमणों के लिए निज-आत्मा का कल्याण करना प्रमुख कर्तव्य होता है। ज्ञान के द्वारा, उपदेश आदि द्वारा अन्य का कल्याण करना —यह गौण कर्तव्य होता है। इसलिए कभी-कभी मुनि अन्य के कल्याण के कार्यों में भी प्रवृत्त दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वह संसारवर्धक लौकिक क्रियाओं में तो कभी प्रवृत्त नहीं होता।

इसीलिए मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-27 व 32) में स्पष्ट कहा गया है—

''मुनि समस्त कषायों, गारव, मद, राग, द्वेष व मोह को छोड़कर लोकव्यवहार से विरत होता हुआ ध्यानस्थित हो आत्मा का ध्यान करता है।''

''ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है, उसी रूप में परमात्मा का ध्यान करता है।''

प्रवचनसार ग्रन्थ (3/26) में भी ऐसा कहा गया है—

''श्रमण इहलोक से निरपेक्ष रहता है, परलोक की आकांक्षा से भी रहित होता है, वह कषाय-रहित होता है तथा उपयुक्त आहार-विहार करने वाला होता है।''

किञ्च, अविच्छिन्नया स्वात्मकल्याणसिद्ध्या सह यदि परकल्याणमपि स्वतः सम्भवेत्, तादृशे लौकिकव्यवहारे प्रवृत्तिः श्रमणानां समुचितैव। अत एव सज्ज्ञानोपदेशेन श्रमणानां स्वात्मपरोभयकल्याणं शास्त्रेषु प्रतिपादितम्। यथा भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-110) **प्रोक्तम्—**

आदपरसमुद्धारो आणा वच्छल्लदीवणा भत्ती।
होदि परदेसगत्ते अव्वोच्छित्ती य तित्थस्स।।

अत्रैव विजयोदयाटीकायां विशदीकृतमपि— "श्रेयोऽर्थिना हि जिनशासनवत्सलेन कर्तव्य एव नियमेन हितोपदेशः' (वरांगचरित-१/१३) इत्याज्ञा सर्वविदां सा परिपालिता भवति —इति।"

धवलाग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-५, सू. ५०) **च निरूपितम्—** "किमर्थं सर्वकालं व्याख्यायते। श्रोतुर्व्याख्यातुश्च असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरणहेतुत्वात्।"

और, अपने आत्म-कल्याण की सिद्धि को अविच्छिन्न रखने के साथ-साथ यदि परकल्याण भी स्वतः सम्भव हो जाए तो ऐसे लौकिक व्यवहार में श्रमणों की प्रवृत्ति समुचित ही होती है। इसीलिए सज्ज्ञान-उपदेश से श्रमणों का स्वात्म व परकीय -दोनों के कल्याण किये जाने का प्रतिपादन शास्त्रों में किया गया है। जैसा कि भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-110) में कहा गया है—

"(ज्ञानादि का) उपदेश देने में (ये लाभ) होते हैं— आत्मा व पर का उद्धार (कल्याण), तीर्थंकर की आज्ञा का पालन, वात्सल्य की पालना, धर्म-प्रभावना, जिन-वचन में भक्ति और तीर्थ की अव्युच्छित्ति (परम्परा को बनाये रखना)।"

यहीं विजयोदया टीका में यह स्पष्ट भी किया गया है— "कल्याण के इच्छुक एवं जिनशासन के प्रति वात्सल्य रखने वाले को नियमतः हितोपदेश करना ही चाहिए (वरांगचरित, 1/13 श्लोक), इस तरह सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन (धर्मोपदेश में) होता है।"

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-5, सू. 50) में भी यह बताया गया है— "सर्वकाल में व्याख्यान क्यों करते हैं? (समाधान—) चूँकि वह (व्याख्यान) व्याख्याता व श्रोता (दोनों) के असंख्यात गुणश्रेणी रूप से होने वाली कर्म-निर्जरा का कारण होता है।"

किञ्च, यदि लौकिकव्यवहारे स्वात्मकल्याणं बाधितं भवति, तदा स व्यवहारस्त्याज्य एव। अत एव इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-३२) **निरूपितम्—**

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत्।।

अन्यच्च, भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१०१-१०२) **निर्दिष्टम्—**

आदहिदमयाणंतो मुज्झदि मूढो समादियदि कम्मं।
कम्मणिमित्तं जीवो परीदि भवसायरमणंतं।।

जाणंतस्सादहिदं अहिदणियत्ती य हिदपवित्ती य।
होदि य तो से तम्हा आदहिदं आगमेदव्वं।।

भगवती-आराधनाग्रन्थस्य (गाथा-१५६) **विजयोदयाटीकायां समुद्धृते पद्ये च विशेषतः परामृष्टम्—**

और, यदि लौकिक व्यवहार करने में अपनी आत्मा का कल्याण बाधित होता है तो वह व्यवहार त्याज्य ही है। इसीलिए इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-32) में यह कहा है—

''अन्य का उपकार छोड़ो और अपनी आत्मा के कल्याण में तत्पर होओ। सामान्य लोगों की तरह अन्य दृश्यमान (आत्मेतर) का उपकार करने वाला अज्ञानी होता है।''

और भी, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 101-102) में कहा गया है—

''आत्म-हित को नहीं जानने वाला मोहयुक्त होता है और वह मूढ़ कर्म-ग्रहण (बन्धन) करता है और कर्म का निमित्त पाकर वह अनन्त संसार-सागर में भ्रमण करता रहता है।''

''आत्म-हित को जो जानता है, उसके अहित से निवृत्ति और हित में प्रवृत्ति होती है। इसलिए आत्म-हित को आगम से जानना-सीखना चाहिए।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-156) की विजयोदया टीका में उद्धृत एक पद्य में यह परामर्श दिया गया है—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहियं च कादव्वं।।
अप्पहियपरहियादो अप्पहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

वस्तुतः स्वात्मपरोभयोपकारकुशलास्तु महापुरुषाः, लोके दुर्लभा एवेति भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-४८५) **भणितम्—**

आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा जे परट्ठमवि लोगे।
कडुयफरुसेहिं साहेंति ते हु अदिदुल्लहा लोए।।

परन्तु ये श्रमणाः स्वात्महितमुपेक्ष्य, लोकव्यवहारे एव रता भवन्ति, ते रागाद्युपहता मोक्षमार्गे भ्रष्टाः क्रमशो भवन्ति, तथा पापारम्भादिषु प्रवर्तमानाः दुर्गतिञ्च प्राप्नुवन्ति। अतः स्वात्महितं सर्वतोभावेन साधनीयमिति हे भव्य! सम्यगवबुद्ध्य सम्यक्त्वविराधिकाः क्रियाः परिहृत्य मोक्षमार्गेऽग्रसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''सर्वप्रथम अपनी आत्मा का हित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो पर-हित भी करना चाहिए। आत्महित और परहित में, आत्महित ही अच्छी तरह करना चाहिए।''

वस्तुत: ऐसे महापुरुष, जो अपना व पराया, दोनों का उपकार करते हैं, लोक में दुर्लभ ही हैं —ऐसा भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-485) में कहा गया है—

''अपने ही (कल्याण) कार्य की चिन्ता में तत्पर होते हुए दूसरों के कार्य को भी जो कटु व कठोर वचनों से साधते हैं, वे पुरुष तो लोक में अत्यन्त दुर्लभ ही हैं।''

परन्तु जो श्रमण आत्म-कल्याण की उपेक्षा कर लोकव्यवहार में ही रत होते हैं, वे क्रमश: रागादि से ग्रस्त होकर मोक्षमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं और पापारम्भ आदि में प्रवृत्त होकर दुर्गति को भी प्राप्त करते हैं। अत: आत्म-हित की सिद्धि सभी उपायों से करना चाहिए —ऐसा अच्छी तरह समझकर हे भव्य! सम्यक्त्व-विराधक क्रियाओं का त्याग करते हुए मोक्षमार्ग में अग्रसर होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

पुनरपि सम्यक्त्वहीनमुनीनां स्वरूपं शास्त्रकारा उग्गाहा-छन्दसा निर्दिशन्ति—

ण सहंति इदरदप्पं थुवंति अप्पाणमप्पमाहप्पं।
जिब्भणिमित्तं कुणंति कज्जं ते साहु सम्म-उम्मुक्का।।१०५।।

छाया— न सहन्ते इतरदर्पं स्तुवन्ति आत्मानम् आत्ममाहात्म्यम्।
जिह्वानिमित्तं कुर्वन्ति कार्यं ते साधवः सम्यक्त्व-उन्मुक्ताः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगम एव। (ते साहु सम्म-उम्मुक्का) **ते साधवः सम्यक्त्व-उन्मुक्ताः, सम्यक्त्वरहिता भवन्तीति विज्ञेयम्। कीदृशाः साधवः सम्यक्त्वहीनाः ? उच्यते—** (ण सहंति इदरदप्पं) **इतरेषां स्वस्मादन्येषां केषाञ्चिदपि पुरुषाणां दर्पं, गुणप्रशंसादिकं न सहन्ते, न षोढुं समर्थाः भवन्ति, अन्येषां गुणप्रशंसनं श्रुत्वा रोषं प्रकटयन्ति, यद्वा विरोधरूपेण तत्प्रतिवादं कुर्वन्ति, ते सम्यक्त्वविरोधिनीं क्रियां विदधतीत्याशयः।**

सम्यक्त्व-हीन मुनियों के स्वरूप का निरूपण पुनः शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो दूसरे के बड़प्पन को सहन नहीं करते और स्वयं का एवं अपने महत्त्व का ही (स्तुति) गुणगान करते हैं, तथा अपनी जिह्वा (रसास्वाद) के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, वे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।।105।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम ही है। **(ते साधवः सम्यक्त्व-उन्मुक्ताः)** वे साधु सम्यक्त्व से उन्मुक्त यानी रहित होते हैं —यह जानें। कैसे साधु सम्यक्त्व से हीन होते हैं ? बता रहे हैं— **(न सहन्ते इतरदर्पम्)** अन्य, अपने से भिन्न किसी भी पुरुष का दर्प अर्थात् उसके गुण की प्रशंसा आदि को नहीं सहन करते, सहन नहीं कर पाते, अन्य गुणों की प्रशंसा को सुनकर रोष प्रकट करते हैं या विरोध रूप में उसका प्रतिवाद करते हैं, वे सम्यक्त्व-विरोधी क्रिया करते हैं —यह आशय है।

यथार्थश्रमणास्तु समुद्रवत् धैर्य-निर्विकारभावयुक्ताः भवन्ति। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-८६१)— ते होंति णिव्वियारा थिमिदमदी पदिट्ठिदा जहा उदधी।।

तथा च (थुवंति अप्पाणमप्पमाहप्पं) **ये श्रमणा आत्मानं स्तुवन्ति, आत्म-माहात्म्यं च स्वयमेव प्रकटयन्ति, तेऽपि सम्यक्त्वरहिता विज्ञेयाः। सम्यक्त्वयुक्तस्तु स्वात्मानं तृणवत् मनुते, उपगूहनगुणयुक्तः स निजगुणान् कदाचिदपि न प्रकाशयति।**

उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३१३, ४१९)—

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्तकलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं।।

जो परदोसं गोवदि णिजसुकयं जो ण पवडदे लोए।
भवियव्व-भावणरओ उवगूहण-कारओ सो हु।।

यथार्थ श्रमण तो समुद्र की तरह धैर्य व निर्विकार भाव से युक्त होते हैं। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-861) में कहा भी गया है— ''वे श्रमण निर्विकारी, अनुद्धत मन के तथा समुद्र की तरह गम्भीर व क्षोभरहित होते हैं।''

तथा **(स्तुवन्ति आत्मानम् आत्ममाहात्म्यम्)** जो श्रमण अपनी स्तुति करते हैं, स्वयं ही अपने माहात्म्य को प्रकट करते हैं, उन्हें भी सम्यक्त्वरहित जानना चाहिए। सम्यक्त्व से युक्त (श्रमण) तो अपनी आत्मा को तृण-तुल्य मानता है, और उपगूहन गुण से युक्त होने के कारण अपने गुणों को कभी प्रकाशित नहीं करता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-313 व 419) में कहा भी गया है—

''वह सम्यग्दृष्टि पुत्र, स्त्री आदि समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता, उपशम भाव को भाता है और स्वयं को तृण समान मानता है।''

''जो सम्यग्दृष्टि दूसरों के दोषों को ढाँकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता। वह ऐसी भावना रखता है कि जो भवितव्य है, वही होता है— उसे उपगूहन गुण का धारक कहते हैं।''

आत्मप्रशंसा तीव्रकषायचिह्नमेवेति च तत्रैव (गाथा-९२) **निर्दिष्टम्—**

अप्पपसंसणकरणं पुज्जेसु वि दोसगहणसीलत्तं।
वेरधरणं च सुइरं तिव्वकसायाण लिंगाणि।।

एतद्दृष्ट्यैव आत्मप्रशंसनवर्जनीयताविषये भगवती-आराधना-ग्रन्थे (गाथा-३६१-३७०, ३७३) **विशदीकृतमपि—**

अप्पपसंसं परिहरह सदा मा होह जसविणासयरा।
अप्पाणं थोवंतो तणलहुहो होदि हु जणम्मि।।

संता वि गुणा कत्थंतयस्स णस्संति कंजिए व सुरा।
सो चेव हवदि दोसा जं सो थोएदि अप्पाणं।।

आत्म-प्रशंसा तीव्र कषाय का ही चिह्न है— ऐसा वहीं (स्वा. कार्ति. गाथा-92) इस प्रकार कहा गया है—

''अपनी प्रशंसा करना, पूज्य पुरुषों में भी दोष निकालने का स्वभाव होना, और अत्यन्त लम्बे समय तक वैर को धारण करना —ये तीव्र कषाय वाले जीवों के चिह्न होते हैं।''

इसी दृष्टि से भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-361-370, 373) में आत्म-प्रशंसा की हेयरूपता के विषय में इस प्रकार स्पष्टीकरण भी किया गया है—

''अपनी प्रशंसा करना सदा के लिए छोड़ दो। अपने यश को नष्ट मत करो, क्योंकि समीचीन गुणों के कारण फैला हुआ भी आपका यश अपनी प्रशंसा करने से नष्ट होता है। जो अपनी प्रशंसा करता है वह सज्जनों के मध्य में तृण की तरह लघु हो जाता है।।''

''मेरे में ये गुण हैं— ऐसा कहने वाले में विद्यमान भी गुण उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे काँजी के पीने से मदिरा का नशा नष्ट हो जाता है। वह जो अपनी प्रशंसा करता है, यही उसका दोष है।''

संतो हि गुणा अकहिंतयस्स पुरिसस्स ण वि य णस्संति।
अकहिंतस्स वि जह गहवइणो जगविस्सुदो तेजो।।

ण य जायंति असंता गुणा विकत्थंतयस्स पुरिसस्स।
धंति हु महिलायंतो व पंडवो पंडवो चेव।।

संतं सगुणं कित्तिज्जंतं सुजणो जणम्मि सोदूण।
लज्जदि किह पुण सयमेव अप्पगुणकित्तणं कुज्जा।।

अविकत्थंतो अगुणो वि होइ सगुणो व सुजणमज्झम्मि।
सो चेव होदि हु गुणो जं अप्पाणं ण थोएइ।।

वायाए जं कहणं गुणाण तं णासणं हवे तेसिं।
होदि हु चरिदेण गुणाण कहणमुब्भासणं तेसिं।।

''जो पुरुष अपने गुणों की प्रशंसा स्वयं नहीं करता उसके विद्यमान गुण नष्ट नहीं होते। यदि वह अपने गुणों की प्रशंसा नहीं करता तो उसके गुणों की प्रख्याति नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। सूर्य अपने गुणों को स्वयं नहीं कहता। फिर भी उसका प्रताप जगत् में प्रसिद्ध है।''

''अपने गुणों की प्रशंसा करने वाले पुरुष में अविद्यमान गुण प्रशंसा करने से उत्पन्न नहीं होते। स्त्री की तरह खूब हाव-भाव करने पर भी नपुंसक नपुंसक ही रहता है, युवती नहीं बन जाता।''

''सज्जन मनुष्यों के बीच में अपने विद्यमान भी गुण की प्रशंसा सुनकर लज्जित होता है। तब वह स्वयं ही अपने गुणों की प्रशंसा कैसे कर सकता है।''

''अपनी प्रशंसा न करने वाला स्वयं गुणरहित होते हुए भी सज्जन के मध्य में गुणवान की तरह होता है। वह जो अपनी प्रशंसा नहीं करता यही उसका गुण है।''

''वचन से गुणों को कहना उनका नाश करना है और आचरण से गुणों का कथन उनको प्रकट करना है। गुणों में अपनी प्रवृत्ति से ही गुणों का प्रकाशन करना चाहिए।''

वायाए अकहेंता सुजणे वि कहेंता य चरिदेहिं।
सगुणे पुरिसाण पुरिसा होंति उवरीव लोगम्मि।।

सगुणम्मि जणे सगुणो वि होह लहुगो णरो विकत्थिंतो।
सगुणों वा अकहिंतो वायाए होंति अगुणेसु।।

चरिएहिं कत्थमाणो सगुणं सगुणेसु सोभदे सगुणो।
वायाए विकहिंतो अगुणो व जणम्मि अगुणम्मि।।

किच्चा परस्स णिंदं जो अप्पाणं ठवेदुमिच्छेज्ज।
सो इच्छदि आरोग्गं परम्मि कडुओसहे पीए।।

तथा (जिब्भणिमित्तं कुणंति कज्जं) **ये च श्रमणाः जिह्वानिमित्तं कार्यं कुर्वन्ति, भोजन-गृद्धिवशगाः विविधचर्याः कुर्वन्ति, तेऽपि सम्यक्त्वरहिता विज्ञेयाः।**

''जो वचन से न कहकर साधुजन के मध्य में अपने आचरण से अपने गुणों को कहते हैं, वे पुरुष लोक में सब पुरुषों से ऊपर होते हैं।''

''गुणवान पुरुषों में गुणवान भी मनुष्य यदि अपने गुणों को कहता है तो वह लघु होता है। जैसे निर्गुणों के मध्य में अपने गुणों को न कहने वाला गुणवान् होता है।''

''गुणवानों में गुणवान मनुष्य अपने गुण को अपने आचरण से प्रकट करता हुआ ही शोभता है। जैसे निर्गुण मनुष्यों में निर्गुण मनुष्य वचन से अपने गुणों को कहता हुआ शोभित होता है।''

''जो पर की निन्दा करके अपने को गुणी कहलाने की इच्छा करता है, वह दूसरे के द्वारा कड़वी औषधि पीने पर अपने नीरोगता चाहता है।''

तथा **(जिह्वानिमित्तं कुर्वन्ति कार्यम्)** और जो श्रमण जिह्वा के निमित्त कार्य करते हैं, अर्थात् जो भोजन-गृद्धि (सुस्वादु आहारादि की लालसा) के वशीभूत होकर विविध क्रियाएँ करते हैं, वे भी सम्यक्त्वरहित हैं —यह जानें।

श्रमणानां रसगृद्धिः सर्वथा त्याज्यैव भवतीति लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१२) **प्रोक्तम्—**

कंदप्पाइय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धिं।
माई लिङ्गविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

यथार्थश्रमणः शौचधर्मपालकः समस्तलोभरहित एव भवति। उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३९७)—

समसंतोसजलेणं जो धोवदि तिव्वलोहमलपुंजं।
भोयणगिद्धिविहीणो तस्स सउच्चं हवे विमलं।।

श्रमणस्य यथार्थशुद्धभिक्षाचर्याया निरूपणं स्वयं शास्त्रकारा अग्रे (गाथा १०७-११३) **वक्ष्यन्ति। वस्तुतः श्रमणस्य सर्वाः क्रियाः संयमतपःसाधिकाः, कर्मनिर्जरामोक्षप्राप्तिहेतवे भवन्ति, भयाशास्नेहलोभविषयसुखाकांक्षानिमित्तकाः तस्य क्रिया न भवन्ति। एवं रसगृद्धिनिमित्तकं कार्यं सर्वथा श्रामण्यदूषणोत्पादकं सिद्ध्यति।**

श्रमणों के लिए रस-गृद्धि सर्वथा त्याज्य ही होती है —ऐसा लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-12) में इस प्रकार कहा गया है—

''जो पुरुष मुनिवेषी होकर भी कान्दर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है, तथा भोजन में रस-सम्बन्धी लोलुपता को धारण करता है, वह मायाचारी, मुनिलिङ्ग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं।''

यथार्थ श्रमण तो शौच धर्म का पालन करने वाला होता है और समस्त लोभ से रहित ही होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-397) में कहा भी गया है—

''जो समभाव व सन्तोष रूपी जल से तृष्णा व लोभ रूपी मल के समूह को धोता है तथा भोजन की गृद्धि (लालसा) भी नहीं करता, उसके निर्मल शौच धर्म होता है।''

श्रमण की यथार्थ शुद्ध (निर्दोष) भिक्षाचर्या का निरूपण स्वयं शास्त्रकार आगे (गाथा 107-113 में) करेंगे। वस्तुतः श्रमण की सभी क्रिया संयम व तप की साधिका होती हैं और उनका प्रयोजन कर्मनिर्जरा व मोक्ष की प्राप्ति होता है। भय, आशा, स्नेह, लोभ व विषयसुख की आकांक्षा के निमित्त से उसकी क्रियाएँ नहीं होतीं। इस प्रकार, रसगृद्धि की पूर्ति के लिए कार्य सर्वथा श्रामण्य दोष का उत्पादक होता है —यह सिद्ध हो जाता है।

एवं हे भव्य! समस्ताभ्यः सम्यक्त्वविरुद्धक्रियाभ्यो विरज्य मोक्षमार्गाश्रयणे सततं निरतिचारतया प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'तच्चवियारणसीलो' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'ण सहंति इदरदप्पं' **इत्यादिकां गाथां यावत् मुनिस्वरूपनिरूपणपरस्त्रयोदशगाथात्मको नवमोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरमुनीन्द्रविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां नवमोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति नवमोऽधिकारः।।

इस प्रकार, हे भव्य! समस्त सम्यक्त्व-विरोधी क्रियाओं से विरक्त होकर मोक्षमार्ग के अनुष्ठान में निरन्तर निरतिचार (निर्दोष) रूप से प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'तच्चवियारणसीलो'** इत्यादि (गाथा-93) से लेकर **'ण सहंति इदरदप्पं'** इत्यादि (गाथा-105) तक, मुनि-स्वरूप का निरूपण करने वाला —यह तेरह गाथाओं वाला नवम अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में नवम अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति नवमोऽधिकारः ।।

।। दसमो अहियारो ।।

(दशमोऽधिकारः)

अथेदानीं मुनिचर्यानिरूपणपरो दशमाधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्याधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे 'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो' **—इत्यादिगाथां** (सं. १०६) **आरभ्य** 'दिव्वुत्तरण सरिच्छं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ११३) **यावद् अष्टगाथाः सन्ति। तत्र प्रथमं** 'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०६) **सम्यक्त्वरहितस्य मुनेः शुन इव चेष्टा भवतीति प्ररूपयति। तदनन्तरं** 'भुंजेदि जहालाहं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०७), **तथा** 'उदरग्गिसमनमक्खमक्खण' **इत्यादिगाथा** (सं. १०८), **एवं द्वे गाथे भवतः, यत्र निरूपितं यन्मुनेराहारग्रहणं ज्ञानसंयमाद्याराधनासिद्ध्यै भवतीति। ततः पश्चात्** 'रसरुहिरमंसमेदट्ठि' **इत्यादिका गाथा** (सं. १०९), **तथा** 'बहुदुक्खभायणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११०), **एवं गाथाद्वयं वर्तते, यत्र पुनरपि धर्माराधनरूपप्रयोजनसिद्ध्यै एव मुनेराहारग्रहणं भवतीति निरूपितम्।**

।। दसवाँ अधिकार ।।

अब मुनि-चर्या का निरूपण करने वाला दसवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बताई जा रही है। इस अधिकार में **'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो'** इत्यादि गाथा (सं. 106) से लेकर **'दिव्वुत्तरण सरिच्छं'** इत्यादि गाथा (सं. 113) तक आठ गाथाएँ हैं। इनमें प्रथम **'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो'** इत्यादि गाथा (सं. 106) है जो यह बताती है कि सम्यक्त्वरहित मुनि की चेष्टा श्वान की तरह होती है। इसके बाद, **'भुंजेदि जहालाहं'** इत्यादि गाथा (सं. 107) तथा **'उदरग्गिसमनमक्खमक्खण'** इत्यादि गाथा (सं. 108), इस प्रकार दो गाथाएँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि ज्ञान, संयम आदि की आराधना की सिद्धि के लिए मुनि का आहार ग्रहण होता है। इसके बाद, **'रसरुहिरमंसमेदट्ठि'** इत्यादि गाथा (सं. 109) तथा **'बहुदुक्खभायणं'** इत्यादि गाथा (सं. 110), इस प्रकार दो गाथा हैं, जिनमें पुन: यह बताया गया है कि धर्माराधना रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही मुनि का आहार ग्रहण होता है।

तदनन्तरं 'संजमतवझाणज्झयण' **इत्यादिका गाथा** (सं. १११), **तथा** 'कोहेण य कलहेण य' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११२), **इत्येवं द्वे गाथे भवतः, ययोः प्रतिपादितं यत् मुनिः संयमादिसिद्ध्यै शुद्धात्मपरिणाम-पूर्वकमाहारग्रहणं करोति। अन्ततश्च** 'दिव्वुत्तरणसरिच्छं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११३) **वर्तते या प्रतिपादयति यन्मुनेः शुद्धनिर्दोषाहारो भवसमुद्रतरणाय दिव्यनौकेव प्रभवतीति। एवमस्याधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

पुनरपि शास्त्रकाराः उग्गाहाछन्दसा सम्यक्त्वरहितस्य मुनेर्निदर्शनं कारयन्ति—

चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो गज्जदे मुणिं दिट्ठा।
जह तह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं सगीयट्ठो।। १०६।।

छाया— चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः गर्जति मुनिं दृष्ट्वा।
यथा तथा पापिष्ठः स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा स्वकीयार्थः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जह चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो मुणिं दिट्ठा गज्जदे, तह सो सगीयट्ठो पाविट्ठो धम्मिट्ठं (दिट्ठा गज्जदे) —इति गाथान्वयः।

इसके पश्चात्, '**संजमतवझाणज्झयण**' इत्यादि गाथा (सं. 111), तथा '**कोहेण य कलहेण य**' इत्यादि गाथा (सं. 112), इस प्रकार दो गाथा हैं, जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि मुनि संयम आदि की सिद्धि के लिए शुद्ध आत्मीय परिणाम पूर्वक आहार ग्रहण करता है। अन्त में, '**दिव्वुत्तरण सरिच्छं**' इत्यादि गाथा (सं. 113) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि मुनि का शुद्ध व निर्दोष आहार उसके लिए भव-समुद्र को पार करने के हेतु (एक) दिव्य नौका की तरह समर्थ होता है। इस प्रकार, इस अधिकार की समुदायपातनिका जाननी चाहिए।

पुनः शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा सम्यक्त्वरहित मुनि के स्वरूप का दर्शन करा रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार चर्म, अस्थि व मांस का लोभी कुत्ता मुनि को देखकर भोंकता है, उसी प्रकार (सम्यक्त्वरहित) वह पापी अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर किसी धर्मात्मा को देखकर भोंकता है— विपरीत भाषण करता है।।106।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यथा चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः मुनिं दृष्ट्वा गर्जति, तथा स्वकीयार्थः पापिष्ठः धर्मिष्ठं (दृष्ट्वा गर्जति) —यह गाथा का अन्वय है।

(जह चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो सुणहो मुणिं दिट्ठा गज्जदे) **यथा चर्मास्थि-मांसपिण्डभोजनासक्तः श्वा मुनिं दृष्ट्वा गर्जति। सोऽज्ञानी पशुः शङ्कते यन्मुनिः तद्गृहीतमांसपिण्डं बलाद् हर्तुमायाति, अतः प्रतिरोधरूपेण बुक्कति, निर्लज्जश्च सन् कुत्सितभोजनं त्यजत्यपि नैव।**

महाकविना भर्तृहरिणा नीतिशतकग्रन्थे (श्लोक-९) **शुनः स्वभावस्य वर्णनं कृतमप्यस्ति—**

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितम्, निरुपमरसं प्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य न शङ्कते, न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम्।।

शुनो दृष्टान्तमुपस्थाप्य शास्त्रकारो दार्ष्टान्तं प्रस्तौति— (तह पाविट्ठो सो धम्मिट्ठं दिट्ठा सगीयट्ठो) **तथा, स स्वकीयार्थः, विषयसेवनादिरूपं स्वार्थमेव साधयितुं येन केनापि कर्मणा प्रयतितुमिच्छुकः, एवं पापिष्ठः पापकर्मणि निरतोऽपि भूत्वा, धर्मिष्ठं धर्मानुष्ठायिनं पापविरतमपि दृष्ट्वा गर्जति, प्रतिकूलाचरणेन, स्वकीयविरोधप्रदर्शनेन, ईर्ष्यामात्सर्यद्वेषादिभावेन परिणतः कायिकादिक्रियाः करोतीत्यर्थः।**

(यथा चर्मास्थिमांसलवलुब्धः शुनकः मुनिं दृष्ट्वा गर्जति) जिस प्रकार चर्म, अस्थि, मांस के पिण्ड रूप भोजन में आसक्त कुत्ता मुनि को देखकर गुर्राता है। वह अज्ञानी पशु आशंकित हो जाता है कि (कहीं) मुनि उसके द्वारा गृहीत मांस-पिण्ड को बलपूर्वक हरण करने आ रहा है, इसलिए प्रतिरोध (विरोध) रूप में वह भोंकता है और निर्लज्ज होकर कुत्सित भोजन को छोड़ता भी नहीं।

महाकवि भर्तृहरि ने नीतिशतक ग्रन्थ (श्लोक-9) में कुत्ते के स्वभाव का वर्णन इस प्रकार किया भी है—

''कीड़ों से भरे हुए, लार से भींगे, दुर्गन्धियुक्त, घृणित, नीरस, मांसरहित मनुष्य की हड्डी को कुत्ता प्रेम से चबाता है और पास में खड़े इन्द्र की भी परवाह नहीं करता (कुछ भी संकोच या लज्जा नहीं करता), क्योंकि नीच जन्तु अपने परिग्रह (उपभोग्य वस्तु) की असारता को मानता नहीं है।''

कुत्ते के दृष्टान्त को रखकर शास्त्रकार दार्ष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं— **(तथा पापिष्ठः स धर्मिष्ठं दृष्ट्वा स्वकीयार्थः)** उसी तरह वह स्वकीयार्थ यानी वह व्यक्ति जो विषय-सेवन रूपी निज स्वार्थ को ही जिस किसी भी कर्म से साधने के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह इस प्रकार पापिष्ठ यानी पापकर्म में निरत होता हुआ भी धर्मिष्ठ यानी धर्माचरण करने वाले एवं पाप-विरत व्यक्ति को भी देखता है तो गर्जता है, अर्थात् प्रतिकूल आचरण से, विरोध प्रदर्शित करते हुए, ईर्ष्या, मात्सर्य व द्वेष आदि परिणामों वाला होकर (वैसी ही) शारीरिक आदि क्रियाएँ करता है।

अयम्भावः— यथाजातसहजदिगम्बरस्वरूपं दृष्ट्वा मात्सर्यादिदोषवशाद्, यथोचितं समादरं न करोति, तर्हि स मिथ्यादृष्टिरेव। उक्तं च दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा २४-२५)—

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
ये गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।

श्रमणोऽपि अन्यान् साधर्मिकान् संयतान् श्रावकान् वा प्रति अनुरागं वात्सल्यभावं वा प्रकटयत्येव। उक्तं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५२)—

देवगुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो।।

तात्पर्य यह है— यथाजात सहज दिगम्बर स्वरूप को देखकर यदि कोई मात्सर्य आदि दोष के वशीभूत होकर यथोचित आदर नहीं प्रकट करता तो वह मिथ्यादृष्टि ही है। दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 24-25) में कहा भी गया है—

''मात्सर्य भाव में भरा हुआ जो व्यक्ति 'जिन' (या श्रमण) के यथाजात सहजोत्पन्न दिगम्बर रूप को देखने योग्य नहीं मानता है, वह संयमी होने पर भी मिथ्यादृष्टि ही है।''

''शील सहित तथा देवों के द्वारा वन्दनीय जिन-रूप को देखकर जो अपना गौरव करते हैं अर्थात् स्वयं को महान् मानते हैं, वे भी सम्यग्दर्शन से रहित हैं।''

श्रमण भी अन्य साधर्मी जनों— संयमी या श्रावक के प्रति अनुराग या वात्सल्य प्रकट करता ही है। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-52) में कहा भी गया है—

''जो देव व गुरु का भक्त है, साधर्मी भाई तथा संयमी जीवों का अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर (दृढ़ता व सम्मान के साथ) धारण करता है —ऐसा योगी ही ध्यान में रत होता है।''

साधार्मिकेषु वात्सल्यभावः सम्यक्त्वस्यैवाष्टगुणेषु सप्तमो गुणो भण्यते। उक्तं च तत्स्वरूपं रत्नकरण्डश्रावकाचारे (श्लोक-१७)**—**

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।

तच्च वात्सल्यं निश्चय-व्यवहारभेदतो द्विधा। तत्र व्यवहार-वात्सल्यस्वरूपं वर्ण्यते। मूलाचार-ग्रन्थे (गाथा-२६३) **यथोक्तम्—**

चादुव्वण्णे संघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे।
वच्छल्लं कादव्वं वच्छे गावी जहा गिद्धी।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४२१) **च निर्दिष्टम्—**

जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरणं कुणदि परमसद्धाए।
पियवयणं जप्पंतो वच्छल्लं तस्स भव्वस्स।।

साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्य भाव —यह सम्यक्त्व के आठ गुणों में से सातवाँ गुण कहा जाता है। उसका स्वरूप रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-17) में इस प्रकार बताया गया है—

''स्व-यूथ्य (साधर्मी, संघस्थ) के प्रति सद्भाव से युक्त तथा छल-कपट से रहित यथायोग्य जो आदर भाव है, उसे 'वात्सल्य' कहा जाता है।''

वह वात्सल्य निश्चय व व्यवहार के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें व्यवहार वात्सल्य का स्वरूप बताया जा रहा है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-263) में यह इस प्रकार कहा गया है—

''चतुर्गति रूप संसार को पार करने में कारणभूत मुनि, आर्यिका आदि चतुर्विध संघ में, उसी तरह प्रीति (वात्सल्य) करना चाहिए जिस प्रकार बछड़े के प्रति गाय की प्रीति रहती है, और यही वात्सल्य गुण है।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-421) में भी निर्दिष्ट है—

''जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ, अत्यन्त श्रद्धा से धर्मिक जनों में भक्ति रखता है तथा तदनुरूप आचरण करता है, उस भव्य जीव के वात्सल्य गुण कहा गया है।''

बृ. द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-४१) **टीकायामपि भणितम्—** ''बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसंघे वत्से धेनुवत् पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्तं पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद् वा यदकृत्रिमस्नेहकरणं तद् व्यवहारेण वात्सल्यं भण्यते।''

निश्चयवात्सल्यस्वरूपमपि भण्यते। यथा समयसारग्रन्थे (गाथा-२३५)**—**

जो कुणदि वच्छलत्तं तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे (श्लोक-२९) **च समुपदिष्टम्—**

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्।।

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-41) की टीका में भी कहा गया है— ''बाह्य व आन्तरिक रत्नत्रय को धारण करने वाले चतुर्विध संघ में, जैसे गाय की बछड़े में प्रीति रहती है, उसी तरह, अथवा पाँचों इन्द्रियों के विषयों के सेवन में निमित्त होने वाले पुत्र, पत्नी, सोना आदि में जो स्नेह रहता है, उसके समान अकृत्रिम स्नेह करना —यह व्यवहारनय की अपेक्षा से वात्सल्य कहा जाता है।''

निश्चय वात्सल्य का स्वरूप भी बता रहे हैं। जैसा कि समयसार ग्रन्थ (गाथा-235) में कहा गया है—

''जो जीव (आचार्य, उपाध्याय व) साधु आदि मुनियों के त्रिक (तीन के समूह) में और (रत्नत्रयात्मक) मोक्षमार्ग में वत्सलता रखता है, उसे वात्यल्ययुक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।''

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक-29) में भी ऐसा उपदेश प्राप्त होता है—

''मोक्ष-सुख की सम्पदा के कारणभूत जैन धर्म में, अहिंसा में और समस्त उक्त धर्मयुक्त साधर्मी जनों में निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीति का अवलम्बन (धारण) करना चाहिए।''

बृ. द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-४१) **टीकायां च निर्दिष्टम्—** ''निश्चयवात्सल्यं पुनः तस्यैव व्यवहारवात्सल्यगुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्तशुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीतिं त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरमस्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादं प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्गं व्याख्यातम्।''

जिनप्रणीतसिद्धान्ते, द्वादशाङ्गे श्रुते, असंयतसम्यग्दृष्टिषु, देशव्रतिषु, महाव्रतिषु च अनुरागः, आत्मीयभावो वात्सल्यं वा प्रवचनवत्सलत्वनाम्नाऽपि अभिधीयते, यच्च तीर्थंकरनामकर्मास्रवे हेतुरूपं तत्त्वार्थसूत्रे (६/२४) **निरूपितम्।**

तत्स्वरूपं राजवार्तिकग्रन्थे (६/२४/१३) **प्रत्यपादि—** ''यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति, तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते।''

किञ्च, साधर्मिप्रतिकूलस्य शास्त्रज्ञानमपि विषमिवाहितकरं भवतीति कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४६३) **निर्दिष्टम्—**

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-41) की टीका में भी कहा गया है— ''उसी (पूर्वोक्त) व्यवहार-वात्सल्यगुण के सहकारी होने से धर्म में दृढ़ता होने पर, मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ-अशुभ बाह्य पदार्थों में प्रीति छोड़कर, रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित परम स्वास्थ्य के अनुभव से उत्पन्न सदा आनन्द रूप सुखमय अमृत के आस्वाद के प्रति प्रीति करना —यही 'निश्चय वात्सल्य' है। इस प्रकार सप्तम वात्सल्य अंग का व्याख्यान (पूर्ण) हुआ।''

जिनेन्द्र-प्रणीत सिद्धान्त, द्वादशाङ्गश्रुत, असंयत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती व महाव्रती —इनमें अनुराग भाव या आत्मीय भाव या वात्सल्य रखने को 'प्रवचनवात्सल्य' नाम से भी कहते हैं, जिसे तत्त्वार्थसूत्र (6/24) में तीर्थंकर नामकर्म के आस्रव में हेतु माना गया है।

उसका स्वरूप राजवार्तिक ग्रन्थ (6/24/13) में इस प्रकार बताया गया है— ''जैसे गाय अपने बछड़े से अकृत्रिम स्नेह रखती है, उसी तरह धार्मिक जन को देखकर स्नेह से ओतप्रोत हो जाना 'प्रवचनवात्सल्य' (प्रवचनवत्सलत्व) कहा जाता है।''

और, साधर्मिक जनों के प्रतिकूल रहने वाले का शास्त्रज्ञान भी विष की तरह अहितकारी होता है —ऐसा कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-463) में कहा गया है—

जो जिणसत्थं सेवदि पंडियमाणी फलं समीहंतो।
साहम्मियपडिकूलो सत्थं पि विसं हवे तस्स।।

मोक्षमार्गस्थान् सर्वान् धार्मिकान् प्रति तिरस्कारादिभावो नोचितः इति समन्तभद्राचार्यैः रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-26) **भणितम्—**

स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशयः।
सोऽत्येति धर्ममात्मीयं, न धर्मो धार्मिकैर्विना।।

एवं हे भव्य! निश्चयव्यवहारवात्सल्यगुणभूषितेन सम्यक्त्वेन सम्यक्चारित्रानुष्ठानेऽपि सततं प्रयतनीयमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति मुनेराहारग्रहणोद्देश्यादिकं शास्त्रकारा उग्गाहा-छन्दोभ्यां विशदीकुर्वन्ति—

"जो पण्डित-अभिमानी व्यक्ति लौकिक फल की इच्छा रखकर जैनशास्त्रों का सेवन (अध्ययनादि) करता है और जो साधर्मी जनों के प्रतिकूल रहता है, उसका शास्त्रज्ञान भी विषरूप है।"

मोक्षमार्ग में स्थित सभी धार्मिकों के प्रति तिरस्कार आदि का भाव उचित नहीं —यह समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-26) में कहा भी है—

"मद से गर्वित चित्त होकर (अहंकारवश) जो व्यक्ति (रत्नत्रयात्मक) धर्म में स्थित अन्य धार्मिकों को तिरस्कृत करता है, वह अपने धर्म को ही तिरस्कृत करता है, क्योंकि धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता।"

इस प्रकार, हे भव्य! निश्चय व व्यवहार दोनों वात्सल्य रूपी गुण से विभूषित सम्यक्त्व के साथ सम्यक्चारित्र के अनुष्ठान में भी निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, मुनि के आहार-ग्रहण में निहित उद्देश्य आदि को दो उग्गाहा छन्दों द्वारा शास्त्रकार स्पष्ट कर रहे हैं—

भुंजेदि जहालाहं जदि णाणसंजमणिमित्तं।
झाणज्झयणणिमित्तं अणयारो मोक्खमग्गरदो।। १०७।।

उदरग्गिसमनमक्खमक्खण-गोयार-सब्भपूरण-भमरं।।
णाऊण तप्पयारे णिच्चेवं भुंजदे भिक्खू।। १०८।।

छाया— भुंक्ते यथालाभं यदि ज्ञानसंयमनिमित्तम्।
ध्यानाध्ययननिमित्तम्, अनगारः मोक्षमार्गरतः।।

उदराग्निशमनम्, अक्षम्रक्षण-गोचार-श्वभ्रपूरण-भ्रामरम्।
ज्ञात्वा तत्प्रकारान् नित्यमेव भुंक्ते भिक्षुः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अणयारो मोक्खमग्गरदो जदि जहालाहं भुंजेदि, णाणसंजमणिमित्तं झाणज्झयणणिमित्तं (भुंजेदि) —इति प्रथमगाथान्वयः। भिक्खू उदरग्गिसमनमक्खमक्खणगोयारसब्भपूरणभमरं (इदि) तप्पयारे णाऊण णिच्चेवं भुंजदे —इति द्वितीयगाथान्वयः।

गाथा-अर्थ— यदि यथायोग्य थोड़ा-बहुत (आहार आदि) जो मिल जाता है तो मोक्षमार्ग में स्थित अनगार (साधु) अपने ज्ञान व संयम की आराधना के लिए या ध्यान व अध्ययन की सिद्धि के लिए (ही) उसका सेवन (भोग) करता है।।107।।

(1) उदराग्नि का शमन, (2) इन्द्रियों को स्नेह से स्निग्ध करना, (3) गोचरी (गौ की तरह चारा खाना), (4) पेट के गड्ढे को मात्र भरना, (5) भौंरे की तरह (बिना किसी को कष्ट दिये) थोड़ा-थोड़ा लेना —इन (भिक्षा के पाँच) प्रकारों को जानकर नित्य ही साधु आहार-ग्रहण किया करता है।।108।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अनगारः मोक्षमार्गरतः यदि यथालाभं भुंक्ते (तर्हि) ज्ञानसंयमनिमित्तं ध्यानाध्ययननिमित्तं (भुंक्ते) —यह प्रथम गाथा (सं. 107) का अन्वय है। भिक्षुः उदराग्निशमनम् अक्षम्रक्षण-गोचार-श्वभ्रपूरण-भ्रामरं तत्प्रकारान् ज्ञात्वा नित्यमेव भुंक्ते —यह द्वितीय गाथा (सं. 108) का अन्वय है।

(मोक्खमग्गरदो अणयारो जदि जहालाहं भुंजेदि) **मोक्षमार्गरतः रत्नत्रयाराधकः, अनगारः, मुनिः साधुर्वा यदि यथालाभं भुंक्ते, यत् किञ्चिदपि निरवद्यं लभते, तदेव भुंक्ते, निर्दोषभिक्षाचर्यया आगमोक्तयैव लब्धमाहारं गृह्णाति, नान्यथा। किञ्च, नवधाभक्तिपूर्वकं दत्तमेवाहारं गृह्णाति, नान्यथा। न च दैन्यं भक्तपानलोलुपतां वा स प्रकटयति, परीषहजयसामर्थ्यात्।**

अत्रेदमवधेयम्— सामान्यतो मोक्षमार्गस्थोऽनगारः परीषहजयी भवति। आहारप्रसङ्गे तस्य परीषहजयत्रयस्य चर्चा महत्त्वपूर्णा वर्तते। यथा स मुनिः अनशनादितपश्चर्यानिरतः क्षुत्परीषहजयं करोति। प्राणात्ययेऽपि दैन्यवृत्त्या आहारादियाचनां न कदाचित् कुर्वन् याचनापरीषहजयी भवति। अन्तरायकर्मवशाद् भिक्षाया अलाभेऽपि असंक्लिष्टचित्तः सन्नतिसन्तोषं दधन् अलाभपरीषहजयी भवति। यदि पिपासापरिषहजयोऽपि परिगण्यते, तर्हि चत्वारः परिषहजयाः सम्भवन्ति। उक्तपरीषह-जयस्वरूपानुशीलनेन, मुनेराहारग्रहणस्य पृष्ठभूमिर्ज्ञातुं शक्यते।

(मोक्षमार्गरतः अनगारः यदि यथालाभं भुंक्ते) मोक्षमार्ग में रत (स्थित) यानी रत्नत्रय का आराधक, अनगार, मुनि या साधु यदि यथालाभ आहार ग्रहण करता है, (अर्थात्) जो कुछ भी निर्दोष मिल जाता है, तो वही आहार रूप में लेता है, आगमोक्त निर्दोष भिक्षाचर्या के अनुसार ही प्राप्त आहार का ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं। और, वह नवधा भक्ति पूर्वक दिया हुआ ही आहार ग्रहण करता है, अन्यथा नहीं। वह न तो दीनता और न ही भोजन-पानी की लोलुपता प्रकट करता है, क्योंकि वह परीषह -जय में समर्थ होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— सामान्यतः वह मोक्षमार्ग-स्थित अनगार (बाईस) परीषहों पर विजय प्राप्त करने वाला होता है। आहार के प्रसङ्ग में तीन परीषहों पर उसके द्वारा विजय प्राप्त करने की चर्चा महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ वह मुनि अनशन आदि तपश्चर्या में निरत होता हुआ क्षुधा परीषह पर विजय प्राप्त करता है। प्राण पर संकट आने पर भी वह दीनता के साथ आहार आदि की याचना कभी नहीं करता हुआ याचना-परीषह पर विजय प्राप्त करता है। अन्तराय कर्म के कारण यदि भिक्षा नहीं भी मिलती, तो भी अपने मन में संक्लेश (शोक आदि) नहीं लाते हुए अति सन्तोष धारण कर अलाभपरीषह पर विजय प्राप्त करता है। यदि पिपासा-परिषहजय को भी सम्मिलित किया जाय तो चार परीषह-जय हो जाते हैं। उक्त सभी परीषह-जयों के स्वरूप का अनुशीलन करें तो मुनि के आहार-ग्रहण की पृष्ठभूमि ज्ञात हो सकती है।

अतश्चतुर्णां परीषहजयानां स्वरूपं सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/९) **समवसृत्य प्रस्तूयते—**''क्षुदादयो वेदनाविशेषा द्वाविंशतिः। एतेषां सहनं मोक्षार्थिना कर्तव्यम्। तद्यथा— भिक्षोर्निरवद्याहारगवेषिणस्तदलाभे ईषल्लाभे च अनिवृत्तवेदनस्याकाले अदेशे च भिक्षां प्रति निवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरस्य बहुकृत्वः स्वकृतपरकृतानशनावमौदर्यस्य नीरसाहारस्य संतप्तभ्राष्ट्रपतित-जलबिन्दुकतिपयवत्सहसा परिशुष्कपानस्योदीर्णक्षुद्वेदनस्यापि सतो भिक्षालाभादलाभमधिकगुणं मन्यमानस्य क्षुद्बाधां प्रत्यचिन्तनं क्षुद्विजयः।''

''जलस्नानावगाहनपरिषेकपरित्यागिनः पतत्त्रिवदनियतासनावसथस्यातिलवणस्निग्धरूक्ष-विरुद्धाहारग्रैष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णां शरीरेन्द्रियोन्माथिनो पिपासां प्रत्यनाद्रियमाणप्रतीकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयतः पिपासासहनं प्रशस्यते।''

इसलिए चारों परीषह -जयों के स्वरूप को सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/9) के आधार पर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है— ''क्षुधादि (भूख आदि) वेदना-विशेष (रूप परीषह) बाईस हैं। इन्हें मोक्षार्थियों को सहन करना चाहिए। जैसे, जो भिक्षु निर्दोष आहार का शोध करता है और भिक्षा के नहीं मिलने पर या अल्प मात्रा में मिलने पर क्षुधा वेदना को नहीं प्राप्त होता, अकाल में या अदेश में जिसे भिक्षा लेने की इच्छा नहीं होती, आवश्यकों की हानि को जो थोड़ा भी सहन नहीं करता, जो स्वाध्याय और ध्यान भावना में तत्पर रहता है, जिसने बहुत बार स्वकृत और परकृत अनशन व अवमौदर्य तप किया है, जो नीरस आहार को लेता है, अत्यन्त गरम भांड में गिरी हुई जल की कतिपय बूँदों के समान जिसका गला सूख गया है और क्षुधा वेदना की उदीरणा होने पर भी जो भिक्षा लाभ की अपेक्षा उसके अलाभ को अधिक गुणकारी मानता है, (इस प्रकार) उस क्षुधाजन्य बाधा का चिन्तन नहीं करना 'क्षुधापरीषहजय' है।''

'जिसने जल से स्नान करने, उसमें अवगाहन करने और उससे सिंचन करने का त्याग कर दिया है, जिसका पक्षी के समान आसन और आवास नियत नहीं है, जो अतिखारे, अतिस्निग्ध और अतिरूक्ष प्रकृतिविरुद्ध आहार, ग्रीष्मकालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदि के कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियों को मथने वाली पिपासा का प्रतिकार करने में आदर भाव नहीं रखता और जो पिपासा रूपी अग्निशिखा को सन्तोषरूपी नूतन मिट्टी के घड़े में भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधिरूपी जल से शान्त कर रहा है, उसका 'पिपासाजय' प्रशंसा के योग्य है।''

"बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्सारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुख-वैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवद् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते। वायुवदसङ्गादनेकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसंभोजनस्य वाचंयमस्य तत्समितस्य वा सकृत्स्वतनु-दर्शनमात्रतन्त्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति संतुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः।"

भिक्षायाः तदीयशुद्ध्याश्च सामान्यस्वरूपं राजवार्तिकग्रन्थे (९/६/१६) **निरूपितम्—** "............दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारगवेषणप्रणिधाना आगमविहितनिरवद्याशनपरिप्राप्तप्राणयात्राफला। तत्प्रतिबद्धा हि चरणसम्पत् गुणसम्पदिव साधुजनसेवानिबन्धना। सा लाभालाभयोः सुरसविरसयोश्च समसन्तोषाद् भिक्षा इति भाष्यते।"

"जो बाह्य और आभ्यंतर तप के अनुष्ठान करने में तत्पर है, जिसने तप की भावना के कारण अपने शरीर को सुखा डाला है, जिसका तीक्ष्ण सूर्य के ताप के कारण सार व छाया रहित वृक्ष के समान त्वचा, अस्थि और शिराजालमात्र से युक्त मात्र शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणों का वियोग होने पर भी आहार, वसति और दवाई आदि की दीन शब्द कहकर, मुख की विवर्णता दिखाकर संज्ञा आदि के द्वारा याचना नहीं करता तथा भिक्षा के समय भी जिसकी मूर्ति बिजली की चमक के समान दुरुपलक्ष्य रहती है, ऐसे साधु के 'याचना परीषहजय' जानना चाहिए। वायु के समान निःसंग होने से जो अनेक देशों में विचरण करता है, जिसने दिन में एक काल के भोजन को स्वीकार किया है, जो मौन रहता है या भाषा समिति का पालन करता है, एक बार अपने शरीर को दिखलाना मात्र जिसका सिद्धान्त है, पाणिपुट ही जिसका पात्र है, बहुत दिन तक या बहुत घरों में भिक्षा के नहीं प्राप्त होने पर भी जिसका चित्त संक्लेश से रहित है, दाता-विशेष की परीक्षा करने में जो निरुत्सुक है तथा 'लाभ से भी अलाभ मेरे लिए परम तप है' —इस प्रकार सोचकर जो सन्तुष्ट है, उसके अलाभ परीषहजय जानना चाहिए।"

भिक्षा और उसकी शुद्धि का सामान्य स्वरूप राजवार्तिक ग्रन्थ (9/6/16) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है— "दीनवृत्ति से रहित, प्रासुक आहार ढूँढना ही जिसका मुख्य लक्ष्य है, तथा आगम विधि से प्राप्त निर्दोष भोजन से ही जिसमें प्राण यात्रा चलाई जाती है, वह 'भिक्षा शुद्धि' है। जैसे साधुजनों की सेवा से गुण सम्पत्ति मिलती है, उसी तरह भिक्षा शुद्धि से चारित्र-सम्पत्ति। यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरस में समान सन्तोष होने से 'भिक्षा' कही जाती है।"

मुनेर्भिक्षा कथं किंच वैशिष्ट्यं वहतीति विषये मूलाचारग्रन्थे (गाथा-८१३, ८१८-८२२) **भणितम्—**

णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविवज्जियं मलविसुद्धं।
भुंजंति पाणिपत्ते परेण दत्तं परघरम्मि।।

लद्धेण होंति तुट्ठा ण वि य अलद्धेण दुम्मणा होंति।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला होंति।।

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता।।

देहि त्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं।
अवि णीदि अलाभेणं ण य मोणं भंजदे धीरा।।

मुनि की भिक्षा में क्या और किस प्रकार वैशिष्ट्य होता है —इस विषय में मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-813, 818-822) में इस प्रकार बताया गया है—

''मन, वचन, काय से गुणित कृत, कारित, अनुमोदना रूप नव कोटि से शुद्ध, दश दोष से रहित, चौदह मलदोष से विशुद्ध, परगृह में पर के द्वारा दिये गये आहार को पाणिपात्र में ग्रहण करते हैं।''

''आहार आदि को प्राप्त हो जाने पर वे सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अर्थात् जिह्वेन्द्रिय के वश में होकर 'आज मुझे आहार मिल गया' इस प्रकार से अपने मन में हर्षित नहीं होते हैं, और आहार के नहीं मिलने पर खेद-खिन्न भी नहीं होते हैं (अर्थात् 'मुझे आज आहार आदि नहीं मिला' ऐसा दीनमन नहीं करते हैं), दुःख के आ जाने पर अथवा सुख के उत्पन्न होने पर वे आकुलचित्त न होते हुए समभाव धारण करते हैं।''

''भोजन के लिए किसी की स्तुति नहीं करते हैं और कुछ भी याचना नहीं करते हैं। वे मुनि बिना बोले मौनव्रत पूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।''

''दे दो —इस प्रकार से दीनता से कलुषित वचन नहीं बोलना चाहते हैं, आहार के न मिलने पर वापस आ जाते हैं, किन्तु वे धीर मौन का भंग नहीं करते हैं।''

पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते कराबेंति।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण।।

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं लिज्जं पेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु।।

एवं परीषहजयी साधुः निर्दोषभिक्षाचर्यामनुचरन्, कदाचिदाहारं यदि गृह्णाति, तत्रापि विशेषहेतवो भवन्ति। तेषां निरूपणं शास्त्रकारा अत्र गाथायां चिकीर्षन्ति— (णाणसंजमणिमित्तं) **सम्यग्ज्ञानाराधना, संयमानुष्ठानमित्येतयोः सुकरत्वं स्यादिति भावनैव तत्र निमित्तभूता भवति। तावन्मात्रमेव आहारं स गृह्णाति, यावन्मात्रे गृहीते तस्य ज्ञानाराधनं संयमानुष्ठानं च सुकरे भवेताम् तथा केवलं शरीरपोषणं न तत्र निमित्तम्, अपितु संयमज्ञानादिपोषणमेव निमित्तमित्याशयः।**

समर्थितं चैतत् मूलाचारग्रन्थे (गाथा-४७९, ४८१, ८१२)—

''वे भोजन पकाना या पकवाना भी नहीं करते हैं और न कराते हैं, वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त हो चुके हैं, भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं।''

''अशन अथवा पान, खाद्य या भोज्य, लेह्य या पेय —इन पदार्थों को देखकर, शोधकर, करपात्र में शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं।।''

इस प्रकार परीषह-जयी साधु निर्दोष भिक्षाचर्या करते हुए कभी यदि आहार लेता भी है तो वहाँ विशेष हेतु होते हैं। उन हेतुओं का निरूपण शास्त्रकार यहाँ इस गाथा में करना चाहते हैं— **(ज्ञानसंयमनिमित्तम्)** सम्यग्ज्ञान की आराधना, संयमानुष्ठान —इन दोनों की सुकरता हो (ये दोनों सरलता से किये जा सकें) यह भावना ही वहाँ निमित्त होती है। वह उतनी ही मात्रा में आहार लेता है, जितना लेने से उसके ज्ञानाराधना व संयमानुष्ठान सरलता से सम्पन्न हो सकें, तथा वहाँ शरीरपोषण मात्र निमित्त नहीं होता, अपितु संयम व ज्ञान आदि को पुष्ट करना ही निमित्त होता है —यह आशय है।

इसका समर्थन मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-479, 481 व 812) में इस प्रकार प्राप्त होता है—

वेयणवेज्जावच्चे किरियाठाणे य संजमट्ठाए।
तध पाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं।।

ण बलाउसाउअट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो।।

छट्ठट्ठमभत्तेहिं पारेंति य परघरम्मि भिक्खाए।
जमणट्ठं भुंजति य ण वि य पयामं रसट्ठाए।।

आहारग्रहणं ज्ञानध्यानसंयमादिवृद्धिहेतोः भवति, तर्हि साधोः कीदृशो मनोभावो भवतीति शास्त्रकारा द्वितीयगाथायां प्रतिपादयितुकामा भिक्षायाः पञ्च प्रकारान् निर्दिशन्ति— (भिक्खू तप्पयारे णाऊण णिच्चेवं भुंजदे) **भिक्षुः, तत्प्रकारान् ज्ञात्वा, भिक्षाया वक्ष्यमाणप्रकारान् सम्यग् विज्ञाय, नित्यमेव भुंक्ते आहारं गृह्णाति। मम भिक्षा तु एतत्प्रकारा —इत्येवं मनसि मन्वानो भुंक्ते —इत्याशयः।**

''वेदना शमन हेतु, वैयावृत्ति के लिए, क्रियाओं के लिए, संयम के लिए, तथा प्राणों की चिन्ता और धर्म की चिन्ता के लिए, इन कारणों से आहार करे।

''न बल के लिए, न आयु के लिए और न स्वाद के लिए, न शरीर की पुष्टि के लिए और न तेज के लिए आहार ग्रहण करे। किन्तु ज्ञान के लिए, संयम के लिए और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करे।''

''बेला, तेला आदि करके परगृह में भिक्षावृत्ति से पारणा करते हैं, संयम के लिए भोजन करते हैं, किन्तु प्रचुर रस के लिए नहीं।''

ज्ञान, ध्यान व संयम आदि की वृद्धि के लिए आहार ग्रहण किया जाता है, तब साधु का कैसा मनोभाव होता है, इसे शास्त्रकार दूसरी गाथा में बताना चाहते हुए भिक्षा के पाँच प्रकारों का निर्देश कर रहे हैं— **(भिक्षुः तत्प्रकारान् ज्ञात्वा नित्यमेव भुंक्ते)** भिक्षु उसके प्रकारों को जानकर, अर्थात् भिक्षा के कहे जाने वाले प्रकारों को सम्यक् रूप से जानकर नित्य ही भोजन या आहार ग्रहण करता है। 'मेरी भिक्षा इस तरह की हो' —इस प्रकार मन में मानता-समझता हुआ वह आहार ग्रहण करता है —यह आशय है।

के च भिक्षाप्रकाराः? तस्याः पञ्च प्रकारा उच्यन्ते— (उदरग्गिसमनमक्खमक्खणगोया-रसब्भपूरणभमरं) **उदराग्निशमनम्, अक्षम्रक्षणम्, गोचारः** (गोचर्या), **श्वभ्रपूरणम्, भ्रमरम्** (भ्रामरी वृत्तिः) **इति पञ्च प्रकारा भिक्षाया ग्रहीतृमनोभावाधृताः भवन्ति।**

एतेषां प्रकाराणां स्पष्टीकरणं राजवार्तिकग्रन्थे (९/६/१६) **च विहितम्—** ''यथा सलीलसालङ्कारवरयुवतिभिरुपनीयमानघासो गौर्न तदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपरः तृणमेवात्ति, यथा वा तृणोलूपं नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासंपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेषकजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुकः शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाणः यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च।''

तात्पर्यमिदं यद् यथा गौः स्वाहारद्रव्यमेव पश्यति, तथा श्रमणा अपि दातर्णिां शृङ्गारादिविलोकनहीनः केवलं शुद्धं प्रासुकाहारमेव पश्यति।

वे भिक्षा के प्रकार कौनसे हैं? उसके पाँच प्रकार कह रहे हैं— **(उदरशमनम्, अक्षम्रक्षणम्, गोचारः, श्वभ्रपूरणम्, भ्रामरम्)** पेट की अग्नि का शमन, गाड़ी की धुरी में ओंगन (तेल से चिकना करना), गौ की तरह चारा चरना (गोचर्या, गोचरी), उदर के गड्ढे को भरना और भ्रामर (भ्रमर की तरह आचरण) —ये भिक्षा के पाँच प्रकार हैं जो आहार-ग्रहण करने वाले के मनोभावों पर आधारित हैं।

इन प्रकारों का स्पष्टीकरण राजवार्तिक ग्रन्थ (9/6/16) में इस प्रकार किया गया है— ''जैसे गाय गहनों से सजी हुई सुन्दर युवती के द्वारा लाई गई घास को खाते समय घास को ही देखती है, लाने वाली के अंग-सौन्दर्य आदि को नहीं, अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होने वाले चारे के पूरे को ही खाती है, उसकी सजावट आदि को नहीं देखती, उसी तरह भिक्षु भी आहारदाता के मृदुललित रूप, वेष और विलास आदि के देखने की उत्सुकता नहीं रखते और आहार सूखा है या गीला, या कैसे चाँदी आदि के बर्तनों में रखा है या कैसी अन्य बर्तनों में उसकी योजना की गई है, आदि की ओर उनकी दृष्टि नहीं रहती है, वे तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है, वैसा ग्रहण करते हैं। अतः भिक्षा को गौ की तरह चार-'गोचार' या 'गवेषणा' कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे गाय केवल आहार ही देखती है, उसी प्रकार श्रमणजन भी दाता के शृंगार आदि नहीं, किन्तु शुद्ध प्रासुक आहार ही देखते हैं।

अन्यच्च, तत्रैव (राजवार्तिक-९/६/१६) **प्रोक्तम्—** ''यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनेचित् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभिलषित-देशान्तरं वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनुशकटी-मनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्षम्रक्षणमिति च नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्निं प्रशमयतीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।''

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-८१७) **च अक्षम्रक्षणप्रकारो निर्दिष्टः—**

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं।।

और भी, वहीं (राजवार्तिक-9/6/16) यह भी कहा गया है— ''जैसे कोई वणिक् रत्न आदि से लदी हुई गाड़ी में किसी भी तेल का लेपन करके— ओंगन देकर, उसे अपने इष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी तरह मुनि भी गुणरत्न से भरी हुई शरीर रूपी गाड़ी को निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधि नगर तक पहुँचा देता है, अतः इसे 'अक्षम्रक्षण' कहते हैं। जैसे भण्डार में आग लग जाने पर शुचि या अशुचि कैसे भी पानी से उसे बुझा दिया जाता है उसी तरह यति भी उदराग्नि का प्रशमन करता है अतः इसे 'उदराग्निप्रशमन' कहते हैं। दाताओं को किसी भी प्रकार की बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलता से भ्रमर की तरह आहार ले लेते हैं, अतः इसे भ्रमराहार या 'भ्रामरी वृत्ति' कहते हैं। जिस किसी भी प्रकार से खाली जगह (गड्ढे) को भरने की तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्न के द्वारा पेट रूपी गड्ढे को भर देता है, अतः इसे 'स्वभ्रपूरण' भी कहते हैं।''

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-817) में भी 'अक्षम्रक्षण' प्रकार का निर्देश इस प्रकार प्राप्त होता है—

''(गाड़ी के) धुरे में ओंगन (तेल) देने मात्र के समान, प्राणों के धारण हेतु आहार लेते हैं और प्राणों को धर्म के लिए धारण करते हैं और धर्म का आचरण भी मोक्ष के लिए करते हैं।''

एतेषु भिक्षायाः पञ्चसु प्रकारेषु भिक्षोराहारग्रहणे मानसिकस्थितिः कीदृशी भवतीति समन्तर्हितं वर्तते। प्रत्येकः प्रकारः साधोः रसगृद्धिराहित्येन संयमादिनिमित्तकप्राणधारण-मात्रवृत्तिमभिव्यनक्ति।

एवं हे भव्य! आहारग्रहणोद्देश्यादिकं सम्यक् विज्ञाय आहारग्रहणे आगमोक्तसमस्तदोषाणां परिवर्जनं तथा रसादिगृद्धेश्च त्यागो विधेयः —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

मुनेराहारग्रहणं धर्माराधनप्रयोजनसिद्ध्यै एव भवति —इति गाथाद्वयेन शास्त्रकाराः क्रमशः उग्गाहाछन्दसा गाहिणी-(गाहा)**-छन्दसा च निरूपयन्ति—**

रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं ।
दुग्गंधमसुइचम्ममयमणिच्चमचेदणं पडणं।।१०९।।

बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं भिण्णमप्पणो देहं।
तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसदे भिक्खू।।११०।।

छाया— रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिशुक्रमलमूत्रपूयकृमिबहुलम्।
दुर्गन्धिम्, अशुचिचर्ममयम्, अनित्यम्, अचेतनं पतनम्।।

भिक्षा के इन पाँचों प्रकारों में यह बात अन्तनिर्हित (छिपी) है कि भिक्षु की आहार-ग्रहण में मानसिक स्थिति कैसी होती है। प्रत्येक प्रकार यह अभिव्यक्ति दे रहा है कि साधु आहार लेते समय रस-लोलुपता रहित होकर संयमादि में निमित्त होने वाले प्राणधारण करने मात्र की दृष्टि रखता है।

इस प्रकार, हे भव्य! आहार-ग्रहण के उद्देश्य आदि को अच्छी तरह समझकर, आहार-ग्रहण में आगमोक्त समस्त दोषों का तथा रस आदि की गृद्धि का भी त्याग करना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

मुनि द्वारा धर्माराधना रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही आहार-ग्रहण किया जाता है— इसे क्रम से उग्गाहा छन्द व गाहिणी (गाहा) छन्द के माध्यम से दो गाथाओं द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— इस शरीर में रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, शुक्र, मल, मूत्र, पीव व कृमि की बहुलता है, वह दुर्गन्धित, अपवित्र, चर्ममय है, अनित्य है, अचेतन व पतनशील भी है।।109।।

बहुदुःखभाजनं कर्मकारणं भिन्नमात्मनो देहम्।
तद् देहं धर्मानुष्ठानकारणं चेति पोषति भिक्षुः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (तं देहं धम्माणुट्ठाणकारणं चेदि पोसदे भिक्खू) **भिक्षुः देहं धर्मानुष्ठानकारणमिति विज्ञाय पुष्णाति। मम धर्मानुष्ठाने देह एव साधनम्, तच्च धर्मानुष्ठानं देहमाध्यमेन सुकरं स्यात् —इति दृष्ट्या देहपोषणार्थमाहारं भिक्षुर्गृह्णाति —इत्याशयः।**

मनुष्यदेहस्य धर्मानुष्ठाने साधनता हरिवंशपुराणे (१८/१४३, १४६) **प्रतिपादिता—**

धर्मसाधनमाद्यं हि, शरीरमिह देहिनाम्।
तस्य धारणमाधेयं, यथाशक्ति च शासने।।

यन्नोपयुज्यते यस्य धनं वा वपुरेव वा।
स्वशासनजने तेन तस्य किं बन्धहेतुना।।

वह अनेक दुःखों का पात्र है, कर्मों (कर्मबन्धन) का कारण है, और वह आत्मा से भिन्न (पृथक्) है। चूँकि वह शरीर भी धर्म-सेवन का कारण (बन सकता) है, (मात्र) इसलिए भिक्षु उसका पोषण (आहारादि द्वारा) करता है।।110।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(तं देहं धर्मानुष्ठानकारणं चेति पोषति भिक्षुः)** भिक्षु देह को धर्मानुष्ठान में कारण है —यह जानकर उसका पोषण करता है। मेरे धर्मानुष्ठान में देह ही साधन है, वह धर्मानुष्ठान देह के माध्यम से सुकर हो —इस दृष्टि से देह-पोषण हेतु भिक्षु आहार ग्रहण करता है —यह आशय है।

मनुष्य-देह धर्मानुष्ठान में साधन है —इसे हरिवंशपुराण (18/143 व 146) में इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

"इस संसार में शरीर ही प्राणियों का सबसे पहला धर्म का साधन है, इसलिए यथाशक्ति उसकी रक्षा करनी चाहिए। यह आगम का विधान है।"

"जिसका धन या शरीर अपने सहधर्मी जनों के उपयोग में नहीं आता, उसका वह धन या शरीर किस काम का? वह तो केवल कर्मबन्ध का ही कारण है।"

स देहः कीदृशः ? उच्यते— (देहं भिण्णमप्पणो) **आत्मनो भिन्नं पृथग्भूतं द्रव्यान्तररूप-मित्यर्थः। द्रव्यरूपेण आत्मना एकत्वं साम्यं वा वहन्नपि देहो जीवात्मनः भिन्न एव, अजीवरूपत्वात्। भिन्नयोरुभयोरपि दुग्धजलयोरेकक्षेत्रावगाहित्वात् व्यवहारे एकत्वमनुभूयते, परमार्थतस्तु तयोः परस्परभिन्नतैव। उक्तं च समयसारग्रन्थे** (गाथा-२७, ५७)—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो।।

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा।।

पञ्चास्तिकायग्रन्थे (गाथा-३३) **च तयोः सम्बन्धः प्रकारान्तरेण निर्दिष्टः—**

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमत्तं पभासयदि।।

वह देह कैसा होता है? बता रहे हैं— **(देहं भिन्नमात्मनः)** आत्मा से वह भिन्न, पृथक् एक अन्य द्रव्य है —यह अर्थ है। द्रव्य रूप में आत्मा से एकता या साम्य रखते हुए भी देह जीवात्मा से भिन्न ही है, क्योंकि वह (देह) अजीव रूप है। वे दोनों यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, तथापि दुग्ध व जल की तरह एकक्षेत्रावगाही होने से उनमें व्यवहार में एकत्व की अनुभूति होती है, परमार्थ रूप से तो उनमें परस्पर भिन्नता ही है। समयसार ग्रन्थ (गाथा 27 व 57) में कहा भी गया है—

''व्यवहारनय कहता है कि जीव व शरीर एक हैं, परन्तु निश्चयनय का कहना है कि जीव व शरीर कभी एक पदार्थ नहीं हो सकते हैं।''

''इन (वर्ण आदि) के साथ जीव का सम्बन्ध दूध व पानी के समान जानना चाहिए। वास्तव में वे उस जीव के नहीं होते, क्योंकि जीव 'उपयोग' गुण से अधिक है।''

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-33) में इन दोनों के सम्बन्ध को अन्य प्रकार से बताया गया है—

''जिस प्रकार दूध में पड़ा हुआ पद्मराग मणि अपनी प्रभा से समस्त दूध को व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार शरीर में स्थित आत्मा समस्त शरीर को व्याप्त कर लेता है।''

किञ्च, सम्यग्दृष्टिः अन्तरात्मा तयोर्भेदं जानाति, बहिरात्मा संसारदुःखमूलं तदेकत्वमध्यवस्यति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५७, ७७, ७, १५)—

पश्येन्निरन्तरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।
अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे व्यवस्थितः।।

आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः।
मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रान्तरग्रहम्।।

बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः आत्मज्ञानपराङ्मुखः।
स्फुरितश्चात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति।।

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः।।

और, सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा इन दोनों के भेद को जानता है, किन्तु बहिरात्मा जीव इनमें एकता का अध्यवसाय (प्रतीति) करता है, जो उसके सांसारिक दुःख का मूल कारण है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-57, 77, 7 व 15) में कहा गया है—

"अन्तरात्मा अपने आत्मा-स्वरूप में व्यवस्थित होकर अपने शरीर को (यह मेरा आत्मा नहीं है —ऐसी) अनात्म-बुद्धि से देखता है। इसी प्रकार दूसरे जीवों के शरीर को भी देखता है।"

"आत्मा में ही आत्म-बुद्धि रखने वाला (अन्तरात्मा) शरीर की विविध अवस्थाओं को आत्मा से भिन्न मानता है। मृत्यु के अवसर पर वह अत्यन्त निर्भय होकर शरीर को इसी प्रकार छोड़ता है, जैसे एक वस्त्र उतारकर दूसरा वस्त्र धारण करने जा रहा हो।"

"बहिरात्मा (जीव) इन्द्रिय रूप द्वारों से बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने आदि में लगा रहता है। वह आत्मज्ञान से पराङ्मुख होता है और अपने शरीर में ही आत्मत्व का अध्यवसाय करता रहता है।"

"शरीर में आत्म-बुद्धि रखना ही संसार-दुःख का मूल कारण है, अतः इसे छोड़कर अपने भीतर की ओर देखना चाहिए और यह तो तभी हो सकता है, जब बाह्य विषयों में इन्द्रियों का रमना बन्द हो जाए।"

उक्तं च पञ्चास्तिकाये (गाथा-३४)—

सव्वत्थ अत्थि जीवो ण य एक्को एक्ककायएक्कट्ठो।
अज्झवसाणविसिट्ठो चिट्ठदि मलिणो रजमलेहिं।।

तथा च, (बहुदुक्खभायणं कम्मकारणं) **अयं देहः, बहुदुःखभाजनं कर्मकारणमपि अस्ति, स्वयं देहः कर्मबन्धरूपः, तेन देहेन च इन्द्रियद्वारैः विषयेषु सम्पृक्तस्य रागो मोहो द्वेषो वा भवति, ततश्च कर्मबन्धः, एवं देहः कर्मकारणम्। यद्वा शुभाशुभकर्मणां साधनभूतत्वादयं देहः कर्मकारणम्। कर्मजनितः संसारः, जन्म-मरणरोगादिबहुले संसारे दुःखमेव, एवं बहुदुःखपात्रमपि देहः। उक्तं च** 'बारस अणुवेक्खा' **ग्रन्थे** (गाथा-२४, ३७)—

पंचविहे संसारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं।।

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-34) में भी कहा गया है—

''यह जीव समस्त (त्रिकालवर्ती) पर्यायों में विद्यमान रहता है। यद्यपि यह जीव एक शरीर में (क्षीर-नीर की तरह) मिलकर रहता है, तथापि शरीर से एकरूप नहीं होता। वह जीव (रागादि) अध्यवसानों से युक्त होने के कारण (द्रव्य कर्मरूपी) रज-मल से मलिन होकर रहता है।''

और, **(बहुदुःखभाजनं कर्मकारणम्)** यह देह बहुत से दुःखों का पात्र है और कर्मबन्ध का कारण भी है, देह स्वयं तो कर्म-बन्ध रूप तो है ही, उस देह से या इन्द्रिय-द्वारों से विषयों में सम्पृक्त होने वाले व्यक्ति को राग, मोह या द्वेष होते हैं, उससे कर्मबन्ध होता है, इस तरह देह कर्म बन्ध का कारण है। अथवा शुभ या अशुभ (कोई भी कर्म करना हो तो उस) कर्म का यह देह साधन है, इसलिए वह कर्मकारण है। यह संसार कर्मजनित है, उसमें जन्म, मरण, रोग आदि की बहुलता होने से वह दुःखरूप ही है, इस प्रकार यह देह बहुत से दुःखों का पात्र (आश्रय) भी है। 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-24 व 37) में कहा भी गया है—

''जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत मार्ग का निरीक्षण न करता हुआ (उसे प्रीति या श्रद्धान में न लाता हुआ) चिरकाल से जन्म, जरा, रोग व भय से परिपूर्ण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव —इन पाँच प्रकार के संसार में परिभ्रमण करता रहता है।''

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकंतारे।।

एतादृशस्यापि पोषणं किमर्थम्? धर्मानुष्ठानकारणत्वात्। यद्यपि देहः अनात्मपदार्थः, कर्मबन्धादिकारणं च, तथापि धर्मानुष्ठानं मुक्तिमार्गाश्रयणं च देहमाध्यमेनैव भवति, कर्मबन्धनकारणं सदपि विवेकबलेन कर्ममोक्षस्यापि कारणं सम्भवतीतिदृष्ट्या मुनिराहारं स्वदेहपोषणाय गृह्णाति —इति भावः। धर्मानुष्ठाननिमित्ताभावे विषयसेवनाय तच्छरीरपोषणं तु सर्वेषां कृते निन्दनीयमेव।

उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-१९६)—

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद् वाञ्छन्ति जीवितुम्।।

इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-१९) **च निर्दिष्टम्—**

''कर्मों के निमित्त से यह जीव संसार रूपी भयानक वन में भ्रमण करता (भटकता) रहता है।''

ऐसे देह का भी पोषण किसलिए किया जाता है? (उत्तर—) चूँकि वह धर्मानुष्ठान में कारण होता है। यद्यपि देह 'अनात्म' (आत्मा से पूर्णतः पृथक्) पदार्थ है और कर्मबन्ध आदि का कारण भी है, फिर भी धर्म का अनुष्ठान या मुक्तिमार्ग का आश्रयण देह के माध्यम से ही सम्भव होता है, (अतः) कर्मबन्धन का कारण होते हुए भी विवेकबल से कर्म-मोक्ष का कारण भी हो सकता है —इस दृष्टि से मुनि अपने देह की पुष्टि के लिए आहार का ग्रहण करता है — यह भाव है। धर्मानुष्ठान में यह देह निमित्त न होता हो और तब विषयसेवन के लिए उस शरीर का पोषण करना सभी के लिए निन्दायोग्य है।

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-196) में कहा भी गया है—

''जो शरीर का पोषण करते हैं और विषयों का सेवन भी करते हैं, उनका यह कार्य (अनहोनी करने जैसा) दुष्कर है और वे (मानो) विष से जीवन पाना चाहते हैं।''

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-19) में भी निर्देश किया गया है—

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्।।

प्रथमगाथायामत्र (गाथा-१०९) **देहस्य अनित्यता, अशुचित्वादिदृष्ट्या हेयता च प्रतिपाद्यते—** (रसरुहिरमंसमेदट्ठिसुकिलमलमुत्तपूयकिमिबहुलं), **रस-रुधिर-मांस-मेद-अस्थि-शुक्र-मल-मूत्रबहुलो देहः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— आहारानन्तरं प्रथमं रसधातुरुत्पद्यते। रसश्च कालक्रमेण (सामान्यतः त्रिचतुर्दिवसेषु) **रुधिररूपेण उत्पद्यते। एवमेव कालक्रमेण रुधिरस्यापि मांसरूपेण उत्पत्तिर्जायते। मांसाच्च मेदोत्पत्तिः, मेदाच्च अस्थिरूपेणोत्पत्तिः भवति, अस्थिधातोरपि कालमर्यादा-मनुसृत्य मज्जारूपेण परिणतिः, मज्जाधातोरपि शुक्ररूपेण परिणतिः जायते, स्त्रीषु तु मज्जाधातोः रजोधातुरुत्पद्यते। एवं पूर्वोक्तरसादिसप्तधातुनिर्माणं** (सामान्यतः एकोनत्रिंशद्दिनेषु) **जायते। तथा देहे मूत्रम्, पूयम्, कृमयः— एषां बहुलता अधिकता वर्तते। मूत्रशब्देन उच्चारस्य** (विष्ठायाः) **अपि ग्रहणं विधीयते।**

''जो तप आदि जीव का उपकारक है, वह देह का अपकारक (अहितकारी) है और जो (परिग्रहादि) देह का उपकारक है, वह जीव का अपकारक है।''

प्रथम गाथा (सं. 109) में देह की अनित्यता का और अशुचिता आदि की दृष्टि से हेयता का प्रतिपादन किया गया है— **(रस-रुधिर -मांस -मेदास्थिशुक्र-मल-मूत्र-पूय-कृमिबहुलं)** (यह) देह रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, शुक्र, तथा मल-मूत्र, पूय (पीव) व कृमियों से भरा हुआ है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— आहार के बाद पहले रस धातु की उत्पत्ति होती है। रस भी कालक्रम से (सामान्यतः तीन-चार दिनों में) रुधिर रूप में उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह कालक्रम से रुधिर की भी मांस रूप से परिणति होती है। मांस से मेदा की उत्पत्ति, मेदा से भी अस्थि (हड्डी) की उत्पत्ति होती है। अस्थि धातु भी काल, मर्यादा का अनुसरण कर मज्जा रूप से परिणत होती है। मज्जा धातु भी शुक्र रूप में परिणत होती है, स्त्रियों में मज्जा धातु से रज धातु उत्पन्न होती है। इस प्रकार पूर्वोक्त रस आदि सात धातुओं का निर्माण (सामान्यतया उन्तीस दिनों में) हो जाता है। तथा देह में मूत्र, पूय (पीव) व कृमि —इनकी बहुलता यानी अधिकता रहती है। मूत्र शब्द से उच्चार (विष्ठा) का भी ग्रहण यहाँ किया गया है।

कृमिशब्देन च सम्मूर्च्छिमादिजीवानां ग्रहणं विधेयम्, तथा (चम्ममयं) **चर्ममयं चर्म्मणा आस्तृतं शरीरमिदं वर्तते। तथा** (दुग्गंधं असुचि) **दुर्गन्धयुक्तं तथा मूत्रादि भाजनत्वाद् अपवित्रं जुगुप्सितं वेदं शरीरमस्ति। शरीरस्याशुचिताविषये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा-८३) **भणितम्—**

सयलकुहियाण पिंडं किमिकुलकलियं अउव्वदुग्गंधं।
मलमुत्ताण य गेहं देहं जाणेहि असुइमयं।।

क्षत्रचूडामणिग्रन्थे (११/५०-५१) **च समर्थितमेतत्—**

मेध्यानामपि वस्तूनां यत्सम्पर्कादमेध्यता।
तद्गात्रमशुचीत्येतत् किं नात्ममलसम्भवम्।।

अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि सामर्थ्यात् कर्मशिल्पिनः।
रम्यमूहे किमन्यत् स्यात् मलमांसास्थिमज्जतः।।

कृमि शब्द से सम्मूर्च्छिम आदि जीवों का भी ग्रहण करना चाहिए। और (चर्ममयं) चमड़े से ढका हुआ यह शरीर होता है। तथा **(दुर्गन्धम्, अशुचिम्)** दुर्गन्ध से युक्त तथा मूत्र आदि का स्थान होने से अपवित्र या घृणायोग्य यह शरीर होता है। शरीर की अशुचिपने के विषय में स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-83) में भी इस प्रकार कहा गया है—

''यह शरीर अपवित्र द्रव्यों से बना हुआ है। यह समस्त बुरी वस्तुओं का समूह है। इसे कृमियों से युक्त, अत्यन्त दुर्गन्धमय तथा मल-मूत्र का घर ही समझें।''

क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ (श्लोक-11/50-51) में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है—

''जिसके सम्पर्क से पवित्र वस्तुएँ भी अपवित्र हो जाती हैं। ऐसा अपने ही मल के कारण क्या यह शरीर अपवित्र नहीं है?''

''कर्मरूपी कारीगर के सामर्थ्य से जब तक शरीर स्पष्ट रूप से नहीं देखा जाता, तभी तक मनोहर मालूम होता है। विचार करने पर तो मल, मांस, हड्डी और मज्जा के अतिरिक्त यह है ही क्या?''

एवमेव मूलाचारग्रन्थे (गाथा ८४६-८५१) **च शरीरस्याशुचिता विस्तरेण प्रतिपादिता। ज्ञानार्णवग्रन्थे** (२/१०६-११८) **च निरूपितम्—**

निसर्गमलिनं निन्द्यमनेकाशुचिसंभृतम्।
शुक्रादिबीजसंभूतं घृणास्पदमिदं वपुः।।

असृग्मांसवसापूर्णं शीर्णकीकसपञ्जरम्।
शिरानद्धं च दुर्गन्धं क्व शरीरं प्रशस्यते।।

प्रस्रवन्नवभिर्द्वारैः पूतिगन्धान्निरन्तरम्।
क्षणक्षयि पराधीनं शश्वन्नरकलेवरम्।।

कृमिजालशताकीर्णे रोगप्रचयपीडिते।
जराजर्जरिते काये कीदृशी महतां रतिः।।

इसी तरह, मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 846-851) में भी शरीर की अशुचिता का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (2/106-118) में भी निरूपण किया गया है—

''यह शरीर स्वभाव से मलिन (मल-मूत्रादि घृणित द्रव्यों से परिपूर्ण), निन्दनीय, अनेक अपवित्र (रस-रुधिर आदि) वस्तुओं से परिपूर्ण तथा (रज व वीर्य आदिरूप) बीज से उत्पन्न हुआ है। इसीलिए वह घृणा का स्थान है।''

''जो शरीर रुधिर, मांस और चर्बी से व्याप्त है, जीर्ण हड्डियों का ढांचा है, नसों से बँधा हुआ है, तथा निरन्तर दुर्गन्ध को फैलाता है, उस शरीर की प्रशंसा कहाँ पर की जा सकती है? (नहीं की जा सकती है)।''

''यह मनुष्य का शरीर नौ द्वारों (1. जननेन्द्रिय, 2. गुदा, 3-4 दो कान, 5-6 दो आँखें, 7-8 दो नासिका के छिद्र और 9 मुख) से निरन्तर दुर्गन्धयुक्त मलों को बहाने वाला, क्षण में विनाश स्वभाव वाला (नश्वर) और पराधीन है (भोजन व पानी आदि के अधीन है)।''

''सैकड़ों क्षुद्र कीड़ों के समूहों से व्याप्त, प्रचुर रोगों से पीड़ित और जरा के द्वारा जीर्ण-शीर्ण किये जाने वाले इस शरीर में महापुरुषों को किस प्रकार से प्रीति हो सकती है? (नहीं हो सकती)।''

यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र साधुबुद्ध्या विचार्यते।
तत्तत्सर्वं घृणां दत्ते दुर्गन्धामेध्यमन्दिरे।।

यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं सागराम्बुभिः।
दूषयत्यपि तान्येव शोध्यमानमपि क्षणे।।

कलेवरमिदं न स्याद्यदि चर्मावगुण्ठितम्।
मक्षिकाकृमिकाकेभ्यः स्यात्त्रातुं कस्तदा प्रभुः।।

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम्।
सर्वदैव प्रतत्प्रायं देहिनां देहपञ्जरम्।।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतं पुण्यकर्मभिः।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम्।।

‘‘दुर्गन्ध एवं अपवित्र मल-मूत्रादि के स्थान स्वरूप — पुरीषालय के समान —इस शरीर में जो-जो वस्तुएँ हैं, उनके विषय में यदि विवेक बुद्धि से विचार किया जाये तो वे सभी घृणा को उत्पन्न करने वाली सिद्ध होती हैं।’’

‘‘यदि इस शरीर को दैववश समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाय तो वह शुद्ध करते समय ही क्षणभर में उस जल को भी मलिन कर देने वाला है।’’

‘‘यह शरीर यदि चमड़े से आच्छादित न होता तो मक्खी, लट और कौओं से भला उसकी रक्षा कौन कर सकता था।?’’

‘‘सदा ही रोगों से घिरा रहने वाला उस शरीर का ढाँचा सदा ही अपवित्र वस्तुओं से परिपूर्ण होता हुआ निरन्तर विनाश के सम्मुख रहता है।’’

‘‘जिन पुण्यशाली प्राणियों ने संसार से विरक्त होकर अपने प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए (निराकुल मोक्षसुख को प्राप्त करने के लिए) उस शरीर को संयम और तप के द्वारा कृश किया है, उन्होंने वास्तव में इस मनुष्य-शरीर के फल को प्राप्त किया है।’’

शरीरमेतदादाय त्वया दु:खं विषह्यते।
जन्मन्यस्मिन्नतस्तद्धि नि:शेषानर्थमन्दिरम्।।

भवोद्भवानि दु:खानि यानि यान्यत्र देहिभि:।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम्।।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम्।।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानां, कुथितकुणिपगन्धै: पूरितं मूढगाढम्।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं, कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम्।।

तथा (अणिच्चमचेतनं पडणं) **देहोऽयमनित्य:, विनश्वर:, चैतन्यरहित:, पतनशील: आयुष्यक्षयेऽवश्यं चैतन्यशून्यतया पतिष्णुश्च वर्तते।** 'बारस अणुवेक्खा' **ग्रन्थे** (गाथा-४४) **च प्रोक्तम्—**

"हे प्राणी! तू इस शरीर को ग्रहण करके ही इस संसार में दु:ख को सह रहा है। अतएव उसे ही तू समस्त अनर्थों का घर समझ।"

"प्राणी संसार में परिभ्रमण करते हुए उससे उत्पन्न जिन-जिन दु:खों को यहाँ सहते हैं, उन महान् दु:खों को वे केवल उस शरीर को ग्रहण करने के कारण ही सहा करते हैं।।"

"वह मनुष्यों का शरीर अपनी संगति से कपूर, केसर, अगुरु, कस्तूरी और हरिचन्दन आदि उत्तम वस्तुओं को भी मलिन किया करता है।"

"जो यह मनुष्यों का शरीर चमड़े के समूह से ढका हुआ, हड्डियों का ढाँचा, सड़े-गले मृत शरीर (मुर्दा) के समान दुर्गन्ध से अतिशय परिपूर्ण, यम के मुख में बैठा हुआ (नाशोन्मुख) और रोगरूप भयानक सर्पों का स्थान है, वह यहाँ मनुष्यों को प्रीति का कारण कैसे हो सकता है? (नहीं हो सकता)।"

और **(अनित्यमचेतनं पतनम्)** यह देह अनित्य यानी नश्वर है, चेतनारहित व पतनशील है, अर्थात् आयु के क्षय होने पर चैतन्यरहित होने से विनाशस्वभावी है। 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा 44) में कहा भी गया है—

दुग्गंधं बीभच्छं कलिमलभरिदं अचेयणं मुत्तं।
सडणपडणस्सहावं देहं इदि चिंतये णिच्चं।।

अस्य पतनशीलता अवश्यम्भाविन्येव। किम्बहुना, विशिष्टशक्तिधारिणामपि मृत्यौ देहत्यागो भवत्येव। उक्तं च क्षत्रचूडामणिग्रन्थे (श्लोक-११/३४)—

आयुधीयैरतिस्निग्धैः, बन्धुभिश्चाभिसंवृतः।
जन्तुः संरक्ष्यमाणोऽपि पश्यतामेव नश्यति।।

पद्मपुराणे (श्लोक-५/२७३) **च प्रोक्तम्—**

उद्धर्तुं धरिणीं शक्ताः, ग्रसितुं चन्द्रभास्करौ।
प्रविष्टास्तेऽपि कालेन कृतान्तवदनं नराः।।

यशस्तिलकग्रन्थे (श्लोक-२/११५) **वस्तुस्थितिर्निरूपिता—**

''यह शरीर दुर्गन्ध से भरा है, घृणित है, गन्दे मल से पूर्ण है, अचेतन व मूर्तिक है और सड़ने-गलने के स्वभाव से युक्त है —ऐसा सदा चिन्तन करते रहना चाहिए।''

इस शरीर की पतनशीलता अवश्यम्भावी है। अधिक क्या कहें, विशिष्ट शक्ति के धारकों को भी मृत्यु पर अपना देह छोड़ना होता है। क्षत्रचूड़ामणि ग्रन्थ (श्लोक-11/34) में कहा गया है—

''आयुधों का प्रयोग करने वाले वीरों तथा अत्यन्त प्रेमी बन्धुओं द्वारा अच्छी तरह रक्षा किया गया भी यह जीव लोगों के देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है।''

पद्मपुराण (श्लोक-5/273) में भी कहा गया है—

''जो पृथ्वी को उठा लेने में समर्थ थे तथा जो चन्द्रमा व सूरज को ग्रस लेने की सामर्थ्य रखते थे, वे भी समय पाकर मृत्यु के मुँह में प्रविष्ट हो गये।''

यशस्तिलक ग्रन्थ (श्लोक-2/115) में वस्तुस्थिति का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

कर्मार्पितं क्रमगतिः पुरुषः शरीरम्, एकं त्यजत्यपरमाभजते भवाब्धौ।
शैलूषयोषिदिव संसृतिरेनमेषा, नाना विडम्बयति चित्रकरैः प्रपञ्चैः।।

'बारस अणुवेक्खा'-ग्रन्थे (गाथा-६) **च निरूपितम्—**

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि।।

एषा गाथा (१०९) **किञ्चित्परिवर्तनेन सह 'बारस अणुवेक्खा'-ग्रन्थेऽपि** (४५ गाथा-संख्यारूपेण) **निर्दिष्टा वर्तते।**

एवं हे भव्य! देहस्य यथार्थस्वरूपं विज्ञाय धर्मानुष्ठानसाधनदृष्ट्यैव देहपोषणं विधेयम्, रत्नत्रयाराधनया च आत्मगुणसंवर्धनमाध्यमेन अनन्तचतुष्टयाविर्भावाय प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ संयमादिसिद्धिमात्रहेतोः तथा शुद्धात्मीयपरिणामेन आहारो मुनिना ग्राह्यो भवतीति गाहा-गाहूछन्दोद्वयेन शास्त्रकारा निरूपयन्ति—

"यह जीव कर्मों द्वारा प्रदत्त एक शरीर को छोड़ता है और दूसरे को ग्रहण करता है। इस संसार समुद्र में यही क्रम बना हुआ है। नाटक की नटी की तरह यह संसार इस जीव को नाना आश्चर्यकारी प्रपंचों से विडम्बना में डाल देता है।"

'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-6) में भी कहा गया है—

"जब दूध व पानी की तरह जीव के साथ मिला हुआ यह शरीर शीघ्र नष्ट हो जाता है, तब भोगोपभोग का कारणभूत द्रव्य (परिवार आदि) नित्य कैसे हो सकता है?"

यह गाथा (सं. 109) कुछ परिवर्तन के साथ 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (45वीं गाथा के रूप) में भी निर्दिष्ट है।

इस प्रकार हे भव्य! देह के यथार्थ स्वरूप को जानकर धर्मानुष्ठान के साधन रूप में ही देह का पोषण करो और रत्नत्रय की आराधना से आत्मीय गुणों का संवर्धन करते हुए अनन्त चतुष्टय के आविर्भाव हेतु प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, मात्र संयम आदि की सिद्धि के लिए तथा शुद्ध आत्मीय परिणामपूर्वक मुनि द्वारा आहार ग्रहण किया जाता है— इसे गाहा व गाहू —इन दो छन्दों द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

संजमतवझ्झाणज्झयणविणाणए गिण्हदे पडिगहणं।
वज्जदि गिण्हदि भिक्खू ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं।।१११।।

कोहेण य कलहेण य जायण सीलेण संकिलिसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजदि किं विंतरो भिक्खू।।११२।।

छाया— संयमतपोध्यानाध्ययनविज्ञानाय गृह्णाति प्रतिग्रहणम्।
वर्जयति गृह्णाति भिक्षुः न शक्नोति वर्जितुं दुःखम्।।

क्रोधेन च कलहेन याचनाशीलेन संक्लेशेन।
रौद्रेण च रोषेण च भुंक्ते किं व्यन्तरो भिक्षुः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (भिक्खू पडिगहणं गिण्हदे) **भिक्षुः प्रतिग्रहणं गृह्णाति, दात्रा** 'हे स्वामिन्! नमोस्तु-३, अत्र-३, तिष्ठ-३' **इत्यावेदनं कृतं निशम्य नवधाभक्तिपूर्वकदीयमानाहार-ग्रहणं स्वीकरोति —इत्यर्थः। प्रतिग्रहणस्य स्वरूपं वसुनन्दिश्रावकाचारे** (गाथा-२२६) **भणितम्—**

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहुत्ति भणिऊण।।

गाथा-अर्थ— मुनि संयम, तप, ध्यान, अध्ययन (स्वाध्याय) एवं भेदविज्ञान (की सिद्धि) के लिए आहार ग्रहण करते हैं। यदि इस (प्रयोजन) को वे छोड़ते हैं और (आहार) लेते हैं तो वे दुःख को छोड़ नहीं सकते (कभी वह दुःख-मुक्त नहीं हो पाते)।।111।।

क्रोध, कलह, याचनाशीलता, संक्लेश, रौद्र व रोष परिणाम के साथ यदि (कोई) आहार ग्रहण करे तो क्या वह भिक्षु है ? वह (तो) व्यन्तर है।।112।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(भिक्षुः प्रतिग्रहणं गृह्णाति)** भिक्षु प्रतिग्रहण (पडगाहना) ग्रहण करता है, अर्थात् 'हे स्वामी! नमोऽस्तु-नमोऽस्तु-नमोऽस्तु, अत्र-अत्र-अत्र, तिष्ठ-तिष्ठ-तिष्ठ' इस प्रकार दाता के निवेदन को सुनकर, नवधाभक्तिपूर्वक दिये जाने वाले आहार के ग्रहण की स्वीकृति देता है। प्रतिग्रहण (पड़गाहना) के स्वरूप को वसुनन्दिश्रावकाचार ग्रन्थ (गाथा-226) में इस प्रकार कहा गया है—

''पात्र मुनि आदि को अपने घर के द्वार पर देखकर, अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर (खोज कर) 'नमोऽस्तु, ठहरिये' ऐसा कहते हुए प्रतिग्रहण करना चाहिए।''

किमर्थमाहारं गृह्णाति ? उच्यते —(संजमतवझाणज्झयणविणाणए) **संयम-तपोध्यानाध्ययन-विज्ञानाय, संयमादीनां वृद्ध्यै आहारं गृह्णातीत्यर्थः। किन्तु** (वज्जदि गिण्हदि भिक्खू) **यदि वर्जयति, अर्थात् संयमादिवृद्धिरूपप्रयोजनानि वर्जयति, तथा स्वशरीरपोषणाय, केवलं क्षुधादिवेदनाशान्त्यर्थं वा आहारं भिक्षुः स्वीकरोति, तर्हि** (ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं) **स दुःखं वर्जयितुं न शक्नोति, दुःखात् स्वं मोचयितुं न प्रभवतीत्यर्थः। उपर्युक्तप्रयोजनमनुद्दिश्य शरीररागमात्रहेतुकमाहारग्रहणं न मुमुक्षूणां कृते समुचितम्। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे** (श्लोक-६९)—

उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत इतोऽन्यतः।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रहः।।

पूर्वगाथायां धर्मानुष्ठानहेतोराहारग्रहणस्यौचित्यं शास्त्रकारेण प्रतिपादितमेव, तस्यैव विस्तरेण प्रतिपादनमत्र विहितम्। संयमतपोध्यानादिकं सर्वं धर्मानुष्ठानमेव। मोक्षमार्गपथिकानां कृते तपश्चरणादिकमनिवार्यमेव।

(मुनि) आहार को क्यों ग्रहण करते हैं? बता रहे हैं— **(संयमतपोध्यानाध्ययनविज्ञानाय)** संयम, तप, ध्यान, अध्ययन (स्वाध्याय) व विज्ञान (भेदविज्ञान) के लिए, अर्थात् संयम आदि की वृद्धि के लिए आहार ग्रहण करते हैं। किन्तु **(वर्जयति गृह्णाति भिक्षुः)** यदि वे छोड़ते हैं, अर्थात् (आहार-ग्रहण के) संयमादि-वृद्धि रूप प्रयोजनों को छोड़ते हैं तथा अपने शरीर के पोषण हेतु या मात्र क्षुधा आदि वेदना की शान्ति के लिए भिक्षु आहार को स्वीकारते हैं, तो **(न शक्नोति वर्जितुं दुःखम्)** वे दुःख को छोड़ नहीं पाते, अर्थात् स्वयं को दुःख से छुड़ा नहीं पाते। उपर्युक्त प्रयोजनों को ध्यान में न रखकर मात्र शारीरिक राग के कारण आहार लेना मुमुक्षुओं के लिए उचित नहीं है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-69) में कहा भी गया है—

''करोड़ों उपायों को करके भी जिस शरीर की रक्षा न स्वयं की जा सकती है और न अन्य किसी के द्वारा कराई जा सकती है, किन्तु जो सभी प्रकारों से नष्ट होने ही वाला है, उस शरीर की रक्षा में यह तेरा कौन-सा या क्या आग्रह है?''

पूर्व गाथा (सं. 110) में शास्त्रकार ने धर्मानुष्ठान हेतु आहार लेने का औचित्य प्रतिपादित किया था, उसी को विस्तार से यहाँ प्रतिपादन किया गया है। संयम, तप, ध्यान आदि सभी धर्मानुष्ठान ही हैं। मोक्षमार्ग के जो पथिक हैं, उनके लिए तो तपश्चरण आदि अनिवार्य ही हैं।

उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक—१२५)—

ज्ञानं यत्र पुर:सरं सहचरी लज्जा तप:संबलम्,
चारित्रं शिविका निवेशनभुव: स्वर्गा गुणा रक्षका:।

पन्थाश्च प्रगुण: शमाम्बुबहुलश्छाया दयाभावना,
यानं तं मुनिमापयेदभिमतं स्थानं बिना विप्लवै:।।

तपश्चर्यादीनां महत्त्वं मुमुक्षूणां कृते सर्वविदितमेव। आहारग्रहणे तदनुष्ठानप्रयोजनत्यागो निन्दनीय एव। प्रोक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-१६४)—

परां कोटिं समारूढौ द्वावेव स्तुतिनिन्दयो:।
यस्त्यजेत्तपसे चक्रं यस्तपो विषयाशया।।

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-125) में कहा भी गया है—

''(मोक्ष की) जिस यात्रा में ज्ञान मार्गदर्शक है, लज्जा मित्र के समान सदा साथ में रहती है, तपश्चर्या मार्ग का संबल या पाथेय है, चारित्र (संयम, धर्मानुष्ठान) शिविका (पालकी) है, मार्ग का पड़ाव (बीच में रुकने, विश्राम का स्थान) स्वर्ग है, गुण (वीतरागता आदि, या मूलगुण, उत्तरगुण) साथ में रक्षक हैं, (रत्नत्रयात्मक) मार्ग भी सरल व शान्ति रूप प्रचुर जल से परिपूर्ण है, तथा छाया दयाभावना है, वह यात्रा उस मुनि को विघ्न-बाधाओं से रहित होते हुए अभीष्ट स्थान तक पहुँचाती है।''

मुमुक्षुजनों के लिए तपश्चर्या आदि का महत्त्व सर्वविदित ही है। आहार लेने में उनके अनुष्ठान रूपी प्रयोजन को छोड़ देना निन्दनीय ही है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-164) में कहा भी गया है—

''ये दोनों ही व्यक्ति क्रमश: स्तुति व निन्दा की उत्कृष्ट सीमा पर होते हैं —एक वह जो तप के लिए चक्रवर्ती की विभूति को त्याग देता है और दूसरा वह जो विषय-अभिलाषा से तप को छोड़ता है।''

किन्तु तपोऽनुष्ठानायाहारं गृहीत्वा शरीरपोषणं ज्ञानिनः कुर्वन्त्येव। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-११६)—

अमी प्ररूढवैराग्याः, तनुमप्यनुपाल्य यत्।
तपस्यन्ति चिरं तद्धि ज्ञातं ज्ञानस्य वैभवम्।।

तपश्चर्यादिवदेव ध्यानानुष्ठानमपि मुमुक्षूणां कृते आवश्यकम्। उक्तं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-८६)—

गहिऊण य सम्मत्तं सुनिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंपं।
तं झाणे झाइज्जइ सावय दुक्खक्खयट्ठाए।।

स्वयं शास्त्रकारैः प्राक् अस्मिन्नेव ग्रन्थे (गाथा-११, ८९) **ध्यानाध्ययनमोर्मुख्यता उपयोगिता वा प्रतिपादितैव, ज्ञानं भेदविज्ञानं वा सर्वदुःखमुक्त्यै परमावश्यकमेव। उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे** (गाथा ४)—

किन्तु तप की साधना के लिए आहार ग्रहण कर शरीर का पोषण ज्ञानी करता ही है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-116) में कहा भी गया है—

''जिनके हृदय में विरक्ति पैदा हुई है, वे शरीर की रक्षा करके जो चिरकाल तक तपश्चर्या करते हैं, यह निश्चय ही ज्ञान का प्रभाव है —ऐसा प्रतीत होता है।''

तपश्चरण की तरह ही ध्यान का अनुष्ठान भी मुमुक्षुओं के लिए आवश्यक है। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-86) में कहा भी गया है—

''हे श्रावक (या मुने!) अत्यन्त निर्मल एवं मेरुपर्वत के समान निश्चल सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो क्योंकि दुःखों का क्षय करने के लिए ध्यान (एकाग्रता) में उसी का ध्यान किया जाता है।''

शास्त्रकार ने स्वयं भी इसी ग्रन्थ में पहले (गाथा-11, 89 में) ध्यान व अध्ययन की मुख्यता व उपयोगिता का प्रतिपादन किया ही है। ज्ञान या भेदविज्ञान (भी) समस्त दुःखों से छूटने के लिए परम आवश्यक है ही। शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-4) में कहा भी है—

ताव ण जाणदि णाणं विसयबलो जाव वट्टए जीवो।
विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कम्मं।।

समयसारकलशे (सं. १३१) **च प्रोक्तम्—** भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।

मूलाचारे (गाथा ९००-९०१) **च भणितम्—**

णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्तणावा हि।
भवसागरं तु भविया तरंति तिहि सण्णिपायेण।।

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि य संपजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो।।

एवं यदि संयमाद्यनुष्ठानच्युतो रसगृद्ध्या शरीरागेण वा आहारनिरतः साधुः भवति, तर्हि कदाचिदपि संसारमुक्तो न भवति, ततश्च दुःखमुक्तिरपि तस्य न सम्भवतीति दृष्ट्या 'ण सक्कदे वज्जिदुं दुक्खं' (न शक्नोति वर्जितुं दुःखम्) **इत्युक्तिः शास्त्रकारस्य संगच्छते।**

''जब तक विषयों के वशीभूत रहता है, तब तक ज्ञान को नहीं जानता और ज्ञान के बिना मात्र विषय-विरक्ति से जीव पुराने बंधे हुए कर्मों का क्षय नहीं करता।''

समयसारकलश (सं. 131) में भी कहा गया है— ''जो भी कोई (अब तक) सिद्ध हुए हैं, वे भेदविज्ञान से ही हुए हैं।''

मूलाचार (गाथा 900-901) में भी कहा गया है—

''खेवटिया (नाव-चालक) ज्ञान है, वायु ध्यान है और नाव चारित्र है। इन तीनों के संयोग से ही भव्य जीव भवसागर को तिर जाते हैं।''

''ज्ञान प्रकाशक है, तप ध्यानादि शोधक है और संयम रक्षक है। इन तीनों के मिलने (समन्वय होने) पर ही जिन-शासन में मोक्ष-प्राप्ति होती है।''

इस प्रकार, यदि साधु संयम आदि के अनुष्ठान से च्युत होकर रस-लोलुपता या शारीरिक राग से आहार करता है तो वह कभी संसार से मुक्त नहीं होता, इस कारण दुःखों से मुक्ति भी उसके सम्भव नहीं होती है —इस दृष्टि से 'न शक्नोति वर्जितुं' दुःखम्' (दुःख को छोड़ नहीं सकता) यह शास्त्रकार का कथन संगत होता है।

सम्प्रति द्वितीयगाथा व्याख्यायते— (कोहेण य कलहेण य भुंजदि) **क्रोधेन, तथा कलहेन च भुंक्ते। तथा** (जायणसीलेण संकिलेसेण) **याचनाशीलेन, याचनास्वभावेन, याचनावृत्तिं प्रदर्श्य तथा संक्लेशपरिणामेन आहारं गृह्णाति, तथैव** (रुद्देण य रोसेण य भुंजदि) **रौद्र-रोषपरिणामयुक्त आहारं गृह्णाति, तर्हि** (किं विंतरो भिक्खू) **स मुनिः किं व्यन्तर एव? तादृशो मुनिर्व्यन्तरवदेव आचरन् भावलिङ्गी मुनिस्तु नास्त्येव —इत्याशयः।**

उपर्युक्तदोषाः मोक्षमार्गच्युतिहेतुभूताः, अतस्ते श्रमणस्य कृते परित्याज्या एव। उक्तं च लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा-६, १३)—

कलहं वादं जूवा णिच्चं बहुमाणगव्विओ लिंगी।
वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूवेण।।

धावदि पिंडणिमित्तं कलहं काऊण भुंजदे पिंडं।
अवरूपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो।।

अब दूसरी गाथा (सं. 112) की व्याख्या की जा रही है— **(क्रोधेन च कलहेन च भुंक्ते)** क्रोध से तथा कलह पूर्वक आहार ग्रहण करता है। और **(याचनशीलेन संक्लेशेन)** याचना के शील से, याचना के स्वभाव से अर्थात् याचनावृत्ति का प्रदर्शन कर, और संक्लेश-परिणाम के साथ आहार ग्रहण करता है, इसी तरह **(रौद्रेण च रोषेण च भुंक्ते)** रौद्र व रोष के परिणाम से युक्त होकर आहार ग्रहण करता है, तब **(किं व्यन्तरो भिक्षुः)** वह मुनि व्यन्तर ही है क्या? वैसा मुनि व्यन्तर की तरह ही आचरण करता हुआ भावलिङ्गी मुनि तो नहीं ही है —यह आशय है।

उपर्युक्त दोष मोक्षमार्ग से हटाने वाले हैं, इसलिए वे श्रमण के लिए वर्जनीय ही हैं। लिङ्गप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-6 व 13) में कहा भी गया है—

''जो जीव मुनिलिङ्ग का धारक होकर भी निरन्तर अत्यधिक गर्व से भरकर कलह करता है, वादविवाद करता है, या जूआ खेलता है, वह चूँकि मुनिलिङ्ग से ऐसे कुकृत्य करता है, इसलिए वह पापी है और नरक जाता है।''

''जो आहार के निमित्त दौड़-भाग करता है, कलह कर भोजन करता है और इस आहार के निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है, वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।''

याचनाशीलस्य मुनेः दीर्घसंसारित्वं सम्यक्त्वहीनत्वं च प्राक् (गाथा-४४, ९९) **शास्त्रकारेण प्रतिपादितमेव। याचनाविषये आत्मानुशासनग्रन्थे** (श्लोक-१५१, ५९) **उद्बोधकवचनं मननीयमत्र—**

गेहं गुहाः परिदधासि दिशो विहाय,
संव्यानमिष्टमशनं तपसोऽभिवृद्धिः।
प्राप्तागमाय तव सन्ति गुणाः कलत्रम्,
अप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याञ्चाम्।।

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभिः,
चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः।
कर्मारातिभिरायुरुद्धनिगलालग्नं शरीरालयम्,
कारागारमवैहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः।।

एवमेव मूलाचारग्रन्थे (गाथा-८४५, ८५२) **च समर्थितमेतद् दृश्यते।**

याचनाशील मुनि दीर्घसंसारी है और सम्यक्त्वहीन है —इसे पहले (गाथा-44, 99) शास्त्रकार बता चुके हैं। याचना के बारे में आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-151 व 59) में उद्बोधक वचन हैं, जो यहाँ मननीय हैं—

''हे आगम-रहस्य के ज्ञाता! तेरे लिए गुफाएँ ही घर हैं, दिशाएँ व आकाश ही तेरे वस्त्र हैं, उसे तुम पहनो। तप की वृद्धि ही तेरा अभीष्ट भोजन है, स्त्री के स्थान में तुम सम्यग्दर्शनादि गुणों से अनुराग करो। इस प्रकार, तेरे लिए याचना के योग्य कुछ भी नहीं है, इसलिए तुम वृथा ही याचना भरी दीनता को प्राप्त न हो।''

''हे नष्ट बुद्धि वाले प्राणी! हड्डियों रूप स्थूल लकड़ियों के ढेर से बना हुआ, सिराओं व नसों से जुड़ा हुआ, चमड़े से ढका हुआ, रुधिर व सघन मांस से लिप्त, दुष्ट कर्मों रूप शत्रुओं से रक्षित, तथा आयु रूपी बड़ी सांकल से युक्त (बांधा) हुआ यह शरीर है, इस शरीर रूपी घर को तुम अपना कारागार समझो और इसमें व्यर्थ अनुराग मत करो।''

इसी तरह, मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-845 व 852) में भी उक्त तथ्य का समर्थन किया गया दृष्टिगोचर होता है।

यथार्थमुनिस्तु याचनादैन्यरहित एवाहारं गृह्णाति। प्रोक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा ८१९-८२०)—

ण वि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं ण वि य किंचि जायंति।
मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता।।

देहित्ति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वोत्तुं।
अवि णीदि अलाभेणं ण य मोणं भंजदे धीरा।।

किञ्च, अत्र संक्लेशपदं क्रोधादिकषायाणां तीव्रतां सूचयति। क्रोधादिकषाया एव तीव्ररूपाः संक्लेशनाम्ना कथ्यन्ते। स च संक्लेशो जीवस्य असातावेदनीयबन्धयोग्यपरिणामः, अतः सर्वैर्मुमुक्षुभिस्त्याज्य एव।

उक्तं च कषायप्राभृतग्रन्थे (पु. ४, गाथा-३, २२, सू. ३०)— ''को संकिलेसो णाम। कोहमाणमाया-लोहपरिणामविसेसो।''

यथार्थ मुनि तो याचना व दीनता के भावों से रहित होकर ही आहार ग्रहण करते हैं। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 819-820) में कहा भी गया है—

''भोजन के लिए (मुनि) किसी की स्तुति नहीं करते हैं और कुछ भी याचना नहीं करते हैं। वे बिना बोले हुए मौन व्रतपूर्वक भिक्षा ग्रहण करते हैं।''

''दे दो —इस प्रकार से दीनता भरे कलुषित वचन वे नहीं बोलना चाहते हैं। आहार के न मिलने पर वे वापस आ जाते हैं, किन्तु वे धीर मौन का भंग नहीं करते।''

और, 'संक्लेश' पद क्रोध आदि कषायों की तीव्रता को सूचित करता है। तीव्र रूप में होने वाले क्रोधादि कषायों को ही 'संक्लेश' नाम से कहा जाता है। वह संक्लेश जीव का ऐसा परिणाम है जो असातावेदनीय कर्म का बन्ध कराता है, इसलिए सभी मुमुक्षुओं के लिए यह त्याज्य ही है।

कषायप्राभृत ग्रन्थ (पु. 4, गाथा-3, 22 सू. 30) में कहा गया है— ''संक्लेश क्या है? (उत्तर—) क्रोध, मान, माया व लोभ रूप परिणाम-विशेष को 'संक्लेश' कहते हैं।

किञ्च धवलाग्रन्थे (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-७, सू. २, पृ. १८०) **प्रोक्तम्—** ''असादबंधजोग्गपरिणामो संकिलेसो णाम।''

अन्यच्च, तत्रैव (पु. ११, खण्ड-४, भाग-२, ६ सू. ५१ पृ. २०८) **प्रोक्तम्—** ''असाद-अथिर-असुह-दुभग-अणादेज्जादीणं परियत्तमाणियाणमसुहपयडीणं बंधकारणकसायउदयट्ठाणाणि संकलेसट्ठाणाणि त्ति।''

समयसारग्रन्थस्य (गाथा ५३-५४) **आत्मख्यातिटीकायां च भणितम्—** ''कषायविपाकोद्रेक-लक्षणानि संक्लेशस्थानानि।'' **कषायैर्युक्ताः श्रमणास्तु सम्यक्त्वरहिता एवेति प्राक् शास्त्रकाराः** (गाथा १०१-१०४) **प्रतिपादितवन्त एव। तैश्च दुर्गतिदायकैः क्रोधादिसंक्लिष्टपरिणामैः मुनिर्यदि आहारं गृह्णाति, तर्हि स्वस्मै दुःखपरम्परामेव प्राप्तुं प्रयतते, न तु दुःखमुक्त्यै —इतिगाथाया अभिप्रायः।**

एवं हे भव्य! आहारग्रहणस्य यथार्थोद्देश्यं सम्यग् विज्ञाय निर्दोषभिक्षाचर्यामाध्यमेन संयमाद्यनुष्ठाने प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

और, धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-7, सू. 2, पृ. 180) में भी कहा गया है— ''असाता कर्म के बन्धयोग्य परिणामों का नाम संक्लेश है।''

अन्यत्र भी उसी ग्रन्थ (पु. 11, खण्ड-4, भाग-2, 6 सू. 51, पृ. 208) में कहा है— ''असाता, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग और अनादेय आदि परिवर्तमान अशुभ प्रकृतियों के बन्ध के कारणभूत कषायों के उदयस्थानों को संक्लेशस्थान कहते हैं।''

समयसार ग्रन्थ (गाथा 53-54) की आत्मख्याति टीका में भी कहा गया है— ''कषायों के विपाक की अतिशयता ही लक्षण जिनका है, वे 'संक्लेशस्थान' हैं।'' कषायों से युक्त श्रमण तो सम्यक्त्व से रहित ही हैं —ऐसा शास्त्रकार पहले (गाथा 101 व 104) कह चुके ही हैं। उन दुर्गतिदायी क्रोधादि संक्लिष्ट परिणामों के साथ यदि मुनि आहार लेते हैं, तो वे अपने लिए दुःख की परम्परा को पाने हेतु प्रयत्नशील होते हैं, दुःख-मुक्ति का हेतु नहीं —यह गाथा का अभिप्राय है।

इस प्रकार, हे भव्य! आहार ग्रहण के यथार्थ उद्देश्य को अच्छी तरह जानकर, निर्दोष भिक्षा-चर्या के माध्यम से संयम आदि के अनुष्ठान में तत्पर रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ मुनिः शुद्धाहारमेव पाणिपात्रगतं गृह्णातीति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

दिव्वुत्तरणसरिच्छं जाणिच्चाहो धरेदि जदि सुद्धो।
तत्तायसपिंडसमं भिक्खू तुह पाणिगदपिंडं।।११३।।

छाया— दिव्योत्तरणसदृशं ज्ञात्वा अहो धर इति यदि शुद्धम्।
तप्तायसपिण्डसमं भिक्षो! तव पाणिगतपिण्डम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— भिक्खू! तुह पाणिगदपिंडो तत्तायसपिंडसमं सुद्धो, अहो दिव्वुत्तरणसरिच्छं जाणिच्चाहो धरेदि —इति गाथान्वयः।

(भिक्खू) **हे भिक्षो! मुनिर्भिक्षामात्रोपजीवी भवति, अतो** 'भिक्षु' **—पदेनापि अभिधीयते।**

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-८९७) **च श्रमणचर्यायां निर्दिष्टम्—** भिक्खं चर वस रण्णे, थोवं जेमेहि मा बहू जंप।।

(जदि तुह पाणिगदपिंडं सुद्धो) **यदि तव पाणिगतं पिण्डं, भोज्यद्रव्यात्मकं पिण्डं शुद्धं वर्तते।**

अब, गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार यह बता रहे हैं कि मुनि अपने पाणिपात्र में शुद्ध आहार को (ही) ग्रहण करता है—

गाथा-अर्थ— हे मुने! तुम्हारे (अपने) हाथों में रखा हुआ आहार (पिण्ड) अग्नि में तपाये हुए लोहे के पिण्ड की तरह यदि शुद्ध (व निर्दोष) है, तो उसे दिव्य नौका की तरह जान कर ग्रहण करो।।113।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— भिक्षो! तव पाणिगतपिण्डं तप्तायसपिण्डसमं शुद्धम्, अहो! दिव्योत्तरणसदृशं ज्ञात्वा धर इति —यह गाथा का अन्वय है।

(भिक्षो!) हे भिक्षु! मुनि मात्र भिक्षाजीवी होता है, इसलिए उसे 'भिक्षु' पद से भी कहा जाता है।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-897) में श्रमण-चर्या का इस प्रकार निर्देश किया गया है— "भिक्षावृत्ति से भोजन करो, अरण्यवासी बनो, अल्प भोजन करो और अधिक मत बोलो।"

(यदि तव पाणिगतपिण्डं शुद्धम्) यदि तुम्हारे हाथों में आया हुआ भोज्य द्रव्य रूप 'पिण्ड' शुद्ध है।

अयम्भावः —जैनमुनिर्भिक्षाचर्यया चरति, गृहस्थवत् पञ्चसूनाजनितपापयुक्तां पाकक्रियां नैव विदधाति। अग्निपाकक्रियायां जीवहिंसा भवति। जीवहिंसाजनितदोषस्य अधःकर्मसंज्ञा। अधःकर्मदोषदूषितमाहारं न सेवते मुनिः। एवं ये केचिदन्येऽपि दोषाः शास्त्रेषु निरूपिताः, तैर्दोषैः रहितमेव 'शुद्धं' कथ्यते, तदेवाहाररूपेण मुनिः स्वीकरोति। तदपि स स्वकरतलगतमेव भुंक्ते।

उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा ८२१-८२३, ८२६, ९२७-९३१)—

पयणं व पायणं वा ण करेंति य णेव ते करावेंति।
पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण।।

असणं जदि वा पाणं खज्जं भोजं लिज्जपेज्जं वा।
पडिलेहिऊण सुद्धं भुंजंति पाणिपत्तेसु।।

जं होज्ज अविव्वण्णं पासुगं पसत्थं तु एसणासुद्धं।
भुंजंति पाणिपत्ते लद्धूण य गोयरग्गम्मि।।

अभिप्राय यह है— जैन मुनि भिक्षाचर्या (गोचरी) से आहार ग्रहण करते हैं, वह गृहस्थ जैसे पाँच सूनाओं से होने वाले पाप से युक्त पाक क्रिया करता है, वैसा नहीं करते। अग्नि से पकाने की क्रिया में जीवहिंसा होती है। जीव-हिंसा से होने वाले दोष की अधःकर्म संज्ञा है। मुनि अधःकर्म दोष से दूषित आहार का सेवन नहीं करते। इसी तरह, शास्त्रों में और भी जो कुछ दोष बताये गये हैं, उन दोषों से रहित आहार को ही 'शुद्ध' कहा जाता है, और उसे ही आहार रूप में मुनि स्वीकार करते हैं। उस आहार को भी वे अपने हाथों में ही ग्रहण करते हैं।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 821-823, 826, 927-931) में कहा भी गया है—

''वे (मुनि) न तो भोजन स्वयं पकाते हैं और न ही पकवाते हैं क्योंकि वे पकाने के आरम्भ से निवृत्त होते हैं और भिक्षा मात्र से संतुष्ट रहते हैं।''

''अशन या पान, खाद्य या भोज्य, लेह्य या पेय —इन पदार्थों को देखकर, शोधकर, कर-पात्र में शुद्ध आहार को ग्रहण करते हैं।''

''जो चलित-रसरहित, प्रासुक, प्रशस्त एवं एषणा समिति से शुद्ध होता है, उसे वे आहार के समय प्राप्त कर पाणिपात्र से आहार करते हैं।''

जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं भोज्जं च लेज्ज पेज्जं वा।
गिह्णंति मुणी भिक्खं सुत्तेण अणिंदियं जं तु।।

जह वोसरित्तु कत्तिं विसं ण वोसरदि दारुणो सप्पो।
तह को वि मंदसमणो पंच दु सूणा ण वोसरदि।।

कंडणी पीसणी चुल्ली उदकुंभं पमज्जणी।।
बीहेदव्वं णिच्चं ताहिं जीवरासी से मरदि।।

जो भुंजदि आधाकम्मं छज्जीवाणं घायणं किच्चा।
अबुहो लोल सजिब्भो ण वि समणो सावओ होज्ज।।

पयणं व पायणं वा अणुमणचित्तो ण तत्थ बीहेदि।
जेमंतो वि सघादी ण वि समणो दिट्ठिसंपण्णो।।

ण हु तस्स इमो लोओ ण वि परलोओ उत्तमट्ठभट्ठस्स।
लिंगग्गहणं तस्स दु णिरत्थयं संजमेण हीणस्स।।

''जो शुद्ध हैं, जीवों से युक्त नहीं हैं, जो आगम से वर्जित नहीं हैं —ऐसे खाद्य, भोज्य, लेह्य व पेय पदार्थ को मुनि आहार में ग्रहण करते हैं।''

''जिस प्रकार क्रूर सर्प कांचुली को छोड़कर भी विष को नहीं त्यागता है, उसी प्रकार मन्दचारित्र वाला श्रमण (ही) पंचसूना को नहीं छोड़ता है।''

''खंडनी (मूसल), चक्की, चूल्हा, पानी भरने के पात्र, और बुहारी (झाड़ू) —ये पाँच 'सूना' हैं। इनसे सर्वदा डरना (बचना) चाहिए, क्योंकि इनसे जीव-समूह मरते हैं।''

''जो छहकाय के जीवों को घात करके अध:कर्म से बना आहार लेता है, वह अज्ञानी, लोभी, जिह्वेन्द्रिय का वशीभूत व्यक्ति 'श्रमण' नहीं रह जाता, वह तो श्रावक हो जाता है।''

''जो पकाने या पकवाने में या उसकी अनुमोदना में अपने मन को लगाता है, उनसे डरता नहीं है, वह आहार करते हुए भी स्वघाती है, सम्यक्त्वसहित श्रमण नहीं है।

उस उत्तमार्थ (मोक्ष) से भ्रष्ट हुए के लिए यह लोक भी नहीं है और परलोक भी नहीं है। संयम से हीन उस जीव का मुनि-वेष ग्रहण करना भी व्यर्थ है।''

अन्यच्च, तत्रैव (गाथा-९३४, ९४५-९४६) **प्रोक्तम्—**

पयणं पायणमणुमणणं सेवंतो ण वि संजदो होदि।
जेमंतो वि य जम्हा ण वि समणो संजमो णत्थि।।

भिक्खं सरीरजोग्गं सुभत्तिजुत्तेण फासुयं दिण्णं।
दव्वपमाणं खेत्तं कालं भावं च णादूण।।

णवकोडीपडिसुद्धं फासुय सत्थं च एसणासुद्धं।
दसदोसविप्पमुक्कं चोद्दसमलवज्जियं भुंजे।।

(तत्तायसपिंडसमं) **यथा सुतप्तं लौहपिण्डं शुद्धं भवति, रजोमलयुक्ता वक्रतादिदोषयुक्ता लौहयष्टिका प्रचण्डाग्नितापे तप्ता सती अभीष्टाकारे निर्वर्तिता, मलरहिताऽपि जायते, तद्वदेव सर्वदोषरहितं भोजनद्रव्यं यदि भवति, तर्हि, हे मुने!** (दिव्योत्तरणसरिच्छं जाणिच्चाहो धरेदि) **तद् भोजनपिण्डं दिव्योत्तरणसदृशं ज्ञात्वा, मत्वा, अहो धारय, भुंक्ष्वेत्यर्थः।**

और, वहीं (गाथा-934, 945-946) यह भी कहा गया है—

''पकाना, पकवाना और उसकी अनुमति देना —ऐसा करता हुआ वह जीव संयत नहीं है। वैसा आहार लेता हुआ भी उस कारण से न तो 'श्रमण' है और न संयमी ही है।''

''जो श्रेष्ठ भक्तियुक्त श्रावक के द्वारा दिया गया व प्रासुक हो और शरीर के अनुकूल हो, द्रव्य-प्रमाण, क्षेत्र, काल व भाव के ज्ञानपूर्वक नव कोटि से विशुद्ध, निर्दोष, प्रशस्त, एषणा समिति से शुद्ध हो, दस दोषों से रहित एवं चौदह मल-दोषों से भी रहित हो, ऐसे आहार को साधु ग्रहण करें।''

(तप्तायसपिण्डसमम्) जिस प्रकार अच्छी तरह तपाया हुआ लोह-पिण्ड शुद्ध होता है, अर्थात् रज व मल से युक्त, तथा वक्रता आदि दोषों से युक्त लोहे की छड़ी प्रचण्ड आग की गर्मी में गर्म होकर अभीष्ट आकार में ढाली जाती है और मल रहित भी हो जाती है, उसी तरह समस्त दोषों से रहित भोजन-द्रव्य यदि है तो हे मुनि! **(दिव्योत्तरणसदृशं ज्ञात्वा अहो धर इति)** उस भोजन-पिण्ड को दिव्य नौका की तरह जानकर, मानकर उसे धारण करो अर्थात् ग्रहण करो।

यथा दिव्यनौकायानं नदीसमुद्रादितरणे समर्थं भवति, तथैव तच्छुद्धाहारपिण्डमपि भवतारणाय प्रभविष्णु —इति विज्ञाय निःशङ्कतया उदरे धारय, स्थापय, येन शरीरपोषणं, तन्माध्यमेन च संयमाद्यनुष्ठानं समीचीनतया सम्पादितं स्यादिति भावः।

एवं हे भव्य! आगमोक्तसमस्तदोषरहितां भिक्षाचर्यां विधत्स्व तथा सततं धर्माद्यनुष्ठाने अप्रमत्ततया प्रवर्तस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धं' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'दिव्वुत्तरण सरिच्छं' **इत्यादिकां गाथां यावत् अष्टगाथात्मकोः मुनिचर्यानिरूपणपरो दसमोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरमुनीन्द्रविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां दशमोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति दशमोऽधिकारः।।

जिस प्रकार कोई दिव्य नौका आदि जलयान नदी व समुद्र आदि को पार करने में समर्थ होता है, उसी तरह वह शुद्ध आहार-पिण्ड भी भव-तरण के लिए प्रभावकारी होता है —ऐसा जानकर, निःशंक होकर उदर में धारण करो, स्थापित करो ताकि उससे शरीर का पोषण हो और उसके माध्यम से संयम आदि का अनुष्ठान अच्छी तरह सम्पादित हो —यह भाव है।

इस प्रकार हे भव्य! आगम-कथित समस्त दोषों से रहित भिक्षाचर्या करो और निरन्तर धर्मादि के अनुष्ठान में प्रमादरहित होकर प्रवृत्त रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धं'** इत्यादि (गाथा-106) से लेकर **'दिव्वुत्तरण सरिच्छं'** इत्यादि (गाथा-113) तक, मुनि-चर्या का निरूपण करने वाला —यह आठ गाथाओं वाला दसवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में दसवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति दशमोऽधिकारः।।

।। एगादसो अहियारो ।।

(एकादशोऽधिकारः)

अथेदानीमेकादशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। अत्र 'अविरददेस-महव्वय' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ११४) **समारभ्य** 'सम्मादिगुणविसेसं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ११८) **यावत् पञ्चगाथात्मके अधिकारे प्रथमा** 'अविरददेसमहव्वय' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११४) **वर्तते, यत्र आहारदाने पात्रगतभिन्नताया निर्देशो विहितः। ततः परं द्वितीया** 'उवसमणिरीह-झाणज्झयणादि' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११५) **वर्तते, या उत्तमपात्रस्वरूपं निर्दिशति। तदनन्तरं** 'ण वि जाणदि' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११६) **भवति, यस्यां प्रतिपादितं यन्निजात्मस्वरूपभेदविज्ञानहीनस्य तपोऽपि मोक्षप्राप्तौ न प्रभवतीति। ततश्च** 'दंसणसुद्धो धम्मझाणरदो' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११७), **तथा** 'सम्मादिगुणविसेसं' **इत्यादिका च गाथा** (सं. ११८), **एवं गाथाद्वयं भवति, ययोर्निर्दिष्टं यत्पात्रापात्र-विवेकं विधायैव दानं विहितं सम्यग्भवतीति। एवमेकादशाधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

।। ग्यारहवाँ अधिकार ।।

अब ग्यारहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस (अधिकार) की पातनिका कह रहे हैं। **'अविरददेसमहव्वय'** इत्यादि गाथा (सं. 114) से लेकर **'सम्मादिगुणविसेसं'** इत्यादि गाथा (सं. 118) तक पाँच गाथाओं वाले इस अधिकार में **'अविरददेसमहव्वय'** इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 114) है, जिसमें आहार देने में पात्रों की भिन्नता का निर्देश किया गया है। इसके बाद, **'उवसमणिरीहझाणज्झयणादि'** इत्यादि दूसरी गाथा (सं. 115) है जो उत्तम पात्र के स्वरूप को बताती है। इसके बाद, **'ण वि जाणदि'** इत्यादि गाथा (सं. 116) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि निज-आत्मस्वरूपभेदविज्ञान से रहित जीव का तपश्चरण भी मोक्ष-प्राप्ति में समर्थ नहीं होता। इसके बाद, **'दंसणसुद्धो धम्मझाणरदो'** इत्यादि गाथा (सं.117) तथा **'सम्मादिगुणविसेसं'** इत्यादि गाथा (सं. 118), इस प्रकार दो गाथाएँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि पात्र-अपात्र का विवेक रख कर ही किया गया दान समीचीन होता है। इस प्रकार ग्यारहवें अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अथ, आहारदाने पात्रगतभेदं शास्त्रकारा गाहाछन्दसा विशदयन्ति—

अविरद-देस-महव्वय-आगमरुइणं वियारतच्चण्हं।
पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।। ११४।।

छाया— अविरत-देशमहाव्रति-आगमरुचीनां तत्त्वविचारकाणाम्।
पात्रान्तरं सहस्रं निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अविरददेसमहव्वयआगमरुइणं वियारतच्चण्हं सहस्सं पत्तंतरं जिणवरिंदेहिं णिद्दिट्ठं —इति गाथान्वयः।

(पत्तंतरं सहस्सं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं) **जिनवरेन्द्रैः सर्वज्ञ-तीर्थंकरपरमेष्ठिदेवैः सहस्रं पात्रान्तरं निर्दिष्टम्, सत्पात्र-उत्तमपात्र-मध्यमपात्र-जघन्यपात्र-कुपात्र-अपात्रादिरूपेण सहस्रभेदा निर्दिष्टाः। अत्र सहस्रपदं प्रचुरसंख्याबोधकम्, अर्थात् अनेकानेकभेदानां निर्देशो विहित इत्यर्थः। तेषु केचिद् भेदाः शास्त्रकारेण गाथायामत्र संकेतिताः—** (अविरद-देस-महव्वय-आगमरुइणं वियारतच्चण्हं) **अविरतः— अविरतसम्यग्दृष्टिः, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचिः, तथा तत्त्वविचारकः इत्येवमादीनां भेदेनानेके भेदाः दानादियोग्यपात्राणां कथिताः —इत्यर्थः।**

अब शास्त्रकार आहार-दान के योग्य पात्रों के भेद को गाहा छन्द द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— अविरति, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचि, तत्त्वविचारक —इस प्रकार से जिनेन्द्र देव ने हजारों पृथक्-पृथक् 'पात्र' बताये हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अविरतदेशमहाव्रतिआगमरुचीनां तत्त्वविचारकाणां सहस्रं पात्रान्तरं जिनवरेन्द्रैः निर्दिष्टम् —यह गाथा का अन्वय है।

(पात्रान्तरं सहस्रं निर्दिष्टं जिनवरेन्द्रैः) जिनवरेन्द्र सर्वज्ञ तीर्थंकर परमेष्ठी देव ने हजारों पात्र-भेदों का निर्देश किया है, अर्थात् सत्पात्र, उत्तमपात्र, मध्यम पात्र, जघन्य पात्र, कुपात्र, अपात्र आदि रूप में हजारों भेद बताये हैं। यहाँ 'सहस्र' पद प्रचुर संख्या का बोधक है, अर्थात् अनेकानेक भेदों का निर्देश किया है। इनमें कुछ भेदों का संकेत शास्त्रकार ने इस गाथा में किया (भी) है— **(अविरत-देश-महाव्रति-आगमरुचीनां तत्त्वविचारकाणाम्)** अविरत यानी अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचि तथा तत्त्वविचारक —इत्यादि भेदों से दानादियोग्य पात्रों के अनेक भेद कहे गये हैं —यह अर्थ है।

शास्त्रकारेणात्र ग्रन्थे दानस्य चर्चा प्राग् (गाथा १५-२१, ३०-३१) **विहिता, तत्र प्रसङ्गतः पात्रापात्रविचारस्यापि संकेतः कृतः। मयाऽपि** (गाथा-१७) **व्याख्याने पात्रभेदानां स्वरूपं निरूपितमेव। अतोऽत्र न तत्पुनरुच्यते।**

अत्रायं विशेषः— दान-कृषिकार्ययोः सादृश्यं शास्त्रकारेण प्राक् (गाथा-17) **संकेतित-मस्ति। कृषिकार्ये बीजवपनफलं क्षेत्रानुसारि भवति। क्षेत्रगतोत्तममध्यमजघन्यतानुरूपमेव कृषिफलमपि उत्तममध्यमजघन्यभेदयुक्तं प्राप्यते। तथैव दानपात्रस्य उत्तममध्यमजघन्यादिभेदाननुसृत्य दानफलमपि विविधतां भजतीति तत्त्वार्थसूत्रे** (७/३९) 'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः' **इतिसूत्रेण प्रतिपादितम्। राजवार्तिके च** (७/३९/६) **विशदीकृतम्—** 'ततश्च फलविशेषः क्षित्यादिविशेषाद् बीजफल-विशेषवत्' **इति। स्वयं शास्त्रकारा ग्रन्थेऽमुष्मिन्** (गाथा-११५, ११७—११८) **अग्रे पात्रभेदस्वरूपनिर्देशं करिष्यन्त्येव। अत्र अविरतसम्यग्दृष्टिः, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचिः, तत्त्वविचारकः —इत्येतानि दानपात्राणि उक्तानि।**

शास्त्रकार ने इस ग्रन्थ में पहले (गाथा 15-21, 30-31) दान की चर्चा की है, वहाँ प्रसङ्गवश पात्र-अपात्र का विचार भी संकेत रूप में किया गया है। मैंने भी अपनी इस व्याख्या (गाथा-17) में पात्र-भेदों का स्वरूप बताया ही है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहा जा रहा है।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— दान व कृषि —इन दोनों कार्यों की समानता का संकेत शास्त्रकार ने पहले (गाथा-17) किया है। कृषि के कार्य में बीज बोने का फल क्षेत्रानुरूप होता है। क्षेत्र की उत्तम, मध्यम या जघन्य पात्रता के अनुरूप ही कृषि का फल भी उत्तम, मध्यम या जघन्य रूप में प्राप्त होता है। इसी तरह, दान-पात्र के उत्तम, मध्यम या जघन्य भेदों के अनुसार दान का फल भी विविधता लिये हुए होता है— ऐसा तत्त्वार्थसूत्र (7/39) में 'विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात् तद्विशेषः' (विधि, द्रव्य, दाता व पात्र की विशेषता से दान की विशेषता होती है) —इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित किया गया है। राजवार्तिक (7/39/6) में भी स्पष्ट किया गया है— "इसलिए, जिस प्रकार बीज की विशेषता से फल में विशेषता होती है, उसी तरह भूमि आदि की विशेषता के कारण फल में विशेषता आती है।" स्वयं शास्त्रकार भी इस ग्रन्थ में (गाथा-115, 117-118) आगे पात्रभेद के स्वरूप का निर्देश करने वाले ही हैं। यहाँ अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, महाव्रती, आगमरुचि, तत्त्वविचारक —इन दानपात्रों का कथन हुआ है।

एतेषु अविरतसम्यग्दृष्टिः श्रावकः जघन्यपात्रम्, देशव्रती मध्यमपात्रम्, महाव्रती उत्तमपात्रम्। आगमरुचिः तत्त्वविचारकः —इत्येतौ सम्यक्त्वधारिणौ, अतो यदि अविरताः, तर्हि जघन्यपात्ररूपाः, देशव्रतिनस्तर्हि मध्यमपात्ररूपाः, महाव्रतिनस्तर्हि उत्तमपात्ररूपाः विज्ञेयाः। अत्र महाव्रतिषु आर्यिका अपि ग्राह्या भवन्ति। आर्यिकानामपि दीक्षासमये महाव्रतस्यैव संस्कारं ताभ्यः प्रयच्छति आचार्यः, न तु देशव्रतसंस्कारम्। देशव्रतसंस्कारः प्रदीयते —इति स्वीकृते सति तु श्राविका-आर्यिकयोरन्तरमपि लुप्येत तथा संघस्य चतुर्विधमान्यताऽपि भग्ना स्यात्। यद्यपि तासां पञ्चमगुणस्थानं भवति, किन्तु उपचारतो महाव्रतसद्भावः इति विशेषः।

आर्यिकाणां विधिपूर्वकमाहारदानमधिकृत्य सविशेषं निरूप्यते— सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (७/३९) **विधिविशेष-द्रव्यविशेष-दातृविशेष-पात्रविशेषविषये निरूपितमस्ति यद् प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः। प्रतिग्रहादिषु आदरानादर-कृतो भेदः। तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः। अनसूयाविषादादिर्दातृविशेषः। मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। ततश्च पुण्यफलविशेषः क्षित्यादिविधिविशेषाद् बीजफलविशेषवत् —इति।**

इनमें अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्य पात्र है, देशव्रती मध्यम पात्र है, महाव्रती उत्तम पात्र है। आगमरुचि व तत्त्वविचारक —ये दोनों सम्यक्त्व के धारक हैं, इसलिए यदि वे अविरत हैं तो जघन्य पात्र हैं, देशव्रती हैं तो मध्यम पात्र हैं, और महाव्रती हैं तो उत्तम पात्र हैं —ऐसा जानें। यहाँ महाव्रतियों में आर्यिकाओं का भी ग्रहण किया गया है। आर्यिकाओं को भी दीक्षा के समय महाव्रतों का ही संस्कार आचार्य देते हैं, न कि देशव्रतों का संस्कार देते हैं। यदि उन्हें देशव्रतों का संस्कार दिया गया माना जाय तो श्राविका व आर्यिका का अन्तर ही समाप्त हो जाएगा और चतुर्विध संघ की मान्यता भी भग्न हो जाएगी। यद्यपि उन (आर्यिकाओं) का पाँचवाँ गुणस्थान होता है, किन्तु उपचार से वहाँ महाव्रतों का सद्भाव है— यह विशेष बात ज्ञातव्य है।

आर्यिकाओं के विधिपूर्वक आहारदान के विषय में कुछ विशेष बताया जा रहा है— सर्वार्थसिद्धि (7/39) ग्रन्थ में विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष व पात्रविशेष के विषय में बताया गया है कि प्रतिग्रह (पड़गाहन) आदि क्रम (नवधा भक्ति) को विधि कहा जाता है। उस विधि में आदर व अनादर होने से भेद होता है, (वह **विधि-विशेष** है)। जिससे तप व स्वाध्याय की वृद्धि होती है, वह **द्रव्यविशेष** है। असूया व विषाद आदि का न होना —यह दाता की विशेषता **(दातृविशेष)** है। मोक्ष में कारणभूत गुणों से युक्त रहना **पात्र की विशेषता** है। जैसे पृथ्वी में विशेषता होने से उससे उत्पन्न बीज में विशेषता आ जाती है, वैसे ही विधि आदिक की विशेषता से, दान से प्राप्त होने वाले पुण्य-फल में विशेषता (तरतमता) आ जाती है।

तत्र (आदिपुराण-२०/८६-८७) **च प्रतिग्रहादिक्रम उच्यते—**

प्रतिग्रहणमत्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम्।
पादप्रधावनं चार्चा नतिः शुद्धिश्च सा त्रयी।।

विशुद्धिश्चाशनस्येति नव पुण्यानि दानिनाम्।

वसुनन्दिश्रावकाचारग्रन्थे (गाथा-225) **प्रतिग्रहादीनां नवानां दानविधित्वेन निरूपणमस्ति—**

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।
मण-वयण-कायसुद्धी एसणसुद्धी य दाणविही।।

तत्र (गाथा-२२६-२३१) **च प्रत्येकविधेः सविस्तरं निरूपणमपि विहितमस्ति—**

पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता।
पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण।।

यहाँ (आदिपुराण-20/86-87 में) प्रतिग्रह आदि का क्रम इस प्रकार कहा गया है—

प्रतिग्रह (पड़गाहन) करना, उच्चासन देना, पादप्रक्षालन, पूजा, नमस्कार करना, अपने मन-वचन-शरीर की त्रिविध शुद्धि और आहार की विशुद्धि रखना —इस प्रकार दान देने वाले के यह नौ प्रकार का पुण्य (अथवा नवधा भक्ति) है।

वसुनन्दिश्रावकाचार (गाथा-225) ग्रन्थ में प्रतिग्रह (पड़गाहन) आदि नौ क्रमों को दान-विधि के रूप में इस प्रकार निरूपण किया है—

''प्रतिग्रह अर्थात् पड़गाहना (सामने जाकर लेना), उच्च स्थान देना, पादोदक (पैर धोना), अर्चा करना, प्रणाम करना, मनःशुद्धि, वचन-शुद्धि, कायशुद्धि और एषणा (आहार-द्रव्य की शुद्धि) —ये नौ प्रकार की दान-विधियाँ हैं।''

वहीं (गाथा-226-231 में) प्रत्येक विधि का विस्तारपूर्वक निरूपण भी इस प्रकार किया गया है—

''पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर, अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर —खोजकर, नमस्कार हो, ठहरिए, ऐसा कहकर प्रतिग्रहण करना चाहिए।।''

णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि।
ठविऊण तओ चलणाण धोवणं होइ कायव्वं।।

पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा।
गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं।।

पुष्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा।
चइऊण अट्ट-रुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।।

णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं।
सव्वत्थ संपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।।

चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए।
संजयिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी।।

आर्यिकाणामपि नवधाभक्तिपूर्वक आहारदानविधिः शास्त्रेषु वर्णितः। यथा उत्तरपुराणग्रन्थे (६२/४९८) **प्रोक्तम्—**

"पुनः अपने घर में ले जाकर निरवद्य अर्थात् निर्दोष तथा ऊँचे स्थान पर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणों को धोना चाहिए।।"

"पवित्र पादोदक को शिर में लगाकर पुनः गंध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से पूजन करना चाहिए।।"

"तदनन्तर चरणों के सामने पुष्पांजलि-क्षेपण कर वंदना करे। तथा, आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मनःशुद्धि करनी चाहिए।।"

"निष्ठुर और कर्कश आदि वचनों के त्याग करने को वचनशुद्धि जानना चाहिए। सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातार के कायशुद्धि होती है।।"

"चौदह मल-दोषों से रहित, यतना से शोधकर संयमी जन को जो आहारदान दिया जाता है, वह एषणा-शुद्धि जानना चाहिए।।"

आर्यिकाओं की भी नवधाभक्ति से आहार-दान की विधि का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। उदाहरणार्थ— उत्तरपुराण ग्रन्थ (62/498) में कहा है—

अन्यदा सुव्रताख्यायै गणिन्यै विधिपूर्वकम्।
दत्वाऽन्नदानमेतस्याः ....।।

पद्मपुराणग्रन्थे (१०९/१४) **च वर्णितम्—**

युगमानमहीपृष्ठन्यस्तसौम्यनिरीक्षणा ।
तपःकारणदेहार्थं भिक्षां चक्रे यथाविधि।।

उपर्युक्तपौराणिकसन्दर्भस्थितविधिशब्दो नवधाभक्तिमेव अभिदधाति। अतएव मूलाचार-ग्रन्थस्य (गाथा ४८२-४८३) **टीकायामाचारवृत्तौ प्रोक्तं संगच्छते—** 'विधिना दत्तं प्रतिग्रहोच्चस्थान-पादोदकार्चन-प्रणमन-मनोवचनकायशुद्ध्यशनशुद्धिभिर्दत्तम्...' **इत्यादि। अतः स्पष्टमेव यदार्यिकाणामपि पूर्णनवधाभक्तिः भवति, तस्यां सत्यामेव ता आहारग्रहणं कुर्वन्ति। तासां रजस्वलावस्थायामपि उपर्युक्तविधयो भवन्ति, यतो हि तासां तदानीमार्यिकात्वमेव, न तु ब्रह्मचारिण्यः, अन्यथा तासां हस्तयोराहारग्रहणमपि विरुद्ध्येत। तथा च सा प्रोक्तदिनेष्वपि मयूरपिच्छं निजकरेण गृहीत्वा गमनागमनं करोति, न च तां त्यक्त्वा गमनागमनं करोति। चतुर्थदिने प्रायश्चित्ते कृते पुनर्व्रतारोपणं यत् क्रियते, तत्तु येषु व्रतेषु दोषाः संसक्ताः, तेषामेव शास्त्रेषु विधानं निर्दिष्टमिति विज्ञेयम्।**

"किसी दिन तुमने सुव्रता गणिनी आर्यिका को **विधिपूर्वक** आहार-दान दिया था...।"

पद्मपुराण ग्रन्थ (109/14) में भी इस प्रकार वर्णन है—

"युगप्रमाण पृथ्वी पर जो आर्यिका सौम्य दृष्टि रखकर चल रही थी, जो तप के कारण (साधन) शरीर की रक्षा के लिए **विधिपूर्वक** भिक्षा ग्रहण करती थी...।"

उपर्युक्त पौराणिक सन्दर्भों में प्रयुक्त 'विधि' शब्द नवधा भक्ति को ही अभिव्यक्त करता है। इसीलिए मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 482-483) की आचारवृत्ति टीका में किया गया यह कथन संगत होता है— "विधि द्वारा दत्त, अर्थात् प्रतिग्रह, उच्चस्थान, पादप्रक्षालन, अर्चना, प्रणाम एवं मन-वचन-कायशुद्धि के साथ दिया गया...।" इसलिए स्पष्ट हो जाता है कि आर्यिकाओं की भी पूर्ण नवधा भक्ति होती है और तभी वे आहार ग्रहण करती हैं। उन आर्यिकाओं के रजस्वला होने पर भी उपर्युक्त विधियाँ होती हैं, क्योंकि उस समय उनके आर्यिकापना ही है, वे ब्रह्मचारिणी नहीं हैं, अन्यथा उनका हाथ में आहार लेना भी विरुद्ध हो जाएगा। और, उक्त दिनों में भी वह अपने हाथ में मयूरपिच्छी लेकर गमनागमन करती है, वह उसे छोड़कर गमनागमन नहीं करती। चौथे दिन प्रायश्चित्त कर पुनः व्रतारोपण जो किया जाता है, वह जिन व्रतों में दोष लगे हों, उन्हीं (के व्रतारोपण) का विधान शास्त्रों में किया गया है —यह जानें।

आहारविधौ ऐलक-क्षुल्लक-क्षुल्लिका अपि सत्पात्रत्वेन स्वीकृताः। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-ग्रन्थे (श्लोक-171) **प्रोक्तम्—**

पात्रं त्रिभेदमुक्तं, संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरत-सम्यग्दृष्टिः, विरताविरतश्च सकलविरतश्च।।

अत्र सकलविरतो मुनिरुत्तमपात्रम्, देशविरतः, देशव्रती, आर्यिका, ऐलकः, क्षुल्लकश्चेत्यादिव्रतिनः मध्यमपात्राणि, अविरतसम्यग्दृष्टिः, अव्रती श्रावको वा जघन्यपात्रमिति स्पष्टं संकेतितं वर्तते। एतेषां सर्वेषां सत्पात्राणां नवधाभक्तिर्भवतीति दानशासनग्रन्थे (पृष्ठ-९९) **प्रोक्तम्—**

नवोपचारविधिना पात्रदानं विधीयते।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रं त्रिविधमिष्यते।।

नवधाभक्ति-उल्लंघने बहुपुण्यहानिर्भवति —इत्यतः सा करणीयैव। उक्तं च श्रमणसंघ-साहित्यग्रन्थे (पृष्ठ-२४०)—

आहार-विधि में ऐलक, क्षुल्लक व क्षुल्लिका भी सत्पात्र माने गये हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक-171) में भी कहा गया है—

''मोक्षमार्ग में कारणभूत गुणों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) का संयोग होने से पात्र के तीन भेद कहे गये हैं— अविरतसम्यग्दृष्टि, विरताविरत तथा सकलविरत।''

यहाँ यह स्पष्ट संकेत किया गया है कि सकलविरत मुनि उत्तम पात्र हैं, देशविरत, देशव्रती आर्यिका, ऐलक, क्षुल्लक इत्यादि व्रतीजन मध्यमपात्र हैं, अविरत सम्यग्दृष्टि, या अव्रती श्रावक जघन्य पात्र हैं। इन सभी सत्पात्रों की नवधा भक्ति होती है —ऐसा दानशासनग्रन्थ (पृष्ठ-99) में इस प्रकार कहा गया है—

''जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट —ये तीन पात्र कहे गये हैं, उन्हें नवधा-भक्तिपूर्वक दान दिया जाता है।''

नवधा भक्ति का उल्लंघन करने पर अत्यधिक पुण्य की हानि होती है, इसलिए वह करनी ही चाहिए। श्रमणसंघसाहित्य ग्रन्थ (पृष्ठ-240) में कहा भी गया है—

नवधा विधिना दानं देयं त्रिविधपात्राय।
विधिमुत्क्रमते देयेऽत्र बहु-पुण्यहानिः स्यात्।।

ऐलक-क्षुल्लकादिमध्यमपात्राणां च पादप्रक्षालनस्य समुल्लेखः शास्त्रेषु वर्णितः। यथा प्रद्युम्नचरित्रे (३/११२) **वर्णितं यत् श्रीकृष्णो नारदस्य पादप्रक्षालनं कृतवान्, अर्घं च दत्तवान्। राजा भीष्मश्च नारदस्य पादप्रक्षालनमकरोत् इति च तत्रैव** (८/४०५) **निरूपितमस्ति। विजयार्द्ध-मेघकूट-नरेशः कालसंवरोऽपि भक्तिपूर्वकं नारदस्य पादप्रक्षालनं कृतवानिति च तत्रैव निरूपितमस्ति। अयं नारदो मोक्षमार्गस्थो देशव्रती अस्ति —इति सीमन्धरस्वामिना विदेहक्षेत्रस्थ-चक्रवर्तिपद्मनाभजिज्ञासायां समाहितमिति प्राचीनग्रन्थे वर्णितमस्ति।**

क्षुल्लकानामपि अर्घदानविधिः शास्त्रसम्मतः। यथा चन्द्रप्रभचरित्रग्रन्थे (६/७७-७८) **निरूपितं यत् प्रियधर्मनामकक्षुल्लकाय धरणीध्वजविद्याधरेण अर्घदानं कृतमिति। महाराज्ञी कनकमाला नारदस्य पादप्रक्षालनमर्घदानेन च पूजनं कृतवती —इति प्रद्युम्नचरित्रग्रन्थे** (८/१५९) **वर्णितम्।**

"तीनों पात्रों को नवधा विधि (भक्ति) से दान दिया जाता है। जो इस विधि का उल्लंघन करता है तो उसके बहुत पुण्य की हानि होती है।"

ऐलक, क्षुल्लक आदि मध्यम पात्रों के पाद-प्रक्षालन का उल्लेख शास्त्रों में वर्णित है। उदाहरणार्थ— प्रद्युम्नचरित्र (3/112) में वर्णित है कि श्रीकृष्ण ने नारद का पाद-प्रक्षालन किया था और अर्घ भी दिया था। राजा भीष्म ने भी नारद का पाद-प्रक्षालन किया था— यह भी वहीं (8/405) बताया गया है। विजयार्द्ध के मेघकूट के राजा कालसंवर ने भी भक्तिपूर्वक नारद का पादप्रक्षालन किया था— यह भी वहीं कहा गया है। यह नारद मोक्षमार्गी देशव्रती हैं— ऐसा सीमन्धर स्वामी ने विदेह क्षेत्र के चक्रवर्ती पद्मनाभ की जिज्ञासा का समाधान करते हुए बताया था— ऐसा प्राचीन ग्रन्थ में वर्णित है।

क्षुल्लकों को भी अर्घ चढ़ाने की विधि शास्त्रसम्मत है। उदाहरणार्थ— चन्द्रप्रभचरित्र ग्रन्थ (6/77-78) में वर्णित है कि प्रियधर्म नामक क्षुल्लक को धरणीध्वज विधाधर ने अर्घ चढ़ाया था। महारानी कनकमाला ने नारद का पादप्रक्षालन तथा अर्घ चढ़ाकर पूजन भी किया था— यह भी प्रद्युम्न चरित्र ग्रन्थ (8/159) में वर्णित है।

श्रावकधर्मप्रदीपग्रन्थस्य (श्लोक-२७७) **धर्मप्रकाशटीकायां** (टीकाकारेण पं. जगन्मोहन-लालजी-विद्वद्वरेण) **स्पष्टं निरूपितमस्ति—** "अर्घं प्रदेयमिति। वर्तमानसमये केषांचिदाचार्याणां पद्धतिः वर्तते। परमश्रद्धया सन्तुष्टेन भक्तिवता ज्ञानवता च श्रावकेण धैर्यमालम्ब्य उदारचित्तेन स्वशक्त्यनुसारं यद्दानं नवधाभक्तिपूर्वकं दीयते, तदैव ग्राह्यम्भवति क्षुल्लकस्य नान्यथा।"

अर्घ —इतिशब्देन पूजायोग्यद्रव्यमभिधीयते। चन्द्रप्रभचरित्रग्रन्थस्य (८/७७-७८) **टीकायां भणितमस्ति—**

अर्घः पूजायोग्यं द्रव्यम्।

अर्घदानेन क्षुल्लकानामपि पूजाविधानं क्रियते —इति विषये पद्मपुराणस्य (१०२/३) **पद्यमिदं प्रमाणमस्ति—**

दर्शनेऽवस्थितौ वीरौ प्राप ताभ्यां च पूजितः।
आसनादिप्रदानेन गृहस्थमुनिवेशभृत्।।

श्रावक धर्मप्रदीप ग्रन्थ (श्लोक-277) की (पं. विद्वद्वर जगन्मोहनलाल जी द्वारा रचित) धर्मप्रकाश टीका में यह स्पष्ट कहा गया है— "अर्घ देना चाहिए —ऐसी भी कुछ आचार्यों की पद्धति है। परम श्रद्धा से संतुष्ट होकर, भक्तियुक्त व ज्ञानवान् श्रावक द्वारा धैर्य का आलम्बन लेकर उदारचित्त से, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, जो दान नवधा भक्तिपूर्वक दिया जाता है, वही क्षुल्लक को ग्राह्य होता है, अन्यथा नहीं।"

'अर्घ' इस शब्द से पूजा योग्य द्रव्य अभिहित होता है। चन्द्रप्रभचरित्र ग्रन्थ (8/77-78) की टीका में कहा गया है—

अर्घ अर्थात् पूजायोग्य द्रव्य।

अर्घ दान द्वारा क्षुल्लकों की भी पूजा की जाती है —इस विषय में पद्मपुराण (102/3) का यह पद्य प्रमाण है—

(लवणांकुश व मदनांकुश —ये) दो वीर नारद की दृष्टि में पड़े। गृहस्थ मुनि (अर्थात् क्षुल्लक) का वेश धारण करनेवाले (उन नारद जी) का (दोनों ही कुमारों ने) आसनादि देकर पूजित किया।

क्षुल्लकनाम्ना सह पूज्यशब्दोऽपि प्रयुज्यते व्यवहारे, तत्तस्य अर्घदानादिना पूजितत्वमाधृत्य भवतीति ज्ञेयम्। क्षुल्लकोऽपि मुनिविशेषणेन यद्वा गृहस्थमुनिविशेषणेन व्यवहर्तुं शक्यते। अतएव क्षुल्लकव्रतधारिणे नारदाय गृहस्थमुनि —इति विशेषणं शास्त्रेषु प्रयुक्तं दृश्यते। अत्रारेका— क्षुल्लकस्तु वस्त्रधारी वर्तते, तस्मै अर्घदानादिका क्रिया मिथ्यात्वपोषिकैव। अत्रोच्यते— वस्त्र धारित्वेन क्षुल्लका अपूज्याः इति न केनापि शास्त्रवचनेन समर्थ्यते। यदपि रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-२४) **प्रोक्तम्—**

सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।।

एतत्रापि मिथ्यादृष्टिजनानामेव ग्रहणं कार्यम्, न तु सम्यग्दृष्टीनां क्षुल्लकादीनाम्। वस्तुतस्तु रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-१७) **साधर्मिजनान् प्रति वात्सल्यगुणधारिणा यथायोग्यं प्रतिपत्तिः, सत्कारादिका करणीयेत्येव निर्दिष्टम्—**

व्यवहार में क्षुल्लक जी के नाम के साथ (पहले) पूज्य शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह उनके अर्घ-दान आदि द्वारा पूजित किये जाने के आधार पर होता है। क्षुल्लक को मुनि विशेषण से या गृहस्थमुनि विशेषण से सम्बोधन/व्यवहार किया जा सकता है। इसीलिए क्षुल्लकव्रतधारी नारद के लिए गृहस्थमुनि —यह विशेषण शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ मिलता है। यहाँ यह शंका है— क्षुल्लक तो वस्त्रधारी होते हैं, उनके लिए अर्घदान आदि क्रिया मिथ्यात्वपोषक ही होगी। अब (उपर्युक्त शंका का) उत्तर दिया जा रहा है— वस्त्रधारी होने से क्षुल्लक अपूज्य हैं— ऐसा किसी भी शास्त्रीय वचन से समर्थित नहीं होता। और, जो रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-24) में कहा गया है—

''आरम्भ, परिग्रह व हिंसादि पापों से जो सहित हैं, और संसार के आवर्तों (मिथ्यात्वादि) के कारण संसार में भटक रहे हैं, ऐसे पाखण्डी (मिथ्यावेशी) साधुओं का प्रतिपत्ति यानी सत्कार आदि करना पाखण्ड मूढ़ता है।''

यहाँ मिथ्यादृष्टि का ही ग्रहण करना चाहिए, न कि सम्यग्दृष्टि क्षुल्लक आदि का। वस्तुतः रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-17) में तो यह कहा गया है कि साधर्मी जनों के प्रति वात्सल्यगुणधारी को यथायोग्य सत्कार आदि प्रतिपत्ति करनी ही चाहिए—

स्वयूथ्यान्प्रति सद्‌भावसनाथापेतकैतवः।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलष्यते।।

किञ्च, सम्यग्दर्शनस्यैव पूजायोग्यता भवति, अतः देवदानवादिभिः सम्यग्दर्शनं दृष्ट्वैव तद्धारिणं प्रति अर्घादिकं पूजनं वा विधीयते। उक्तं च कुन्दकुन्दाचार्येण दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-३३) **प्रोक्तम्—**

कल्लाणपरंपरया कहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।।

अतः येऽपि सम्यग्दृष्टयः साधार्मिकाः क्षुल्लकादयः, ते सर्वे अर्घदानार्हाः, पूजायोग्याः इति श्रद्धातव्यम्। किञ्च, यदि सवस्त्रसम्यग्दृष्टिजनान् प्रति सम्मानादरपूजादिकं मूढत्वं स्वीक्रियेत, तर्हि तीर्थकराणां गर्भजन्मकल्याणकेषु अष्टद्रव्येण पूजासम्मानादिकर्ता सौधर्मेन्द्रोऽपि मिथ्यादृष्टिः प्रसज्ज्येत।

''अपने साधर्मिकों के समूह के प्रति छल-कपट रहित तथा सनाथभाव से यथायोग्य आदर-सम्मान करना 'वात्सल्य' है।''

और, पूजा की योग्यता सम्यग्दर्शन की ही है, इसलिए देव-दान आदि द्वारा सम्यग्दर्शन को देखकर ही उसके धारक के प्रति अर्घदान या पूजन किया जाता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-33) में कहा भी है—

''भव्य जीव कल्याण-समूह के साथ निर्दोष सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न को लोक में देव-दानवों द्वारा (भी) अर्घ दिया जाता है।''

इसलिए, जो भी सम्यग्दृष्टि साधर्मी क्षुल्लक आदि हैं, वे सभी अर्घदान के योग्य हैं, पूजा के योग्य हैं —ऐसा श्रद्धान करना चाहिए। और, यदि सवस्त्र सम्यग्दृष्टि जनों के प्रति सम्मान-आदर-पूजा आदि करने को मूढ़ता माना जाय तो तीर्थंकरों के गर्भ-जन्मादि कल्याणकों में अष्ट द्रव्य से पूजा-सम्मानादि करनेवाला सौधर्मेन्द्र भी मिथ्यादृष्टि माना जाएगा।

गर्भजन्मकल्याणकेषु श्रावकैरपि अर्घदानं विधीयते एव। किं ते श्रावकाः, कल्याण-महोत्सवानुष्ठानसम्पादयितारः साधुगणः प्रतिष्ठाचार्याश्च मिथ्यादृष्टयः सन्ति? कथमपि नैव ते मिथ्यादृष्टयः स्वीक्रियन्ते। एवं सम्यग् विचार्य, शास्त्रानुसारं पूर्वक्रमागतपरम्परानुसारं च सर्वाः वन्दना-पूजा-अर्घदानादिक्रियाः यथावसारं सम्पादनीयाः। इत्यलं विस्तरेण।

आगमरुचिरागमश्रद्धानयुक्तो जीवोऽस्तीति ज्ञेयः। आगमस्वरूपं नियमसारे (गाथा-८) **निर्दिष्टम्—**

तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वापरदोसविरहियं सुद्धं।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

धवलाग्रन्थे (पु. ३, खंड-१, भाग-२, सू. २, श्लोक ९-११, पृ. १२-१३) **च प्रोक्तम्—**

पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः।
द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः।।

गर्भ-जन्म कल्याणकों में श्रावक भी अर्घदान करते ही हैं। क्या वे श्रावक तथा (उक्त) कल्याणमहोत्सवों के अनुष्ठान करानेवाले साधुगण तथा प्रतिष्ठाचार्य —ये (सभी) मिथ्यादृष्टि हैं? वे किसी तरह भी मिथ्यादृष्टि नहीं माने जाते। इस प्रकार, सम्यक् विचार कर, शास्त्रानुरूप, तथा पहले से चली आ रही परम्परा के अनुरूप सभी वन्दना-पूजा-अर्घदान आदि क्रियाएँ अवसर-प्रसंगों के अनुसार करनी चाहिए। अब इतना ही कहना पर्याप्त है।

आगम-श्रद्धान से युक्त जीव आगमरुचि है —यह जानना चाहिए। आगम का स्वरूप नियमसार (गाथा-8) में इस प्रकार बताया गया है—

''उन (जिनेन्द्र) के मुख से निकली हुई वाणी, जो पूर्वापरदोष (विरोध) से रहित व शुद्ध है, उसे 'आगम' कहा गया है और उसमें तत्त्वार्थ का कथन (निरूपण) है।''

धवला ग्रन्थ (पु. 3, खंड-1, भाग-2, सू. 2, श्लोक 9-11, पृ. 12-13) में कहा गया है—

''पूर्वापर-विरोध आदि दोषों के समूह से रहित और सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक वचन को 'आगम' जानना चाहिए और जिसने जन्म, जरा आदि अठारह दोषों को नष्टकर दिया है, उसे 'आप्त' जानना चाहिए।''

आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयं विदुः।
त्यक्तदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्।।

रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषाः, तस्यानृतकारणं नास्ति।।

न्यायदीपिकाग्रन्थे (३/७३) **च भणितम्—** 'आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

राजवार्तिके (१/१२/७) **च निर्दिष्टम्—** ''आप्तेन हि क्षीणदोषेण प्रत्यक्षज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति, न सर्वः। यदि सर्वः स्यात् अविशेषः स्यात्।''

किञ्च, 'आगमरुचि'-**पदं सम्यक्त्वविशेषं सूचयति। केच सम्यक्त्वविशेषाः ? आगमरुचि-रागमसम्यक्त्वं वा, तत्स्वरूपं च किम् ? उच्यते— राजवार्तिके** (३/३६/२) **दर्शनार्यभेदनिरूपण-माध्यमेन दशविधाः सम्यग्दृष्टयः स्वीकृताः—**

''इस प्रकार जो दोषरहित होता है, वह असत्य वचन नहीं बोलता, क्योंकि उसके असत्य बोलने का कोई कारण ही सम्भव नहीं होता।''

''राग से, द्वेष से या मोह से असत्य वचन बोला जाता है, परन्तु जिसके ये रागादि दोष नहीं हैं, उसके असत्य वचन बोलने का कोई कारण नहीं पाया जाता है।''

न्यायदीपिका ग्रन्थ (3/73) में भी बताया गया है— ''आप्त के वाक्य के अनुरूप अर्थ-ज्ञान को 'आगम' कहते हैं।''

राजवार्तिक (1/12/7) में भी कहा गया है— ''जिसके समस्त दोष क्षीण हो गये हैं, ऐसे प्रत्यक्षज्ञानियों द्वारा प्रणीत शास्त्र ही आगम हैं, (अन्य) सब नहीं। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आगम व अनागम में कोई भेद नहीं रह जाएगा।''

और 'आगमरुचि' यह पद विशिष्ट सम्यक्त्व का सूचक है। सम्यक्त्व के वे भेद कौन से हैं? आगमरुचि या आगमसम्यक्त्व, इनका स्वरूप क्या है? बता रहे हैं। राजवार्तिक (3/36/2) में दर्शनार्य के भेदों के निरूपण के माध्यम से दस प्रकार के सम्यग्दृष्टि माने गये हैं—

"आज्ञामार्गोपदेशसूत्रबीजसंक्षेपविस्तारार्थावगाढपरमावगाढरुचिभेदात्। तत्र भगवदर्हत्सर्वज्ञ-प्रणीताज्ञामात्रनिमित्तश्रद्धाना आज्ञारुचय:। नि:सङ्गमोक्षमार्गश्रवणमात्रजनितरुचयो मार्गरुचय:। तीर्थकर-बलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेशरुचय:। प्रव्रज्यामर्यादाप्ररूपणाचारसूत्रश्रवणमात्र-समुद्भूतसम्यग्दर्शना: सूत्ररुचय:। बीजपदग्रहणपूर्वकसूक्ष्मार्थतत्त्वार्थश्रद्धाना बीजरुचय:। जीवादिपदार्थसमास-संबोधनसमुद्भूतश्रद्धाना: संक्षेपरुचय:। अङ्गपूर्वविषयजीवाद्यर्थविस्तारप्रमाणनयादिनिरूपणोपलब्धश्रद्धाना विस्ताररुचय:। वचनविस्तारविरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुचय:। आचारादि-द्वादशाङ्गाभिनिविष्टश्रद्धाना अवगाढरुचय:। परमावधिकेवलज्ञानदर्शनप्रकाशितजीवाद्यर्थविषयात्मप्रसादा: परमावगाढरुचय:।"

अनगारधर्मामृते (२/६२) **च भणितम्—**

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजा: ।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक्।।

"आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, विस्ताररुचि, अर्थरुचि, अवगाढ़रुचि, परमावगाढ़रुचि —इन भेदों से सम्यग्दर्शन दस प्रकार का होता है। सर्वज्ञ की आज्ञा को मुख्य मानकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए 'आज्ञारुचि' है। अपरिग्रही मोक्षमार्ग के श्रवण मात्र से सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए 'मार्गरुचि' है। तीर्थङ्कर व बलदेव आदि के चरित्र के उपदेश को सुनकर सम्यग्दर्शन को धारण करने वाले 'उपदेशरुचि' हैं। दीक्षा आदि के निरूपक आचारांग आदि सूत्रों के सुनने मात्र से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे 'सूत्ररुचि' हैं। बीज पदों के निमित्त से जिन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई वे 'बीजरुचि' हैं। जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन से ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त होने वाले 'संक्षेपरुचि' हैं। अंग पूर्व के विषय, प्रमाणनय आदि का विस्तार कथन से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे 'विस्ताररुचि' हैं। वचन विस्तार के बिना केवल अर्थ ग्रहण से जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है, वे 'अर्थरुचि' हैं। आचारांग आदि द्वादशांग में जिनका श्रद्धान अतिदृढ़ है, वे 'अवगाढ़रुचि' हैं। परमावधि केवलज्ञानदर्शन से प्रकाशित जीवादि पदार्थ विषयक प्रकाश से जिनकी आत्मा विशुद्ध है, वे 'परमावगाढ़रुचि' है।"

अनगारधर्मामृत (2/62) में भी कहा गया है—

"आज्ञारुचि, मार्गरुचि, उपदेशरुचि, अर्थरुचि, बीजरुचि, संक्षेपरुचि, सूत्ररुचि, विस्ताररुचि, अवगाढ़रुचि व परमावगाढ़रुचि —ये दस प्रकार की सम्यग्दृष्टियाँ हैं।"

आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक ११-१४) **च निर्दिष्टम्—**

आज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।
विस्तारार्थाभ्यां भवमवपरमावादिगाढं च।।

आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव,
त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः।
मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता,
या संज्ञानागमाब्धिप्रसृतिभिरुपदेशादिरादेशि दृष्टिः।।

आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्दधानः,
सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुरधिगमगतेरर्थसार्थस्य बीजैः।
कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमशमवशाद्बीजदृष्टिः पदार्थान्,
संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः।।

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक 11-14) में भी कहा गया है—

''वह सम्यग्दर्शन आज्ञासमुद्भव, मार्गसमुद्भव, उपदेशसमुद्भव, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपसमुद्भव, विस्तारसमुद्भव, अर्थसमुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़, इस प्रकार से दस प्रकार का है।''

''दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थ-श्रवण के बिना केवल वीतराग भगवान् की आज्ञा से ही जो तत्त्व श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे 'आज्ञासम्यक्त्व' कहा गया है। दर्शन-मोह का उपशम होने से ग्रन्थ-श्रवण के बिना जो कल्याणकारी मोक्षमार्ग का श्रद्धान होता है, उसे 'मार्गसम्यग्दर्शन' कहते हैं। तिरेसठ शलाका पुरुषों के पुराण (वृत्तान्त) के उपदेश से जो सम्यग्दर्शन (तत्त्वश्रद्धान) उत्पन्न होता है, उसे सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करने वाले आगम रूप समुद्र में प्रवीण गणधर देवादि ने 'उपदेश सम्यग्दर्शन' कहा है।''

''मुनि के चारित्र (सकलचारित्र) के अनुष्ठान को सूचित करने वाले आचार सूत्र को सुनकर जो तत्त्वश्रद्धान होता है, उसे उत्तम 'सूत्रसम्यग्दर्शन' कहा गया है। जिन जीवादि पदार्थों के समूह का अथवा गणितादि विषयों का ज्ञान दुर्लभ है, उनका किन्हीं बीज पदों के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले भव्य जीव के जो दर्शनमोहनीय के असाधारण उपशमवश तत्त्वश्रद्धान होता है, उसे 'बीज सम्यग्दर्शन' कहते हैं। जो भव्य जीव पदार्थों के स्वरूप को संक्षेप में ही जान करके तत्त्वश्रद्धान (सम्यग्दर्शन) को प्राप्त हुआ है, उसके उस सम्यग्दर्शन को 'संक्षेप सम्यग्दर्शन' कहा जाता है।''

य: श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं कृतरुचिरथ तं विद्धि विस्तारदृष्टिं,
संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टि: ।
दृष्टि: साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा,
कैवल्यालोकितार्थे रुचिरिह परमावादिगाढेति श्रढा।।

उत्तरपुराणे (७४/४३९-४९) **च निर्दिष्टम्—**

आज्ञामार्गोपदेशोत्थं सूत्रबीजसमुद्भवम्।
संक्षेपाद्विस्तृतेरर्थाच्चावाप्तमवगाढकम् ।
परमाद्यवगाढं च सम्यक्त्वं दशधोदितम्।।

सर्वज्ञाज्ञानिमित्तेन षड्द्रव्यादिषु या रुचि:।
साज्ञा निस्संगनिश्चेलपाणिपात्रत्वलक्षण:।।

मोक्षमार्ग इति श्रुत्वा या रुचिर्मार्गजा त्वसौ।
त्रिषष्टिपुरुषादीनां या पुराणप्ररूपणात्।।

''जो भव्य जीव बारह अंगों को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी हो जाता है, उसे 'विस्तार सम्यग्दर्शन' से युक्त जानो। अंगबाह्य आगमों को पढ़े बिना भी उनमें प्रतिपादित किसी पदार्थ के निमित्त से जो अर्थश्रद्धान होता है, वह 'अर्थसम्यग्दर्शन' कहा जाता है। अंगों के साथ अंगबाह्य श्रुत का अवगाहन करके जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, उसे 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते हैं। केवलज्ञान के द्वारा देखे गये पदार्थों के विषय में जो रुचि होती है, वह यहाँ 'परमावगाढ़सम्यग्दर्शन' नाम से प्रसिद्ध है।''

उत्तरपुराण (74/439-49) में भी यह कहा गया है—

''सम्यग्दर्शन उत्पत्ति की अपेक्षा दश प्रकार का कहा गया है —आज्ञा, मार्ग, उपदेशोत्थ, सूत्रसमुद्भव, बीजसमुद्भव, संक्षेपज, विस्तारज, अर्थज, अवगाढ़ और परमावगाढ़। सर्वज्ञ देव की आज्ञा के निमित्त से जो छ: द्रव्य आदि में श्रद्धा होती है, उसे 'आज्ञा सम्यक्त्व' कहते हैं। मोक्षमार्ग परिग्रहरहित है, वस्त्ररहित है, और पाणिपात्रतारूप है, —इस प्रकार मोक्षमार्ग का स्वरूप सुनकर जो श्रद्धान होता है, वह 'मार्गज सम्यक्त्व' है। तिरेसठ शलाकापुरुषों का पुराण सुनने से जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, वह 'उपदेश-समुद्गत सम्यग्दर्शन' है।''

श्रद्धा सद्यः समुत्पन्ना सोपदेशसमुद्गता।
आचाराख्यादिमाङ्गोक्ततपोभेदश्रुतेर्द्रुतम् ।।

प्रादुर्भूता रुचिस्तज्ज्ञैः सूत्रजेति निरूप्यते।
या तु बीजपदादानपूर्वसूक्ष्मार्थजा रुचिः।।

बीजजासौ पदार्थानां संक्षेपोक्त्या समुद्गता।
या सा संक्षेपजा यान्या तस्या विस्तारजा तु सा।।

प्रमाणनयनिक्षेपाद्युपायैरतिविस्तृतैः ।
अर्थमात्रसमादानसमुत्था रुचिरर्थजा।।

वाग्विस्तरपरित्यागादुपदेष्टुर्महामतेः ।
अर्थमात्रसमादानसमुत्था रुचिरर्थजा।।

अङ्गाङ्गबाह्यसद्भावभावनातः समुद्गता।
क्षीणमोहस्य या श्रद्धा सावगाढेति कथ्यते।।

केवलावगमालोकिताखिलार्थगता रुचिः।
परमाद्यवगाढाऽसौ श्रद्धेति परमर्षिभिः।।

''आचारांग आदि शास्त्रों में कहे हुए तप के भेद सुनने से जो शीघ्र ही श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह 'सूत्रज सम्यग्दर्शन' कहलाता है। पदार्थों के संक्षेप कथन से जो श्रद्धा होती है, वह 'संक्षेपज सम्यग्दर्शन' है। पदार्थों के विस्तार कथन से जो प्रमाण, नय, निक्षेप आदि उपायों के द्वारा अवगाहन कर अंग, पूर्व आदि में कहे हुए तत्त्वों की श्रद्धा होती है, वह 'विस्तारज सम्यग्दर्शन' कहलाता है। वचनों का विस्तार छोड़कर महाबुद्धिमान् उपदेशक से जो केवल अर्थ मात्र का ग्रहण होने से श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह 'अर्थज सम्यग्दर्शन' है। जिसका मोहनीय कर्म क्षीण हो गया है, ऐसे मनुष्य को अंग तथा अंगबाह्य ग्रन्थों की भावना से जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहलाता है। केवलज्ञान के द्वारा देखे हुए समस्त पदार्थों की जो श्रद्धा होती है, उसे 'परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन' कहते है, ऐसा परमर्षियों ने कहा है।''

आगमे जिनोपदेशे सम्यग्दृष्टेः रुचिर्भवत्येव। तथापि व्यक्तिषु तारतम्यं भवति। एतेषु दशविधेषु सम्यग्दर्शनेषु तत्त्वश्रद्धानं क्रमशः संवर्द्धितं प्राप्यते। अवगाढसम्यग्दर्शनस्य धारकः श्रुतकेवली भवति, यस्मिन् तच्छ्रद्धानं पूर्णतया दृढं जायते। परमावगाढसम्यग्दर्शनं तु केवलिनो भवति। उपदेशसम्यक्त्वे तदुत्तरसम्यक्त्वेषु आगमाभ्यासः क्रमश आलम्बनतया समेधते। आज्ञासम्यक्त्वे मार्गसम्यक्त्वे च आगमाभ्यासं विनैव तत्त्वश्रद्धानं भवति। उपदेशसम्यक्त्वादारभ्य संक्षेपसम्यक्त्वं यावत् एकदेशरूपेण श्रुताभ्यासो भवति। विस्तारसम्यग्दर्शने पूर्णद्वादशाङ्ग-श्रुताभ्यासो भवति (द्र. आत्मानुशासनम्, श्लोक १२-१४, भाषाटीका)।

अत एतत्सम्यक्त्वमेव दधन् जीवः पूर्णतया आगमरुचिः सम्भवति। यद्वा महाव्रतिनोऽपि 'आगमचक्खु' **-पदेन अभिधीयन्ते। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे** (३/३४)—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू।।

आगम यानी जिनोपदेश में सम्यग्दृष्टि की रुचि (श्रद्धा) होती ही है। फिर भी व्यक्तियों में तारतम्य होती ही है। इन दस प्रकार के सम्यग्दर्शनों में क्रमशः (आज्ञासम्यक्त्व से लेकर परमावगाढ़ सम्यक्त्व तक) तत्त्वश्रद्धान (या तत्त्वरुचि) क्रमशः संवर्द्धित होता जाता है। 'अवगाढ़ सम्यग्दर्शन' का धारक श्रुतकेवली होता है, जिसमें वह श्रद्धान पूर्णतया दृढ़ हो जाता है। 'परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन' तो केवली के होता है। उपदेशसम्यक्त्व में तथा आगे के सम्यक्त्वों में आगमाभ्यास क्रमशः आलम्बन रूप से बढ़ता जाता है। आज्ञासम्यक्त्व व मार्गसम्यक्त्व में आगम के अभ्यास के बिना ही तत्त्वश्रद्धान होता है। 'उपदेश सम्यक्त्व' से लेकर 'संक्षेपसम्यक्त्व' तक एकदेश रूप से श्रुताभ्यास होता है। 'विस्तारसम्यग्दर्शन' में जाकर पूर्ण द्वादशाङ्गश्रुत का अभ्यास हो जाता है (द्र. आत्मानुशासन, श्लोक 12-14, भाषा टीका, विशेषार्थ)।

इसलिए इस सम्यक्त्व को धारण करनेवाला जीव पूर्णतः 'आगमरुचि' हो जाता है। अथवा महाव्रती भी 'आगमचक्षु' पद से कहे जाते हैं। प्रवचनसार ग्रन्थ (3/34) में कहा भी गया है—

''मुनि आगम रूपी नेत्रों के धारक हैं, संसार के समस्त प्राणी इन्द्रिय रूपी चक्षुओं से सहित हैं, देव अवधिज्ञान रूपी नेत्र से युक्त हैं और अष्टकर्म रहित सिद्ध भगवान् सब ओर से चक्षु वाले हैं (अर्थात् केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को युगपत् जानने वाले हैं)।''

श्रमणानां कृते विशेषत आगमेभ्यस्तत्त्वनिश्चय आवश्यक इति प्रवचनसारग्रन्थे (३/३२, ३५-३७) **प्रतिपादितम्—**

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा।।

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता तेवि ते समणा।।

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थिदि भणदि सुत्तं असंजदो हवदि किध समणो।।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि।।

श्रमणों के लिए विशेष रूप से आगमों से तत्त्वनिश्चय करना आवश्यक है —ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (3/32, 35-37) में प्रतिपादित किया गया है—

''श्रमण वही है जो एकाग्रता को प्राप्त है, एकाग्रता उसी के होती है, जो जीवाजीवादि पदार्थों के विषय में निश्चित है (अर्थात् संशय-विपर्ययादि रहित सम्यग्ज्ञान का धारक है), और पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, इसलिये आगम के विषय में चेष्टा करना (आगम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उद्योग करना) श्रेष्ठ है।''

''विविध गुणपर्यायों से सहित जीवाजीवादि समस्त पदार्थ आगम से सिद्ध हैं। निश्चय से उन पदार्थों को वे महामुनि आगम के द्वारा ही जानते हैं।''

''इस लोक में जिसके आगम ज्ञान-पूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं होता है, उसके संयम नहीं होता है—ऐसा सिद्धान्त में कहा गया है। फिर जिसके संयम नहीं है, वह मुनि कैसे हो सकता है?''

''यदि जीवाजीवादि पदार्थों में श्रद्धान नहीं है तो मात्र आगम के जान लेने से ही जीव सिद्ध नहीं होता है। अथवा पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि असंयत हो तो भी निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है।''

एवं विशेषश्रुतज्ञानसम्पन्नाः, विशेषत आगमज्ञानसारभूत-आत्मतत्त्वस्वरूपचिन्तादिततपरा अत्र तत्त्वविचारकरूपेण विशेषपात्ररूपा इति गाथाशयः। एवं तत्त्वविचारकोऽपि सम्यग्ज्ञानाराधको मन्तव्यः। दर्शनमोहस्य उपशमादिषु सत्सु तत्त्वरुचिः उत्पद्यते एव।

प्रोक्तं च पुरुषार्थसिद्ध्युपाये (श्लोक-३३, ३५-३६)—

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्।।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्।।

बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्।।

अत एव 'तच्चरुई सम्मत्तं' **इति मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-३८) **भणितम्। किञ्च दर्शनप्राभृत-ग्रन्थे** (गाथा-१९) **तत्त्वश्रद्धानी एव सम्यग्दृष्टिरिति निर्दिष्टम्—**

इस प्रकार, जो विशेष श्रुतज्ञान से सम्पन्न हैं, विशेष रूप से आगमज्ञान के सारभूत आत्मतत्त्व के स्वरूप सम्बन्धी चिन्तन आदि में जो तत्पर हैं, वे यहाँ तत्त्वविचारक रूप से विशेषपात्र हैं — यह गाथा का आशय है। इस प्रकार, 'तत्त्वविचारक' को सम्यग्ज्ञान का आराधक जानना चाहिए। दर्शनमोह के उपशम आदि होने पर तत्त्वरुचि उत्पन्न होती ही है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-33, 35-36) में कहा गया है—

"इसलिए सम्यक्त्व के बाद ज्ञानाराधना कही गई है।"

"प्रशस्त अनेकान्तात्मक तत्त्वों में उद्यम करना कर्तव्य है, संशय, विपर्यय व विमोह से रहित आत्मा का जो निज स्वरूप है, वह सम्यग्ज्ञान है।"

"अत्यन्त सम्मान के साथ अनिह्नव रूप से (अपने गुरु को गुप्त न रखते हुए) ज्ञान की आराधना करनी चाहिए।"

इसीलिए 'तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है' —ऐसा मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-38) में कहा गया है। और, दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-19) में 'तत्त्वश्रद्धा वाला ही सम्यग्दृष्टि होता है', ऐसा कहा गया है—

छद्दव्व णवपयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो।।

किम्बहुना, सर्वविरतानां कृतेऽपि तत्त्वचिन्तनमुपयोगीति भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-९५, ११२-११३) **निर्दिष्टम्—**

सव्वविरओ वि भावहि णव य पयत्थाइं सत्त तच्चाइं।
जीवसमासाइं मुणी चउदसगुणठाणणामाइं।।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तिरयणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं।।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं।।

''छः द्रव्य, नव पदार्थ, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व जो कहे गये हैं, उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है, उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।''

अधिक क्या कहना, जो सर्वविरत (मुनि) हैं, उनके लिए भी तत्त्वचिन्तन उपयोगी है — ऐसा भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-95, 112-113) में कहा गया है—

''हे मुनि! यद्यपि तूँ सर्वविरत है, तो भी नौ पदार्थ, सात तत्त्व, चौदह जीवसमास और चौदह गुणस्थानों का चिन्तन कर।''

''हे मुनि! तूँ मन, वचन व शरीर से शुद्ध होकर प्रथम जीव तत्त्व, द्वितीय अजीव तत्त्व, तृतीय आस्रव तत्त्व, चौथा बन्ध तत्त्व, पाँचवां संवर तत्त्व, तथा अनादिनिधन आत्मस्वरूप का, तथा धर्म, अर्थ व काम रूप त्रिवर्ग को हरने वाले निर्जरा व मोक्ष तत्त्व का चिन्तन कर।''

''जब तक यह जीव तत्त्वों की भावना नहीं करता है और जब तक चिन्तनयोग्य धर्मध्यान व शुक्ल ध्यान का तथा अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन नहीं करता है, तब तक जरा-मरण से रहित स्थान (मोक्ष) को नहीं प्राप्त कर पाता है।''

उपर्युक्ताः संक्षेपरुचयः, विस्ताररुचयः इत्यादयोऽपि तत्त्वविचारणानिरता एव भवन्ति।

एवं हे भव्य! पात्रभेदान् सम्यगवधार्य स्वस्मिन् सत्पात्रतामाविर्भावय तथाऽन्यसत्पात्राणि प्रति यथोक्तदानादिविधिना श्रद्धाभिव्यक्त्या च सत्कुरुष्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

तत्र दानग्रहणाधिकारिषु विविधपात्रेषु उत्तमपात्रस्य स्वरूपं शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निर्दिशन्ति—

उवसमणिरीहझाणज्झयणादिमहागुणा जहा दिट्ठा।
जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।। ११५।।

छाया— उपशमनिरीहध्यानाध्ययनादिमहागुणा यथा दृष्टाः।
येषां ते मुनिनाथा उत्तमपात्राणि तथा भणिताः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जेसिं उवसमणिरीहझाणज्झयणादिमहागुणा जहा दिट्ठा, ते मुणिणाहा तहा उत्तमपत्ता भणिया —इति गाथान्वयः।

उपर्युक्त संक्षेपरुचि व विस्तार रुचि (सम्यक्त्व के धारक) इत्यादि भी तत्त्वविचारनिरत ही होते हैं।

इस प्रकार, हे भव्य! पात्र के भेदों को अच्छी तरह निश्चित कर अपने में सत्पात्रता को प्रकट करो और अन्य सत्पात्रों के प्रति यथोक्त दान आदि विधि से श्रद्धान की अभिव्यक्ति करते हुए उनका सत्कार करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

जिन्हें दान लेने का (योग्य) अधिकारी (पात्र) माना गया है, उन विविध पात्रों में उत्तम पात्र के स्वरूप को शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जैसे जिनमें उपशम (समता) भाव, निरीहता (निःस्पृहता), ध्यान व अध्ययन आदि महान् गुण दृष्टिगोचर होते हैं, तदनुरूप वे मुनिनाथ उत्तम पात्र कहे गये हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— येषां उपशमनिरीहध्यानाध्ययनादिमहागुणा यथा दृष्टाः, ते मुनिनाथा तथा उत्तमपात्राणि भणिताः —यह गाथा का अन्वय है।

(ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता भणिया) **ते वक्ष्यमाणस्वरूपाः मुनीश्वरा उत्तमपात्ररूपेण कथिताः, स्वीकृताः। अत्रोत्तमपदं स्वतो मध्यमजघन्यपात्रास्तित्वं सूचयति। एवं चेदमपि सूच्यते यत् मुनीश्वराणामेव उत्तमपात्रता, तदधोवर्तिनां तु मध्यमजघन्यपात्रता विज्ञेया।**

कीदृशास्ते मुनिनाथाः ? उच्यते— (जेसिं उवसमणिरीहझाणज्झयणादिमहागुणा जहा दिट्ठा तहा ते) **उपशमः, निरीहता (निःस्पृहता), ध्यानम्, अध्ययनम्, इत्यादिका महान्तो महत्त्वं गौरवं वा प्रकटयन्तो गुणाः येषां भवन्ति, तथा च यथा दृष्टाः अर्थात् गुणानां यावती अधिकता, यावानुत्कर्षः तदनुरूपमेव ते उत्तमपात्रतां दधति। यद्वा** 'जहादिट्ठा' **इत्यस्य संस्कृतछाया** 'यथा आदिष्टाः' **इत्यपि सम्भवति। तस्यार्थः यथा येन स्वरूपेण शास्त्रेषु निरूपिताः, तदनुरूपं तेषामुत्तमपात्रत्वं ज्ञेयम्। शास्त्रेषु अविरत-देशव्रत-महाव्रतिषु क्रमश उत्तरोत्तरं गुणाधिक्यं श्रेष्ठत्वं वा निरूपितमस्ति, महाव्रतिनां च सर्वश्रेष्ठत्वं च निरूपितमस्ति तथैव, तदनुसृत्यैव तेषु उत्तमादिकल्पना पात्रत्वदृष्ट्या कृता वर्तते।**

(ते मुनिनाथा उत्तमपात्राणि भणिताः) जिनका स्वरूप आगे कह रहे हैं, वे मुनीश्वर उत्तम पात्र के रूप में कहे गये हैं, माने गये हैं। यहाँ 'उत्तम' पद स्वतः मध्यम व जघन्य पात्र के अस्तित्व को सूचित करता है। इसी तरह यह भी सूचित होता है कि मुनीश्वरों की ही उत्तमपात्रता है, उनसे नीची स्थिति वालों की मध्यम व जघन्य पात्रता जाननी चाहिए।

वे मुनिनाथ कैसे हैं ? बता रहे हैं— **(येषाम् उपशमनिरीहध्यानाध्ययनादिमहागुणा यथा दृष्टाः तथा ते)** उपशम, निरीहता, ध्यान व अध्ययन आदि महान् यानी महत्त्व या गौरव को प्रकट करने वाले गुण जिनमें होते हैं, और वे जिस प्रकार से दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात् गुणों की जितनी अधिकता या जितनी उत्कृष्टता होती है, उसके अनुरूप ही वे उत्तमपात्रता धारण करते हैं। अथवा 'जहा दिट्ठा' इस (प्राकृत) की संस्कृत छाया 'यथा आदिष्टाः' यह भी हो सकती है। उसका अर्थ होगा— जैसे, जिस स्वरूप से वे शास्त्रों में निरूपित हैं, तदनुरूप उनकी उत्तमपात्रता जाननी चाहिए। शास्त्रों में अविरत (सम्यग्दृष्टि), देशविरत, महाव्रती इनमें क्रमशः उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता या श्रेष्ठता निरूपित है, वहाँ महाव्रतियों की सर्वश्रेष्ठता का भी निरूपण किया गया है। उसी तरह, उन गुणों के अनुसार ही उनमें उत्तम आदि की कल्पना पात्रता की दृष्टि से की गई है।

इदमपि सूच्यते यत् उत्तमतादीनामाधारः पात्रगतमहागुणाः भवन्ति, नान्यत्, ते च महागुणाः तेषु यथा दृष्टिगोचराः, यथा दृष्टिपथमायान्ति, यद्वा यथा शास्त्रेषु निरूपिताः, तथैव तेषु दृश्यन्ते, तदनुरूपमेव ते महामुनिप्रभृतय उत्तमादिपात्रविशेषतां धारयन्तीत्याशयः।

अत्र उपशमपदेन मन्दकषायता, समत्वं प्रशमभावो वा अभिधीयते। निरीहतापदेन निःस्पृहता, विषयसुखानाकांक्षा वा सूच्यते। ध्यानं चैकाग्रचिन्तानिरोधः, सोऽपि प्रकरणवशेनात्र प्रशस्तध्यानमेव गृह्यते। अध्ययनं स्वाध्यायः, स च ज्ञानभावनालस्यत्यागः वाचनापृच्छनादिमाध्यमेन श्रुताभ्यासः, निश्चयेन शुद्धात्मनि स्थितेः अभ्यासो भवति। आदिपदेन अपरिग्रह-तपःप्रभृतीनां ग्रहणं भवत्यत्र। मुनीश्वराः उत्तमगुणैरन्विताः भवन्त्येव। अष्टाविंशतिमूलगुणान् चतुरशीतिशत-सहस्रोत्तरगुणांश्च ते धारयन्ति।

उक्तं च धवलाग्रन्थे (पु. १, खंड-१, भाग-१, सू. १)— ''पञ्चमहाव्रतधराः, त्रिगुप्तिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराः, चतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः।''

यह भी यहाँ सूचित होता है कि उत्तमता आदि का आधार पात्रगत महागुण होते हैं, अन्य कुछ नहीं, और वे महागुण उन (मुनि आदि) में जिस प्रकार दृष्टिगोचर होते हैं, जिस प्रकार दृष्टि में आते हैं, अथवा जैसा शास्त्रों में निरूपित है, वैसे ही उनमें दिखाई पड़ते हैं, तदनुरूप ही वे महामुनि आदि उत्तम आदि विभिन्न पात्रता धारण करते हैं —यह आशय है।

यहाँ 'उपशम' पद से मन्दकषायपना, समता या प्रशमभाव अभिहित है। निरीहता पद से निःस्पृहता या विषय-सुख की आकांक्षा न होना सूचित है। ध्यान का स्वरूप है— एकाग्रचिन्तानिरोध। यहाँ प्रकरणानुसार प्रशस्त ध्यान का ही ग्रहण होता है। अध्ययन यानी स्वाध्याय, उसका स्वरूप है— ज्ञान भावना में आलस्य न करना, और वाचना, पृच्छना आदि के माध्यम से श्रुत का अभ्यास और निश्चयनय से शुद्ध आत्मा में स्थिति का अभ्यास करना। 'आदि' पद से अपरिग्रह व तप आदि का यहाँ ग्रहण किया गया है। मुनीश्वर उत्तम गुणों से सम्पन्न होते हैं। वे अठाईस मूलगुणों को तथा चौरासी लाख उत्तर गुणों को धारण करते हैं।

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खंड-1, भाग-1, सू. 1) में कहा गया है— ''जो पाँच महाव्रतों के धारक, तीन गुप्तियों से गुप्त, अठारह हजार शीलों के धारक तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों के धारक होते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं।''

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-१००२) **च** 'सर्वगुणाढ्यः' **इतिविशेषणेन मुनीनां निरूपणं कृतमस्ति—**

णिस्संगो णिरारंभो भिक्खाचरियाए सुद्धभावो य।
एगागी ज्झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१५४, १५८) **च भणितम्—**

ते च्चिय भणामि हं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहिं।
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण, सावयसमो सो।।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिंदो।
तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुव्व पवणपहे।।

गाथायामत्र उपशमादिगुणानां संकेतः कृतः, ते गुणाः विशेषतः स्वयं शास्त्रकारेण स्वकीयान्यग्रन्थेषु मुनिस्वरूपवर्णने निर्दिष्टाः।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1002) में मुनियों को 'सर्वगुणों से समृद्ध' इस विशेषण के द्वारा उनका निरूपण किया गया है—

''जो अपरिग्रह व निरारम्भ है, भिक्षाचर्या में शुद्ध भाव रखता है, एकाकी ध्यान में लीन रहता है, और सब गुणों से परिपूर्ण होता है, वह 'श्रमण' है।''

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-154 व 158) में भी कहा गया है—

''हम उन्हीं को मुनि कहते हैं जो समस्त कला, शील व संयम आदि गुणों से युक्त हैं। जो अनेक दोषों का स्थान तथा अत्यन्त मलिन चित्त वाला है, वह मुनि तो दूर की बात, श्रावक के भी समान नहीं है।''

''जिस प्रकार आकाश में ताराओं की पंक्ति से घिरा हुआ पूर्णिमा का चाँद सुशोभित होता है, उसी प्रकार जिन-मत रूपी आकाश में गुण-समुदाय रूपी मणियों की मालाओं से युक्त मुनीश्वर रूपी चन्द्रमा सुशोभित होता है।''

इस गाथा में उपशम आदि गुणों का संकेत किया गया है, उन गुणों का कथन शास्त्रकार ने स्वयं अपने अन्य ग्रन्थों में मुनि-स्वरूप के वर्णन में किया है।

यथा, बोधप्राभृते (गाथा-५२) **प्रोक्तम्—**

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रूक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

अन्यच्च, तत्रैव (गाथा-४४, ४७, ५७) **भणितम्—**

पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदियसंजया णिरावेक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छंति।।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिंदा अलद्धिलद्धि समा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणई विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१११) **च निर्दिष्टम्—**

उदाहरणार्थ, बोधप्राभृत (गाथा-52) में कहा गया है—

''जो उपशम, क्षमा व दम (इन्द्रियनिग्रह) से युक्त है, शरीर के संस्कार से वर्जित है, रूक्ष (नीरस) है, मद, राग व द्वेष से रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

और भी, वहीं (गाथा-44, 47, 57) यह भी कहा गया है—

''जो पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, पाँचों इन्द्रियों को जीतने वाले हैं, निःस्पृह हैं, तथा स्वाध्याय व ध्यान से युक्त हैं, ऐसे मुनि उपर्युक्त (शून्य, एकाकी) स्थान को नियत रूप से चाहते हैं।''

''जो शत्रु व मित्र, प्रशंसा व निन्दा, हानि व लाभ तथा तृण व स्वर्ण में समान भाव रखती है, उसे जिनदीक्षा कहा गया है।''

''जिसमें पशु, स्त्री, नपुंसक व कुशील मनुष्यों का संग नहीं किया जाता, विकथाओं की चर्चा नहीं होती और सदा स्वाध्याय व ध्यान में लीन रहा जाता है —ऐसी जिन दीक्षा कही गई है।''

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-111) में भी ऐसा बताया गया है—

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि।
पालिह भावविसुद्धो पूयालाहं ण ईहंतो।।

तथा मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-३३, १०२) **च निरूपितम्—**

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह।।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं।।

चारित्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-४२) **च निर्दिष्टम्—**

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो।।

''हे मुनि! तू भावों से विशुद्ध होकर पूजा व लाभ के प्रति निरीह भाव रखता हुआ बाहर सोना, आतापनयोग का धारण तथा वृक्ष-मूल में निवास आदि उत्तरगुणों का पालन कर।''

तथा मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-33 व 102) में भी इस प्रकार निरूपित है—

''हे मुनि! तूँ पाँच महाव्रतों से युक्त होकर, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से युक्त हो सदा ध्यान व अध्ययन कर।''

''गुणों के समूह से जिनका शरीर शोभित है, जो हेय व उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा ध्यान व अध्ययन में जो अच्छी तरह लीन रहता है, वही साधु उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।''

चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-42) में भी बताया गया है—

''जो मनुष्य चारित्र गुण से युक्त तथा सम्यग्ज्ञानी है, वह अपनी आत्मा में पर-पदार्थ की इच्छा नहीं करता है। ऐसा मनुष्य ही शीघ्र अनुपम सुख पाता है, इसे निश्चय से जानो।''

प्रवचनसारग्रन्थे (३/७३-७४) **च वर्णितम्—**

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा।।

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स।।

आचार्यभक्ति-गाथायां (सं. ६) **च भणितम्—**

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा सायरु व्व मुणिवसहा।
एरिसगुणणिलयाणं पायं पणमामि सुद्धमणो।।

एवं हे भव्य! उत्तमपात्रस्वरूपं सम्यगवबुद्ध्य तान्युद्दिश्य यथोचितदानसत्कारादिकं विधेयम्, स्वयं च सत्पात्रत्वप्राप्त्यै प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

प्रवचनसार ग्रन्थ (3/73-74) में भी इस प्रकार कथन है—

''जिन्होंने यथार्थ रूप से समस्त तत्त्वों को जान लिया है और जो बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग परिग्रह को छोड़कर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लीन नहीं होते, वे महामुनि 'शुद्ध' कहे गये हैं।''

''साक्षात् मोक्षतत्त्व को सिद्ध करने वाले उस 'शुद्ध' (शुद्धोपयागी) मुनि के ही मुनिपद कहा गया है, उसी के दर्शन व ज्ञान कहे गये हैं, उसी के मोक्ष कहा गया है और वही सिद्ध स्वरूप है। ऐसे 'शुद्ध' मुनि को मेरा नमस्कार हो।''

'आचार्य भक्ति' गाथा (सं. 6) में भी कहा गया है—

''वे मुनिश्रेष्ठ आकाश की तरह निर्लेप एवं सागर की तरह क्षोभरहित होते हैं। ऐसे गुणों के घर आचार्य परमेष्ठी के चरणों में मैं शुद्धमन से नमस्कार करता हूँ।''

इस प्रकार हे भव्य! उत्तम पात्र के स्वरूप को अच्छी तरह से समझकर, उनके प्रति यथोचित दान व सत्कार आदि का कार्य करो और स्वयं भी सत्पात्रता की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ, निजात्मस्वरूपभेदादिज्ञानरहितस्य तपोऽपि दीर्घसंसारोत्तरणाय न समर्थमिति शास्त्रकारा गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

ण वि जाणदि जिणसिद्ध सरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणदि तवं सो हिंडदि दीहसंसारे।।११६।।

छाया— नापि जानाति जिनसिद्धस्वरूपं त्रिविधेन तथा निजात्मानम्।
य: तीव्रं करोति तप: स हिण्डते दीर्घसंसारे।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जो जिणसिद्ध सरूवं तह तिविहेण णियप्पाणं वि ण जाणदि, तिव्वं तवं कुणदि, सो दीहसंसारे हिंडदि —इति गाथाया अन्वय:।

(सो हिंडदि दीहसंसारे) **स जीवो दीर्घसंसारे हिण्डते परिभ्रमति, न कदाचित् संसारान्मुक्तो भवति। मुक्तावेव शाश्वतमनुपमं निराबाधं परमसुखं प्राप्यते, किन्तु स जीवस्तस्माद् वञ्चितो भवति।**

अब, निज आत्मा के स्वरूप व भेद आदि के ज्ञान से रहित व्यक्ति का तप भी दीर्घसंसार से तारने में समर्थ नहीं होता —इसे शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो जीवात्मा जिनेन्द्र देव व सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप को तथा अपनी आत्मा को उसके (बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा —इन) तीन भेदों के साथ नहीं जानता है, वह (भले ही) तीव्र तप करे, किन्तु दीर्घ संसार में भ्रमण करता (भटकता) रहता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— य: जिनसिद्धस्वरूपं तथा त्रिविधेन निजात्मानम् अपि न जानाति, तीव्रं तप: करोति, स दीर्घसंसारे हिण्डते —यह गाथा का अन्वय है।

(स हिण्डते दीर्घसंसारे) वह जीव दीर्घ संसार में परिभ्रमण करता है, वह कभी संसार से मुक्त नहीं होता। मुक्ति में ही शाश्वत, अनुपम व निर्बाध परमसुख प्राप्त होता है, किन्तु वह जीव उस (परमसुख) से वञ्चित रहता है।

संसारपरिभ्रमणे का हानिः ? उच्यते— अनाद्यनन्तोऽयं संसारः, जन्ममृत्युजरारोगादि-बहुविधदुःखबहुलः, इष्टवियोग-अनिष्टप्राप्तिजनितपरितापमनोविक्षोभभयङ्करः, महार्णव इव सुदुस्तरः, अतस्तत्र यथार्थसुखं न प्राप्तुं शक्यते। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-६२, ७२)—

एवं सुट्ठु असारे संसारे दुक्खसायरे घोरे।
किं कत्थ वि अत्थि सुहं वियारमाणं सुणिच्छयदो।।

एवं अणाइकाले पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणो जीवो मिच्छत्तदोसेण।।

किं तपश्चर्ययाऽपि संसारमुक्तिर्न सम्भवति ? नैव भवतीति उच्यते— (जो तिव्वं कुणदि तवं सो) **यस्तीव्रं घोरातिघोरं तपश्चरणमपि करोति, सोऽपि संसारे एव परिभ्रमति। घोरतपश्चरणमपि मुक्त्यै निरर्थकमेव सिद्धं भवति। तपसाऽपि संसारमुक्तिर्न भवति, तत्र किं कारणम् ?**

संसारपरिभ्रमण में हानि क्या है ? बता रहे हैं— यह संसार अनादि-अनन्त है। जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग आदि अनेकानेक दुःखों की अधिकता यहाँ है, इष्ट-वियोग व अनिष्ट प्राप्ति से होने वाले सन्ताप व मानसिक विक्षोभ के कारण भयंकर है, महासागर की तरह इसे पार करपाना कठिन है, इसलिए यहाँ यथार्थ सुख नहीं प्राप्त हो सकता। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-62, 72) में भी कहा गया है—

"इस प्रकार, परमार्थ रूप में विचार करें तो सर्वथा असार, दुःखों के सागर इस भयानक संसार में किसी को भी क्या सुख मिलता है ? (अर्थात् नहीं।)"

"इस प्रकार, अनेक दुःखों की उत्पत्ति के कारण (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव व भाव — इन) पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यात्व (अज्ञान) रूपी दोष के कारण अनादि काल तक भ्रमण करता रहता है।"

क्या तपश्चर्या से भी संसार-मुक्ति नहीं होती ? नहीं होती है, इसे ही बता रहे हैं— **(यः तीव्रं करोति तपः सः)** जो तीव्र, घोर से भी घोर तपश्चरण भी करता है, वह भी संसार में ही भ्रमण करता रहता है। घोर तपश्चरण भी मुक्ति की प्राप्ति में निरर्थक ही सिद्ध होता है। तप से भी संसार-मुक्ति नहीं होती —इसमें आखिर कारण क्या है ?

उच्यते— (ण वि जाणदि जिण सिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं) **यतो स जिनस्वरूपं तथा सिद्धात्मस्वरूपं न जानाति, यथा च त्रिविधं निजात्मस्वरूपं च न जानाति। आत्मस्वरूपाद् अपरिचित एव स जीवः, अतस्तीव्रतपोभिरपि न संसारमुक्तिरिति गाथासारः।**

अयमात्मा चेतनोऽमूर्तः, देहाद् भिन्नः, तस्यैव बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा —इति त्रयः प्रकाराः। जिनः सर्वज्ञः अर्हद्देवो वा सकलपरमात्मा। सिद्धः पूर्णतया कर्मबन्धनमुक्तो निष्कलः परमात्मा। कर्मबद्ध आत्मैव मोक्षमार्गमाश्रित्य कर्मबन्धनाद् विमुक्तः क्रमेण जिनः, पश्चाच्च सिद्धस्वरूपं प्राप्तुं प्रभवति —इत्यादिकं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्त्वापरपर्यायं तस्य नास्ति, अतः तस्य तपोऽपि कर्ममुक्तिदायकं तस्य कृते न भवतीत्याशयः। आत्माज्ञानाभावे तपस्विनोऽपि संसार-भ्रमणमेवेति समाधिशतके (श्लोक-६८) **निरूपितम्—**

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे।।

बता रहे हैं— **(नापि जानाति जिन-सिद्धस्वरूपं त्रिविधेन तथा निजात्मानम्)** चूँकि वह 'जिन' के स्वरूप को तथा सिद्ध के स्वरूप को नहीं जानता और त्रिविध आत्मीय स्वरूप को भी नहीं जानता। आत्म-स्वरूप से अपरिचित ही वह जीव है, इसलिए तीव्र तप से भी उसकी संसार से मुक्ति नहीं होती —यह गाथा का सार है।

यह आत्मा चेतन व अमूर्त पदार्थ है, देह से पृथक् है, उसी के बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —ये तीन प्रकार हैं। जिन या सर्वज्ञ अर्हन्त देव सकल परमात्मा हैं। 'सिद्ध' कर्म-बन्धन से पूर्णतया निर्मुक्त निष्कल परमात्मा है। कर्मबद्ध आत्मा ही मोक्षमार्ग का आश्रयण कर कर्मबन्ध से छूट कर, क्रमशः 'जिन' और बाद में सिद्ध के स्वरूप को पा सकता है— इत्यादि सम्यग्ज्ञान— जिसे सम्यक्त्व भी कहा जाता है—उस जीव को नहीं है, इसलिए उस जीव का तप भी कर्म-मुक्ति का दायक उसके लिए नहीं हो पाता— यह आशय है। आत्म-ज्ञान के न होने पर तपस्वी का भी संसार-भ्रमण ही होता है —ऐसा समाधिशतक (श्लोक-68) में इस प्रकार कहा गया है—

"आत्मा का शरीर तो ज्ञान है, किन्तु वह देह रूपी कंचुक से ढँका हुआ है और अपने आपको नहीं जान या समझ पाता है। यही कारण है कि संसार में अत्यन्त चिरकाल तक वह भ्रमण करता रहता है।"

अन्यच्च, तत्रैव (श्लोक-११, ४१) **प्रोक्तम्—**

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः।।

आत्मविभ्रमजं दुःखम्, आत्मज्ञानात् प्रशाम्यति।
नायतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वाऽपि परमं तपः।।

आत्मतत्त्वस्य सम्यग्ज्ञाने सति जिनेन्द्र-सिद्धादि-स्वरूपज्ञानं भवत्येव, यतो हि जिनः (अर्हन्) **सिद्धश्च परमात्मरूपत्वाद् आत्मरूपावेव। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे** (श्लोक-६, ९८)-

निर्मलः केवलः सिद्धः, विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः।।

और भी, वहीं (श्लोक-11 व 41 में) भी इस प्रकार कथन है—

''आत्म-स्वरूप से अनभिज्ञ लोगों द्वारा अपने या दूसरों के शरीर में ही स्वपर-अध्यवसाय (यह मेरी आत्मा है, यह दूसरे की —इस प्रकार का निश्चय) होता है, और फलस्वरूप 'यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पत्नी है, यह दूसरे का पुत्र है —इत्यादि 'विभ्रम' (अज्ञान) होता रहता है।''

''आत्म-तत्त्व के विषय में होने वाली (उक्त) भ्रान्ति से जो दुःख हुआ करता है,वह तभी नष्ट होता है जब आत्म-ज्ञान हो। यही कारण है कि आत्मज्ञान जिन्हें नहीं है, वे (बहिरात्मा) परम तप करके भी निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त नहीं हो पाते।''

आत्मतत्त्व के सम्यग्ज्ञान होने पर जिनेन्द्र, सिद्ध आदि के स्वरूप का ज्ञान होता ही है, क्योंकि जिन (अर्हन्त देव) व सिद्ध —ये परमात्मा होने से आत्मा के ही (विविध) रूप हैं। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-6 व 98) में भी गया हैं—

''निर्मल, केवल, सिद्ध, विविक्त, प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा, ईश्वर, जिन —ये सब परमात्मा के नाम हैं।''

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-१९२) **च भणितम्—** परमप्पा वि य दुविहा, अरहंता तह य सिद्धा य।

एवं जिनेन्द्रार्हद्देवस्वरूपज्ञाने आत्मतत्त्वज्ञानं, तदनु मोहक्षये सम्यक्त्वं भवत्येव। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (१/८०)—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणपज्जएहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

तत्र नष्टघातिकर्मचतुष्टय आत्मैव जिनः, अर्हन् वा, समस्तकर्मविप्रमुक्त आत्मा सिद्धः— इति तयोर्भेदः। आत्मनः एव एते त्रयः प्रकाराः सन्ति— बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मेति च।

''अथवा यह आत्मा अपने चैतन्य-स्वरूप का ही चिदानन्दमय रूप से आराधना करके 'परमात्मा' बन जाता है। जैसे वृक्ष (बाँस आदि) स्वयं ही अपने आपको मथकर (घर्षणकर) आग बन जाता है।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-192) में भी यह बताया गया है— ''परमात्मा दो प्रकार के हैं— अरहंत (जिन) व सिद्ध (आत्मा)।''

इसी तरह जिनेन्द्र या अर्हन्त देव के स्वरूप का ज्ञान होने पर आत्मतत्त्वज्ञान और उसी से मोहक्षय होकर सम्यक्त्व हो ही जाता है। प्रवचनसार ग्रन्थ (1/80) में कहा भी गया है—

''जो द्रव्य, गुण व पर्याय से युक्त अर्हन्त को जानता है, वह आत्मा को जान लेता है और उसका मोह क्षीण हो जाता है।''

इनमें अपने चार घाती कर्मों को नष्ट करने वाली आत्मा ही जिन या अर्हन्त देव होती है और समस्त कर्मों से मुक्त होने वाली आत्मा 'सिद्ध' होती है —यह दोनों में अन्तर है। आत्मा के ही ये तीन प्रकार हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा।

आत्मन एतेषां त्रयाणां प्रकाराः मोक्षप्राभृते (गाथा-४), **समाधिशतके** (श्लोक-४), **कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा-१९२) **च निर्दिष्टाः। एतेषां पृथक् पृथक् स्वरूपाणि स्वयं शास्त्रकाराः ग्रन्थेऽमुत्राग्रे** (गाथा १२६-१४१) **विशदतया वक्ष्यन्ति, अतस्तत्स्वरूपं न विव्रियते।**

आत्मज्ञानाभावे संसारभ्रमणमत आत्मज्ञानं मुमुक्षूणां कृते कर्तव्यमेव। उक्तं च चारित्र-प्राभृतग्रन्थे (गाथा-३७)—

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि।।

आत्मज्ञानिन एव तपः सार्थकं, नान्यथा। मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५९, ६८) **निर्दिष्टमपि—**

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं।।

आत्मा के इन तीन प्रकारों का निर्देश मोक्षप्राभृत (गाथा-4), समाधिशतक (श्लोक-4) तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-192) में किया गया है। इनके पृथक्-पृथक् स्वरूपों का स्पष्ट निरूपण इसी ग्रन्थ (रयणसार, गाथा 126-141) में शास्त्रकार करने वाले हैं, इसलिए उनके स्वरूप का विवरण यहाँ नहीं कर रहे हैं।

आत्म-ज्ञान के अभाव में संसार-भ्रमण होता है, इसलिए मुमुक्षुओं के लिए आत्मज्ञान ही कर्तव्य है। चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-37) में कहा भी गया है—

''भव्य जीवों को समझाने हेतु जिन-मार्ग में जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है, वैसा ज्ञान तथा ज्ञानस्वरूपी आत्मा को हे भव्य! तू अच्छी तरह जान।''

आत्मज्ञानी का ही तप सार्थक होता है, अन्यथा (आत्मज्ञान के अभाव में) नहीं। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-59 व 68) में यह बताया गया है—

''जो ज्ञान तप से रहित है और जो तप ज्ञान से रहित है —ये दोनों व्यर्थ हैं, इसलिए ज्ञान व तप से युक्त ही व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त होता है।''

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।

स्वयं शास्त्रकारा अपि ग्रन्थेऽमुत्र प्राक् (गाथा ८५-८७) **आत्मज्ञानस्य महत्तां, ज्ञानहीनतपसो निरर्थकतां च प्रतिपादितवन्तः। अत एव समाधिशतकग्रन्थे** (श्लोक-५०) **परामृष्टम्—**

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद् वाक्कायाभ्यामतत्परः।।

एवमात्मज्ञानस्य महत्तां सम्यगवबुद्ध्य आत्मज्ञानपूर्वकचारित्रानुष्ठाने संसारमुक्त्यै प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''और जो विषयों से विरक्त होते हुए, आत्म-ज्ञान प्राप्त करते हैं और उसकी भावना से सहित रहते हैं, वे जीव तप रूपी गुण अथवा तप व मूलगुणों से युक्त होकर चतुरङ्ग (चतुर्गति) रूप संसार से छूट जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं।''

स्वयं शास्त्रकार भी इसी ग्रन्थ (रयणसार, गाथा 85-87) में पहले आत्मज्ञान की महत्ता तथा ज्ञान के बिना तप की निरर्थकता का प्रतिपादन कर चुके हैं। इसलिए समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-50) में यह परामर्श दिया गया है—

''आत्मज्ञान से भिन्न किसी दूसरे कार्य में कभी अधिक समय तक अपनी बुद्धि को नहीं उलझाएँ। हाँ, प्रयोजनवश (परोपकार आदि हेतु) कुछ करना ही पड़े तो अनासक्त होकर वाणी व शरीर से वह—वह कार्य करें।''

इस प्रकार, आत्म-ज्ञान की महत्ता को अच्छी तरह समझकर, आत्म-ज्ञानपूर्वक चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर रहो ताकि संसार से मुक्ति प्राप्त हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, पात्रापात्रविवेकं विधायैव कृतं दानं सम्यगिति शास्त्रकारा चपला(गाहा)-**छन्दोमाध्यमेन निर्दिशन्ति—**

दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिस्सल्लो।
पत्तविसेसो भणिदो सो गुणहीणो दु विवरीदो।।११७।।

सम्मादिगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं।
तं जाणिऊण देदि सुदाणं जो सो हु मोक्खरदो।।११८।।

छाया— दर्शनशुद्धः, धर्मध्यानरतः, सङ्गवर्जितः निःशल्यः।
पात्रविशेषः भणितः स गुणहीनस्तु विपरीतः।।

सम्यक्त्वादिगुणविशेषः पात्रविशेषः जिनैः निर्दिष्टः।
तद् ज्ञात्वा ददाति सुदानं यः स खलु मोक्षरतः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (पत्तविसेसो भणिदो) **पात्रेषु विशिष्टः स जीवात्मा भणितः। पात्राणामनेकानेकप्रकारेषु विशिष्टपात्रतां वहति,** 'उत्तमपात्र'-**रूपेण विज्ञायते —इत्याशयः।**

अब, पात्र व अपात्र का विवेक करके ही किया गया दान समीचीन होता है —इसे शास्त्रकार दो चपला (गाहा) छन्दों द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— निर्दोष सम्यग्दर्शन वाले, धर्मध्यान में रत, परिग्रह से रहित, (तीन) शल्यों से रहित— (इन्हें) विशेष पात्र कहा गया है। जो इन गुणों से हीन है, वह विपरीत यानी अपात्र होता है।

जिसमें सम्यक्त्व आदि विशेष गुण हैं, उसे जिनेन्द्र देव ने विशेष पात्र कहा है। इस प्रकार जान कर जो सुदान देता है, वही निश्चय से मोक्षमार्ग में रत है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(पात्रविशेषो भणितः)** पात्रों में विशिष्ट वह जीवात्मा कहा गया है। पात्रों के अनेकानेक भेदों में वह विशिष्टपात्रता रखता है, उत्तमपात्र रूप से जाना जाता है —यह आशय है।

कः स पात्र-विशेषः? उच्यते— (दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिस्सल्लो) **यो दर्शनशुद्धः, दर्शनविशुद्धियुक्तः, धर्मध्याने प्रशस्तध्याने निरतः, संगात् परिग्रहात् वर्जितः रहितः, तथा निःशल्यः, त्रिभिः शल्यैः रहितो भवति, स विशिष्टपात्रं भवति, उत्तमपात्रतां वहति — इत्याशयः। को दर्शनशुद्धः —इतिविषये स्वयं शास्त्रकाराः प्राक्** (गाथा-५) **प्रत्यपीपदन्—**

भयवसणमलविवज्जिदसंसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अट्ठगुणंगसमग्गो दंसणसुद्धो हु पंचगुरुभत्तो।।

माइल्लधवलकृते नयचक्रे (गाथा-३३०) **श्रमणस्वरूपवर्णने** 'दर्शनशुद्धिविशुद्धः' **इत्यादि-विशेषणान्युक्तानि—**

दंसणसुद्धिविसुद्धो मूलाइगुणेहि संजुओ तहय।
सुहदुक्खाइसमाणो झाणणिलीणो हवे समणो।।

वह पात्र विशेष कौन है? बता रहे हैं— **(दर्शनशुद्धः धर्मध्यानरतः संगवर्जितः निःशल्यः)** जो दर्शनशुद्ध यानी दर्शन-विशुद्धि वाला है, धर्मध्यान यानी प्रशस्त ध्यान में निरत है, संग यानी परिग्रह से वर्जित यानी रहित है, और निःशल्य है अर्थात् तीनों शल्यों से रहित है, वह विशिष्ट पात्र होता है, उत्तमपात्रता वाला है —यह आशय है। दर्शनशुद्ध कौन है —इस विषय में स्वयं शास्त्रकार ने पहले (गाथा-5) इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

''निर्दोष सम्यग्दर्शन का धारक (दर्शन विशुद्ध) निश्चय ही भय, व्यसन व मलों से रहित होता है, संसार, शरीर व भोगों से विरक्त होता है, अष्टांग (निःशंकित आदि) गुणों से युक्त होता है और पञ्च परमेष्ठी देवों का भक्त होता है।''

माइल्लधवल द्वारा विरचित द्रव्यस्वभाव प्रकाशक 'नयचक्र' (गाथा-330) में श्रमण के स्वरूप का वर्णन करते हुए 'दर्शनशुद्धिविशुद्धः' इत्यादि विशेषणों का कथन इस रूप में किया गया है—

''जो दोषरहित सम्यग्दर्शन से विशुद्ध है, तथा मूलगुण व उत्तरगुणों से युक्त होता है, सुख-दुःख में जिसका समान भाव रहता है तथा आत्मध्यान में लीन रहता है, वह श्रमण (चारित्र का स्वामी) है।''

एवं पञ्चविंशतिसम्यक्त्वदोषैः, अष्टाभिर्मदैः, षडानायतनैः, तिसृभिर्मूढताभिः, शंकाप्रभृतिभिरष्टमलदोषैश्च रहितो निर्दोषसम्यक्त्वधारी दर्शनशुद्धोऽत्र ग्राह्यः। अत्र यद् वक्तव्यं तत्पूर्वोक्तपञ्चमगाथाव्याख्याने प्रोक्तमतो न पुनरुच्यते। धर्मध्यानरतः, आज्ञा-अपायादि-चतुर्विधधर्मध्याननिरतो दर्शनशुद्धः उत्तमपात्ररूपेण ज्ञेयः। चतुर्विधधर्मध्यानस्य निरूपणं प्राक् एकादशगाथाया (गाथा-11) **व्याख्याने विहितमेव, अतो न पुनरुच्यते। सङ्गवर्जितः, दशभिर्बाह्यपरिग्रहैः, चतुर्दशभिरान्तरिकपरिग्रहैश्च निर्मुक्तो दर्शनशुद्धः उत्तमपात्रं भवति। बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहाणां निर्देशो मूलाचारग्रन्थे** (गाथा ४०७-४०८) **विहितः—**

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हस्सादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चोद्दस अब्भंतरा गंथा।।

खेत्तं वत्थु धणधण्णगदं दुपदचदुप्पदगदं च।
जाणसयणासणाणि य कुप्पे भंडेसु दस होंति।।

इस प्रकार, पच्चीस सम्यक्त्व-सम्बन्धी दोषों से, आठ प्रकार के मदों से, छः प्रकार के अनायतनों से, तीन प्रकार की मूढ़ताओं से, शंका आदि आठ मलों या दोषों से रहित, निर्दोष सम्यक्त्व का धारक 'दर्शनशुद्ध' का यहाँ ग्रहण किया गया है। यहाँ व्याख्यान में जो कुछ वक्तव्य है, वह पूर्वोक्त पाँचवीं गाथा के व्याख्यान में कह दिया गया है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहा जा रहा है। धर्मध्यानरत, अर्थात् आज्ञा, अपाय आदि चार प्रकार के धर्मध्यान में निरत दर्शनशुद्ध को उत्तमपात्र के रूप में जानना चाहिए। चतुर्विध धर्मध्यान का निरूपण पहले ग्यारहवीं गाथा के व्याख्यान में किया जा चुका है, इसलिए उसे पुनः नहीं कहा जा रहा है। सङ्गवर्जित अर्थात् दस बाह्य परिग्रहों से और चौदह आन्तरिक परिग्रहों से निर्मुक्त जो दर्शनशुद्ध है, वह उत्तमपात्र होता है। बाह्य व आन्तरिक परिग्रहों का निर्देश मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 407-408) में इस प्रकार किया गया है—

"मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य (रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) आदि छः दोष, तथा (क्रोध, मान, माया व लोभ —ये) चार कषाय —ये कुल मिलाकर चौदह आभ्यन्तर ग्रन्थ (परिग्रह) होते हैं।"

"क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शयन-आसन, कुप्य, भाण्ड —ये दस (बाह्य) परिग्रह होते हैं।"

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा १११२-१११३) **च वर्णितम्—**

मिच्छत्तवेदरागा तहेव हासादिया य छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा।।

बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं धणधण्णकुप्प भंडाणि।
दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणे य तहा।।

निःशल्यः मिथ्यात्व-माया-निदानेतिसंज्ञकैः त्रिभिः शल्यैः रहितो दर्शनशुद्धः सम्यग्दृष्टि-मुनिरुत्तमपात्रं भवतीति ज्ञेयम्। एतानि शल्यानि व्रतानां (महाव्रतानामणुव्रतानां च) **घातकानि भवन्ति। उक्तं च भगवती-आराधना-ग्रन्थे** (गाथा १२०८)— वदमुवहम्मदि तीहिं दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।

तथा (गुणहीणो दु विवरीदो) **पूर्वोक्तगुणरहितस्तु, अर्थात् दर्शनविशुद्धिरहितः, अप्रशस्त-ध्यानरतः, परिग्रहासक्तः, शल्ययुक्तस्तु जीवः विपरीतः पात्रतारहितः, अपात्रमेव भवतीत्यर्थः।**

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 1112-1113) में भी कहा गया है—

''ये चौदह आन्तरिक परिग्रह हैं— मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य आदि छः दोष, तथा चार कषाय।''

''बाह्य संग (परिग्रह) ये (दस) हैं —खेत, वास्तु (मकान आदि), (सुवर्ण आदि) धन, (गेहूं आदि) धान्य, कुप्य (वस्त्र), भाण्ड (हींग आदि मसाले), द्विपद (दास, दास आदि), (हाथी, घोड़े आदि) चतुष्पद, (पालकी आदि) यान, तथा शयन-आसन (शय्या, सोफे आदि)।''

निःशल्य यानी मिथ्यात्व, माया व निदान —इन तीन शल्यों से रहित दर्शनशुद्ध या सम्यग्दृष्टि मुनि उत्तमपात्र होता है —ऐसा जानना चाहिए। ये शल्य व्रतों (महाव्रत व अणुव्रत) की घातक होती हैं। भगवती-आराधना (गाथा-1208) में कहा भी गया है— ''निदान, मिथ्यात्व व माया —इन तीनों शल्यों द्वारा व्रत का उपघात होता है।''

तथा **(गुणहीनस्तु विपरीतः)** पूर्वोक्त गुणों से रहित, अर्थात् दर्शनविशुद्धि से रहित, अप्रशस्त ध्यान में रत, परिग्रह में आसक्त और शल्ययुक्त जीव तो विपरीत अर्थात् पात्रता से रहित यानी अपात्र ही होते हैं।

द्वितीयगाथा व्याख्यायते। (सम्मादिगुणविसेसं पत्तविसेसं जिणेहि णिद्दिट्ठं) **सम्यक्त्वप्रशस्त-ध्यानित्वप्रभृतिगुणैः विशिष्टो जीवः विशिष्टपात्रं जिनेन्द्रदेवैः निर्दिष्टम्, उपदिष्टम्।** (तं जाणिऊण देदि सुदाणं जो सो हु मोक्खरदो) **य एतदुत्तमपात्रतास्वरूपं विज्ञाय तस्मै सम्यग्दानं विधत्ते, स निश्चयेन मोक्षरतः, मोक्षमार्गस्थो वर्तते —इत्यर्थः। स्वयं शास्त्रकाराः प्राक्** (गाथा-१३) **अपि एतत्तथ्यं निर्दिष्टवन्तः।**

सुपात्रदानरहितस्य तु मनुष्यजन्मैव निरर्थकमिति कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-१३) **भणितम्—**

जो पुण लच्छिं संचदि ण य भुंजदि णेय देदि पत्तेसु।
सो अप्पाणं वंचदि मणुयत्तं णिप्फलं तस्स।।

सुपात्रदानस्य माहात्म्यं ग्रन्थेऽमुत्र प्राक् (गाथा १६-२१) **शास्त्रकारैः विशदतया प्रतिपादित-मेव।**

अब दूसरी (गाथा सं. 118) गाथा का व्याख्यान किया जा रहा है। **(सम्यक्त्वादिगुणविशेषः पात्रविशेषः जिनैः निर्दिष्टः)** सम्यक्त्व व प्रशस्त ध्यान आदि गुणों से विशिष्ट जीव को जिनेन्द्र देव ने विशिष्ट पात्र कहा है। **(तद् ज्ञात्वा ददाति सुदानं यः, स खलु मोक्षरतः)** जो इस उत्तम पात्र के स्वरूप को जान कर उस (सत्पात्र) को सम्यग्दान देता है, वह निश्चय ही मोक्षरत यानी मोक्षमार्ग में स्थित है —यह (गाथा का) अर्थ है। स्वयं शास्त्रकार ने इसी तथ्य को पहले (गाथा-13 में) भी कहा है।

सुपात्रदान से रहित व्यक्ति का तो मनुष्य-जन्म ही निरर्थक है —यह कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-13) में बताया गया है—

"किन्तु जो लक्ष्मी का संचय करता है, न तो उसका उपभोग करता है और न ही उसे पात्रों में देता है, तो वह स्वयं को ठगता है और उसका मनुष्य होना निष्फल है।"

सुपात्र-दान के माहात्म्य का प्रतिपादन शास्त्रकार ने इस ग्रन्थ में पहले (गाथा 16-21) कर ही दिया है।

एवं पात्रापात्रविवेकं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! सुपात्रदानाय यथाशक्ति प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'अविरददेसमहव्वय' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'सम्मादिगुणविसेसं' **इत्यादिगाथां यावत् पञ्चगाथात्मक एकादशाधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायामेकादशाधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति एकादशाधिकारः।।

इस प्रकार, पात्र-अपात्र का विवेक (अन्तर) अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! सुपात्र-दान में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'अविरददेसमहव्वय'** इत्यादि (गाथा-113) से लेकर **'सम्मादिगुणविसेसं'** इत्यादि (गाथा-118) तक पाँच गाथाओं वाला —यह ग्यारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में ग्यारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति एकादशाधिकारः।।

।। बारसो अहियारो ।।

(द्वादशोऽधिकारः)

सम्प्रति द्वादशोऽधिकारः प्रारभ्यते। अस्य प्रथमं पातनिका विज्ञाप्यते। निश्चयव्यवहार-मोक्षमार्गयोः सम्यक्त्वस्य मुख्यतां प्रतिपादयितरि अधिकारेऽत्र 'णिच्छयववहारसरूवं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. ११९) **समारभ्य** 'विसयविरत्तो मुच्चदि' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १२५) **यावत् सप्तगाथाः सन्ति। तत्र प्रथमा गाथा** 'णिच्छयववहारसरूवं' **इत्यादिका गाथा** (सं. ११९) **वर्तते, या रत्नत्रयात्मक-मोक्षमार्गस्य निश्चयव्यवहारेतिद्विविधरूपं निर्दिशति। ततः परं** 'किं जाणिदूण सयलं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२०) **वर्तते, या निरूपयति यत्सम्यक्त्वं विना ज्ञान-तपसी भवबीजमेवेति। तदनन्तरं** 'वयगुणसीलपरीसहजयं च' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२१) **भवति, यस्यां सम्यक्त्वहीनस्य व्रतादिकं सर्वमपि भवबीजमिति प्रतिपादितम्। इतोऽनन्तरं** 'खाईपूया-लाहं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२२) **वर्तते, या ख्यातिपूजादिलौकिकलाभाकांक्षायाः त्याज्यतां परामृशति।**

।। बारहवाँ अधिकार ।।

अब बारहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इसकी पातनिका कह रहे हैं। निश्चय मोक्षमार्ग व व्यवहार मोक्षमार्ग— इनमें सम्यक्त्व की मुख्यता है— इसका प्रतिपादन करने वाले इस अधिकार में **'णिच्छयववहारसरूवं'** इत्यादि गाथा (सं. 119) से लेकर **'विसयविरत्तो मुच्चदि'** इत्यादि गाथा (सं. 125) तक कुल सात गाथाएँ हैं। इनमें **'णिच्छयववहारसरूवं'** इत्यादि प्रथम गाथा (सं. 119) है, जो यह बताती है कि रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग के दो रूप हैं— निश्चय मोक्षमार्ग व व्यवहार मोक्षमार्ग। इसके बाद, **'किं जाणिदूण सयलं'** इत्यादि गाथा (सं. 120) है, जो यह बताती है कि सम्यक्त्व के बिना ज्ञान व तप भव-बीज (संसार-कारण) ही हैं। इसके बाद, **'वयगुणसीलपरीसहजयं च'** इत्यादि गाथा (सं. 121) है, जिसमें यह प्रतिपादित है कि सम्यक्त्वहीन जीव के व्रत आदि सभी भव-बीज (संसार-कारण) हैं। इसके बाद, **'खाई-पूया-लाहं'** इत्यादि गाथा (सं. 122) है, जो यह परामर्श देती है कि ख्याति, पूजा आदि लौकिक लाभ की आकांक्षा त्याज्य है।

तदनन्तरं '**कम्मादविहावसहावगुणं**' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२३) **पठिता, यत्र 'निजशुद्धात्म-रुच्या निर्वाणं प्राप्यते' इति निरूपितम्। ततः परं** 'मूलत्तरुत्तरुत्तरदव्वादो' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२४) **वर्तते, या तत्त्वज्ञानवतो मुक्तिं प्रतिपादयति। तदनन्तरं** 'विसयविरत्तो मुच्चदि' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२५) **वर्तते, या प्रतिपादयति यदात्मस्वरूपं विज्ञाय विषयविरक्ताना ये भवन्ति, तेषामेव मुक्तिर्भवतीति। एवमस्याधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

सम्प्रति, चपला(गाहा)**-छन्दोमाध्यमेन रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गो निश्चयव्यवहारेतिभेदाभ्यां द्विविध इति शास्त्रकारा निर्दिशन्ति—**

णिच्छयववहारसरूवं जो रयणत्तयं ण जाणदि सो।
जं कीरदि तं मिच्छारूवं सव्वं जिणुद्दिट्ठं।। ११९।।

छाया— निश्चयव्यवहारस्वरूपं यो रत्नत्रयं न जानाति सः।
यत् करोति तत् मिथ्यारूपं सर्वं जिनोद्दिष्टम्।।

इसके बाद, '**कम्मादविहावसहावगुणं**' इत्यादि गाथा (सं. 123) है, जिसमें यह बताया गया है कि निर्वाण की प्राप्ति निजशुद्धात्म-रुचि से होती है। इसके बाद, '**मूलुत्तरुत्तरदव्वादो**' इत्यादि गाथा (सं. 124) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि तत्त्वज्ञानी को मुक्ति मिलती है। इसके अनन्तर, '**विसयविरत्तो मुच्चदि**' इत्यादि गाथा (सं. 125) है, जिसमें यह कहा गया है कि आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर विषय-विरक्त जो होते हैं, उन्हीं जीवों की मुक्ति होती है। इस प्रकार, इस अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब, चपला (गाहा) छन्द के द्वारा रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग निश्चय व व्यवहार —इन रूपों में दो प्रकार का है —इसे शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो रत्नत्रय को निश्चय व व्यवहार —इन (दो) स्वरूपों से नहीं जानता है, वह जो कुछ भी (आचरण) करता है, वह सब मिथ्यारूप (निष्प्रयोजन) होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (जो णिच्छय-ववहारसरूवं रयणत्तयं ण जाणदि) **यो भव्यात्मा निश्चय-व्यवहारेतिस्वरूपं रत्नत्रयं मोक्षमार्गं न जानाति, न सम्यगवबोधति। सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रेतिसमुदितरत्नत्रयं मोक्षमार्गं, निश्चयव्यवहारेतिनयद्वयेन, न हृदिस्थं करोति, यद्वा निश्चयमोक्षमार्गं व्यवहारमोक्षमार्गं चेत्युभयं परस्परसाध्यसाधकरूपेण न सम्मनुते,** (सो जं कीरदि तं सव्वं मिच्छारूवं) **स जीवो मिथ्यात्वभावेन यत् किञ्चिदपि धर्मानुष्ठानादिकं करोति, समाचरति, तत्सर्वं मिथ्यारूपम्, निरर्थकं, निष्प्रयोजनं, निष्फलं वा भवति।** (जिणुद्दिट्ठं) **इति प्रोक्ततथ्यं जिनेन्द्रदेवेन निर्दिष्टं समुपदिष्टम्।**

अयम्भावः— शास्त्रकारेण मोक्षमार्गस्य नयदृष्ट्या द्विविधत्वं संकेतितमत्र। तथैव द्विविध-नयाश्रिततत्स्वरूपावगमस्यानिवार्यताऽपि प्रतिपादिता। द्विविधस्वरूपस्य मोक्षमार्गस्य यथार्थज्ञानं न भवेत्तर्हि तदनुष्ठानं व्यर्थमेव भवतीति चात्र सिद्धान्तितम्।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(यो निश्चय-व्यवहारस्वरूपं रत्नत्रयं न जानाति)** जो भव्य आत्मा निश्चय व व्यवहार स्वरूप वाले रत्नत्रय यानी मोक्षमार्ग को नहीं जानता है, अच्छी तरह बोधगम्य नहीं करता, अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र — इन तीनों के समुदित रूप 'रत्नत्रय' मोक्षमार्ग को निश्चय व व्यवहार नय —इन दोनों नयों द्वारा हृदयगम्य नहीं करता, अथवा निश्चय-मोक्षमार्ग व व्यवहार-मोक्षमार्ग —इन दोनों को परस्पर साध्य-साधक रूप से मानता नहीं है, तो **(स यत् करोति, तत्सर्वं मिथ्यारूपम्)** वह जीव मिथ्यात्व भाव के साथ जो कुछ भी धर्मानुष्ठान आदि करता है, आचरण करता है, वह सब मिथ्यारूप, निरर्थक, निष्प्रयोजन या निष्फल होता है। **(जिनोद्दिष्टम्)** उपर्युक्त तथ्य का निर्देश यानी उपदेश जिनेन्द्र देव ने किया है।

तात्पर्य यह है— शास्त्रकार ने मोक्षमार्ग की नय दृष्टि से द्विविधता का संकेत यहाँ किया है। उसी तरह द्विविध (निश्चय व व्यवहार —इन दोनों) नयों पर आश्रित उस (मोक्षमार्ग) के स्वरूप को जानने की अनिवार्यता का भी यहाँ प्रतिपादन किया गया है। (उक्त) द्विविध स्वरूप वाले मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान न हो तो उसका अनुष्ठान (आचरण) भी व्यर्थ ही होता है —यह भी यहाँ सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत किया गया है।

अत्र किञ्चित्प्रासङ्गिकं विव्रियते- मुमुक्षूणां कृते मोक्षमार्गज्ञानं समीचीनतया आवश्यकमिति दृष्ट्यैव आचार्यवरैरुमास्वामिभिः तत्त्वार्थसूत्रे (१/१) **प्रथमं सूत्रं** 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' **इति सूत्रितम्। यद्यपि प्रधानपुरुषार्थस्य मोक्षस्यैव स्वरूपं वक्तुमुचितम्, कथमाचार्यवरेण मोक्षोपदेशं विहाय मोक्षमार्गोपदेशो विहितः ? अकलंकाचार्येण राजवार्तिके** (प्रारम्भे, वार्तिक सं. ५-६) **समाहितं यत्** 'मोक्षोऽस्ति', **इत्यत्र न काऽपि विप्रतिप्रत्तिः, मोक्षमार्गविषये मिथ्यामतानि अनेकानि सन्ति, तस्मान्मोक्षमार्गस्य सम्यग्ज्ञानमावश्यकमिति—** ''मोक्षकार्यं प्रति सर्वेषां सद्वादिनां सम्प्रतिपत्तेः, न कारणं प्रति। कारणं तु प्रति विप्रतिपत्तिः, पाटलिपुत्रमार्गविप्रतिपत्तिवत्। (वार्तिक 5-6)

एवं कथं कया रीत्या वा सम्यग्ज्ञानं तस्य करणीयम्? उच्यते— कस्यचिदपि तत्त्वस्य सम्यग्ज्ञानाय विविधनयदृष्ट्या विचार आवश्यकः, अन्यथा पूर्णं यथार्थं च ज्ञानं न सम्भवति।

यहाँ कुछ प्रसंगवश कहा जा रहा है— मुमुक्षुओं के लिए मोक्षमार्ग का ज्ञान अच्छी तरह प्राप्त करना जरूरी होता है —इसी दृष्टि से ही आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (1/1) में प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' यह बनाया। यद्यपि पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) में मोक्ष की प्रधानता है, इसलिए मोक्ष का स्वरूप ही कहना (पहले) उचित था, फिर भी आचार्य ने मोक्ष का उपदेश छोड़कर क्यों मोक्षमार्ग का उपदेश किया? इसका समाधान आचार्य अकलंक ने राजवार्तिक (प्रारम्भ के, वार्तिक सं. 5-6) में किया है कि 'मोक्ष है' इस में किसी की मतभिन्नता नहीं है, किन्तु मोक्षमार्ग के बारे में अनेक मिथ्यामत हैं, इसलिए मोक्षमार्ग का सम्यग्ज्ञान आवश्यक है— ''मोक्षरूपी कार्य के प्रति प्रायः सभी वादियों में एकमत है, (सभी दुःखनिवृत्ति को मोक्ष मानते हैं), किन्तु उसके कारण (मार्ग) के प्रति विवाद है। इसे इसी तरह समझना चाहिए कि जैसे विभिन्न दिशाओं से पटना जाने वाले यात्रियों को पटना नगर (के अस्तित्व आदि) के विषय में विवाद नहीं होता, किन्तु अपनी दिशा के अनुकूल मार्ग में विवाद (शंका, जिज्ञासा आदि) होता है (उसी तरह सर्वोच्च लक्ष्यभूत मोक्ष में वादियों को विवाद नहीं है, किन्तु उसके मार्ग में विवाद होता है)'' (मंगलाचरण, वार्तिक 5-6)

इस प्रकार, उस (मोक्षमार्ग) का ज्ञान किस प्रकार या किस रीति से किया जाना चाहिए? किसी भी तत्त्व का सम्यग्ज्ञान करना हो तो विविध नय रूपी दृष्टियों से विचार जरूरी होता है, अन्यथा पूर्ण व यथार्थ ज्ञान सम्भव नहीं होता।

उक्तं च तिलोयपण्णत्तिग्रन्थे (१/८२)—

जो ण पमाणणयेहिं णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं।
तस्साजुत्तं जुत्तं जुत्तमजुत्तं च पडिहादि।।

उक्तं च धवलाग्रन्थे एकस्मिन् (पु. १, खंड-१, भाग-१, सूत्र-१, गाथा-१०) **उद्धृते पद्ये—**

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थं नाभिसमीक्षते।
युक्तं चायुक्तवत् भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्।।

अन्यच्च, तत्रैव (पु. १, खंड-१, भाग-१, सूत्र-१, गाथा ६८-६९) **समुल्लिखितम्**—

णत्थि णएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो व्व जिणवरमदम्हि।
तो णयवादे णिउणा मुणिणो सिद्धंतिया होंति।।

तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ (1/82) में कहा भी गया है—

''जो नय, प्रमाण व निक्षेप से पदार्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसको 'अयुक्त' (असत्) पदार्थ भी 'युक्त' (समीचीन) प्रतीत होता है और 'युक्त' पदार्थ भी 'अयुक्त' प्रतीत होता है।''

धवला ग्रन्थ (पु.-1, खण्ड-1, भाग-1, सूत्र-1, गाथा-10) में भी एक उद्धृत पद्य में कहा गया है—

''जिस पदार्थ का प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा, नयों के द्वारा व निक्षेपों द्वारा सूक्ष्मदृष्टि से विचार नहीं किया जाये, तो वह पदार्थ युक्तिसंगत होते हुए भी अयुक्तिसंगत, और कभी अयुक्तिसंगत होते हुए भी युक्तिसंगत जैसा प्रतीत होता है।''

और भी, वही (पु.-1, खण्ड-1, भाग-1, सूत्र-1, गाथा 68-69) यह भी उल्लिखित है —

''जिनेन्द्र भगवान् के मत में नयवाद के बिना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है। इसलिए जो मुनि नयवाद में निपुण हैं, वे सच्चे सिद्धान्त के ज्ञाता है।''

तम्हा अहिगय सुत्तेण अत्थसंपायणम्हि जइयव्वं।
अत्थ गई वि य णयवादगहणलीणा दुरहियम्मा।।

बृ. नयचक्रग्रन्थे (माइल्लधवलरचिते, गाथा-३२६) **च भणितम्—**

वत्थूण जं सहावं जहट्ठियं णयपमाण तह सिद्धं।
तं तह व जाणणे इह सम्मं णाणं जिणा वेंति।।

तत्त्वानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२६) **च निरूपितम्—**

प्रमाणनयनिक्षपैर्यो याथात्म्येन निश्चयः।
जीवादिषु पदार्थेषु सम्यग्ज्ञानं तदिष्यते।।

को नाम नयः ? प्रमाणनययोश्च को भेदः ? कौ च निश्चयव्यवहारनयौ ? किं च तयोः पृथक् पृथक् स्वरूपम्? मोक्षमार्गस्य च निश्चयव्यवहारनयाभ्यां किं किं स्वरूपम्? इति सर्वं क्रमेण निरूप्यते।

''अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागम को भली प्रकार जान लिया है, उसे ही अर्थ-सम्पादन में अर्थात् नय और प्रमाण के द्वारा पदार्थ का परिज्ञान करने में प्रयत्न करना चाहिए, क्योंकि पदार्थों का परिज्ञान भी नयवाद रूपी गहन (यानी जंगल) में अन्तर्निहित है, अतएव दुरधिगम्य है।''

(माइल्लधवल विरचित) बृ. नयचक्र ग्रन्थ (गाथा-326) में भी कहा गया है—

''वस्तु का जो यथावस्थित (यथार्थ) स्वभाव नय व प्रमाण के द्वारा सिद्ध है, उसे वैसा ही जानना 'सम्यग्ज्ञान' है —ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।''

तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-26) में भी कहा गया है—

''जीव आदि पदार्थों में जो प्रमाण, नय व निक्षेप —इनके द्वारा यथार्थ रूप से जो निश्चय होता है, उसको 'सम्यग्ज्ञान' कहा गया है।''

नय क्या है? प्रमाण व नय में क्या भेद है? निश्चयनय व व्यवहारनय —ये क्या हैं? इनमें प्रत्येक का क्या स्वरूप है? मोक्षमार्ग के निश्चयनय व व्यवहारनय की दृष्टि से क्या-क्या स्वरूप है? यह सब क्रमशः (यहाँ) निरूपण कर रहे हैं—

नीयते, गम्यते, अवबुद्ध्यते पदार्थो येनेति नयः। अथवा— नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयं, येन स नयः। यद्वा नानास्वभावेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति, प्रापयति वेति नयः। अथवा —ज्ञातुरभिप्रायो नयः। नयमाध्यमेन अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः स्वाभिप्रेतधर्म-विशेषरूप-एकदेशग्रहणं भवति, तन्माध्यमेन च पदार्थः प्रीति-विषयो भवति। अतो युक्तमुच्यते— 'वस्त्वेकदेशपरीक्षा नयलक्षणम्' **अथवा** -'प्रमाणप्रतिपन्नार्थैकदेशपरामर्शो नयः' **इति।**

उक्तं च श्लोकवार्तिकग्रन्थे (१/६)— 'स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः **इति।**

अत्रेदं ज्ञातव्यम्— अनेकान्तात्मकवस्तुनो धर्मविशेषग्रहणेऽपि धर्मान्तर-अप्रतिषेधक एव नयो भवति, अन्यथा तस्य दुर्नयत्वापत्तेः। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-२६४)—

णाणाधम्मजुदं पि य एयं धम्मं ति वुच्चदे अत्थं।
तस्सेय विवक्खादो णत्थि विवक्खा हु सेसाणं।।

जिसके द्वारा पदार्थ (ज्ञान में) लाया जाता है, जाना जाता है, समझा जाता है, वह 'नय' होता है। अथवा— जिसके द्वारा एकदेशविशिष्ट पदार्थ को प्राप्त कराया जाता है, प्रतीति का विषय बनाया जाता है, वह 'नय' है। अथवा— नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को जो एक स्वभाव में प्राप्त कराये, उसे नय कहते हैं। अथवा— ज्ञाता का अभिप्राय नय है। नय के माध्यम से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के अपने अभिप्रेत विशेष धर्म रूप एकदेश (अंश) का ग्रहण होता है, जिसके माध्यम से पदार्थ प्रीति का विषय होता है। इसीलिए यह ठीक ही कहा गया है— वस्तु के एकदेश अंश की परीक्षा नय का लक्षण है। अथवा— प्रमाण से निश्चित किये हुए पदार्थ के एकदेश (अंश) के ज्ञान करने को 'नय' कहते हैं।

श्लोकवार्तिक ग्रन्थ (1/6) में कहा भी गया है— ''अपने को और पदार्थ को एकदेश रूप से जानना, निर्णय करना 'नय' कहा जाता है।''

यहाँ यह जानना चाहिए कि अनेकान्तात्मक वस्तु के विशेष धर्म का ग्रहण करते हुए भी नय अन्य धर्मों का प्रतिषेध नहीं करता है, अन्यथा वह (नय) दुर्नय हो जाएगा। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-264) में कहा भी गया है—

''नाना धर्मों से युक्त भी पदार्थ के एक धर्म को ही 'नय' कहता है, क्योंकि उस समय उसी धर्म की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं होती।''

तथा धवलाग्रन्थे (पु. ९, खंड-४, भाग-१, सू. ४५, पृ. १८२) —"एत एव दुरवधारिता मिथ्यादृष्टय: प्रतिपक्षनिराकरणमुखेन प्रवृत्तत्वात्।" **इति। समर्थितं चैतत् सिद्धिविनिश्चयग्रन्थे** (१०)—

सापेक्षा नया: सिद्धा: दुर्नया अपि लोकत:।
स्याद्वादिनां व्यवहारात्, कुक्कुटग्रामवासितम्।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-२६६)—

ते सावेक्खा सुणया णिरवेक्खा ते वि दुण्णया होंति।
सयलववहारसिद्धी सुणयादो होदि णियमेण।।

अत्र प्रमाणनययोर्भेदोऽपि ज्ञातव्य:— प्रमाणं सामस्त्येन वस्तुग्राहकं भवति, किन्तु नयस्तु तदेकदेशग्राहक:। प्रमाणं तु अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयं, नयस्तु नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयो भवति। अत एव प्रमाणं सकलादेशि, नयस्तु विकलादेशी —इत्यपि निरूप्यते।

तथा धवला ग्रन्थ (पु. 9, खण्ड-4, भाग-1, सू. 45, पृष्ठ-182) में भी कहा गया है— "ये (नय) ही जब दुराग्रहपूर्वक वस्तुस्वरूप का अवधारण करने वाले होते हैं, तब मिथ्या नय कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रतिपक्ष का निराकरण करने की मुख्यता से प्रवृत्त होते हैं।" सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ (श्लोक-10) में इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है—

"लोक में प्रयोग किये जाने वाले जो दुर्नय हैं, वे भी स्याद्वादियों के यहाँ सापेक्ष हो जाने से सुनय बन जाते हैं। यह बात व्यवहार से सिद्ध है, जैसे किसी एक घर में अनेक गृहस्थ परिवार परस्पर मैत्री से रहते हैं।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-266) में भी कहा गया है—

"ये नय सापेक्ष हों तो सुनय होते हैं और निरपेक्ष हों तो दुर्नय होते हैं। किन्तु सुनय से (ही) नियम से समस्त व्यवहारों की सिद्धि होती है।"

यहाँ प्रमाण व नय के भेद को भी समझना चाहिए। प्रमाण वस्तु को समग्र रूप में ग्रहण करता है, किन्तु नय उस वस्तु के एकदेश (यानी) धर्मविशेष को ग्रहण करता है। प्रमाण तो अनियत अनेक धर्मों वाले वस्तु को विषय करता है, किन्तु नय नियत एक धर्म वाले वस्तु को विषय करता है। इसीलिए प्रमाण को सकलादेशी और नय को विकलादेशी कहा जाता है।

तस्य नयस्य मूलतो द्वौ भेदौ— द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ द्रव्यार्थिकः। अयं द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतया विषयीकरोति, पर्यायास्तु गौणतयैव, अर्थात् वस्तुविशेषरूप-अविनाभूतसामान्यरूपं विषयीकरोति। पर्यायार्थिकस्तु पर्यायं मुख्यतया-नुभवति, द्रव्यं तु गौणतया। एतयोर्द्वयोर्नययोरेव सप्त भेदाः— (द्रव्यार्थिकस्य-), **नैगमनयः, संग्रहनयः, व्यवहारनयः, तथा** (पर्यायार्थिकस्य) **ऋजुसूत्रनयः, शब्दनयः, समभिरूढनयः, एवम्भूतनयश्च। विस्तारभयादेषां स्वरूपादिकं नैव वितन्यतेऽत्र।**

नयस्य प्रकारान्तरेण द्वौ भेदौ— निश्चयनयः, व्यवहारनयश्च। एतौ प्रमुखतया अध्यात्मतत्त्व-चर्यायामुपयोगितां वहतः। उक्तं च आलापपद्धतिग्रन्थे (गाथा-4, सू. ४०)—

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह।।

उस नय के मूलतः दो भेद हैं— द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। जिसका प्रयोजन (ग्राह्य) द्रव्य व पदार्थ हो, वह द्रव्यार्थिक नय है। यह नय द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में द्रव्य (सामान्य स्वरूप) को मुख्य रूप से अपना विषय बनाता है, पर्यायों को वह गौण रूप से ग्रहण करता है, अर्थात् वस्तु के विशेष रूपों (पर्यायों) से अविनाभावी रूप से जुड़े सामान्य रूप को विषय करता है। किन्तु पर्यायार्थिक नय पर्याय को मुख्य रूप से अनुभव करता है, और द्रव्य रूप को गौण रूप से। इन दोनों नयों के कुल सात भेद होते हैं— (द्रव्यार्थिक नय के) नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय, तथा (पर्यायार्थिक नय के) ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय व एवम्भूतनय। विस्तारभय से इन सबके स्वरूप (व उदाहरण) आदि का विस्तार यहाँ नहीं किया जा रहा है।

नय के अन्य प्रकार से भी दो भेद माने गये हैं। वे हैं— निश्चयनय और व्यवहारनय। ये दोनों नय प्रमुख रूप से आध्यात्मिक तत्त्व-चर्चा में उपयोगी होते हैं। आलापपद्धति ग्रन्थ (गाथा-4, सू. 40) में कहा गया है—

''सभी नयों के मूल भेद हैं— निश्चयनय व व्यवहारनय। इनमें निश्चयनय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है और निश्चयनय के साधन अर्थात् व्यवहारनय का हेतु है— पर्यायार्थिकनय।''

सूत्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-६) **च एतयोरुभयोर्नययोरुपयोगिता प्रतिपादिता—**

जं सुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खवइ मलपुंजं।।

अस्मिन्नध्यात्मप्रकरणे तयोः प्रासंगिकतां मनसिकृत्य ग्रन्थकारेण उभयनयाभ्यां रत्नत्रय-स्वरूपज्ञानं करणीयमिति संकेतो विहितः। अत्र पूर्वं व्यवहारनिश्चयनययोः स्वरूपं विज्ञाप्यते। अभेदात्मके वस्तुनि गुणपर्यायभेदोपचारं प्रयोजयति, स व्यवहारनयः। अर्थात् गुणगुणिनोः सद्रूपेणाभेदेऽपि यो भेदं करोति, स व्यवहारनयः। अथवा, प्रमाणनयनिक्षेपात्मकवस्तुनि भेदेन उपचारेण वा यो भेदं (यद्वा अभेदरूपं) करोति, स व्यवहारनयः। अतोऽन्यद्रव्यस्य ये गुणाः, तेषामेकस्मिन् द्रव्ये (असद्भूतानामपि) उपचारतः स्वीकरणमपि व्यवहारनयः। एवं परस्परं भिन्नानामपि द्रव्याणां परस्परसम्बन्धमपि (कर्मकर्तृत्व-प्रभृतिभावात्मकं) स्वीकरोति व्यवहारनयः। अस्य सद्भूतअसद्भूत-उपचरित-अनुपचरितभेदैः सह शास्त्रेषु विस्तरेण निरूपणं कृतमस्ति, विस्तारभयान्नोल्लिख्यते।

सूत्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-6) में भी इन दोनों नयों की उपयोगिता का प्रतिपादन किया गया है— ''जो सूत्र जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे गये हैं, उसे व्यवहार व परमार्थ (निश्चय) से जानो। उसे जानकर ही योगी सुख प्राप्त करता है और (कर्म) मल के समूह को नष्ट करता है।''

इस अध्यात्म-प्रकरण में इन (दोनों नयों) की प्रमुखता को दृष्टि में रखकर ग्रन्थकार (आचार्य) ने दोनों नयों से रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का ज्ञान करना चाहिए —यह संकेत किया गया है। यहाँ पहले व्यवहार व निश्चय —इन दोनों नयों का स्वरूप बता रहे हैं। अभेदात्मक वस्तु में गुण व पर्याय सम्बन्धी भेद का जो उपचार करता है, वह व्यवहारनय है। अर्थात् गुण व गुणी में, सद्रूप से अभेद होने पर भी जो नय भेद करता है, वह व्यवहारनय है। अथवा— प्रमाण, नय व निक्षेपात्मक वस्तु को जो भेद द्वारा या उपचार द्वारा भेद (या अभेद रूप) करता है, वह व्यवहारनय है। इसलिए अन्य द्रव्य के जो गुण हैं, उन (असद्भूत) गुणों को किसी एक द्रव्य में उपचार से स्वीकार करना —यह भी (असद्भूत) व्यवहारनय है। इस प्रकार परस्पर भिन्न द्रव्यों में भी परस्पर (कर्म-कर्तृत्व आदि भावों का) सम्बन्ध जो स्वीकार करता है, वह व्यवहारनय है। इस नय के सद्भूत-असद्भूत— (और इन दोनों के भी) उपचरित-अनुपचरित भेदों का शास्त्र में निरूपण विस्तार से किया गया है, उसे विस्तार के भय से नहीं लिख रहे हैं।

निश्चयनयो हि शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकः, आत्माश्रितः, परनिमित्तकान् भावान् द्रव्यस्य न स्वीकरोति। निश्चयनयोऽभेदविषयः, यद्वा अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयनयः इत्यपि स्वीक्रियते। तस्य द्वौ भेदौ— शुद्धनिश्चयनयः, अशुद्धनिश्चयनयश्च। तत्र निरुपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकः शुद्धनिश्चयनयः। सोपाधिकगुणगुण्यभेदविषयकस्तु अशुद्धनिश्चयनयः। यथा अशुद्धनिश्चयेन आत्मा रागादीनां कर्ता भवति, न तु द्रव्यकर्मणां कर्ता। शुद्धनिश्चयेन तु केवलज्ञानादिमयो हि जीवः इति निश्चीयते। शुद्धनिश्चयनयानुसारं जीवस्य रागादयः, बन्धः, मोक्षश्च न भवन्ति।

उक्तं च बृहद्-नयचक्रग्रन्थे (गाथा-११४)—

सुद्धो जीवसहावो जो रहिओ दव्वभावकम्मेहिं।
सो सुद्धणिच्छयादो समासिओ सुद्धणाणीहिं।।

निश्चयनय शुद्धद्रव्य का निरूपण करने वाला 'आत्माश्रित' कहा गया है, और यह परनिमित्त से होने वाले भावों को द्रव्य में स्वीकार नहीं करता। निश्चयनय का विषय अभेद द्रव्य होता है, अथवा इस नय में कर्ता, कर्म आदि भाव एक दूसरे से भिन्न नहीं होते —यह भी माना जाता है। इस निश्चयनय के दो भेद हैं— शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय। वहाँ उपाधिरहित गुण व गुणी में अभेदात्मक विषय करने वाला शुद्ध निश्चयनय है। इनमें सोपाधिक (कर्मोपाधि से उत्पन्न) गुण व गुणी में अभेद दर्शाने वाला अशुद्ध निश्चय होता है, जैसे अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा राग आदि का कर्ता है किन्तु द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं होता। किन्तु शुद्ध निश्चयनय से केवलज्ञान आदि रूप ही जीव है —यह निश्चित किया जाता है। शुद्धनिश्चय के अनुसार राग आदि बन्ध व मोक्ष —ये जीव के नहीं होते।

इसी दृष्टि से (माइल्ल धवलकृत) बृहद्नयचक्र ग्रन्थ (गाथा-114) में कहा गया है—

"शुद्ध निश्चयनय से जो जीव-स्वभाव द्रव्यकर्मों से तथा भावकर्मों से रहित कहा गया है, वह शुद्धज्ञानियों द्वारा शुद्ध निश्चयनय से संक्षेप में कहा गया है।"

वस्तुत उभौ नयौ सम्यग्दृष्टेर्द्वे चक्षुषी। एकस्यापि लोपे न सम्यग्ज्ञानम् सर्वावलोकनत्वा-भावात्। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थस्य (२/२२) **तत्त्वप्रदीपिकाटीकायाम्—** ''द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति।.......तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनम्।''

समयसारग्रन्थस्य तात्पर्यवृत्तिटीकायां च (गाथा ११३-११५) **निर्दिष्टम्—** ''निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्। यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यति, इति अनुक्तसिद्धम् इति।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-२७८) **च प्रोक्तम्—**

एवं विविहणएहिं जो वत्थु ववहरेदि लोयम्मि।
दंसणणाणचरित्तं सो साहदि सग्गमोक्खं च।।

वस्तुतः दोनों ही (द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक, निश्चय व व्यवहार) नय सम्यग्दृष्टि के दो नेत्र हैं। एक का भी लोप होने पर सम्यग्ज्ञान नहीं होता, क्योंकि (किसी एक नय से) समस्त पदार्थ का ज्ञान नहीं हो पाता। प्रवचनसार ग्रन्थ (2/22) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में कहा भी गया है— ''(ये) दोनों तो दो आँखे हैं— द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक......। इनमें एक आँख से देखने से (वस्तु का) एकदेश निरीक्षण होता है, दो आँखों से देखने से समस्त पदार्थ का अवलोकन होता है।''

समयसार ग्रन्थ (गाथा 113-115) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी बताया गया है— ''निश्चयनय व व्यवहारनय —ये दोनों परस्पर-सापेक्ष हैं। कैसे? (उत्तर—) जिस प्रकार दाहिनी आँख से यह देवदत्त देख रहा है —ऐसा कहने पर 'यह बाईं आँख से नहीं देख रहा है' यह बिना कहे ही सिद्ध हो जाता है।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-278) में भी यह कहा गया है—

''इस प्रकार, विविध नयों से वस्तु को जानकर जो वस्तु का व्यवहार करता है, उसे ही रत्नत्रय की तथा स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति होती है।''

किञ्च, परस्परसापेक्षनयविभागेन यो न जानाति, स बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्वा ज्ञेयः। उक्तं च बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य (गाथा-१४) **श्रीब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीकायाम्—** ''वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति, स बहिरात्मा।''

बृ. नयचक्रग्रन्थे (माइल्लधवलरचिते) (गाथा-१८१, २४०) **च प्रोक्तम्—**

जो णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति।।

ण मुणइ वत्थुसहावं अह विवरीयं णिरवेक्खदो मुणई।।
तं इह मिच्छाणाणं विवरीयं सम्मरूवं खु।।

कश्च व्यवहारमोक्षमार्गः, कश्च निश्चयमोक्षमार्गः, इति निरूप्यते— वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्-द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो भेदरत्नत्रयात्मको व्यवहारमोक्षमार्गः। निजशुद्धात्म-सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-एकाग्र्यपरिणतिरूपोऽभेदरत्नत्रयात्मको निश्चयमोक्षमार्गः।

और, परस्पर-सापेक्ष दोनों नयों द्वारा जो ज्ञान प्राप्त नहीं करता, वह तो बहिरात्मा है— ऐसा जानना चाहिए। बृ. द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-14) की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका में कहा भी गया है— ''वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत (उपदिष्ट) अन्य पदार्थों का जिसे परस्पर-सापेक्ष नय-विभाग से श्रद्धान व ज्ञान नहीं है, वह बहिरात्मा है।''

(माइल्ल धवल द्वारा रचित) बृ. नयचक्र ग्रन्थ (गाथा-181 व 240) में भी कहा गया है—

''जो नयदृष्टि से हीन हैं, उन्हें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु के स्वरूप से अपरिचित (अज्ञानी) सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं।''

''जो वस्तु-स्वरूप को नहीं जानता या निरपेक्ष रूप में विपरीत जानता है, वह मिथ्याज्ञान है और उससे विपरीत सम्यग्ज्ञान है।''

व्यवहार-मोक्षमार्ग क्या है और निश्चय-मोक्षमार्ग क्या है? इसे बता रहे हैं— वीतराग सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट छः द्रव्य आदि के सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान और व्रतादि के आचरण का विकल्प रूप एवं भेदरत्नत्रयात्मक 'व्यवहार मोक्षमार्ग' होता है। निजशुद्धात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान की एकाग्रपरिणतिरूप तथा अभेदरत्नत्रयात्मक 'निश्चय मोक्षमार्ग' होता है।

अथवा स्वशुद्धात्मभावनासाधकबहिर्द्रव्याश्रितो व्यवहारमोक्षमार्गः। केवलस्वसंवित्ति-समुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितसुखानुभूतिरूपो निश्चयमोक्षमार्गः। अथवा विशुद्धज्ञानदर्शन-लक्षणे जीवस्वभावे निश्चलावस्थानं निश्चयमोक्षमार्गः।

तत्र व्यवहारमोक्षमार्गस्वरूपं पञ्चास्तिकायग्रन्थे (गाथा-१६०) **प्रोक्तम्—**

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।।

समयसारग्रन्थे (गाथा-१५५) **च भणितम्—**

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।।

अथवा निजशुद्धात्मकभावना का साधक व बाह्यद्रव्याश्रित 'व्यवहार मोक्षमार्ग है। मात्र स्वसंवित्ति से उत्पन्न, रागादिविकल्प की उपाधि से रहित —ऐसे सुख की अनुभूति रूप 'निश्चय मोक्षमार्ग' होता है। अथवा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले जीवस्वभाव में निश्चल स्थिति —यह 'निश्चय मोक्षमार्ग' होता है।

इनमें व्यवहार-मोक्षमार्ग का स्वरूप पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-160) में इस प्रकार बताया गया है—

''धर्म आदि द्रव्यों का श्रद्धान कराना 'सम्यग्दर्शन' है, 'अङ्ग' और 'पूर्व' में निर्दिष्ट होने वाला ज्ञान 'सम्यग्ज्ञान' है और तप करना 'सम्यक् चारित्र' है। इन तीनों का एक साथ मिलना —यह 'व्यवहार मोक्षमार्ग' होता है।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-155) में भी कहा गया है—

''जीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना 'सम्यक्त्व' है, उसका ठीक-ठीक जानना 'ज्ञान' है और रागादि का त्याग करना 'चारित्र' है। ये (तीनों मिलकर) ही 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है।''

निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं च पञ्चास्तिकायग्रन्थे (गाथा १६१-१६२) **निर्दिष्टम्—**

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।।

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि।।

बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थे (गाथा-४०) **च प्रोक्तम्—**

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मुक्खस्स कारणं आदा।।

परमात्मप्रकाशग्रन्थे (२/१३) **च भणितम्—**

पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि।
दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि।।

निश्चय-मोक्षमार्ग के स्वरूप को पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा 161-162) में इस प्रकार बताया गया है—

''निश्चयनय से जो आत्मा सम्यग्दर्शनादि तीन (रत्नों) से तन्मय है, जो अन्य द्रव्य को न करता है और न छोड़ता है, वह (निश्चय) मोक्षमार्ग है।''

''इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि जो जीव (आत्मा) पर-पदार्थ से भिन्न आत्म-स्वरूप में चरण (स्थिति) करता है,उसे ही जानता व देखता है, वह आत्मा ही सम्यक् चारित्र है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्दर्शन है (ये तीन रत्नत्रय एक आत्म रूप ही हैं)।''

बृ. द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-40) में भी कहा गया है—

''चूँकि आत्मा के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में रत्नत्रय नहीं रहते, इसलिए रत्नत्रयमय शुद्ध आत्मा ही मोक्ष का कारण (निश्चय-मोक्षमार्ग) है।''

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (2/13) में भी कहा गया है—

''जो अपने द्वारा अपनी आत्मा को देखता है, जानता है और आचरण करता है, उसमें स्थिर होता है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप परिणत वही आत्मा मोक्ष का कारण (निश्चय-मोक्षमार्ग) है।''

ज्ञानार्णवग्रन्थे च (१८/३२) **निरूपितम्—**

अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम्।
यः स्वरूपे लयं प्राप्तः, स स्याद् रत्नत्रयास्पदम्।।

किञ्च, व्यवहारमोक्षमार्गः साधकः, निश्चयमोक्षमार्गः साध्यः। उक्तं च बृ. द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-३९) **श्रीब्रह्मदेवकृतसंस्कृतटीकायाम्—** ''धातुपाषाणे अग्निवत्साधको व्यवहारमोक्षमार्गः। सुवर्णस्थानीयनिर्विकारस्वोपलब्धिसाध्यरूपो निश्चयमोक्षमार्गः।''

तत्त्वार्थसारग्रन्थे (९/२) **च प्रोक्तम्—**

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्।।

किञ्च, व्यवहारमोक्षमार्गे स्थित्वैव क्रमेण निश्चयमोक्षमार्गरूपोच्चस्थितिः प्राप्तुं शक्यते। अतस्तयोः व्यवहारमोक्षमार्गः साधको भवति।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (18/32) में भी इस प्रकार निरूपण किया गया है—

''जो जीव कल्पना के जाल को दूर करके निर्विकल्प होकर अपने चैतन्य व आनन्द स्वरूप में लीन होता है, वही निश्चय से रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का स्थान है।''

और, इन (दोनों मोक्षमार्गों) में व्यवहार-मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय-मोक्षमार्ग साध्य है। बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-39) की श्रीब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका में कहा गया है— ''धातु-पाषाण में अग्नि के समान वह व्यवहार-मोक्षमार्ग 'साधक' है और सुवर्ण समान निर्विकार निजात्मा की उपलब्धि रूप वह निश्चय-मोक्षमार्ग 'साध्य' है।''

तत्त्वार्थसार ग्रन्थ (उपसंहार-9/2) में भी कहा गया है—

''निश्चय व व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग दो प्रकार का होता है। इनमें पहला (निश्चय-मोक्षमार्ग) साध्य है और दूसरा (व्यवहार-मोक्षमार्ग) साधन है।''

और, व्यवहार-मोक्षमार्ग में रहकर ही, क्रमशः निश्चय-मोक्षमार्ग की उच्च स्थिति प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इन दोनों में व्यवहार साधक होता है।

प्रोक्तं च आराधनासारग्रन्थे (सप्तमगाथाया रत्नकीर्तिदेवकृतसंस्कृतटीकायां) **समुद्धृते पद्ये—**

जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गे न निश्चयं ज्ञातुमुपैति शक्तिम्।
प्रभा-विकाशेक्षणमन्तरेण भानूदयं को वदते विवेकी।।

बृ. नयचक्रग्रन्थे (माइल्लधवलरचिते) **च** (गाथा-२९६) **भणितम्—**

णो ववहारेण विणा णिच्छयसिद्धी कयावि णिद्दिट्ठा।
साहणहेऊ जम्हा तस्स य सो भणिय ववहारो।।

किन्तु व्यवहारमोक्षमार्गः सविकल्पकः, स कथं निर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्गे साधकः— इत्यारेका जागर्ति, तथापि भूतनैगमनयेन परम्परया साधकं भवतीति परमात्मप्रकाशग्रन्थस्य (गाथा २/१४) **टीकायां समाहितम्। अथवा सविकल्पक-निर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विविधः, तत्र** 'अनन्तज्ञानरूपोऽहम्', **—इत्यादिसविकल्पमोक्षमार्गः साधकः, निर्विकल्पसमाधिरूपः साध्यो निश्चयमोक्षमार्गः।**

आराधनासार ग्रन्थ की (सातवीं गाथा की रत्नकीर्तिदेव-रचित संस्कृत) टीका में समुद्धृत पद्य में कहा गया है—

''यह जीव व्यवहार में प्रवेश किये बिना निश्चय-मोक्षमार्ग को प्राप्त करने की शक्ति नहीं पाता, क्योंकि प्रभा के विकास को दृष्टिगोचर किये बिना, कौन ऐसा विवेकशील व्यक्ति होगा जो सूर्योदय के होने का निरूपण करेगा?''

माइल्ल धवल द्वारा रचित बृ. नयचक्र ग्रन्थ (गाथा-296) में भी कहा गया है—

''व्यवहार के बिना कभी निश्चय की सिद्धि नहीं होती। इसलिए निश्चय की सिद्धि में जो हेतु है, उसे 'व्यवहार' कहा गया है।''

किन्तु व्यवहार मोक्षमार्ग सविकल्पक होता है, वह निर्विकल्पक निश्चय-मोक्षमार्ग में किस प्रकार साधक होता है —यह आशंका उठ खड़ी होती है, फिर भी भूतनैगम नय से वह परम्परा से साधक हो जाता है— ऐसा परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (गाथा-2/14) की टीका में समाधान दिया गया है। अथवा निश्चय-मोक्षमार्ग दो प्रकार का है— सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमें 'मैं अनन्त ज्ञान रूप हूँ' इत्यादि सविकल्प मोक्षमार्ग साधक है और निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय-मोक्षमार्ग साध्य है।

अस्यां विचारप्रक्रियायां परमात्मप्रकाशटीकायां (२/१४) **एका संवादिनी गाथाऽपि समुद्धृता वर्तते, तद्यथा—**

जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं।।

एवं व्यवहारमोक्षमार्गसाध्ये निश्चयमोक्षमार्गे स्थितः साधको निर्विकल्पस्थितिमाप्नुवान एव समयसारसौख्यमनुभवति। उक्तं च समयसारकलशग्रन्थे (सं. २४०)—

एको मोक्षपथो य एव नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः,
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्,
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति।।

इसी विचार-सरणि में परमात्मप्रकाश (2/14) की टीका में एक समर्थक गाथा को उद्धृत किया गया है। वह है—

"और जो स्वगत तत्त्व है, वह सविकल्प भी है और निर्विकल्प भी। इनमें सविकल्प आस्रव-सहित है और निर्विकल्प निरास्रव है।"

इस प्रकार, व्यवहार-मोक्षमार्ग से साध्य (सिद्ध होने वाले) निश्चय-मोक्षमार्ग में स्थित साधक ही निर्विकल्प स्थिति को प्राप्त करता है और समयसार सम्बन्धी सुख का अनुभव करता है। समयसारकलश ग्रन्थ (सं. 240) में कहा भी गया है—

"दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप यही एक मोक्षमार्ग है। जो व्यक्ति उसी में स्थित रहता है, उसी का निरन्तर ध्यान करता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्श नहीं करता, उसी में प्रवर्तन करता है, वह व्यक्ति थोड़े ही समय में अवश्य नित्य उदित रहने वाले समयसार (रूपी परमात्मा के रूप) को अनुभव करता है।"

एवं नयद्वयाश्रितमोक्षमार्गज्ञानाभावे सम्यक्त्वहीनस्य जीवस्य व्रतादिकाः सर्वाः क्रियाः संसारवर्धिका एवेति स्वयं शास्त्रकारा अग्रिमगाथायां वक्ष्यन्त्येव। अस्यां गाथायां तज्ज्ञानस्य मिथ्यारूपत्वं च भूमिकारूपेण निरूपितम् —इति विज्ञेयम्।

एवं मोक्षमार्गस्य यथार्थस्वरूपं विज्ञाय हे भव्य! व्यवहारमोक्षमार्गे दृढं स्थित्वा निश्चयमोक्षमार्गे स्थित्यै निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्यक्त्वं विना ज्ञानं तपश्चरणं चेति द्वयमेव भवबीजमिति चपला-(गाहा)-**छन्दोमाध्यमेन शास्त्रकारा निरूपयन्ति—**

किं जाणिदूण सयलं, तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहिविहीणं, णाण तवं जाण भवबीयं।।१२०।।

छाया— किं ज्ञात्वा सकलं तत्त्वं कृत्वा तपश्च किं बहुलम्।
सम्यक्त्वविशोधिविहीनं ज्ञानं तपश्च जानीहि भवबीजम्।।

इस तरह, दोनों नयों पर आश्रित मोक्षमार्ग सम्बन्धी ज्ञान के न होने से सम्यक्त्व से रहित जीव द्वारा की गई व्रत आदि सारी क्रियाएँ संसारवर्धक ही हैं —इसे स्वयं शास्त्रकार आगे (गाथा-120) में कहने वाले ही हैं। इस गाथा में उस (उभयनयविहीन) ज्ञान की मिथ्यारूपता को भूमिका रूप में उन्होंने निरूपित किया है —यह ज्ञातव्य है।

इस प्रकार, मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप को जान कर, हे भव्य! 'व्यवहार-मोक्षमार्ग' में दृढ़ता से स्थित होकर 'निश्चय-मोक्षमार्ग' में स्थित होने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्यक्त्व के बिना ज्ञान व तपश्चरण —ये दोनों ही संसार के बीज हैं— इसे शास्त्रकार चपला (गाहा) छन्द के द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— सम्पूर्ण तत्त्वों को जानकर (भी) तथा तपस्या से भी (आखिर) क्या ज्यादा (लाभ) होने वाला है ? (क्योंकि) सम्यक्त्व की शुद्धि नहीं हो तो ज्ञान व तप को संसार का बीज (ही) समझो।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्मत्तविसोहिविहूणं णाण तवं भवबीयं जाण) **सम्यक्त्वविशुद्धिः, सम्यक्त्वस्य या निर्दोषता, तया विहीनानां ज्ञानं तपश्च भवस्य संसारस्यैव बीजभूतानि** (कारणानि) **भवन्ति।** (किं जाणिदूण सयलं तच्चं) **सम्यक्त्वाभावे सकलं तत्त्वं ज्ञात्वाऽपि किं को लाभः ? समस्तशास्त्रज्ञोऽपि मिथ्यादृष्टिर्यदि भवेत्तर्हि तस्य शास्त्रज्ञता निरर्थिकैव, न मोक्षप्राप्तिः तस्य सम्भवति।**

(तवं च किच्चा किं बहुलं) **तपश्च कृत्वा किमधिकं लभ्यते ? किमपि नेत्यर्थः। मोक्षप्राप्तिः लभ्यते चेत्तस्य तपसः सार्थकता, नान्यथा —इतिभावः।**

अयम्भावः— निजतत्त्वोपलब्धिं विना सम्यक्त्वोपलब्धिः नैव भवतीति प्राक् (गाथा-८६) **स्वयं शास्त्रकारैर्निर्दिष्टम्। समयसारे** (गाथा-२०२) **च निर्दिष्टम्—**

अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यक्त्वविशोधिविहीनं ज्ञानं तपश्च भवबीजं जानीहि)** सम्यक्त्व की विशुद्धि यानी सम्यक्त्व की निर्दोषता, उससे रहित ज्ञान व तप भव यानी संसार के ही बीज या कारण होते हैं। **(किं ज्ञात्वा सकलं तत्त्वं)** सम्यक्त्व के अभाव में समस्त तत्त्वों को जानकर भी क्या? अर्थात् क्या लाभ है? (कोई लाभ नहीं होता।) समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी यदि मिथ्यादृष्टि हो तो उसका शास्त्रज्ञानी होना निरर्थक ही है, उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

(तपः च कृत्वा किं बहुलम् ?) तप करके भी क्या अधिक मिलता है? अर्थात् कुछ भी नहीं मिलता। मोक्ष की प्राप्ति हो तो ही उस तप की सार्थकता है, अन्यथा नहीं —यह भाव है।

तात्पर्य यह है— निज तत्त्व आत्मा की उपलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उपलब्धि नहीं होती है —ऐसा पहले (गाथा-86 में) स्वयं शास्त्रकार ने कहा है। इसी दृष्टि से समयसार (गाथा-202) में भी कहा गया है—

‘‘आत्मा को न जानता हुआ अनात्मा को भी नहीं जानता और इस प्रकार जीव व अजीव को नहीं जानते हुए वह भला सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है?’’

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४६६) **च निरूपितम्—**

जो ण विजाणदि अप्पं णाणसरूवं सरीरदो भिण्णं।
सो ण वि जाणदि सत्थं आगमपाठं कुणंतो वि।।

सम्यक्त्वेन विना सर्वाणि बहुशास्त्रज्ञानव्रततपोऽनुष्ठानानि न मोक्षसाधकानि, अपितु संसारवर्धकान्येव। एवमेव पूर्वं (गाथा-८४) **आत्मश्रद्धानज्ञानाद्यभावे द्रव्यलिङ्गधारणमपि निरर्थकमिति च प्रतिपादितमेव। एवं पूर्वं** (गाथा-१०) **सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः शास्त्रकारेण प्रतिपादित एव।**

आचार्ययोगीन्दुकृते योगसारग्रन्थे (दोहा-३१) **च भणितम्—**

वउ तव संजमु सीलु जिय ए सव्वइँ अकयत्थु।
जाव ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु।।

अन्यच्च, तत्रैव (दोहा ४७-४८) **निरूपितम्—**

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-466) में भी बताया गया है—

''जो शरीर से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानता, वह भले ही आगमों को पढ़ ले, पर शास्त्रों को नहीं जानता है (शास्त्रज्ञ नहीं है)।''

सम्यक्त्व के बिना बहुत से शास्त्रों का ज्ञाता होना तथा व्रत व तप का अनुष्ठान —यह सब मोक्ष के साधक नहीं होते, अपितु संसार को बढ़ाने वाले ही होते हैं। इसी तरह पहले (गाथा-84 में) भी (शास्त्रकार ने) यह प्रतिपादित किया ही है कि आत्मविषयक श्रद्धान-ज्ञान आदि के अभाव में (निर्ग्रन्थ) द्रव्यलिङ्ग का धारण करना भी निरर्थक होता है। इसी तरह पहले (गाथा-10 में भी) यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि सम्यक्त्व के बिना 'दीर्घ संसार' होता है।

आचार्य योगीन्दु द्वारा विरचित 'योगसार' ग्रन्थ (दोहा-31) में भी कहा गया है—

''जब तक जीव को परम शुद्ध पवित्र भाव (शुद्ध आत्मतत्त्व) का ज्ञान नहीं होता, तब तक व्रत, तप, संयम व शील —ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते।''

और भी, वहीं (दोहा 47-48 में) बताया गया है—

धम्मु ण पढियइँ होइ, धम्मु ण पोत्थापिच्छियइँ।
धम्मु ण मढियपएसि धम्मु ण मत्थालुंचियइं।।

रायरोस वे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ।
सो धम्मु वि जिणउत्तियउ जो पंचमगइ णेइ।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१००) **च निरूपितम्—**

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चरित्ते।
तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्पस्स विवरीयं।।

सूत्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१५) **च प्रोक्तम्—**

अह पुण अप्पा णिच्छदि धम्माइं करेइ णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।।

''पढ़ लेने (मात्र) से धर्म नहीं होता, पुस्तक व पिच्छी से भी धर्म नहीं होता, किसी मठ में रहने से भी धर्म नहीं है तथा केशलोंच करने से भी धर्म नहीं होता।''

''जो राग व द्वेष दोनों को छोड़ कर निज आत्मा में वास करता है, उसे ही जिनेन्द्र देव ने 'धर्म' कहा है। वही धर्म पंचम गति (मोक्ष) को ले जाता है।''

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-100) में भी कहा गया है—

''यदि कोई अनेक शास्त्रों को पढ़ता है तथा नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है तो उसकी यह सारी प्रवृत्ति आत्मस्वरूप से विपरीत होने के कारण बालश्रुत व बालचारित्र कहलाती हैं।''

सूत्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-15) में भी कहा गया है—

''जो आत्मा को तो नहीं चाहता है, किन्तु अन्य समस्त धर्म आदि करता है तो वह इतना करने पर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं करता है, वह संसारी ही कहा गया है।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-८४) **च निर्दिष्टम्—**

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेइ णिरवसेसाइं।
तह वि ण पावदि सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो।।

आचार्यामतिगतिकृतयोगसारग्रन्थेऽपि प्रतिपादितमिदम्—

आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं विद्वत्तायाः परं फलम्।
अशेषशास्त्रशास्तृत्वं संसारोऽभाषि धीधनैः।।

श्रुतपाण्डित्यं दधन्नपि जीवो मिथ्यादृष्टिः सम्भवतीति प्राक् (गाथा-६८) **व्याख्याने सम्यक् प्रतिपादितमेव। अतस्तन्न पुनरुच्यते। एवं सम्यक्त्वविशुद्धिमहत्त्वं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! निजशुद्धात्मश्रद्धानज्ञानाद्यनुष्ठाने दृढां मतिं कुरुष्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-84) में भी कहा गया है—

''जो मनुष्य आत्मा की इच्छा (उसमें रुचि या श्रद्धा) नहीं करता, वह भले ही समस्त पुण्य क्रियाओं को करता हो, तो भी सिद्धि (मोक्ष) को नहीं प्राप्त करता। वह तो संसारी ही कहा गया है।''

आचार्य अमितगतिकृत योगसार ग्रन्थ (7/43) में भी यह प्रतिपादित किया गया है—

''आत्म-ध्यान में रति होना —इसे ही विद्वता का परम फल जानना चाहिए। समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना —इसे विद्वानों ने 'संसार' कहा है।''

श्रुत-पाण्डित्य वाला भी जीव मिथ्यादृष्टि हो सकता है —ऐसा (गाथा-68 के) पहले व्याख्यान में प्रतिपादित कर दिया गया है। इसलिए उसे पुनः यहाँ नहीं कहा जा रहा है। इस प्रकार, सम्यक्त्व-शुद्धि के महत्त्व को अच्छी तरह समझ कर हे भव्य! निज शुद्धात्मा के श्रद्धान व ज्ञान आदि के अनुष्ठान में दृढ़ बुद्धि करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्यक्त्वहीनस्य व्रतादिकं सर्वमपि भवबीजं भवतीति चपला-(गाहा)**-छन्दोमाध्यमेन शास्त्रकारा निर्दिशन्ति—**

वयगुणसीलपरीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्म विणा जाण भवबीयं।। १२१।।

छाया— व्रतगुणशीलपरीषहजयं च चारित्रं तपः षडावश्यकानि।
ध्यानाध्ययनं सर्वं सम्यक्त्वं विना जानीहि भवबीजम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्म विणा जाण भवबीयं) **सम्यक्त्वं विना भवस्य संसारस्य कर्मबन्धनफलितस्य बीजं हेतुः कारणं वेति जानीहि। सम्यक्त्वरहितस्य कर्मबन्धनं भवत्येव, ततश्च संसारभ्रमणमप्यवश्यं भवति —इत्याशयः। तस्य काः काः क्रियाः संसारवर्धिका भवन्ति? ताः क्रिया निदर्शनरूपेण शास्त्रकारेण परिगण्यन्ते—** (वय-गुण-सील-परीसहजयं च चरियं तवं छडावसयं झाणज्झयणं सव्वं) **व्रतानि, गुणाः, शीलम्, परीषहजयः, चारित्रम्, तपः, षडावश्यकानि, ध्यानमध्ययनं चेत्यादि सर्वं, भवस्य बीजमस्ति —इति जानीहि, इति गाथार्थः।**

सम्यक्त्वहीन का व्रत आदि सभी कुछ संसार का कारण होता है— इसे चपला (गाहा) छन्द के द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— व्रत, गुण, शील, परीषह-जय, चारित्र, तप, षडावश्यक, ध्यान व अध्ययन —ये सभी सम्यक्त्व के बिना संसार के कारण हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यक्त्वं विना जानीहि भवबीजम्)** सम्यक्त्व के बिना भव यानी कर्मबन्ध से उत्पन्न होने वाले संसार का बीज यानी हेतु या कारण जाने-समझें। सम्यक्त्व से रहित व्यक्ति का कर्मबन्धन होगा ही, उससे संसार-भ्रमण भी अवश्यम्भावी है —यह आशय है। उस (सम्यक्त्वहीन) की कौन-कौन-सी क्रियाएँ संसार को बढ़ाने वाली होती हैं? उन्हीं क्रियाओं को यहाँ उदाहरण रूप से शास्त्रकार परिगणित कर रहे हैं— **(व्रत-गुण-शील-परीषहजयं च, चारित्रं तपः षडावश्यकानि ध्यानाध्ययनं सर्वम्)** व्रत, गुण (मूलगुण), शील, परीषहजय, चारित्र, तप, छः आवश्यक, ध्यान व अध्ययन, इत्यादि सब (क्रियाएँ) भव (संसार) की बीज हैं, इसे जानो—यह गाथा का अर्थ है।

व्रतगुणादीनां स्वरूपभेदाः यथाप्रसङ्गं प्रागपि व्याख्याने निरूपिताः, तथापि संक्षेपेण पुनरपि निरूप्यन्ते— तत्र हिंसा-असत्य-चौर्य-अब्रह्म-परिग्रहेतिपञ्चपापक्रियाभ्यो विरतिरूपाणि अहिंसा-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहेतिनामानि पञ्च व्रतानि भवन्ति। भूमिकाभेदेन एकदेशव्रतानि अणुव्रतानि, सर्वविरतिरूपाणि महाव्रतान्यभिधीयन्ते। मूलगुणाः श्रावकाणामष्टौ, मुनीनाम-ष्टाविंशतिसंख्यकाः, आचार्यापेक्षया षट्त्रिंशत्, उपाध्यायापेक्षया पञ्चविंशतिश्च भवन्ति। गुणपदेनोत्तरगुणा अपि संगृह्यन्ते। त्रीणि गुणव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि —एतानि संहत्य सप्त व्रतानि शीलव्रतानि भवन्ति। एवं दिग्-विरतिः, देशविरतिः, अनर्थदण्डविरतिः, सामायिकव्रतम्, प्रोषधोपवासव्रतम्, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतम्, अतिथिसंविभागव्रतं चेति सप्त शीलव्रतेष्वन्तर्भवन्ति। द्वाविंशतिः परीषहाः, तेषां जयः परीषहजयः। चारित्रं पञ्चविधम्-सामायिकचारित्रम्, छेदोपस्थापनाचारित्रम्, परिहारविशुद्धिचारित्रम्, सूक्ष्मसाम्परायचारित्रम्, यथाख्यातचारित्रं चेति। अथवा निश्चय-व्यवहारभेदेन चारित्रं द्विविधम्। पञ्चमहाव्रतानि, तिस्रो गुप्तयः, पञ्च समितयः इतित्रयोदशविधं चारित्रं व्यवहारचारित्रम्। बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिः, पुण्यपापोभयपरिहारेण रागादिपरिहारेण वा स्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रं भवति।

व्रत, गुण आदि के स्वरूप व भेदों का निरूपण यथाप्रसङ्ग पहले भी व्याख्यान में किया जा चुका है, फिर भी संक्षेप में यहाँ कर रहे हैं— इनमें हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य व परिग्रह —इन पाँच पापपूर्ण क्रियाओं से विरति रूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह इन नामों वाले पाँच व्रत हैं। भूमिका-भेद से जो एकदेशविरति रूप हैं, वे अणुव्रत हैं और सर्वविरतिरूप महाव्रत कहे जाते हैं। मूलगुण श्रावकों के लिए आठ हैं, मुनियों के लिए अठाईस, आचार्यों की अपेक्षा से छत्तीस और उपाध्यायों की अपेक्षा से पच्चीस संख्या में हैं। गुणपद से उत्तरगुण भी गृहीत किये जाते हैं। तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत —ये मिलकर सात व्रत 'शीलव्रत' हैं। इस प्रकार, दिग्-विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिकव्रत, प्रोषधोपवासव्रत, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत, अतिथिसंविभागव्रत —ये शीलव्रतों में अन्तर्भूत हैं। परीषह बाईस होते हैं, उनकी जय 'परीषहजय' है। चारित्र पाँच प्रकार का है— सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनाचारित्र, परिहारविशुद्धिचारित्र, सूक्ष्मसाम्परायचारित्र और यथाख्यातचारित्र। अथवा निश्चय व व्यवहार — इन दो भेदों से चारित्र के दो भेद हैं। पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति, पाँच समिति —यह तेरह प्रकार का चारित्र 'व्यवहारचारित्र' है। बाह्य व आन्तरिक क्रियाओं से निवृत्ति या पुण्य-पाप, इन दोनों का परिहार कर या रागादि का त्यागकर, स्वरूप (निज आत्म-स्वरूप) में चरण (स्थिति) — यह 'निश्चय चारित्र' है।

तपोऽपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्। तत्र अनशन-अवमौदर्य -वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशयनासनकायक्लेशेतिषड्विधं बाह्यतपः। प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्त्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानेतिषड्विधमाभ्यन्तरं तपः। समता, चतुर्विंशतिस्तवः, वन्दना, प्रत्याख्यानम्, प्रतिक्रमणम्, कायोत्सर्गश्चेतिषड्विधमावश्यकम्।

ध्यानं चात्र धर्म-शुक्लेतिद्वयं प्रशस्तध्यानम्। अध्ययनं स्वाध्यायः, स च वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेशेतिपञ्चविधः। इत्यादिकं सर्वमपि अनुष्ठानं सम्यक्त्वाभावे संसारकारणमेव, न मुक्तेरिति ज्ञातव्यम्।

बृ. द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-४१) **टीकायां श्रीब्रह्मदेवकृतायामपि प्रोक्तम्—** ''सम्यक्त्वमाहात्म्येन ज्ञानतपश्चरणव्रतोपशमध्यानादिकं मिथ्यारूपमपि सम्यग्भवति। तदभावे विषयुक्तदुग्धमिव सर्वं वृथेति ज्ञातव्यम्।''

आचार्ययोगीन्दुकृते योगसारग्रन्थे (दोहा-२९, ३३, ३७) **च निर्दिष्टम्—**

तप भी बाह्य व आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का है। इनमें अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशयनाशन, कायक्लेश —ये छः प्रकार का बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान —ये छः प्रकार का आभ्यन्तर तप है। सामायिक, चतुर्विंशति-स्तव, वन्दना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग —ये छः प्रकार का 'आवश्यक' होता है।

ध्यान से तात्पर्य है— धर्म व शुक्ल ये दो प्रशस्त ध्यान। अध्ययन यानी स्वाध्याय। और वह वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय व धर्मोपदेश —इन पाँच रूपों वाला है, इत्यादि सभी अनुष्ठान, सम्यक्त्व न हो तो, संसार के ही कारण हैं, मुक्ति के लिए नहीं —यह जानना चाहिए।

बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-41) की श्रीब्रह्मदेवकृत (संस्कृत) टीका में भी कहा गया है— ''सम्यक्त्व के माहात्म्य से ज्ञान, तपश्चरण, व्रत, उपशम व ध्यान आदि मिथ्यारूप भी सम्यक् हो जाते हैं। सम्यक्त्व के अभाव में वे सब विष-मिश्रित दुग्ध की तरह वृथा हो जाते हैं।''

आचार्य योगीन्दु-विरचित 'योगसार' ग्रन्थ (दोहा 29-33, 37) में भी बताया गया है—

वय-तव-संजम-मूलगुण मूढहँ मोक्ख ण वुत्तु।
जाव ण जाणइ इक्क पर सुद्धउ भउ पवित्तु।।

वउ तउ संजमु सील जिया इउ सव्वइं ववहारु।
मोक्खहँ कारणु एक्कु मुणि जो तइलोयहँ सारु।।

जइ णिम्मलु अप्पा मुणहि छंडिवि सहु ववहारु।
जिण-सामिउ एमइ भणइ लहु पावइ भवपारु।।

दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५, ३४) **च सम्यगुक्तम्—**

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं।।

लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च।।

''जबतक एक परम शुद्ध पवित्र भाव (शुद्धात्मस्वरूप) का ज्ञान नहीं होता, तब तक मूढ़ लोगों के जो व्रत, तप, संयम व मूलगुण हैं, उन्हें मोक्ष (का कारण) नहीं कहा जाता।''

''व्रत, तप, संयम व शील —ये व्यवहार से ही माने जाते हैं। मोक्ष का कारण तो एक ही समझना चाहिए और वही तीन लोकों का सार है।''

''समस्त व्यवहार को छोड़कर यदि तूँ निर्मल आत्मा को जानेगा, तो तूँ संसार से शीघ्र ही पार होगा —ऐसा जिनेन्द्र देव कहते हैं।''

दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथ-5 व 34) में यह ठीक ही कहा गया है—

''जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित हैं, वे भले ही हजारों-करोड़ों वर्षों तक उत्तमत्तापूर्वक कठिन तपश्चरण करें तो भी उन्हें रत्नत्रय प्राप्त नहीं होता।''

''यह जीव उत्तम गोत्र सहित मनुष्य-पर्याय को प्राप्त कर तथा वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त कर अक्षय सुख व मोक्ष को प्राप्त करता है।''

अस्मिन् ग्रन्थेऽपि शास्त्रकाराः पूर्वं (गाथा-१०) 'सम्मजुदं मोक्खसुहं, सम्मविणा दीहसंसारं' **इत्यूचिरे।**

तच्च सम्यक्त्वं द्विविधम्— व्यवहारसम्यक्त्वम्, निश्चयसम्यक्त्वं चेति। तत्र सर्वज्ञोपदिष्टषड्द्रव्यादिविषये श्रद्धानं रुचिर्निश्चय इदमेवत्थमिति निश्चयबुद्धिः व्यवहारसम्यग्दर्शनम्। रागादिविकल्पोपाधिरहितचिच्चमत्कारभावनोत्पन्नमधुररसास्वादसुखोऽहमिति निश्चयरुचिरूपं निश्चयसम्यग्दर्शनं भवति। दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२०) **च प्रोक्तम्—**

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवेइ सम्मत्तं।।

वस्तुतः मोक्षमार्गस्य सम्यक्त्वं प्रथमसोपानम्, चारित्रादिकं तदनन्तरसोपानम्, अतः सम्यक्त्वाभावेऽनन्तरसोपानस्य प्राप्तिरसम्भवैव —इत्येवं सम्यक्त्वमहत्त्वं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! सम्यक्त्वरत्नं दृढतया धारणीयमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

इस ग्रन्थ (रयणसार) में भी पहले (गाथा-10 में) शास्त्रकार यह कह चुके हैं— सम्यक्त्व से युक्त को ही मोक्ष-सुख है, सम्यक्त्व के बिना दीर्घ संसार (ही) है।''

वह सम्यक्त्व दो प्रकार का है— व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व। इनमें सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट छः द्रव्यों आदि के विषय में श्रद्धा, रुचि व 'यह ऐसा ही है' ऐसी निश्चय-बुद्धि होना 'व्यवहार सम्यग्दर्शन' है। 'राग आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित, चैतन्य-चमत्कार-भावना से उत्पन्न मधुर रसास्वाद सुख रूप मैं हूँ' —ऐसी निश्चय रुचि होना —यह 'निश्चय सम्यग्दर्शन' है। दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-20) में कहा भी गया है—

''जीव आदि तत्त्वों के प्रति श्रद्धान को जिनेन्द्र देव ने 'व्यवहार सम्यक्त्व' कहा है और शुद्ध आत्मा के श्रद्धान को 'निश्चय सम्यक्त्व' कहा है।''

वस्तुतः मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान 'सम्यक्त्व' है, चारित्र आदि तो बाद के सोपान हैं, इसलिए सम्यक्त्व के अभाव में बाद के सोपान की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है, इस प्रकार सम्यक्त्व के महत्त्व को समझकर हे भव्य! सम्यक्त्व-रत्न को दृढ़ता से धारण करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, ख्यातिपूजादिलौकिककलाभाकांक्षा त्याज्येति शास्त्रकाराः चपला-(गाहा)-**छन्दोमाध्यमेन परामृशन्ति—**

खाई-पूया-लाहं सक्काराइं किमिच्छसे जोई।
इच्छसि जदा परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोयं।।१२२।।

छाया— ख्याति-पूजा-लाभं सत्कारादि किमिच्छसि योगिन्!।
इच्छसि यदा परलोकं तैः किं तव परलोकः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (जोई किमिच्छसे) **हे योगिन्! किमिच्छसि, किमर्थमभिलषसि? योगी ममत्वहीनो भवति, स चात्मस्वभावे एव सुरतो भवति, अतस्त्वं योगी भूत्वाऽपि किमर्थमात्मस्वभावपराङ्मुखो ममत्वं प्रकटयसि, कथं केवलं स्वशुद्धात्मनि एव रतो न भवसीति भावः। योगिस्वरूपं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-१२, २०) **निरूपितमपि—**

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।।

अब, ख्याति, पूजा आदि लौकिक लाभ की आकांक्षा छोड़नी चाहिए— इसे शास्त्रकार चपला (गाहा) छन्द के द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— हे योगी! यदि परलोक को (सुधारना) चाहते हो तो कीर्ति, पूजा, लाभ, सत्कार आदि की चाह क्यों करते हो? (उन सब से) क्या तुम्हारा परलोक (अच्छा) होने वाला है? (अर्थात् नहीं होने वाला है।)

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(योगिन्! किम् इच्छसि)** हे योगी! ये क्या चाह रहे हो, अर्थात् क्यों इच्छा कर रहे हो? योगी तो ममत्व-हीन होता है, वह तो आत्म-स्वभाव में ही निरत रहता है, इसलिए तुम योगी होकर भी आत्म-स्वभाव से विपरीत ममत्व भाव को किसलिए प्रकट कर रहे हो, क्यों नहीं अपने मात्र शुद्ध आत्मा में निरत होते हो —यह भाव है। योगी का स्वरूप मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-12, 20) में इस प्रकार निरूपित है—

''जो शरीर (तक) में निरपेक्ष हो, द्वन्द्व से रहित हो, ममत्व से रहित हो, आरम्भ-रहित हो और आत्म-स्वभाव में सुरत यानी संलग्न हो, वह योगी है जो निर्वाण को प्राप्त करता है।''

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं।
जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ किं तेण सुरलोयं।।

वस्तुतः प्रत्येकश्रमणो निर्लोभस्तथा बाह्यसुखनिरासक्त एव भवति। उक्तं च नियमसारग्रन्थे (गाथा-७५)—

वावारविप्पमुक्का चउव्विहाराहणासयारत्ता।
णिग्गंथा णिम्मोहा साहू एदेरिसा होंति।।

प्रशमरतिप्रकरणग्रन्थे (श्लोक-१२९, २४२) **च निर्दिष्टम्—**

संत्यज्य लोकचिन्ताम्, आत्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।
जितरोषलोभमदनः, सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः।।

विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि।।

''जो योगी ध्यान में जिनेन्द्र देव के मतानुसार शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है, वह स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। वह ठीक ही है, क्योंकि जिस ध्यान निर्वाण (तक) प्राप्त हो सकता है, उससे क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता?''

वस्तुतः प्रत्येक श्रमण लोभहीन होता है और बाह्य सुखों के प्रति आसक्त नहीं ही होता। नियमसार ग्रन्थ (गाथा-75) में कहा भी गया है—

''जो व्यापार से सर्वथा रहित हैं, (दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तप —इन) चार आराधनाओं में सदा लीन रहते हैं, परिग्रह-रहित व निर्मोह होते हैं, ऐसे 'साधु' होते हैं।''

प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ (श्लोक-129 व 242) में कहा गया है—

''लोकचिन्ता को छोड़कर आत्म-परिज्ञान के चिन्तन में तन्मय साधु लोभ, क्रोध व काम को जीत कर वेदनाहीन होता हुआ सुखपूर्वक रहता है।''

''जिसको वैषयिक सुखों की अभिलाषा नहीं है और जो प्रशमभाव से उत्पन्न होने वाले गुणों से अलंकृत है, वह सूर्य की तरह अपनी सारी तेजस्विता को प्रकट करता है।''

मोक्षप्राभृतग्रन्थे च (गाथा-१०१) **भणितम्—**

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो।।

किंविषयिका इच्छा प्रकटिता ? उच्यते— (खाई-पूया-लाहं सक्काराइं) **ख्यातिम्, पूजाम्, लाभं निजाभीष्टद्रव्यलाभम्, सत्कारादिकं च त्वमिच्छसि, एतत्तेऽनुष्ठितं योगिस्वरूपप्रतिकूलमेव, अतः किमर्थं ख्यातिपूजाप्रभृतिविषयासक्तिं प्रकटय्य अनुचितमाचरणं विदधासि —इति शास्त्रकारस्तदाचरणस्य निन्द्यतां सूचयतीति ज्ञेयम्। ख्यातिपूजादिकाभिलाषो मानकषायमूलक एव। कषायश्च आभ्यन्तरपरिग्रहेषु परिगणितः। निर्ग्रन्थश्रमणस्य कृते तदभिलाषस्य त्याग एवोचितः।**

उक्तं च भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५६)—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू।।

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-101) में भी बताया गया है—

''साधु वैराग्य में तत्पर रहता है, पर-द्रव्य से पराङ्मुख रहता है, संसार-सुख से विरक्त रहता है और स्वकीय शुद्ध (आत्मीय) सुख में अनुरक्त रहता है।''

किस विषय में इच्छा प्रकट की गई है ? बता रहे हैं— **(ख्याति-पूजा-लाभं सत्कारादि)** ख्याति, पूजा, लाभ यानी निज अभीष्ट द्रव्य का लाभ एवं सत्कार आदि तुम चाहते हो, यह तुम्हारा आचरण योगी के स्वरूप के प्रतिकूल ही है, अतः किसलिए ख्याति, पूजा आदि सम्बन्धी आसक्ति को प्रकट कर अनुचित आचरण कर रहे हो —इस प्रकार शास्त्रकार (यहाँ) उसके आचरण की निन्दनीयता को सूचित कर रहे हैं —ऐसा जानें। ख्याति, पूजा आदि की अभिलाषा मानकषाय पर आधारित है। कषाय को आभ्यन्तर परिग्रह रूप में परिगणित किया गया है। निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए उन (ख्याति आदि) की अभिलाषा का त्याग करना ही उचित होता है।

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-56) में कहा भी गया है—

''जो शरीरादि की आसक्ति से रहित हैं, मान कषाय से पूर्णतः मुक्त हैं और जिसकी आत्मा आत्मा में रत है, वह भावलिङ्गी साधु है।''

किञ्च, सद्दृष्टिरपि स्वं तृणवत् मन्यते, ख्यातिपूजायोग्यमात्मानं मनुते एव नैव। उक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३१३)—

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्तकलत्ताइसव्वअत्थेसु।
उवसमभावे भावदि अप्पाणं मुणदि तिणमेत्तं।।

श्रमणस्तु निन्दाप्रशंसादिषु समत्वमेव दधाति। स च परीषहजयी भवति। यदि स ख्यातिपूजाकांक्षी भवति, तर्हि स सत्कारपुरस्कारपरीषहजयी न भवति, ततश्च स मोक्षमार्गच्युत एव ज्ञेयः।

उक्तं च राजवार्तिकग्रन्थे (९/९/२५)— ''मानापमानयोस्तुल्यमनसः सत्कारपुरस्कारनिराकांक्षस्य श्रेयोध्यायिनः सत्कारपुरस्कारपरीषहजयो वेदितव्यः।''

अत्र 'सत्कार'-**शब्देन पूजाप्रशंसादिकमभिधीयते —इति च राजवार्तिकग्रन्थे** (९/९/२५) **स्पष्टीकृतम्—** ''सत्कारः पूजाप्रशंसात्मकः। पुरस्कारो नाम क्रियारम्भादिषु अग्रतः करणमामन्त्रणं वा।''

और, (अविरत) सम्यग्दृष्टि भी अपने को तृणवत् मानता है, स्वयं को ख्याति, पूजा के योग्य मानता ही नहीं है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-313) में कहा भी गया है—

''सम्यग्दृष्टि जीव पुत्र, पत्नी आदि समस्त पदार्थों में गर्व नहीं करता, उपशम भाव को भाता है और स्वयं को तृण समान मानता है।''

श्रमण तो निन्दा, प्रशंसा आदि में समता भाव ही धारण करता है। वह परीषहजयी भी होता है। यदि वह ख्याति व पूजा का आकांक्षी होता है तो वह सत्कारपुरस्कारपरीषहजयी नहीं होता। फलस्वरूप वह मोक्षमार्ग से च्युत ही होता है —यह ज्ञातव्य है।

राजवार्तिक ग्रन्थ (9/9/25) में कहा भी गया है— ''जो मान-अपमान में तुल्य मनःस्थिति वाला होता है, सत्कार व पुरस्कार की आकांक्षा नहीं रखता एवं श्रेय का ध्याता होता है, उसके सत्कारपुरस्कार परीषह जय होना जानना चाहिए।''

यहाँ 'सत्कार' शब्द से पूजा व प्रशंसा आदि अर्थ अभिहित होता है— यह भी राजवार्तिक ग्रन्थ (9/9/25) में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— ''पूजा व प्रशंसा —ये सत्कार हैं। क्रिया व आरम्भ आदि में आगे करना या आमन्त्रित करना —यह पुरस्कार है।''

एवं ख्यातिपूजाकांक्षां कुर्वन् योगी कथं परीषहजयी कथितुं शक्यते, अपि तु नैव, परीषहजयाभावे मार्गच्युतिर्नियतैवेति संभाव्य शास्त्रकारोऽत्र समुद्बोधयन्निव प्रतीयते। सत्कारादि-निरपेक्षता यतीनां सामान्यगुणो भवतीति भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-315) **तट्टीकायां च भणितम्।**

उक्तं च तत्र विजयोदयाटीकायाम्— ''निगृहीतेन्द्रियत्वं, रत्नत्रयैकाग्रता, निरवद्यचेष्टावत्ता, सत्कारादेः निरपेक्षता, तपसि वृत्तता, कर्मरजोविधूननं च यतिगुणाः।'' (इच्छसि जदा परलोयं, तेहिं किं तुज्झ परलोयं) **यदा परलोकमिच्छसि, तैः किं तव परलोकः प्रशस्तः? परलोके अन्यजन्मनि प्रशस्तगतिः सुखपूर्णा स्यात् —इत्येतदर्थं त्वं प्रयतसे, किन्तु ख्यातिपूजाकांक्षणादिभिः प्रशस्तपरलोकप्राप्तिः किम्भवति? नैव भवतीत्यर्थः।**

अयम्भावः— ज्ञानी जन आगामिलोकः सुखदायी स्यादित्येतदर्थं विशेषतः प्रयतते, अतः पापादिक्रियासु न प्रवर्तते शुभक्रियास्वेव प्रवर्तते। उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-३७)—

इस प्रकार, ख्याति व पूजा की आकांक्षा करता हुआ योगी परीषहजयी कैसे कहा जा सकता है, अपितु नहीं कहा जा सकता है। परीषह-जय के अभाव में (मोक्ष-) मार्ग से च्युत होना नियत है —ऐसी सम्भावना कर, यहाँ शास्त्रकार मानों उद्बोधित करते हुए प्रतीत होते हैं। सत्कार आदि से निरपेक्ष रहना —यह यतियों का सामान्य गुण होता है —ऐसा भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-315) में तथा उसकी टीका में कहा गया है।

वहीं (गाथा-315) विजयोदया टीका में कहा गया है— ''इन्द्रियों का निग्रह कर लेना, रत्नत्रय में एकाग्रता, निरवद्य (निर्दोष) चेष्टा होना, सत्कार आदि की निरपेक्षता वाला होना, तप में स्थिति, तथा कर्म-रज को नष्ट करना—ये यति (मुनि) के गुण होते हैं।'' **(इच्छसि यदा परलोकम्, तैः किं तव परलोकः?)** जब परलोक की चाह रखते हो, तो क्या उनसे तेरा परलोक (प्रशस्त) हो पाएगा? परलोक या अन्य जन्म में प्रशस्त गति सुखपूर्ण (प्राप्त) हो —इसके लिए तुम प्रयत्नशील हो रहे हो, किन्तु ख्याति, पूजा की आकांक्षा आदि से प्रशस्त परलोक की प्राप्ति क्या होती है? अर्थात् नहीं होती है।

तात्पर्य यह है— ज्ञानी व्यक्ति विशेष रूप से इसलिए प्रयत्नशील रहता है कि मेरा आगामी लोक सुखद हो, इसलिए वह पाप आदि क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता, और शुभ क्रियाओं में ही प्रवृत्त होता है। आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-37) में कहा भी गया है—

आयु:श्रीवपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितम्,
स्यात्सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।
इत्यार्या: सुविचार्य कार्यकुशला: कार्येऽत्र मन्दोद्यमा:,
द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्तेतराम्।।

तथैव तत्र (श्लोक-३०) **परामृष्टम्—**

पैशुन्यदैन्यदम्भस्तेयानृतपातकादिपरिहारात् ।
लोकद्वयहितमर्जय धर्मार्थयश: सुखायार्थम्।।

किञ्च, हे योगिन्! यदि 'पुण्यार्जनेन परलोके ख्यातिपूजादिलाभ: स्याद्' इतीच्छा तव वर्तते, साऽपि निरर्थिका, यतो हि विषयसौख्यतृष्णया शुभकर्मभि: पुण्यार्जनं न सम्भवति, रागाश्लेषात् चित्तविशुद्ध्यभावे पुण्यसमर्जनाभावात्। न चैवं तदा पुण्यबन्धाभाव:, अपितु पापबन्धोऽपि।

''यदि पूर्व-उपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी व शरीर आदि भी यथेच्छित प्राप्त किये जा सकते हैं। परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो फिर स्वयं को क्लेशयुक्त करने पर भी वह सब कुछ भी नहीं प्राप्त हो सकता है। अत: योग्य-अयोग्य कार्य का विचार करने वाले श्रेष्ठ पुरुष अच्छी तरह विचार करके इस लोक-सम्बन्धी कार्य के बारे में विशेष प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आगामी भवों को सुन्दर बनाने के लिए ही वे निरन्तर प्रेमपूर्वक अत्यधिक प्रयत्नशील रहा करते हैं।''

इसी तरह, वहीं (श्लोक-30) में यह परामर्श दिया गया है—

हे भव्य जीव! तूँ पर-निन्दा, दीनता, छल-कपट, चोरी व असत्य भाषण आदि पापों को छोड़कर उनके प्रतिपक्षभूत सत्यसंभाषण व अचौर्य व्रतों को धारण कर, जो दोनों ही लोकों में हितकारक हैं और जिनसे धर्म, धन, कीर्ति व सुख की प्राप्ति होती है।''

और, हे योगिन्! यदि पुण्य के अर्जित करने से परलोक में ख्याति, पूजा आदि का लाभ हो —इसकी इच्छा तुझे है, तो वह भी निरर्थक है, क्योंकि विषय-सौख्य की तृष्णा रखते हुए शुभ कार्यों से पुण्य अर्जित करना सम्भव नहीं होता, क्योंकि राग के सम्पर्क के कारण चित्त-विशुद्धि का अभाव हो जाने से पुण्य अर्जित नहीं होता। तब पुण्य-बन्ध नहीं होता, इतना ही नहीं, अपितु पाप-बन्ध भी होगा।

उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा ४११-४१२)—

जो अहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि।।

पुण्णासाए ण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि मा आयरं कुणह।।

आचार्यशुभचन्द्रकृतसंस्कृतटीकायामपि तत्र (गाथा-४१२) **स्पष्टमुक्तम्—** "पुण्याशया पुण्यवाञ्छया शुभकर्मणामीहया पुण्यं न भवति, निदानादीनां वाञ्छा अशुभकर्मोत्पादनत्वात्।"

वस्तुतः सम्यग्दृष्टिः सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु युक्तो यः शुभोपयोगः स (पुण्यानीहयाऽपि) **पुण्योपचयपूर्वकं** (परम्परया) **मोक्षं प्रापयति —इति प्रवचनसारग्रन्थस्य** (गाथा-३/५६) **तत्त्वप्रदीपिकाटीकायां प्रतिपादितम्।**

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 411-412) में कहा भी गया है—

"जो व्यक्ति कषाय सहित होकर विषय-सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है, उससे विशुद्धि दूर है और विशुद्धि ही पुण्य-कर्म का मूल (कारण) है।"

"पुण्य की इच्छा कराने से पुण्य-बन्ध नहीं होता, अपितु निरीह (इच्छारहित) व्यक्ति को ही पुण्य की प्राप्ति होती है। इसलिए ऐसा जानकर यतीश्वरों! पुण्य में भी आदर भाव मत रखो।"

आचार्य शुभचन्द्र ने (गाथा-412) इस पर अपनी संस्कृत टीका में यह स्पष्ट कहा है— "पुण्य की आशा से, पुण्य की वाञ्छा (अभिलाषा) से, शुभ कर्मों की चाह से, पुण्य नहीं होता, क्योंकि निदान आदि की चाह अशुभ कर्मों की उत्पादक होती है।"

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि का सर्वज्ञ-व्यवस्थापित पदार्थों में जो शुभोपयोग होता है, वह (पुण्य की चाह के बिना भी) पुण्य-उपचय के साथ-साथ (परम्परया) मोक्ष को भी प्राप्त कराता है— ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/56) की तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्रतिपादित किया है।

तत्रैव तात्पर्यवृत्तिटीकायां (गाथा-३/५५) **च समुपदिष्टम्—** ''सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं च। नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव।'' **अतएव पापपुण्योभयत्यागरूपकर्मनिर्जराहेतवे ये प्रयतन्ते, ते सर्वतोभावेन वन्दनीयाः स्वीकृताः।**

उक्तं च आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२६२)—

यत्प्राग्जन्मनि संचितं तनुभृता कर्माशुभं वा शुभम्,
तद्दैवं तदुदीरणादनुभवन् दुःखं सुखं वागतम्।
कुर्याद्यः शुभमेव सोऽप्यभिमतो यस्तूभयोच्छित्तये,
सर्वारम्भपरिग्रहाग्रहपरित्यागी स वन्द्यः सताम्।।

वस्तुतो योगी तु तपस्वी भवति। तपश्च कर्मक्षयार्थमेव तप्यते। निर्मलं च तपः इहपरलोक-निरपेक्षस्यैव भवति।

वहीं (गाथा-3/55) तात्पर्यवृत्ति टीका में भी यह स्पष्ट लिखा है— ''सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग (यदि) होता है तो मुख्यतया पुण्यबन्ध होता है और परम्परा से निर्वाण भी। अन्यथा मात्र पुण्यबन्ध ही होता है।'' इसीलिए पाप व पुण्य दोनों के त्याग के साथ कर्म-निर्जरा के हेतु जो प्रयत्नशील रहते हैं, वे सभी प्रकारों से वन्दना-योग्य माने गये हैं।

आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-262) में कहा भी गया है—

''प्राणी ने पूर्व भव में जिस पाप या पुण्य कर्म का संचय किया है, वह 'दैव' (भाग्य) कहा जाता है। उसकी उदीरणा से प्राप्त हुए दुःख या सुख का अनुभव करता हुआ जो बुद्धिमान् शुभ को ही करता है (पाप कार्यों को छोड़कर पुण्य कार्यों को ही करता है), वह भी अभीष्ट है (एक अच्छी बात है), किन्तु जो व्यक्ति उन दोनों (पुण्य व पाप) को नष्ट करने के लिए समस्त आरम्भ व परिग्रह के आग्रह को छोड़ देता है (यानी शुद्धोपयोग में स्थित होता है), वह (ही) सत्पुरुषों के लिए वन्दनीय होता है।''

वास्तव में तो योगी तो तपस्वी हुआ करता है और तप कर्मक्षय हेतु ही तपा जाता है। उस तप की निर्मलता तभी होती है जब व्यक्ति इहलोक व परलोक —दोनों से निरपेक्ष ही हो।

उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-४००)—

इहपरलोयसुहाणं णिरवेक्खो जो करेदि समभावो।
विविहं कायकिलेसं तव धम्मो णिम्मलो तस्स।।

अधिकं च विस्तरभयान्न लिख्यते।

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य, ख्यातिपूजादितृष्णां परित्यज्य परलोकसुखेच्छारूपनिदानभावमपि दूरे वर्जयित्वा हे भव्य! मोक्षमार्गेऽग्रसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति निजशुद्धात्मरुच्या निर्वाणं प्राप्यते —इति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन निर्दिशन्ति—

कम्मादविहावसहावगुणं जो भाविदूण भावेण।
णियसुद्धप्पा रुच्चदि तस्स य णियमेण होदि णिव्वाणं।।१२३।।

छाया— कर्मात्मविभावस्वभावगुणं यो भावयित्वा भावेन।
निजशुद्धात्मा रोचते तस्य च नियमेन भवति निर्वाणम्।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-400) में कहा भी गया है—

''जो समभावी इहलोक व परलोक दोनों के सुख की अपेक्षा न रखकर अनेक प्रकार का कायक्लेश करता है, उसके निर्मल तप धर्म होता है।''

अब, विस्तार-भय से और अधिक नहीं लिखेंगें।

इस प्रकार अच्छी तरह समझकर, ख्याति व पूजा आदि की तृष्णा को छोड़कर, परलोक के सुख की इच्छा रूप 'निदान' भाव को भी दूर से ही छोड़ते हुए, हे भव्य! मोक्षमार्ग में अग्रसर होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, निज शुद्धात्मा के प्रति रुचि (सम्यग्दर्शन) से निर्वाण की प्राप्ति होती है —इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो मुनि कर्म-जनित विभाव और स्वभाव एवं गुण की भावपूर्वक भावना (बार-बार चिन्तन आदि) करता है, तथा निज शुद्धात्मा में रुचि रखता है, उसको नियम से निर्वाण प्राप्त होता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (तस्स य णियमेण होदि णिव्वाणं) **तस्य सम्यग्दृष्टेः नियमेन अवश्यमेव निर्वाणं मोक्षस्य प्राप्तिः भवति। कस्य, कथम्भूतस्य सम्यग्दृष्टेः ? उच्यते—** (णियसुद्धप्पा रुच्चदि) **यस्मै निजशुद्धात्मा रोचते, यस्य निजशुद्धात्मविषयिका रुचिः श्रद्धा वा भवति, निश्चयसम्यक्त्वं भवतीत्यर्थः। किं विधाय ? उच्यते—** (जो कम्माद-विहाव-सहावगुणं भावेण भाविदूण) **यः कर्म आत्मा च, एतयोः विभावपरिणामं स्वभावपरिणामं च, तयोर्गुणं च अर्थात् तयोः सामान्यं विशेषं च गुणं भावेन भावयित्वा, वारं वारं तच्चिन्तन-मननादिकं विधायेत्यर्थः। पूर्वं जीवकर्मणोः यद्वा जीवाजीवयोः स्वरूपादिज्ञानं प्राप्य निजात्मश्रद्धानं करोति, स निर्वाणं लभते नूनमिति गाथासारः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— सम्यक्त्वपूर्वकं सम्यक्चारित्रं भवति, सम्यक्चारित्राच्च मुक्तिः इति 'सम्मत्ताओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं' **इति दर्शनप्राभृते** (गाथा-३१) **उक्तत्वाद्। तच्च सम्यक्त्वं व्यवहारनिश्चयेतिभेदेन द्विविधम्। तत्र जीवादिपदार्थश्रद्धानं व्यवहारसम्यकत्वम्, आत्मश्रद्धानं निश्चयसम्यक्त्वम् इति दर्शनप्राभृते** (गाथा-२०) **प्रोक्तम्।**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(तस्य च नियमेन भवति निर्वाणम्)** उस सम्यग्दृष्टि को नियमतः, अवश्य ही निर्वाण यानी मोक्ष की प्राप्ति होती है। किस को या किस स्थिति को प्राप्त सम्यग्दृष्टि को? बता रहे हैं— **(निजशुद्धात्मा रोचते)** जिसे निज शुद्धात्मा अच्छा लगता है या जिसकी श्रद्धा (रुचि) निज शुद्धात्मा पर होती है, अर्थात् जिसे 'निश्चय सम्यक्त्व' होता है। क्या करके? बता रहे हैं— **(यः कर्मात्मविभावस्वभावगुणं भावेन भावयित्वा)** जो कर्म व आत्मा, इन दोनों के विभावपरिणमन व स्वभावपरिणमन और उनके गुण यानी सामान्य व विशेष गुण की भावपूर्वक भावना करके, अर्थात् बारम्बार उनका चिन्तन-मनन करके। पहले जीव व कर्म या जीव व अजीव के स्वरूप आदि का ज्ञान प्राप्त करके निजात्मा में जो श्रद्धान करता है, वह अवश्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है —यह गाथा का सार है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— सम्यक्त्वपूर्वक सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र से मुक्ति होती है —ऐसा दर्शनप्राभृत (गाथा-31) में *'सम्मत्ताओ चरणं, चरणाओ होइ णिव्वाणं'* (सम्यक्त्व से चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है) कहा गया है। वह सम्यक्त्व दो प्रकार का होता है— व्यवहारसम्यक्त्व व निश्चयसम्यक्त्व। वहाँ जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान होता है, वह 'व्यवहारसम्यक्त्व' है और आत्म-श्रद्धान 'निश्चयसम्यक्त्व' है —ऐसा दर्शनप्राभृत (की गाथा-20) में कहा गया है।

चारित्रमपि द्विविधं व्यवहारनिश्चयभेदेन। समस्तसावद्यक्रियाभ्यो हिंसानृतादिभ्यो विरतिः, यद्वा अशुभविनिवृत्तिः शुभे च प्रवृत्तिः व्यवहारचारित्रं कथ्यते। स्वस्मिन्नेव ज्ञानस्वभावे शुद्धात्मनि निरन्तरचरणं यत्तत् निश्चयचारित्रं भण्यते।

एवं गाथायामत्र व्यवहारसम्यक्त्वपूर्वकं निश्चयसम्यक्त्वं निरूपितमस्ति। कर्मात्मस्वभावादि-ज्ञानं व्यवहारसम्यक्त्वम्, तत्पूर्विका शुद्धात्मरुचिरेव निश्चयसम्यक्त्वं भवतीति सूचितम्। व्यवहारसम्यक्त्वं तत्त्वज्ञानमूलकम्। तत्त्वं च जीवाजीवरूपम्। अत्र गाथायां कर्म, आत्मा —इत्यनयोः संकेतः कृतः, तत्र कर्म अजीवपुद्गलद्रव्यात्मक एव।

उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (२/७७)—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण दु तु जीवेण परिणमिदा।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थेऽपि (श्लोक-१२) **भणितम्—**

चारित्र भी दो प्रकार का होता है— व्यवहारचारित्र व निश्चयचारित्र। समस्त सावद्य (पाप) क्रियाओं अर्थात् हिंसा, असत्यभाषण आदि की क्रियाओं से विरत होना या अशुभ कार्यों से निवृत्ति और शुभ कार्यों में प्रवृत्ति —यह 'व्यवहारचारित्र' कहा जाता है। अपनी ही ज्ञानस्वभाव रूप शुद्ध आत्मा में निरन्तर 'चरण' जो होता है, उसे 'निश्चयचारित्र' कहा जाता है।

इस प्रकार, इस गाथा में व्यवहारसम्यक्त्व पूर्वक निश्चयसम्यक्त्व होने का निरूपण किया गया है। कर्म व आत्मा के स्वभाव आदि का ज्ञान 'व्यवहारसम्यक्त्व' है, उसके अनन्तर शुद्धात्मविषयक जो रुचि होती है, वही 'निश्चय-सम्यक्त्व' है —यह यहाँ सूचित किया गया है। व्यवहारसम्यक्त्व का मूल तत्त्व-ज्ञान है। जीव व अजीव —ये तत्त्व हैं। इस गाथा में कर्म व आत्मा —इन दोनों का संकेत किया गया है। इनमें कर्म अजीव पुद्गल द्रव्य ही है।

प्रवचनसार ग्रन्थ (2/77) में कहा गया है—

"कर्म रूप होने के योग्य पुद्गल-स्कन्ध जीव की राग-द्वेषात्मक परिणति को प्राप्त कर स्वयं ही कर्म रूप में परिणति को प्राप्त हो जाते हैं। जीव उन्हें परिणत नहीं करता।"

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक-12) में भी बताया गया है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन।।

एवं जीवाजीवविज्ञानात् शुद्धात्मपरिचयः, ततश्च मोहनाशो भवति, ततश्च मुक्तिः। उक्तं च चारित्रप्राभृतग्रन्थे (गाथा ३७-३८)

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं।
णाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि।।

जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी।
रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति।।

प्रवचनसारग्रन्थे (३/३३) **च भणितम्—**

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।

"जीव-कृत परिणाम निमित्तमात्र होते हैं, जिनको प्राप्त कर अन्य (कर्मप्रायोग्य) पुद्गल स्वयं कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।"

इस तरह, जीव व अजीव —इनके ज्ञान से शुद्धात्मा का परिचय प्राप्त होता है, उससे मोहनाश होता है और फिर मुक्ति होती है। चारित्रप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 37-38) में कहा गया है—

"भव्य जीवों को समझाने के लिए जिन-मार्ग में जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है, वैसा ज्ञान तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा को हे भव्य! तूँ अच्छी तरह जान।"

"जो मनुष्य जीव व अजीव का विभाग (अन्तर) जानता है, वह सम्यग्ज्ञानी है। जो राग-द्वेष से रहित है, वह वीतराग जिन-शासन में मोक्षमार्गी है —ऐसा कहा गया है।"

प्रवचनसार ग्रन्थ (3/33) में भी कहा गया है—

"आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न पर (आत्मेतर) पदार्थों को जानता है। इस तरह स्व-पर पदार्थों को नहीं जानने वाला भिक्षु कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है?"

तत्त्वज्ञानेऽधिगते, तत्त्वानां मनसि पुनः पुनश्चिन्तनं तद्भावना वा मोक्षमार्गे उपयोगितां वहति। अतएव भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा ११२-११३) **परामृष्टम्—**

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थ पंचमयं।
तिरयणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं।।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चिंतेइ चिंतणीयाइं।
ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं।।

प्रत्येकद्रव्यं गुणपर्यायात्मकम्। गुणाश्च स्वद्रव्यचतुष्टयापेक्षया वस्तु-स्वभावभूता एव। गुणगुणिनोश्च कथंचिद् भेदः, कथंचिदभेदश्च स्याद्वादिनां मते। कतिचित्सामान्यगुणाः, कतिचिच्च विशेषगुणाः। पर्यायाश्च गुणानां विकाराः। तेऽपि स्वभावपर्यायाः, विभावपर्यायाः इति द्विविधाः। तत्र पर-पदार्थनिमित्तकाः विभावपर्यायाः। एवं प्रकारेण आत्मद्रव्यस्य, कर्ममूलभूतपुद्गलद्रव्यस्य च, उभयोः ज्ञाने, तद्भावनया च निश्चयसम्यक्त्वं ततश्च निर्वाणमिति क्रमोऽमुत्र गाथायां संकेतितः।

तत्त्वज्ञान होने पर, उन तत्त्वों का मन में बार-बार चिन्तन या उनकी भावना मोक्ष में उपयोगी है। इसलिए भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 112-113) में यह परामर्श दिया गया है—

"हे मुनि! मन, वचन व शरीर से शुद्ध होकर प्रथम जीव तत्त्व, दूसरा अजीव तत्त्व, तीसरा आस्रव तत्त्व, चतुर्थ बन्ध तत्त्व, पाँचवां संवर तत्त्व, तथा अनादिनिधन आत्म तत्त्व को, (धर्म, अर्थ व काम रूप) त्रिवर्ग को हरने वाले निर्जरा व मोक्ष तत्त्व का चिन्तन कर।"

"जब तक यह जीव तत्त्वों की भावना नहीं करता, और जब तक चिन्तनयोग्य तत्त्वों का चिन्तन नहीं करता, तब तक वह जरामरण रहित स्थान 'मोक्ष' को नहीं प्राप्त करता।"

प्रत्येक द्रव्य गुण-पर्यायात्मक होता है। गुण स्वद्रव्यचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल व स्वभाव) की अपेक्षा से स्वभावभूत ही होते हैं। गुण व गुणी में कथंचित् भेद और कथंचिद् अभेद भी स्याद्वादियों की मान्यता में है। गुणों में कुछ सामान्य गुण होते हैं तो कुछ विशेष गुण। गुणों के विकार ही पर्याय होती हैं। वे भी दो प्रकार की होती हैं— स्वभाव पर्याय और विभाव पर्याय। इनमें पर-पदार्थ के निमित्त से होने वाले विभाव पर्याय हैं। इस प्रकार से आत्म-द्रव्य और 'कर्म' के मूलभूत पुद्गल द्रव्य —इन दोनों का ज्ञान होने पर, उनकी भावना से 'निश्चय सम्यक्त्व' और तदनन्तर निर्वाण की प्राप्ति, यह क्रम है, जिसका इस गाथा में संकेत किया गया है।

आत्म-पुद्गलद्रव्ययोः स्वभावविभावगुणानां सामान्यतया परिचयोऽत्र प्रस्तूयते—

जीवद्रव्ये सामान्यगुणाः— अस्तित्वम्, वस्तुत्वम्, द्रव्यत्वम्, प्रमेयत्वम्, अगुरुलघुत्वम्, प्रदेशत्वम्, चेतनत्वम्, अमूर्तत्वमिति अष्टौ भवन्ति। पुद्गलद्रव्ये च अस्तित्वं, वस्तुत्वं, द्रव्यत्वं प्रमेयत्वमगुरुलघुत्वं प्रदेशत्वमचेतनत्वं मूर्तत्वमिति अष्टौ सामान्यगुणाः। ज्ञानं, दर्शनं, सुखं, वीर्यं चेतनत्वममूर्तत्वमिति षड् जीवस्य विशेषगुणाः। स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-अचेतनत्व-मूर्तत्वानि पुद्गलद्रव्यस्य षड् विशेषगुणाः। प्रत्येकद्रव्यस्य स्वभावपर्यायाः अगुरुलघुगुणकृतषड्गुणहानि-वृद्धिरूपा द्वादश ज्ञेयाः। जीवस्य नारकादिपर्याया विभावपर्यायाः, पुद्गलस्य च स्कन्धादिपरिणामा विभावपर्यायाः भवन्ति।

उक्तं च नियमसारग्रन्थे (गाथा-१५, २७-२८)—

णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जियपज्जाया ते सहावमिदि भणिदा।।

आत्मा व पुद्गल द्रव्य के स्वभाव, विभाव गुणों का सामान्य परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

जीव द्रव्य में सामान्य गुण— अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्त्व, चेतनत्व व अमूर्तत्व —ये आठ होते हैं। पुद्गल द्रव्य में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, अचेतनत्व व मूर्तत्व —ये आठ सामान्य गुण होते हैं। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनता, अमूर्तता —ये जीव के छः विशेष गुण हैं। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, अचेतनत्व, मूर्तत्व —ये पुद्गल द्रव्य के छः विशेष गुण होते हैं। अगुरुलघुगुण के कारण होने वाली षड्गुण-हानि व षड्गुणवृद्धि —ये बारह स्वभावपर्यायें प्रत्येक द्रव्य के होती हैं। जीव के नारक आदि पर्यायें 'विभावपर्यायें' हैं। पुद्गल के स्कन्ध आदि परिणाम 'विभाव पर्यायें' होती हैं।

नियमसार ग्रन्थ (गाथा-15, 27-28) में कहा भी गया है—

''मनुष्य, नारक, तिर्यञ्च व देव —इन्हें आत्मा या जीव की 'विभाव पर्याय' कही गई है। तथा कर्म रूप उपाधि से रहित आत्मा की जो पर्यायें हैं, वे 'स्वभाव पर्यायें' कही गई हैं।''

एयरसरूवगंधं दो फासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं जिणसमये सव्वपयडत्तं।।

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जायो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जायो।।

विस्तरस्तु आलापपद्धतिग्रन्थादिभ्योऽवगन्तव्यः।

एवं स्वभावविभावादिज्ञानेन मुमुक्षोः विभावस्थितिं परित्यज्य स्वभावस्थित्यै श्रद्धा जागर्ति एव, ततश्च निर्विकल्पशुद्धात्मस्थितिप्राप्त्यै च प्रयासे समुत्साहो वर्द्धते, एवं क्रमशो मोक्षमार्गेऽग्रसरतां प्राप्य मोक्षं जीवः प्राप्नोति।

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! दृढनिर्दोषसम्यक्त्वं समाश्रित्य मोक्षप्राप्त्यै प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

''एक रस, एक रूप, एक गन्ध एवं दो स्पर्शों (शीत-उष्ण या स्निग्ध-रूक्ष) से युक्त जो पुद्गल-परमाणु है, वह स्वभाव गुण वाला है और द्व्यणुक आदि स्कन्ध दशा में अनेक रस, अनेक रूप, अनेक गन्ध व अनेक स्पर्श वाला जो परमाणु है, वह जिन-शासन में विभावपर्याय वाला कहा गया है।''

''जो अन्य-निरपेक्ष परिणाम है, वह स्वभाव पर्याय है और स्कन्ध रूप से जो परिणाम है, वह विभावपर्याय है।'

इस विषय में विस्तार से 'आलापपद्धति' आदि ग्रन्थों से जाना जा सकता है।

इस प्रकार, स्वभाव व विभाव सम्बन्धी ज्ञान से विभावस्थिति को छोड़कर स्वभाव में स्थिति होने की श्रद्धा मुमुक्षु में जगती ही है, फलस्वरूप निर्विकल्प शुद्धात्म-स्थिति की प्राप्ति और प्रयास करने में उत्साह बढ़ता है, इस तरह क्रमशः मोक्षमार्ग में अग्रसर होते हुए जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार, हे भव्य! अच्छी तरह समझकर दृढ़ व निर्दोष सम्यक्त्व का आश्रयण कर मोक्ष की प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील होना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, तत्त्वज्ञानी मुक्तो भवतीति शास्त्रकाराः पुनरपि उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन प्रतिपादयन्ति—

मूलुत्तरुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो मुक्को।
आसवबंधसंवरणिज्जर जाणेदि किं बहुणा।।१२४।।

छाया— मूलोत्तरोत्तरोत्तरद्रव्यतो भावकर्मतो मुक्तः।
आस्रवबन्ध-संवर-निर्जराः जानाति किम्बहुना।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। पूर्वस्यां गाथायां जीवाजीवज्ञानेन शुद्धात्मरुचिः, ततश्च निर्वाणप्राप्तिरिति वर्णितम्। सम्प्रति आस्रवादिपदार्थानां ज्ञानेन सम्यग्ज्ञानिनो मुक्तिर्भवतीति निरूप्यते। (किं बहुणा) **किमधिकं ब्रूमः, संक्षेपेण एवोपसंह्रियते—** (आसव-बंध-संवर-णिज्जर जाणेदि) **यः आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जरापदार्थान् जानाति, स को भवति?** (मुक्को) **स मुक्तो जायते। कस्मात् मुक्तः? उच्यते—** (मूलुत्तरुत्तरुत्तरदव्वादो भावकम्मदो) **मूल-उत्तर-उत्तरोत्तर-द्रव्यकर्मतो भावकर्मतश्च मुक्तो भवति। द्रव्यकर्मणां मूलप्रकृतयः, उत्तरप्रकृतयः, उत्तरोत्तरप्रकृतयश्च भवन्ति, एवं सर्वप्रकृतिसहितैः, तैः समस्त- द्रव्यकर्मभिः, तथा भावकर्मभिश्च स मुक्तो जायते —इत्यर्थः।**

अब, तत्त्वज्ञानी मुक्त होता है— इसे शास्त्रकार पुनः उग्गाहा छन्द से निरूपित कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो आस्रव, बन्ध , संवर व निर्जरा तत्त्वों को जानता है, वह कर्मों की मूल प्रकृतियाँ, उत्तर प्रकृतियाँ, उत्तरोत्तर द्रव्यकर्म व भावकर्म —इनसे मुक्त होता है (मुक्ति प्राप्त करता है या स्वयं को 'शुद्ध' मुक्त समझता है)।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। पूर्व की गाथा (सं. 123) में यह कहा गया था कि जीव व अजीव (कर्म) के ज्ञान से शुद्धात्मविषयक रुचि होती है और उससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। अब (इस गाथा में) आस्रव आदि पदार्थों के ज्ञान से सम्यग्ज्ञानी को मुक्ति होती है —यह बताया जा रहा है। **(किं बहुना)** और अधिक क्या कहें? संक्षेप में ही उपसंहार कर रहे हैं— **(आस्रव-बन्ध-संवर-निर्जराः जानाति)** जो मनुष्य आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा पदार्थों को जानता है, वह क्या होता है? **(मुक्तः)** वह मुक्त हो जाता है। किससे मुक्त हो जाता है? बता रहे हैं— **(मूलोत्तरोत्तरोत्तरद्रव्यतः भावकर्मतः)** मूलप्रकृति, उत्तरप्रकृति, उत्तरोत्तर प्रकृति वाले द्रव्यकर्मों से तथा भावकर्मों से मुक्त होता है। द्रव्यकर्मों की मूल प्रकृतियाँ, उत्तरप्रकृतियाँ एवं उत्तरोत्तर-प्रकृतियाँ भी होती हैं, इस तरह समस्त प्रकृतियों से युक्त उन समस्त द्रव्यकर्मों से तथा भावकर्मों से वह (सम्यग्ज्ञानी) मुक्त हो जाता है —यह अर्थ है।

अत्रायं विशेषः— कर्मबन्धः प्रकृति-स्थिति-प्रदेश-अनुभागबन्धेतिभेदैश्चतुर्धा। तत्र प्रकृतिबन्धो मूलोत्तरभेदेन द्विविधः —इति तत्त्वार्थसूत्रे (८/३), **तट्टीकायां राजवार्तिके** (८/३/११) **च प्रतिपादितम्। तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ-ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, वेदनीयम्, मोहनीयम्, आयुः, नाम, गोत्रम्, अन्तरायः —इति। एतेषामुत्तरप्रकृतयः अष्टचत्वारिंशदुत्तरशतसंख्यका भवन्ति। उत्तरोत्तर-प्रकृतयोऽसंख्यातलोकप्रमिता ज्ञेयाः।**

उक्तं च गोम्मटसारग्रन्थे (कर्मकाण्डे, गाथा-7)—

तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा।
ताणं पुण घादि त्ति अघादित्ति य होंति सण्णाओ।।

पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/९९७) **च भणितम्—**

उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्।
शक्तितोऽनन्तसंज्ञं च सर्वकर्मकदम्बकम्।।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— कर्मबन्ध प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, प्रदेशबन्ध व अनुभागबन्ध —इस प्रकार चार भेदों वाला है। इनमें प्रकृतिबन्ध के दो प्रकार हैं— मूलप्रकृतिबन्ध व उत्तरप्रकृतिबन्ध —यह तत्त्वार्थसूत्र (8/3) में और उसकी टीका राजवार्तिक (8/3/11) में प्रतिपादित किया गया है। इनमें मूलप्रकृतियाँ आठ हैं— ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र व अन्तराय। इनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या एक सौ अड़तालीस (148) हैं। उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं।

गोम्मटसार ग्रन्थ (कर्मकाण्ड, गाथा-7) में कहा गया है—

''वह सामान्य कर्म आठ प्रकार का है अथवा एक सौ अड़तालीस प्रकार का है अथवा असंख्यात लोक प्रमाण है। उन आठ प्रकार आदि रूप कर्मों की पृथक्-पृथक् घाती और अघाती संज्ञा है।''

पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/997) में भी कहा गया है—

''उत्तरोत्तर भेदों की अपेक्षा से कर्म असंख्यात लोक प्रमाण हैं। तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदों की शक्ति की अपेक्षा से सम्पूर्ण कर्मों का समूह अनन्त है।''

तत्र ज्ञानावरणीयस्य मूलप्रकृतेः उत्तरप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणीयस्य नव, वेदनीयस्य द्वे, मोहनीयस्य अष्टाविंशतिः, आयुःकर्मणश्चतस्त्रः, नामकर्मणः त्रिनवतिसंख्यकाः (उदयगतभेद-विवक्षया), **गोत्रकर्मणः द्वे, अन्तरायकर्मणश्च पञ्च —इति संहत्य अष्टचत्वारिंशदुत्तरशतसंख्यकाः** (१४८) **उत्तरप्रकृतयो विज्ञेयाः। उत्तरोत्तरप्रकृतयो मतिज्ञानादयोऽसंख्याता भवन्ति। राजवार्तिके** (८/१३/३) **तु ज्ञानावरणादीनामुत्तरप्रकृतयः संख्येयाः, असंख्येयाश्च, तथा नामकर्मणश्च असंख्येया उत्तरप्रकृतयः प्रोक्ताः। विस्तरस्तु गोम्मटसारग्रन्थात्** (कर्मकाण्डे, गाथा-७, ३६-३८) **विज्ञेयः।**

मूलोत्तरप्रकृतिसहितानि पौद्गलिककर्मवर्गणाद्रव्याणि एव द्रव्यकर्माणि। भावकर्माणि तु द्रव्यकर्मनिमित्तका आत्मीयविभावपरिणामाः रागद्वेषादयः। यद्वा द्रव्यकर्मनिहिता शक्तिरेव भावकर्म।

उक्तं च गोम्मटसारग्रन्थे (कर्मकाण्डे, गाथा-६)—

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।
पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु।।

यहाँ ज्ञानावरणीय मूलप्रकृति की उत्तरप्रकृतियाँ पाँच हैं, दर्शनावरणीय की नौ, वेदनीय की दो, मोहनीय की अट्ठाईस, आयुकर्म की चार, नामकर्म की तिरानवे (उदयगत भेदविवक्षा से), गोत्र कर्म की दो, अन्तरायकर्म की पाँच —ये सब मिलाकर कुल उत्तरप्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस (148) जानना चाहिए। उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ मतिज्ञान आदि असंख्यात प्रकार की हैं। राजवार्तिक (8/13/3) में ज्ञानावरणीय कर्म की संख्यात व असंख्यात तथा नाम कर्म की असंख्यात उत्तर प्रकृतियों का भी निरूपण प्राप्त होता है। विस्तार से जानना हो तो गोम्मटसार ग्रन्थ (कर्मकाण्ड गाथा 7,36-38) से जानना चाहिए।

(उक्त) मूल व उत्तर प्रकृतियों सहित पौद्गलिक कर्मवर्गणा के द्रव्य ही 'द्रव्यकर्म' होते हैं। भावकर्म तो राग, द्वेष आदि हैं जो द्रव्यकर्मों के निमित्त से होने वाले आत्मीय विभाव परिणाम होते हैं। या द्रव्यकर्मों में निहित शक्ति ही भावकर्म है।

गोम्मटसार ग्रन्थ (कर्मकाण्ड, गाथा-6) में कहा गया है—

''कर्मत्व की दृष्टि से सामान्य कर्म एक है। द्रव्य व भाव के भेद से वह दो प्रकार का है। द्रव्यकर्म पुद्गल-पिण्ड होता है और उस पिण्ड में रहने वाली फल देने की शक्ति 'भावकर्म' है।''

आप्तपरीक्षाग्रन्थे (श्लोक ११३-११४) **च निर्दिष्टम्—**

द्रव्यकर्माणि जीवस्य पुद्गलात्मान्यनेकधा।

भावकर्माणि चैतन्यविवर्त्तात्मनि भान्ति नुः।
क्रोधादीनि स्ववेद्यानि कथंचिच्चिदभेदतः।।

आस्रवादिज्ञानेन ज्ञानी विषयविरक्तो भवति, ततश्च मुक्तिः। अग्रिमगाथायां विषयविरक्तस्य मुक्तिः इति स्वयं शास्त्रकारो वक्ष्यति। आस्रवादिज्ञानेन कथं विषयविरक्तिः —इति विषये समयसारग्रन्थे (गाथा ७१-७२) **स्पष्टीकृतम्—**

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से।।

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो।।

आचार्य विद्यानन्दि-कृत आप्तपरीक्षा ग्रन्थ (श्लोक 113-114) में इस प्रकार कहा गया है—

''जीव के जो द्रव्यकर्म हैं, वे पुद्गलात्मक होते हैं और अनेक प्रकार के होते हैं।''

''तथा जो भावकर्म हैं, वे आत्मा के चैतन्य परिणामात्मक हैं, क्योंकि आत्मा से कथंचित् अभिन्न रूप से स्ववेद्य प्रतीत होते हैं और वे क्रोध आदि रूप हैं।''

आस्रव आदि का ज्ञान होने पर ज्ञानी विषयविरक्त हो जाता है और उससे मुक्ति होती है। अग्रिम गाथा में (सं. 125) स्वयं शास्त्रकार यह बताने वाले हैं कि विषयों से विरक्त प्राणी की मुक्ति होती है। आस्रव आदि के ज्ञान से विषय-विरक्ति कैसे होती है —इस विषय में समयसार ग्रन्थ (गाथा 71-72) में स्पष्ट किया गया है—

''जिस समय इस जीव को आत्मा तथा आस्रव का विशेष अन्तर ज्ञात हो जाता है, उसी समय उसके बन्ध नहीं होता।''

''आस्रवों की अशुचिता व विपरीत स्वभाव को जानकर, तथा 'ये दुःख के कारण हैं' ऐसा जानकर यह जीव उनसे निवृत्ति कर लेता है।''

अन्यच्च, स तत्त्वज्ञानी 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' (बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-१३) **इत्युक्त्यनुरूपं शुद्धनयमवलम्ब्य स्व-शुद्धात्मस्वरूपं सम्यक्तया मनुते, तद्ध्यानरतश्च कर्मविमुक्तिं मोक्षसुखं च लभते। उक्तं च समयसारग्रन्थे** (गाथा १९८-२००)—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को।।

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को।।

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो।।

प्रवचनसारग्रन्थे (२/९९, १०२) **च भणितम्—**

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।

और, वह तत्त्वज्ञानी 'शुद्ध नय से सभी जीव शुद्ध हैं' इस (बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-13) उक्ति के अनुरूप शुद्ध नय का अवलम्बन लेकर, निज शुद्धात्म-स्वरूप को सम्यक्तया मानता है, उसके ध्यान में निरत होता है और फिर कर्म-मुक्ति या मोक्ष-सुख को प्राप्त करता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा 198-200) में भी कहा गया है—

"कर्मों के जो विविध प्रकार के उदयरस जिनेन्द्र भगवान् ने बताये हैं, वे मेरे स्वभाव नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञायक भाव रूप हूँ।"

"राग नाम का एक पुद्गल कर्म है, यह राग भाव उसी के विपाक का उदय है। किन्तु यह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भाव रूप में हूँ।"

"इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप को ज्ञायक स्वभाव जानता है और तत्त्व को— वस्तु के यथार्थ स्वरूप को— जानता हुआ उदयागत रागादि भाव को कर्म का विपाक जानकर उसे छोड़ता है।"

प्रवचनसार ग्रन्थ (2/99, 102) में भी कहा गया है—

"न मैं पर-पदार्थों का हूँ, और न ही पर-पदार्थ मेरे हैं। मैं तो एक ज्ञान रूप हूँ। ऐसा जो ध्यान में ध्यान-भावना करता है, वही-आत्मा का ध्याता होता है।"

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं।।

समयसारग्रन्थे (गाथा १८६-१८९) **च निर्दिष्टम्—**

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ।।

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णम्हि।।

जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं।।

अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं।।

समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-२८) **च निर्दिष्टम्—**

''जो ऐसा जानकर, सागार हो अनगार, विशुद्ध आत्मा के रूप में आत्मा का ध्यान करता है, वह मोह की दुर्भेद्य ग्रन्थि का क्षय करता है।''

समयसार ग्रन्थ में ही (गाथा 186-189) यह भी कहा गया है—

''शुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को पाता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है। जो जीव अपनी आत्मा को स्वयं द्वारा शुभाशुभ रूप दोनों योगों से रोककर दर्शन-ज्ञान में स्थित होता हुआ, अन्य पदार्थों में इच्छा-रहित एवं समस्त परिग्रह से रहित होकर आत्मा के द्वारा आत्मा का ही ध्यान करता है, कर्म-नोकर्म का ध्यान नहीं करता, किन्तु चेतना रूप होकर एकत्व भाव (मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, इस भाव) का चिन्तन करता है, वह आत्मा का ध्याता, दर्शनज्ञानमय होकर तथा अन्यवस्तुरूप न होता हुआ, शीघ्र ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।''

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-28) में भी बताया गया है—

सोऽहमित्यात्तसंस्कारः, तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्कारात् लभते ह्यात्मनि स्थितिम्॥

धवलाग्रन्थे (पु. १, खण्ड-१, भाग-१, सू. २४,) 'सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः', **तथा सिद्धभक्तौ च** (श्लोक-१) 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः' **इत्युक्तत्वात् आत्मस्थितिरेव सिद्धिः विज्ञेया। अन्ये विद्वांसः केचिदेवं व्याख्यानं गाथाया अस्याः कुर्वन्ति— यो द्रव्य-भाव-कर्मभिः मुक्तो भवति, अर्थात् सिद्धात्मा भवन्ति, यथा तस्य अनन्तज्ञानदर्पणतले समस्तपदार्थाः प्रतिबिम्बिता भवन्ति, तथैव तज्ज्ञाने आस्रवादिपदार्थज्ञानमपि अन्तर्भवन्त्येवेति। किन्तु एतद्व्याख्यानापेक्षया पूर्वं व्याख्यानं समधिकमौचित्यं वहति। अथवा इदमपि व्याख्यातुं शक्यते— य आस्रवादिपदार्थान् जानाति, स शुद्धनयेन जानाति— यदहमात्मा द्रव्यभावकर्ममुक्तः इति।**

उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-१४)—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि॥

"उस शुद्धात्मा-परमात्मा में भावना करने से, 'वही मैं हूँ' इस संस्कार को प्राप्तकर, ज्ञानी उसमें आत्मस्वरूप की भावना करता हुआ, उसी परमात्मरूप में संस्कार की दृढ़ता से शुद्ध चैतन्य स्वरूप में स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।"

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 24) में कहा गया है कि स्वरूप की उपलब्धि सिद्धि है, तथा सिद्धभक्ति (आचार्य पूज्यपादकृत, श्लोक-1) में कहा गया है कि 'निज आत्मा की उपलब्धि ही सिद्धि' है इसलिए उक्त आत्म-स्थिति को सिद्धि जानना चाहिए। कुछ विद्वान् इस गाथा का ऐसा व्याख्यान भी करते हैं— जो द्रव्य व भाव कर्मों से रहित होता है, अर्थात् सिद्ध आत्मा होता हैं, उसके अनन्त ज्ञान रूपी दर्पण में जिस तरह समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी तरह उसके ज्ञान में आस्रव आदि पदार्थों का ज्ञान भी अन्तर्भूत होता है। किन्तु इस व्याख्यान से पूर्व में किया गया व्याख्यान अधिक औचित्यपूर्ण होता ही है। अथवा यह व्याख्यान भी किया जा सकता है— जो आस्रव आदि पदार्थों को जानता है, वह शुद्ध नय से जानता है कि मैं आत्मा द्रव्य भावकर्मों से मुक्त हूँ।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-14) में कहा भी गया है—

"जो नय आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष तथा नियत (चंचलता रहित) और अन्य पदार्थ के संयोग से रहित देखता है, जानता है, उसे 'शुद्ध नय' जानो।"

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! षड्द्रव्यनवपदार्थादिज्ञानेन विषयविरक्तिमाश्रयन् मोक्षमार्गेऽग्रसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

आत्मस्वरूपं विज्ञाय विषयविरक्तानामेव मुक्तिः —इति तथ्यं शास्त्रकाराः सम्प्रति उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन प्रतिपादयन्ति—

विसयविरत्तो मुच्चदि विसयासत्तो ण मुच्चदे जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेदं जाणाहि किं बहुणा।।१२५।।

छाया— विषयविरक्तः मुच्यते विषयासक्तः न मुच्यते योगी।
बहिरन्तःपरमात्मभेदं जानीहि किं बहुना?

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (मुच्चदि) **मुक्तो भवति। कः ?** (विसयविरत्तो जोई) **विषयेभ्यो विरक्तः योगी यो भवति, स मुच्यते इत्यर्थः। इदमेवार्थं निषेधमुखेन प्रस्तौति—** (विसयासत्तो ण मुच्चदे) **विषयेषु आसक्तः, इन्द्रियविषय-सेवनगृद्धः न मुच्यते, कदाचिदपि संसारमुक्तो न भवतीत्यर्थः।**

इस प्रकार, अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! छः द्रव्यों व नौ पदार्थों आदि के ज्ञान से विषय-विरक्ति (वैराग्य) का आश्रय करते हुए मोक्षमार्ग में अग्रसर होते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

आत्म-स्वरूप को जानकर जो विषयविरक्त होते हैं, उन्हें ही मुक्ति मिलती है —इस तथ्य को शास्त्रकार अब उग्गाहा छन्द द्वारा प्रतिपादित कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— विषयों से विरक्त योगी मुक्त होता है और विषयों में आसक्त मुक्त नहीं होता। (इसलिए) बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा के भेदों को जानो (और विषयों से विरक्त हो जाओ), और अधिक कहने से क्या लाभ ?

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(मुच्यते)** मुक्त हो जाता है। कौन? **(विषयविरक्तो योगी)** विषयों से विरक्त हुआ योगी जो होता है, वह मुक्त होता है —यह अर्थ है। इसी अर्थ को निषेध-वाक्य के द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं— **(विषयासक्तो न मुच्यते)** विषयों में आसक्त रहने वाला, अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के सेवन में तीव्र आसक्ति वाला मुक्त नहीं होता, वह संसार से कभी मुक्त नहीं हो पाता —यह अर्थ है।

विषयविरक्त्यै किं करणीयम्? उच्यते— (किं बहुणा) **किमधिकं ब्रूमः, संक्षेपेणैव परामृश्यते—** (बहिरंतरपरमप्पाभेदं जाणाहि) **बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा —इति निजात्मनः त्रीन् प्रकारान् जानीहि, सम्यक्तया तज्ज्ञानं प्राप्नोहि। परमात्मत्वप्राप्तिर्हि संसारमुक्तिः, तच्च परमात्मत्वं जीवात्मनः परमशुद्धावस्थैव। सा चावस्था रत्नत्रयाराधनया, यद्वा सम्यग्ज्ञानपूर्वकं शुद्धात्माराधनया प्राप्यते। तदर्थं विषयविरक्तिः अवश्यमपेक्ष्यते। विषयविरक्ति-पोषणाय अनित्यत्वादि-अनुप्रेक्षाणां भावना कर्तव्या। विषयविरक्त्या सह सम्यक्श्रद्धानमपि अपेक्ष्यते। सम्यक्श्रद्धानाविर्भावाय आत्मानात्मविवेकपूर्वकः शुद्धात्मस्वरूपपरिचय आवश्यकः, तदर्थं बहिरात्मादिप्रकारज्ञानमपेक्ष्यते।**

किञ्च प्रोक्ता रत्नत्रयाराधना वीतरागधर्माराधनैव, अर्थात् वीतरागतायाः सर्वोत्कृष्टावस्थैव परमात्मा, जघन्यावस्था अन्तरात्मा, बहिरात्मा च। वीतरागतायाः क्रमिको विकासः कीदृशो भवतीति सम्यग्ज्ञानं बहिरात्म-अन्तरात्म-परमात्मेतिप्रकारत्रयज्ञानेन भवति। अतस्तत्करणीयमिति गाथार्थः। अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रवचनसारग्रन्थे (१/८०-८२) **शास्त्रकाराः प्रतिपादितवन्तः—**

विषयों से विरक्ति के लिए क्या करना होता है? बता रहे हैं— **(किं बहुना)** अधिक क्या कहें, संक्षेप में ही (इतना-सा) परामर्श है— **(बहिरन्तरपरमात्मभेदं जानीहि)** बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —इस तरह निज आत्मा के तीन प्रकारों को जानो, अच्छी तरह उसकी जानकारी प्राप्त करो। परमात्मरूप की प्राप्ति ही संसार-मुक्ति है, वह परमात्मपना जीवात्मा की परमशुद्ध अवस्था ही है (और कुछ नहीं)। वह अवस्था रत्नत्रय की आराधना से, या सम्यग्ज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा की आराधना से प्राप्त होती है। उसके लिए विषय-विरक्ति अवश्य अपेक्षित होती है। विषय-विरक्ति की पुष्टि के लिए अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं की भावना करनी चाहिए। विषय-विरक्ति के साथ सम्यक् श्रद्धान भी अपेक्षित है। सम्यक् श्रद्धा के अविर्भाव हेतु आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त करते हुए शुद्धात्मा के स्वरूप का परिचय आवश्यक है, जिसके लिए ही बहिरात्मा आदि तीन प्रकारों का ज्ञान अपेक्षित है —यह गाथा का अर्थ है।

और, उपर्युक्त रत्नत्रय-आराधना वीतराग धर्म की ही आराधना है अर्थात् वीतरागता की सर्वोत्कृष्ट अवस्था ही परमात्मा है, जघन्य अवस्थाएँ हैं— अन्तरात्मा व बहिरात्मा। वीतरागता का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है— इसका समीचीन ज्ञान, बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —इन तीन प्रकारों के ज्ञान से होता है। इसलिए वह ज्ञान करना चाहिए —यह गाथा का अर्थ है। इसी अर्थ को अन्य प्रकार से प्रवचनसार ग्रन्थ (1/80-82) में शास्त्रकार ने प्रतिपादित किया है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं।।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं।।

समाधिशतके (श्लोक-२७, ९८) **च प्रोक्तप्रकारत्रयज्ञानानन्तरं ध्यानविधिना परमात्मत्वप्राप्तिः संकेतिता—**

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानम्, अन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्।।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

''जो व्यक्ति द्रव्य, गुण व पर्यायों के साथ अरहन्त परमात्मा को जान लेता है, वही आत्मा को जानता है और निश्चय से उसी का मोह (मिथ्यात्व) नष्ट होता है।''

''जिसका दर्शनमोह नष्ट हो चुका है —ऐसा जीव आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने लगता है (अनुभव करने लगता है) और वही जीव यदि राग व द्वेष को छोड़ देता है तो शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है।''

''सभी अरहन्त भगवान् उस (पूर्वोक्त) विधि से ही कर्मों के अंशों का क्षयकर तथा उसी प्रकार का उपदेश देकर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। मेरा उन सबको 'नमोस्तु' है।''

समाधिशतक (श्लोक-27 व 98) में उपर्युक्त आत्मा के तीन प्रकारों के ज्ञान के बाद, ध्यान-विधि से परमात्मस्वरूप की प्राप्ति का संकेत इस प्रकार है—

''इस प्रकार, बहिरात्म-स्वरूप को छोड़कर अन्तरात्मा में स्थित होना चाहिए और फिर समस्त संकल्पों से रहित (निर्विकल्प) परमात्म-स्वरूप की भावना करनी चाहिए।''

''अथवा यह आत्मा अपने चित्स्वरूप की ही उपासना करके परमात्मा उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार बांस का वृक्ष स्वयं को अपने से ही रगड़कर अग्निरूप हो जाता है।''

किञ्च, विषयविरक्तिरेव बहिरात्मावस्थातः अन्तरात्म-स्थितिप्राप्त्यै परमोपयोगिनी। अन्तरात्मा तु स्वप्नेऽपि विषयसुखे न रक्तो भवतीति शास्त्रकाराः ग्रन्थे (गाथा-१३३) **वक्ष्यन्त्येव। आत्मनः त्रयाणां प्रकाराणां निर्देशो व्याख्याने प्राक्** (गाथा-११६) **कृत एव। ग्रन्थेऽप्यमुत्राग्रे तत्परिचयो दास्यते एव। गाथायामस्यां** 'विषयविरक्तो योगी मुच्यते' **—इतिकथनं यत्कृतं, तदेव मुमुक्षूणां कृते सारभूतम्।**

प्रवचनसारग्रन्थेऽपि (२/८७) **स्पष्टरूपेण तदेवोद्घोषितम्—**

रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो।।

शीलप्राभृतग्रन्थेऽपि 'हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा' (गाथा 7-8) **इत्यादिकमूचिरे स्वयं शास्त्रकाराः। समयसारग्रन्थेऽपि** (गाथा-१५०) **ते परामृशन्तो दृश्यन्ते—**

और, बहिरात्मा की स्थिति से अन्तरात्मा की स्थिति प्राप्त करने में विषय-विरक्ति परम उपयोगी होती है। अन्तरात्मा तो स्वप्न में भी विषय-सुख में अनुरक्त नहीं होता —यह बात स्वयं शास्त्रकार इसी ग्रन्थ में आगे (गाथा-133 में) कहेंगे। आत्मा के तीन प्रकारों का निर्देश हम पहले अपने (गाथा-116 के) व्याख्यान में कर आए ही हैं। इस ग्रन्थ में भी आगे उनका परिचय दिया जाने वाला ही है। इस गाथा में 'विषयविरक्त योगी मुक्त होता है' —यह कथन जो किया गया है, वही मुमुक्षुओं के लिए सारभूत है।

प्रवचनसार ग्रन्थ (2/87) में भी इसी की उद्घोषणा इस प्रकार की गई है—

''जीवों के बन्ध तत्त्व के विषय में निश्चय ही यह संक्षिप्त कथन है कि रागसहित आत्मा कर्मों से बंधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त हो जाता है।''

शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 7-8) में भी 'विषयों में मोहग्रस्त मूढ़ जन चतुर्गतियों में भ्रमण करते रहते हैं' —इत्यादि कथन शास्त्रकार ने किया है। समयसार ग्रन्थ में (गाथा-150) भी वे इस प्रकार परामर्श देते हुए दिखाई देते हैं—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।

ज्ञानार्णवग्रन्थेऽपि (गाथा-२१/१५/११२२) **भणितम्—**

रागादिभिरविश्रान्तैर्वञ्च्यमानं मुहुर्मनः।
न पश्यति परं ज्योतिः पुण्यपापेन्धनानलम्।।

अन्यच्च, तत्रैव (गाथा-२१/२१) **भणितम्—**

एतावनादिसम्भूतौ, रागद्वेषौ महाग्रहौ।
अनन्तदुःखसंतानप्रसूतेश्चाग्रिमाङ्कुरौ ।।

अत्र यद्व्याख्यातव्यं तत्पूर्वमपि व्याख्याने (गाथा-९८) **कृतमिति नाधिकं वितन्यते। तथापि प्रसङ्गेऽत्र आत्मानुशासनकाराणां वचनानि** (श्लोक ३५-३६) **मननीयानि—**

''रागयुक्त जीव कर्मबन्ध करता है और वैराग्यसम्पन्न जीव मुक्त हो जाता है —यह जिनेन्द्र भगवान् का उपदेश है, इसलिए कर्मों में अनुरक्त मत होओ।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/15/1122) में भी कहा गया है—

निरन्तर विद्यमान रहनेवाले रागादिकों के द्वारा बार-बार ठगा गया मन उस उत्कृष्ट ज्योति को नहीं देखता है जो कि पुण्य-पापरूप ईंधन के भस्म करने में अग्नि के समान है।

और, वहीं (21/21) यह कहा गया है—

दो राग-द्वेष रूप दो महापिशाच अनादि काल से उत्पन्न होते हुए अपरिमित दुःख-परम्परा की उत्पत्ति के प्रधान अंकुर हैं— मुख्य कारण हैं।

यहाँ जो व्याख्यान करना चाहिए, वह पूर्व व्याख्यान (गाथा-98) में कर दिया गया है, इसलिए अधिक और कुछ नहीं लिख रहे हैं। फिर भी, इस प्रसङ्ग में आत्मानुशासन (श्लोक 35-36) के कुछ वचन मननीय हैं—

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षण:।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित्।।

आशागर्त: प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता।।

एवं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! विषयविरक्तिं धृत्वा शुद्धात्मप्राप्त्यै निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथाया-स्तात्पर्यम्।

एवं 'णिच्छयववहारसरूवं' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'विसयविरत्तो मुच्चदि' **इत्यादिकां गाथां यावत् सप्तगाथात्मक: द्वादशाधिकार: सम्पन्नतां गत:।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां द्वादशाधिकार: सम्पन्न:।।]

।। इति द्वादशाधिकार:।।

"जिसके नेत्र इन्द्रिय-विषयों के द्वारा अन्धे हो गए हैं, ऐसा यह प्राणी उस लोकप्रसिद्ध (नेत्र रहित) अन्धे व्यक्ति से भी अधिक अन्धा है, क्योंकि नेत्रान्ध तो आँख से ही नहीं देख पाता है, किन्तु विषयान्ध तो (किसी भी इन्द्रियों से) किसी भी तरह देख नहीं पाता।"

"आशा रूप गड्ढा प्रत्येक प्राणी में (इतना गहरा) स्थित है जिसमें समस्त विश्व भी परमाणु जैसा प्रतीत होता है। फिर उसमें किसके लिए क्या और कितना आ सकता है? (अर्थात् कुछ हाथ नहीं आता।) इसलिए विषयों की अभिलाषा करना तेरे लिए व्यर्थ ही है।"

इस प्रकार अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! विषय-विरक्ति को धारण कर, शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, '**णिच्छयववहारसरूवं**' इत्यादि से लेकर '**विसयविरत्तो मुच्चदि**' इत्यादि गाथा तक, सात गाथाओं वाला —यह बारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में बारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति द्वादशाधिकार:।।

।। तेरसमो अहियारो।।

(त्रयोदशोऽधिकारः)

अथ बहिरात्मस्वरूपनिरूपणपरः त्रयोदशाधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे 'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १२६) **समारभ्य** 'पूयसूयरसाणाणं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १३२) **यावत् सप्त गाथाः सन्ति। तत्र प्रथमं** 'णिय अप्पणाणझाणज्झयण' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२६) **वर्तते, यत्र बहिरात्मनः स्वरूपं निर्दिष्टम्। ततश्च** 'किम्पायफलं पक्कं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२७) **वर्तते, यत्र किम्पाकफलवद् विषयसुखस्य परिणामे दुःखदायित्वं निरूपितमस्ति। तदनन्तरं** 'देहकलत्तं पुत्तं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२८) **वर्तते, या निरूपयति यद् बहिरात्मा देहे कलत्रादिषु च निजात्मभावं भावयति। ततः परं** 'इंदियविसयसुहादिसु' **इत्यादिका गाथा** (सं. १२९) **वर्तते, या इन्द्रियविषयसुखासक्तस्य बहिरात्मतां निर्दिशति। तदनन्तरं** 'जं जं अक्खाण सुहं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३०) **वर्तते, या प्रतिपादयति यद् बहिरात्मा इन्द्रियसुखं सुखाभासं न मनुते।**

।। तेरहवाँ अधिकार।।

अब बहिरात्मा के स्वरूप का निरूपण करने वाला तेरहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इसकी पातनिका बता रहे हैं। इस अधिकार में **'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण'** इत्यादि गाथा (सं. 126) से लेकर **'पूयसूयरसाणाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 132) तक सात गाथाएँ हैं। उनमें पहली **'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण'** इत्यादि गाथा (सं. 126) है, जिसमें बहिरात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद, **'किम्पायफलं पक्कं'** इत्यादि गाथा (सं. 127) है, जिसमें यह बताया गया है कि किम्पाक फल की तरह विषय-सुख परिणाम में दुःखदायी होता है। इसके बाद, **'देहकलत्तं पुत्तं'** इत्यादि गाथा (सं. 128) है, जो यह बताती है कि बहिरात्मा (जीव) देह में तथा कलत्र आदि में निज-आत्मीय भाव रखता है। इसके अनन्तर, **'इंदिय-विसयसुहादिसु'** इत्यादि गाथा (सं. 129) है, जो 'इन्द्रियविषय-सुख में आसक्त बहिरात्मा है' —यह बताती है। तदनन्तर, **'जं जं अक्खाण सुहं'** इत्यादि गाथा (सं. 130) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि बहिरात्मा इन्द्रिय-सुख को सुखाभास नहीं मानता।

ततः परं '**जेसिं अमेज्झमज्झे**' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३१) **वर्तते, यत्रापि 'बहिरात्मा सततमिन्द्रियसुखमेव इच्छति' इति निरूपितम्। ततः परं** 'पूयसूयरसाणाणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३२) **वर्तते, या प्रतिपादयति यद् बहिरात्मनां जीवानामाहारोऽपि विवेकहीनो भवतीति। एवं त्रयोदशाधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

अथ गाथाद्वयेन शास्त्रकारा बहिरात्मनः स्वरूपं (चपला)**-गाहाछन्दोभ्यां निर्वर्णयन्ति-**

णिय-अप्पणाणझाणज्झयणसुहामियरसायणं पाणं।
मोत्तूणक्खाण सुहं जो भुंजदि सो हु बहिरप्पा।।१२६।।

किम्पायफलं पक्कं विसमिस्सिदमोदगिंदवारुणसोहं।
जिव्हसुहं दिट्ठिपियं जह तह जाणक्खसोक्खं पि।।१२७।।

छाया -निजात्मज्ञानध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानम्।
मुक्त्वा अक्षाणां सुखं यो भुंक्ते स खलु बहिरात्मा।।

किम्पाकफलं पक्कं विषमिश्रितमोदक-इन्द्रायणशोभम्।
जिह्वासुखं दृष्टिप्रियं यथा तथा जानीहि अक्षसौख्यमपि।।

इसके अनन्तर, **'जेसिं अमेज्झमज्झे'** इत्यादि गाथा (सं. 131) है, जो यह बताती है कि बहिरात्मा हमेशा इन्द्रिय-सुख ही चाहता रहता है। इसके बाद, **'पूयसूयरसाणाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 132) है, जो यह बताती है कि बहिरात्मा जीवों का आहार भी विवेकहीन होता है। इस प्रकार तेरहवें अधिकार की यह समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब, शास्त्रकार दो गाथाओं द्वारा बहिरात्मा के स्वरूप का (चपला) गाहा छन्दों से निरूपण कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो निज आत्मा के ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूपी अमृत-तुल्य रसायन के पान को छोड़ कर, इन्द्रियों के सुख को भोगता है, वह निश्चय ही 'बहिरात्मा' है।

जिस प्रकार पका हुआ किम्पाक फल, विषमिश्रित लड्डू और इन्द्रायण फल —ये देखने में सुन्दर होते हैं और जीभ को भी सुख देते हैं (किन्तु परिणाम में दुःखदायी होते हैं), उसी प्रकार इन्द्रिय-सुखों को भी जानें।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सो हु बहिरप्पा) **स खलु बहिरात्मा। आत्मनस्त्रिषु प्रकारेषु प्रथमावस्थां प्राप्तो जीवो बहिरात्मा कथ्यते। को भवति बहिरात्मा? उच्यते—** (जो अक्खाण सुहं भुंजदि) **यः अक्षाणाम्, इन्द्रियाणां सुखं भुंक्ते, पञ्चेन्द्रियविषयभूतस्वाभीष्टपदार्थानाश्रित्य तन्निमित्तकं सुखमनुभवति —इत्यर्थः। किं कृत्वा?**

उच्यते— (णिय-अप्पणाणझाणज्झयणसुहामिय-रसायणं पाणं मोत्तूण) **निजात्मनो ज्ञानं तदनु ध्यानमध्ययनं च, तेषां तदुपलब्धं वा यत्सुखम्, तदेव अमृतं रसायनम्, तस्य पानं त्यक्त्वा, बाह्यविषयसुखरूपं विषं भुंक्ते —इति मोहस्य महान् दुष्प्रभाव एवेति तात्पर्यम्। विषयसेवनं किम्पाकफलभक्षणमिव यद्वा विषभक्षणतुल्यमेवेति शास्त्रकारा अग्रिमगाथायां** (गाथा-१२७) **वक्ष्यन्त्येव। वस्तुत आत्मध्यानादिधर्मसेवनं परमसुखदम्, विषयसेवनं दुःखदमेव, तथापि विषयेषु रतिर्जीवस्य या भवति, सा मिथ्यात्वमोहपिशाचप्रवर्तितैव।**

उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा ४२६-४२७)—

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(स खलु बहिरात्मा)** वह तो बहिरात्मा जीव है। आत्मा के तीन प्रकारों में प्रथमावस्था को प्राप्त जीव को 'बहिरात्मा' कहते हैं। वह कौन (कैसा) होता है? बता रहे हैं— **(यः अक्षाणां सुखं भुंक्ते)** जो अक्ष यानी इन्द्रियों के सुख का भोग करते हैं, अर्थात् पाँच इन्द्रियों के विषयभूत (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, इन) अभीष्ट पदार्थों का आश्रय लेकर, उसके निमित्त से सुख का अनुभव करता है। क्या करके?

बताते हैं— **(निजआत्मज्ञान-ध्यानाध्ययनसुखामृतरसायनपानं मुक्त्वा)** निज आत्म का ज्ञान, तदनन्तर (उसी का) ध्यान व अध्ययन (स्वाध्यायादि), उनका (उनसे प्राप्त होने वाला) जो सुख है, वही अमृत (के जैसा) रसायन (औषध) है, उसका पान छोड़कर जो बाह्य विषयों के सुख रूप विष को भोगता है— यह तो मोह (अज्ञान) का ही महान् दुष्प्रभाव है —यह तात्पर्य है। विषयों का सेवन किम्पाक फल या विष के खाने के समान ही है —यह शास्त्रकार अगली गाथा (सं. 127) में कहने ही जा रहे हैं। वस्तुतः आत्म-ध्यान आदि धर्म का सेवन परम सुखदायक है और विषय-सेवन दुःखदायी है, फिर भी विषयों में जीव की रति (प्रीति) जो हो जाती है, वह मिथ्यात्व या मोह रूपी पिशाच द्वारा ही कराई जाती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 426-427) में कहा भी गया है—

धम्मं ण मुणदि जीवो अहवा जाणेइ कह व कट्ठेण।
काउं तो वि ण सक्कदि मोहपिसाएण भोलविदो।।

जह जीवो कुणइ रइं पुत्तकलत्तेसु कामभोगेसु।
तह जइ जिणिंदधम्मे तो लीलाए सुहं लहदि।।

वस्तुतो हिताहितविवेकरहितस्यैव विषयसुखे प्रवृत्तिर्नान्येषाम्। उक्तं च आदिपुराणे (३६/८५)—

भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो न च वेद हिताहितम्।
भुक्तस्य जरसा जन्तोः मृतस्य च किमन्तरम्।।

समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५५) **च निरूपितम्-**

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः।
तथापि रमते बालः, तत्रैवाज्ञानभावनात्।।

''प्रथम तो जीव धर्म को जानता ही नहीं है, यदि किसी प्रकार कष्ट उठाकर उसे जानता भी है तो मोह रूपी पिशाच के चक्कर में पड़ कर उसका पालन नहीं कर पाता।''

''जैसे यह जीव पत्नी व पुत्र आदि में तथा काम-भोगों के सेवन में रति (प्रेम) करता है, वैसी रति यदि भगवान् जिनेन्द्र के धर्म में करे तो अनायास ही सुख प्राप्त हो जाए।''

वस्तुतः हित-अहित के विवेक से रहित व्यक्ति की ही विषय-सुख में रति होती है, अन्य की नहीं। आदिपुराण (36/85) में कहा गया है—

''भोगों में अत्यन्त आसक्त व्यक्ति प्रायः हित व अहित को नहीं जानता या नहीं समझता। वृद्धावस्था से खाये हुए व्यक्ति व मरे हुए व्यक्ति में भला क्या अन्तर रह जाता है (अर्थात् विषयसेवन से असमय बुढ़ापा घेर लेता है और व्यक्ति मरे हुए जैसा हो जाता है)।''

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-55) में भी कहा गया है—

''इन्द्रियों के विषयों में यद्यपि वैसी कोई विशेषता नहीं होती जो आत्मा के लिए कल्याणकारी हो, किन्तु फिर भी मूढ़ आत्मा अज्ञान-वश उनमें ही रमण करता है।''

यो ज्ञानी भवति, स तु विषयसुखेषु नानुरक्तो भवति। उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-१७)—

आरम्भे तापकान्प्राप्तौ अतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ।।

ज्ञानिनो मते तु विषयसुखं सुखाभासरूपं दुःखमेव वा भवति। उक्तं च आदिपुराणे (११/१७२-१७३)—

मनोनिर्वृतिमेवेह सुखं वाञ्छन्ति कोविदाः।

विषयानुभवे सौख्यं यत्पराधीनमङ्गिनाम्।
साबाधं सान्तरं बन्धकारणं दुःखमेव तत्।।

अन्यच्च, तत्रैव (११/१८६, १९१-१९५) **प्रोक्तम्**—

जो ज्ञानी होता है, वह तो विषय-सुखों में (कभी) अनुरक्त नहीं होता। इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-17) में कहा भी गया है—

"पहले नहीं मिलने पर सन्ताप देने वाले, और मिल जाने पर अतृप्ति पैदा करने वाले तथा अन्त में जिनका छोड़ना बहुत कठिन होता है, ऐसे भोगों का सेवन कौन बुद्धिमान् भला करना चाहेगा?"

ज्ञानी के विचार में तो विषय-सुख सुखाभास (नकली सुख) ही होता है या दुःख रूप होता है। आदिपुराण (11/172-173) में कहा गया है—

"विद्वान् लोग मानसिक शान्ति को ही सुख मानते हैं।"

"विषयों के अनुभव में उत्पन्न होने वाला संसारी प्राणियों को जो सुख होता है, वह पराधीन, बाधासहित, बीच में ही समाप्त हो जाने वाला तथा बन्ध का भी कारण है, इसलिए वह तो दुःख ही है।"

और भी, वहीं (11/186, 191-195) यह भी कहा गया है—

ततः स्वाभाविकं कर्मक्षयात् तत्प्रशमादपि।
यदाह्लादनमेतत् स्यात् सुखं नान्यव्यपाश्रयम्।।

पश्यैते विषयाः स्वप्नभोगाभाः विप्रलम्भकाः।
अस्थायुकाः कुतस्तेभ्यः सुखमार्तधियां नृणाम्।।

विषयानर्जनयन्नेव तावद् दुःखं महद् भवेत्।
तद्रक्षाचिन्तने भूयो भवेदत्यन्तमार्तधीः।।

तद्वियोगे पुनर्दुःखमपारं परिवर्तते।
पूर्वानुभूतविषयान् स्मृत्वा स्मृत्वावसीदति।।

अनाशितं भवानेतान् विषयान् धिगपायिनः।
येषामासेवनं जन्तोर्न सन्तापोपशान्तये।।

वह्निरिवैन्धनैः सिन्धोः स्रोतोभिरिव सारितैः।
न जातु विषयैर्जन्तोः उपभुक्तैर्वितृष्णता।।

"अतः कर्मों के क्षय से या उपशम से होने वाला जो स्वाभाविक आह्लाद —सुख होता है, वह अन्यत्र नहीं पाया जाता है।"

"देखो, ये विषय-भोग स्वप्न में प्राप्त भोगों के समान अस्थायी व धोखा देने वाले होते हैं। इसलिए आर्तध्यान में रहने वाले लोगों को उन विषयों से सुख कैसे प्राप्त हो सकता है?"

"प्रथम तो यह जीव विषयभोगों को इकट्ठा करने में ही बड़े भारी दुःख को सहता है और एकत्रित होने पर उसकी रक्षा हेतु चिन्तन करता हुआ और भी अधिक दुःखी होता है।"

"फिर, इन विषयों के नष्ट हो जाने पर अपार दुःख होता है, क्योंकि पहले भोगे हुए विषयों का बार-बार स्मरण करके वह प्राणी बहुत ही दुःखी हुआ करता है।"

"जो अतृप्तिकारी हैं, विनश्वर हैं, और जिनका सेवन जीवों के सन्ताप को दूर नहीं कर सकता, ऐसे उन विषयों को धिक्कार है!।"

"जिस प्रकार ईन्धन से अग्नि की तृष्णा कभी मिटती नहीं और नदियों के पूर (प्रवाह) से समुद्र की तृष्णा दूर नहीं होती, उसी प्रकार भोगे हुए विषयों से कभी जीवों की प्यास बुझती नहीं।"

इदानीं द्वितीयगाथा व्याख्यायते। (तह जाणक्खसोक्खं पि) **अक्षसौख्यं, इन्द्रियविषय-सेवनजनितं यत् किञ्चिदनुभवनं सुखाभासरूपं तज्जानीहि। कीदृशं तत्? उच्यते—**(जिव्हसुहं दिट्ठिपियं पक्कं किपाकफलं जहा) **यथा पक्वं किम्पाकफलं जिव्हेन्द्रियसुस्वाद्यं रमणीयदर्शनमपि परिणामे विषमिव घातकं भवति, तद्वदेव विषयसुखं भवति, तदापातरमणीयं भवदपि त्याज्यमेव भवति— इति सम्यक् ज्ञातव्यम्। तथा** (विसमिस्सिदमोदगिंदवारुणसोहं) **विषमिश्रितमोदकम्, तथा इन्द्रायणफलम्, एतयोः शोभा यथा भवति, तथैव इन्द्रियसुखमपि भवति। तयोः शोभा मनोहारिणी भवति, किन्तु परिणामे मृत्युप्रदा भवति, तद्वदेव विषयसुखं भवतीति विज्ञेयम्। विषयसुखस्य किम्पाकफलतुल्यता विषतुल्यता वा बहुषु ग्रन्थेषु वर्णिता।**

यथा पद्मपुराणे (२९/७७) **भणितम्—**

आपातरमणीयानि सुखानि विषयादयः।
किम्पाकफलतुल्यानि चित्रं प्रार्थयते जनः।।

अब दूसरी गाथा का व्याख्यान कर रहे हैं। **(तथा जानीहि अक्षसौख्यमपि)** अक्षसौख्य, अर्थात् इन्द्रिय-विषयों के सेवन से होने वाला जो कुछ भी अनुभव है, उसे सुखाभास (नकली सुख) समझें। वह कैसा है? बता रहे हैं, **(जिह्वासुखं दृष्टिप्रियं पक्कं किम्पाकफलं यथा)** जिस प्रकार पका हुआ 'किम्पाक फल' जिह्वा इन्द्रिय द्वारा स्वादयोग्य और देखने में रमणीय भी होता है, किन्तु परिणाम में विष की तरह घातक (प्राणहारक) होता है, उसी तरह विषयसुख भी होता है, वह आपातरमणीय (प्रथम बार देखने में अच्छा प्रतीत होने वाला) होने पर भी त्याज्य ही होता है —इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। तथा **(विषमिश्रितमोदकइन्द्रायणशोभम्)** जिस प्रकार विषमिश्रित मोदक (लड्डू) तथा 'इन्द्रायण' फल —इन दोनों की शोभा होती है, वैसी ही स्थिति इन्द्रिय-सुख की होती है। उनकी शोभा मनोहारी होती है, किन्तु परिणाम में मृत्युदायक होती है, उसी तरह विषय-सुख भी होता है —यह ज्ञातव्य है। विषय-सुख की 'किम्पाक फल' या विष से समानता अनेक शास्त्रों में वर्णित है।

उदाहरणार्थ, पद्मपुराण (29/77) में कहा गया है—

''विषयों से उत्पन्न होने वाले सुख प्रारम्भ में मनोहारी किन्तु 'किम्पाक फल' के समान (घातक) होते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि फिर भी मनुष्य इनकी कामना करता है।''

प्रशमरतिप्रकरणे (श्लोक-१०७) **च निर्दिष्टम्—**

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः।
किम्पाकफलादन-वद् भवन्ति पश्चाददतिदुरन्ताः।।

आदिपुराणे (३६/७६) **च प्रोक्तम्—**

अत्यन्तरसिकानादौ पर्यन्ते प्राणहारिणः।
किम्पाकपाकविषमान् विषयान् कः कृती भजेत्।।

वस्तुतो विषयसेवनं विषादपि समधिकं दुष्परिणामप्रदं भवति। उक्तं च आदिपुराणे (३६/७४, ७७)—

वरं विषं यदेकस्मिन्, भवे हन्ति न हन्ति वा।
विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तशः।।

शस्त्रप्रहारदीप्ताग्निवज्राशनिमहोरगाः।
न तथोद्वेजकाः पुंसां यथाऽमी विषयद्विषः।।

प्रशमरतिप्रकरण (श्लोक-107) में भी बताया गया है—

"यद्यपि संसार के विषयों का जब सेवन किया जाता है, तो वे मन के सन्तोष के कारण तो बनते हैं, किन्तु अन्त में विषफल के खाने के समान अत्यन्त दुःखदायी भी होते हैं।"

आदिपुराण (36/76) में भी कहा गया है—

"प्रारम्भ में बहुत अच्छे मालूम होने वाले किन्तु अन्त में प्राणहारक एवं किम्पाक (विषफल) के समान फल देने वाले विषम विषयों को कौन बुद्धिमान् सेवन करेगा?"

वस्तुतः विषय-सेवन विष से भी कहीं अधिक दुष्परिणाम देने वाला होता है। आदिपुराण (36/74, 77) में कहा भी गया है—

"विष अच्छा है जो प्राणी को एक ही भव में मारता है या कभी-कभी नहीं भी मार पाता, किन्तु इन्द्रिय-विषय तो जीव को अनन्त बार (जन्म-मृत्यु के चक्र में डालकर) मारते हैं। कितने दुःख की बात है?"

"शस्त्र-प्रहार, प्रदीप्त आग, वज्र और उल्कापात तथा बड़े-बड़े सांप भी मनुष्य के लिए उस प्रकार व्याकुलता के कारण नहीं होते जिस प्रकार इन्द्रिय-विषय रूपी शत्रु होते हैं।"

इत्येवं विषय-सेवनस्य दुष्परिणामं विज्ञाय हे भव्य! निजात्मध्यानजनितसुखं प्राप्तुं सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

पुनरपि बहिरात्मजीवस्य सामान्यलक्षणानि शास्त्रकारा अग्रे उग्गाहाछन्दोभिः विशदयन्ति—

देह कलत्तं पुत्तं मित्तादि विहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।१२८।।

इंदियविसयसुहादिसु मूढमदी रमदि ण लहदि तच्चं।
बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।१२९।।

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेदि बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।१३०।।

छाया— देहं कलत्रं पुत्रं मित्रादि विभावचेतनारूपम्।
आत्मस्वरूपं भावयति स एव भवति बहिरात्मा।।

इन्द्रियविषयसुखादिषु मूढमतिः रमते न लभते तत्त्वम्।
बहुदुःखमिति न चिन्तयति स चैव भवति बहिरात्मा।।

इस प्रकार, विषय-सेवन के दुष्परिणाम को जानकर हे भव्य! निज आत्म-ध्यान से उत्पन्न सुख को प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

पुनः शास्त्रकार बहिरात्मा जीव के सामान्य लक्षणों का निरूपण तीन उग्गाहा छन्दों द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो जीव शरीर, पत्नी, पुत्र, मित्र आदि को, तथा विभाव-चेतना (राग-द्वेष आदि) को आत्मस्वरूप मानता (उस रूप में भावना करता) है, वह 'बहिरात्मा' ही होता है।

जो अज्ञानी जीव इन्द्रिय-विषयों के सुख में रम जाता है और यह विचार नहीं करता कि ये इन्द्रिय-विषय बहुत दुःखदायी हैं और जो तत्त्व को भी ग्रहण नहीं कर पाता, वह 'बहिरात्मा' **ही होता है।**

यत् यत् अक्षाणां सुखं तत् तत् तीव्रं करोति बहुदुःखम्।
आत्मानमिति न चिन्तयति स एव भवति बहिरात्मा।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः स्पष्ट एव। (सो चेव हवेदि बहिरप्पा) **स एव, वक्ष्यमाणलक्षणो जीवो बहिरात्मा भवति। तस्य किं स्वरूपम्? उच्यते—** (अप्पसरूवं भावदि) 'आत्मैव' **इति रूपेण परपदार्थान् भावयति, अध्यवस्यति। कान् पदार्थान्? उच्यते—** (देह कलत्तं पुत्तं मित्तादि) **स्वदेहं पौद्गलिकमपि, स्वपत्नीं पुत्रं मित्रादिकमपि आत्मत्वेन प्रत्येति, स निश्चयेन बहिरात्मैव। तथा च** (विहावचेदणारूवं) **स्वचैतन्यरूपात्मनः परनिमित्तमाश्रित्य उत्पद्यमाना रागादिभावाः विभाव-पर्यायरूपाः सन्ति, तान् सर्वान्स आत्मभूतान्, आत्मीयान् वा स्वीकरोति। सोऽपि मिथ्यादृष्टिः, मिथ्यात्वान्धकारावृतः यद्वा सज्ज्ञानदृष्टिरहित एव विज्ञेयः। आत्मानात्मविवेक-ज्ञानाभावेन स अनात्मपदार्थमपि आत्मरूपेण स्वीकरोति, श्रद्दधाति, तथैव व्यवहरत्यपि।**

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-१९३) **च भणितम्—**

जो-जो भी इन्द्रिय-सुख है, वह-वह आत्मा को तीव्र व अनेक प्रकार के दुःख देता है— इस प्रकार जो विचार नहीं करता, वह 'बहिरात्मा' ही होता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय स्पष्ट ही है। **(स एव भवति बहिरात्मा)** वही जीव जिसका लक्षण (स्वरूप) आगे कह रहे हैं, बहिरात्मा होता है। उसका क्या स्वरूप है? बता रहे हैं— **(आत्मस्वरूपं भावयति)** पर-पदार्थों में ये आत्मा ही हैं इस रूप में भावना या अध्यवसान करता है। कौन से (परकीय) पदार्थ? बता रहे हैं— **(देहं कलत्रं पुत्रं मित्रादि)** पौद्गलिक निज देह को भी, अपनी पत्नी, पुत्र व मित्र आदि को भी 'आत्मा' रूप से प्रतीति (अनुभव) करता है, वह निश्चय से बहिरात्मा ही है। तथा **(विभावचेतनारूपम्)** स्वचैतन्य स्वरूपी आत्मा में परपदार्थ के निमित्त से उत्पन्न होने वाले जो विभावपर्याय रूप राग आदि भाव होते हैं, उन सभी को आत्मरूप या आत्मीय रूप में वह बहिरात्मा स्वीकार करता है, उसे भी मिथ्यादृष्टि या मिथ्यात्व अन्धकार से आवृत या सज्ज्ञानदृष्टि से रहित ही जानना चाहिए। आत्मा व अनात्मा के विवेक ज्ञान से रहित होने से वह अनात्म पदार्थ को भी 'आत्मा' रूप में स्वीकार करता है, वैसा ही श्रद्धान करता है और तदनुरूप आचरण भी करता है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-193) में भी कहा गया है—

मिच्छत्तपरिणदप्पा तिव्वकसाएण सुट्ठु आविट्ठो।
जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा।।

देहात्मनोरैक्यं मन्वानोऽज्ञानी अहं दुर्बलः, अहं बली, अहं श्रेष्ठी, अहं भृत्यः इत्यादिकल्पनां करोति। उक्तं च तत्रैव (गाथा-१८७)—

राओ हं भिच्चो हं सिट्ठी हं चेव दुब्बलो बलिओ।
इदि एयत्ताविट्ठो दोण्हं भेयं ण बुज्झेदि।।

वस्तुतो जीवस्तु अमूर्तः, शुद्धचिद्रूपः, दर्शनज्ञानादिमयो वा, देहः इन्द्रियाणि च पुद्गलद्रव्यमयानि यद्वा पुद्गलद्रव्योपकृतानि भवन्ति।

प्रोक्तं च स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-२०८)—

जीवस्स बहुपयारं उवयारं कुणदि पुग्गलं दव्वं।
देहं च इंदियाणि च वाणी उस्सासणिस्सासं।।

''जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदय रूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह आविष्ट हो और जीव व देह को एक मानता हो, वह 'बहिरात्मा' होता है।''

देह व आत्मा की एकता मानते हुए अज्ञानी 'मैं दुर्बल हूँ', 'मैं बलवान हूँ' 'मैं सेठ हूँ', मैं नौकर हूँ' इत्यादि कल्पना करता है। और वहीं (कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-187 में) यह भी कहा गया है—

''मैं राजा हूँ, मैं भृत्य हूँ, मैं सेठ हूँ, मैं दुर्बल हूँ, मैं बलवान् हूँ —इस प्रकार शरीर व आत्मा में एकत्व मानने वाला जीव दोनों आत्मा व शरीर के भेद को नहीं जानता।''

वस्तुतः जीव तो अमूर्त है, शुद्ध चित् रूप है या दर्शन-ज्ञानादिमय है। देह व इन्द्रियाँ पुद्गल द्रव्य रूप हैं या पुद्गल द्रव्य द्वारा उपकार रूप में निर्मित हैं।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-208) में कहा भी गया है—

''पुद्गल द्रव्य बहुत तरह से जीव का उपकार करता है— शरीर बनाता है, इन्द्रियाँ बनाता है, वचन बनाता है और श्वासोच्छ्वास भी बनाता है।''

अज्ञानेन पुद्‌गलद्रव्यात्मकं शरीरेन्द्रियादिकं आत्मरूपं यद्वा आत्मीयरूपेण जीवो मनुते। भणितं च समयसारग्रन्थे (गाथा २०-२३)—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा।।

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालम्हि।
होहिदि पुणोवि मज्झं अहमेदं चावि होस्सामि।।

एयंतु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो।।

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।।

पुद्‌गलकर्मनिमित्तका रागादिभावा अपि न शुद्धात्मनः स्वभावरूपाः, अपितु ते विभाव-रूपाः, व्यवहारदृष्ट्या आत्मगताः सन्तोऽपि ते परमार्थनयेन न सन्ति। बहिरात्मा तु प्रोक्तविवेक-ज्ञानशून्यो भवति, एतदेव गाथायाममुत्र 'विभावचेतनारूपं आत्मस्वरूपं भावयति' **इत्युक्त्या समर्थितम्।**

जीव शरीर व इन्द्रिय को -जो पुद्‌गल द्रव्यमय हैं— अज्ञान के कारण आत्मरूप या उन्हें अपना मान बैठता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा 20-23) में कहा भी गया है—

''चेतन, अचेतन या मिश्र रूप जो कुछ भी पर-पदार्थ हैं, मैं उन रूप हूँ, वे मुझ रूप हैं, मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं, पूर्व समय में वे मेरे थे, मैं उनका था, भविष्य में वे फिर मेरे होंगे और मैं उनका होऊँगा —इस प्रकार जो जीव मिथ्या आत्मविकल्प करता है, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और जो परमार्थ वस्तु-स्वरूप को जानता हुआ उस मिथ्या आत्मविकल्प को नहीं करता है, वह अमूढ़ है, प्रतिबुद्ध यानी ज्ञानी है। जिसकी बुद्धि अज्ञान से मोहित हो रही होती है, ऐसा व्यक्ति सोचता है कि यह पुद्‌गल द्रव्य मेरा है।''

पुद्‌गल कर्म के निमित्त से होने वाले राग आदि भाव भी शुद्धात्मा के स्वभाव रूप नहीं हैं, अपितु वे विभाव (अशुद्ध) रूप हैं। व्यवहार दृष्टि से यद्यपि वे आत्मा में ही होते हैं, किन्तु परमार्थ दृष्टि से नहीं होते हैं। बहिरात्मा तो उपर्युक्त (शरीर व आत्मा के) विवेक ज्ञान से शून्य होता है —इसी भाव को इसी गाथा में 'विभाव चेतना रूप में आत्मस्वरूप की भावना करता है' —इस उक्ति से समर्थन प्रदान किया गया है।

समयसारग्रन्थे (गाथा-१८५) **च निरूपितमेतत्—**

एवं जाणइ णाणी, अण्णाणी मुणदि रायमेवादं।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो।।

समाधिशतके (श्लोक १०-१२, १४) **बहिरात्मजीवस्य यच्चिन्तनमनुष्ठानं च भवति, तद् वर्णितम्—**

स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्।
परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति।।

स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्।
वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः।।

अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् संस्कारो जायते दृढः।
येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते।।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-185) में भी यह कहा गया है—

''इस प्रकार अज्ञानी चूँकि अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित होता है, इसलिए वह आत्मस्वभाव को नहीं जानता हुआ राग को ही आत्मरूप मानता है।''

समाधिशतक (श्लोक 10-12 व 14) में भी, बहिरात्मा जीव का जो चिन्तन व आचरण होता है, उसे इस प्रकार वर्णित किया गया है—

''मूढ़ात्मा (बहिरात्मा) अपने शरीर के समान अचेतन पर-देह को 'जो दूसरी आत्मा से अधिष्ठित है' देखकर भी, उसमें परत्व का अध्यवसाय करता है। अर्थात् दूसरे के शरीर को भी पर की आत्मा मानने लगता है।''

''आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाले लोगों के अपने और पराये शरीरों में ही स्वपराध्यवसाय (यह मेरी आत्मा है, यह दूसरे की आत्मा है —इस प्रकार का निश्चय) होने के कारण 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मेरी पत्नी है', 'यह दूसरे का पुत्र है', 'व दूसरे की पत्नी है' —इत्यादि रूप से विभ्रम (मिथ्या निश्चय) उत्पन्न होता रहता है।''

''उस (विपर्यय) ज्ञान से अविद्या नाम का दृढ़ संस्कार पैदा हो जाता है जिससे जन्मान्तर में भी अज्ञानी लोग शरीर को ही आत्मा समझने की भूल करते रहते हैं।''

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः।।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत्।।

अन्यच्च, तत्रैव (श्लोक-५६, ६८, ७६) **प्रतिपादितम्—**

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति।।

शरीरकञ्चुकेनात्मा संवृतो ज्ञानविग्रहः।
नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे।।

दृढात्मबुद्धिर्देहादौ उत्पश्यन्नाशमात्मनः।
मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद् भृशम्।।

''शरीरों में आत्मबुद्धि होने से ही 'यह मेरा पुत्र है', 'यह मेरी पत्नी है' इत्यादि रूप से पुत्र-भार्या आदि विषयक कल्पनाएँ पैदा होती हैं और वह मनुष्य उन्हें ही अपनी सम्पत्ति मानता है। खेद की बात है कि यह सारा जगत् ऐसी ही कल्पनाओं से आहत है।''

इसके अतिरिक्त, वहीं (श्लोक-56, 68, 76 में) यह भी प्रतिपादित किया गया है—

''संसार के अज्ञानी प्राणी मिथ्यात्व रूपी अंधेरे के अधीन होकर अनादि काल से कुयोनियों में सोए हुए (कर्मपराधीन होने से विवेक शून्य) पड़े हैं। वे ऊँची योनियों में आकर भी अपनी आत्मा को नहीं समझते और अनात्मीय पदार्थों में आत्मत्व की कल्पना करते हैं। इसे ही वे जागना समझते हैं।''

''आत्मा का शरीर तो ज्ञान है, किन्तु वह देहरूपी कंचुक से ढका हुआ है और अपने आपको नहीं पहचानता। यही कारण है कि संसार में अतिचिरकाल तक वह (संसार में) भ्रमण करता रहता है। अपने ज्ञान का वास्तविक उपयोग नहीं होना ही इसका कारण है।''

''शरीर आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त एवं आत्मबुद्धि धारण करने वाला बहिरात्मा अपने विनाश और मित्रादि के वियोग की आशंका करते हुए मृत्यु से भयभीत रहता है।''

सम्प्रति द्वितीयतृतीयगाथयोर्व्याख्या विधीयते। (सो चेव हवेदि बहिरप्पा) **स च जीवो बहिरात्मा भवति। कीदृशो जीवो भवति ? उच्यते—** (इंदियविसयसुहादिसु मूढमदी रमदि) **इन्द्रिय-विषयाणां रूपस्पर्शगन्ध-शब्दरसानामुपभोगेऽनुभूयमानेषु सुखादिषु मूढात्मनो रतिः प्रीतिर्वा भवति —इत्यर्थः।** (बहुदुक्खमिदि ण चिंतदि, सो चेव हवेदि बहिरप्पा) **तद् विषयसुखं परिणामे बहुदुःखदायकं भवति —इति स न चिन्तयति, यतः स बहिरात्मा एव भवति। केन कारणेन ईदृशी भवति स्थितिस्तस्य ? उच्यते—** (ण लहदि तच्चं) **स तत्त्वं न लभते, तत्त्वज्ञानेन स कथमपि परिचितो न भवति, इत्यस्मात् कारणात् विषयभोगेषु सुखमेव मन्वानो वारं वारं तदर्थं प्रयतते। किञ्च तत्त्वज्ञानम्, का च वस्तुस्थितिः ? उच्यते—** (जं जं अक्खाण सुहं, तं तं तिव्वं करेदि बहुदुक्खं अप्पाणं इदि सो ण चिंतदि) **यत् यत् इन्द्रियाणां सुखं, तत्तदेव आत्मनः कृते बहुदुःखदायकम् —इति तत्त्वज्ञानं स मूढदृष्टिर्न चिन्तयति, न विचारयति, न भावयति, न श्रद्दधाति वा, इत्यतःकारणात् तत्त्वज्ञानाभावात् इन्द्रियविषयेषु सुखप्राप्तीच्छया तस्य प्रीतिः, तदनु प्रवृत्तिश्च जायते —इति गाथार्थः। तत्त्वज्ञानस्य फलं विषयविरक्तिः तत्त्वाज्ञानात् विषयासक्तिः —इत्यतः कारणात् मूढः कर्मभिर्बध्यते, ज्ञानी च विरज्य मोक्षमार्गेऽग्रसरो भवति।**

अब दूसरी-तीसरी गाथा की व्याख्या की जा रही है— **(स एव भवति बहिरात्मा)** वह जीव बहिरात्मा होता है। कैसा जीव होता है? बता रहे हैं— **(इन्द्रियविषयसुखादिषु मूढमतिः रमते)** रूप, स्पर्श, गन्ध, शब्द व रस —इन इन्द्रिय-विषयों का उपभोग करते हुए जो सुख अनुभूत होता है, उसमें मूढ़ आत्मा की रति या प्रीति हुआ करती है —यह अर्थ है। **(बहुदुःखमिति न चिन्तयति, स चैव भवति बहिरात्मा)** 'वह विषय-सुख परिणाम में बहुत दुःख देने वाला होता है' —ऐसा चिन्तन वह नहीं करता, क्योंकि वह बहिरात्मा होता है। उसकी यह स्थिति किस कारण से होती है? बता रहे हैं— **(न लभते तत्त्वम्)** वह (मूढ़ात्मा) तत्त्व (ज्ञान) प्राप्त नहीं करता, तत्त्वज्ञान से वह किसी प्रकार भी परिचित नहीं होता, इस कारण से विषय-भोगों में सुख ही मानता है और बारंबार उसके लिए प्रयत्नशील रहता है। तत्त्वज्ञान क्या है, वस्तु-स्थिति क्या है? बता रहे हैं— **(यत् यत् अक्षाणां सुखम्, तत् तत् तीव्रं करोति बहुदुःखम् आत्मानम् —इति स न चिन्तयति)** जो जो इन्द्रियों का सुख है, वह-वह ही आत्मा के लिए अनेक दुःखों का दायक होता है —इस तत्त्वज्ञान को वह मूढ़दृष्टि चिन्तन में नहीं लाता, अर्थात् नहीं विचारता, उसकी भावना नहीं करता, उस पर श्रद्धा नहीं करता, इस कारण से, यानी तत्त्वज्ञान न होने से, इन्द्रिय-विषयों में सुख की प्राप्ति की इच्छा से उसकी प्रीति और तदनन्तर प्रवृत्ति भी होती है —यह गाथा का अर्थ है। तत्त्वज्ञान का फल है— विषयों से विरक्ति, और तत्त्व के अज्ञान से विषयों में आसक्ति होती है —इसलिए मूढ़ प्राणी कर्मों से बंधता है और ज्ञानी विरक्त होकर मोक्षमार्ग में अग्रणी होता है।

निरूपितं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-४२)—

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (७/२१) **च भणितम्—**

यात्र बालश्चरत्यस्मिन् पथि तत्रैव पण्डितः।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद् ध्रुवम्।।

एवं तत्त्वज्ञानी विषयसुखं दुःखमेव मन्यते, अज्ञानी तु सुखमेवेति तयोरन्तरम्। प्रोक्तं च पद्मपुराणे (२९/७६)—

विषयेषु यदायत्तं दुष्प्रापेषु विनाशिषु।
दुःखमेतद् विमूढानां सुखत्वेनावभासते।।

समाधिशतकग्रन्थे च (श्लोक-१०४) **निरूपितम्—**

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-42) में कहा भी गया है—

''देह में जिसकी आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो गई है, जो शरीर को ही आत्मा मानता है, ऐसा मनुष्य शुभ शरीर और दिव्य भोगों की इच्छा करता है, किन्तु तत्त्वज्ञानी आत्मा इनसे सदा दूर रहना चाहता है।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (7/21) में भी बताया गया है—

''जिस मार्ग से मूर्ख चलता है, विद्वान् भी उसी मार्ग से चलता है, दोनों का मार्ग होता तो एक है, किन्तु मूर्ख स्वयं को कर्मों से बांधता है, और विद्वान् या ज्ञानी उन कर्मों से मुक्ति पा लेता है।''

इस प्रकार तत्त्वज्ञानी विषय-सुख को दुःख ही मानता है, किन्तु अज्ञानी सुख ही मानता है —यह दोनों में अन्तर है। पद्मपुराण (29/76) में कहा भी गया है—

''जो दुर्लभ व विनश्वर विषयों के अधीन है, वह दुःख भी मूढ़ लोगों को सुख रूप सा प्रतिभासित होता है।''

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-104) में भी कहा गया है—

तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्ते सुखं जडः।
त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्।।

इत्येवं तत्त्वज्ञानं यदात्मानात्मविवेकरूपं, तदधिगम्य हे भव्य! इन्द्रियविषयविरक्तः सन् अन्तरात्मस्थितिं प्राप्नुहि, येन परमात्मतालाभः सम्भवेदिति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति बहिरात्मनो विषयसेवने प्रवृत्तिः, तथा भक्ष्याभक्ष्यविवेकाभावो भवतीति शास्त्रकारा गाहाछन्दोभ्यां निरूपयन्ति—

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रुई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय-विसएसु होदि मदी।।१३१।।

पूयसूयरसाणाणं खारामियभक्खभक्खणाणं पि।
मणुजाइ जहा मज्झे बहिरप्पाणं तहा णेयं।।१३२।।

छाया— येषाम् अमेध्यमध्ये उत्पन्नानां भवति तत्र रुचिः।
तथा बहिरात्मनां बहिरिन्द्रियविषयेषु भवति मतिः।।

"जड़ यानी बहिरात्मा जीव शरीर व इन्द्रियों की क्रियाओं को अपनी आत्मा की ही क्रियाएँ मानता है और इनके कारण व्यर्थ ही दुःखी होता रहता है। किन्तु विद्वान् (अन्तरात्मा) इनकी क्रियाओं को आत्मा से भिन्न मानता है और मिथ्या आरोपों से मुक्त होकर परम पद को प्राप्त होता है।"

इस प्रकार, आत्मा व अनात्मा का विवेक रूप जो तत्त्वज्ञान है, उसे प्राप्त कर हे भव्य! इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर अन्तरात्म-स्थिति को प्राप्त करो, ताकि परमात्मस्वरूप की प्राप्ति हो सके —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, बहिरात्मा की विषय-सेवन में प्रवृत्ति और उसका भक्ष्य-अभक्ष्य सम्बन्धी अविवेक होता है, इसे शास्त्रकार दो गाहा छन्दों द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार अमेध्य (अपवित्र विष्ठा आदि) में उत्पन्न होने वाले (कीड़े) की उसी (विष्ठा) में रुचि होती है, उसी प्रकार बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय-विषयों में (ही) होती है।

पूय-सूपरसाज्ञानं क्षारामृतभक्ष्याभक्ष्याज्ञानमपि।
मनुजातिः यथा मध्ये बहिरात्मा तथा ज्ञेयः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (तह बहिरप्पाणं बहिरिंदियविसएसु होदि मदी) **बहिरात्मनां बहिरिन्द्रियविषयेषु मतिः भवति, तथा। आत्मानात्मविवेकरहितानां बाह्यपदार्थेषु पञ्चेन्द्रियविषयेषु बुद्धिः परिस्फुरति, अभीष्टपदार्थसेवनेन सुखं प्राप्यते —इति प्रवृत्तिस्तेषां मतौ भवति, तेन स्वतः सततं च प्रवृत्तिरपि भवति, सा तथा तत्सदृशा भवति। केन सदृशा? अत्र दृष्टान्तमाध्यमेन तत्सादृश्यं वर्ण्यते—** (जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रुई) **येषां जीवानाम् अमेध्यपदार्थानां मध्ये उत्पत्तिः, तेषां तत्रैव रुचिर्भवति स्वभावतः, तथैव अनादिकालतः कर्मबन्धन-संस्पृष्टो जीवोऽपि पूर्वानुभूतविषयसेवनवासनावशात् बाह्यपौद्गलिकपदार्थेषु आत्मदुर्गतिहेतुषु रुचिं प्रकटयत्येव। यावत् जीवाजीवविवेकज्ञानं न समुत्पद्यते, तावत्कालमेव तस्य मूढजीवस्य बाह्येन्द्रियविषयसेवने प्रवृत्तिः भवतीति गाथाशयः।**

जिस प्रकार, मनुष्य जाति अखाद्य व स्वादयोग्य पदार्थों का (भेदज्ञान रूपी) विवेक तथा क्षार व अमृत एवं भक्ष्य व अभक्ष्य का ज्ञान (विवेक) नहीं रखती, उसी प्रकार बहिरात्मा को उन (बाह्य इन्द्रिय-विषयों) के मध्य विवेक नहीं होता —यह जानना चाहिए।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(तथा बहिरात्मनां बहिरिन्द्रियविषयेषु भवति मतिः)** बहिरात्मा जीवों की बाह्य इन्द्रिय-विषयों में मति हुआ करती है, उसी तरह। आत्मा व अनात्मा के विवेक से रहित जीवों की बुद्धि पाँच इन्द्रियों के विषयभूत बाह्य पदार्थों में परिस्फुरित (उत्साहित) होती है, अभीष्ट पदार्थों के सेवन से सुख मिलता है— ऐसी प्रतीति उनकी मति में रहती है, जिसके कारण स्वतः और सतत प्रवृत्ति भी होती है, वह (प्रवृत्ति) वैसी, यानी उसके समान, होती है। किसके समान? यहाँ दृष्टान्त के माध्यम से उसकी समानता बता रहे हैं— **(येषाम् अमेध्यमध्ये उत्पन्नानां भवति तत्र रुचिः)** जिन जीवों की अमेध्य (अपवित्र) वस्तुओं में उत्पत्ति होती है, उनकी वहीं रुचि स्वभावतः होती है, उसी तरह अनादि काल से कर्म-बन्धन से संस्पृष्ट जीव भी पूर्व अनुभूत विषय-सेवन से सम्बद्ध वासना के कारण बाह्य पौद्गलिक (भौतिक) पदार्थों में —जो आत्मा को दुर्गति में ढकेलते हैं— रुचि प्रकट करता ही है। जब तक जीव-अजीव के भेद का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, उतने ही काल तक उस मूढ़ जीव की बाह्य इन्द्रिय-विषयों के भोग में प्रवृत्ति होती रहती है —यह गाथा का आशय है।

तथा च (पूयसूयरसाणाणं खारामियभक्खभक्खणाणं पि मणुजाइ जहा) **यथा मनुजानां, विशेषतो म्लेच्छजातीयानां तथोत्तमसंस्काररहितानाम्, पूयम्, सूपरसः -अनयोः अज्ञानं भवति, तथा क्षार-अमृतयोः, भक्ष्य-अभक्ष्ययोश्च सम्यक् ज्ञानं न भवति,** (मज्झे बहिरप्पाणं तहा णेयं) **तथैव बाह्येन्द्रियविषयपदार्थानां मध्ये, तद्विषये बहिरात्मनां अज्ञानमविवेको भवति —इति ज्ञेयम्। कश्चात्मा, कश्च अनात्मा, तथा कस्य सेवनमात्मकल्याणकारकं कस्य च नैव, एवमेव कः पदार्थ उपादेयः, कश्च त्याज्य इति च सम्यग् विवेको न तेषां भवति। यथा म्लेच्छादयो भक्ष्याभक्ष्यविवेकाभावे अभक्ष्यभक्षणं कुर्वन्ति, परिणामरूपेण च विविधरोगैश्च युक्ता भवन्ति, तथैव बहिरात्मानः हेयपदार्थानामत्यधिकरागेण सेवनं विधाय कर्मबन्धने बद्धा भवन्तीत्याशयः।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— गाथायाममुत्र बहिरात्मनस्तुलना अभक्ष्यभक्षिभिः युक्ताहारविवेकरहितैः म्लेच्छकल्पैर्मनुष्यैः सह कृता वर्तते। लोके यैर्लक्षणैः कस्यचिदाचरणं श्रेष्ठं यद्वा कुत्सितं मन्यते, तेषु आहारसम्बन्धिविधि-भक्ष्यद्रव्यादीनां महत्त्वं वरीवर्ति।

और **(पूयसूपरसाज्ञानं क्षारामृत-भक्ष्याभक्ष्याज्ञानमपि मनुजातिः यथा)** जिस प्रकार मनुष्यों, विशेष कर म्लेच्छ जाति के तथा उत्तमसंस्कार से रहित लोगों को पूय (पीव) व सूपरस (पेय रस) —इन दोनों का ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार क्षार व अमृत, भक्ष्य व अभक्ष्य —इन दोनों का सम्यक् ज्ञान भी नहीं होता, **(मध्ये बहिरात्मनां तथा ज्ञेयम्)** उसी तरह, बाह्य इन्द्रिय-विषय पदार्थों के बीच, यानी उनके विषय में बहिरात्मा जीवों का अज्ञान या अविवेक रहता है—यह ज्ञातव्य है। आत्मा क्या है? अनात्मा क्या है? और किसका सेवन आत्मकल्याणकारी होता है और किस (पदार्थ) का सेवन नहीं होता, इसी प्रकार कौन पदार्थ उपादेय है और कौन त्याज्य है —इसका भी सम्यक् ज्ञान उन्हें नहीं होता। जिस प्रकार म्लेच्छ आदि भक्ष्य व अभक्ष्य के विवेक न होने से अभक्ष्य भक्षण करते हैं, परिणामस्वरूप विविध रोगों से युक्त भी हो जाते हैं, उसी तरह बहिरात्मा जीव हेय पदार्थों के प्रति अत्यधिक राग के कारण उनका सेवन कर कर्म-बन्धन में बंध जाते हैं —यह आशय है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— इस गाथा में बहिरात्मा की तुलना अभक्ष्य भक्षण करने वाले, युक्त आहार-विहार से रहित म्लेच्छ-तुल्य मनुष्यों से की गई है। लोक में जिन लक्षणों से किसी के आचरण को श्रेष्ठ या कुत्सित माना जाता है, उनमें उनकी आहार की विधि और उनके भक्ष्य द्रव्य इत्यादि की महत्ता रहती ही है।

म्लेच्छजनेषु आहारविधिः, भक्ष्यद्रव्याणि —इत्येतयोर्द्वयोरपि अनौचित्यं गर्हणीयत्वं च भवत एव। किन्तु मोक्षमार्गे योग्याहारादिकं तु आवश्यकं वर्तते एव, बाह्यपदार्थसेवनेऽपि विवेकोऽत्यावश्यकः —इति तथ्यं समर्थयितुं शास्त्रकाराः म्लेच्छजनस्य बहिरात्मनश्च परस्परं साम्यं प्रत्यपीपदन् —इति।

इदानीं विस्तरेण विव्रियते। उपभोगशरीरप्रायोग्यपुद्गलग्रहणमाहारो भवति। स चाहारः शरीरनामकर्मोदयात् विग्रहगतिनामकर्मोदयाभावाच्च भवति। स च षड्विधः। प्रोक्तं च नियमसार-ग्रन्थस्य (गाथा-६३) **तात्पर्यवृत्तिटीकायामुद्धृते पद्ये—**

णोकम्मकम्महारो लेप्पाहारो य कवलमाहारो।
उज्जमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो।

अत्र कवलाहारस्यैव प्रसङ्गो विज्ञेयः। सोऽपि अशनपान-खाद्य-स्वाद्यभेदेन चतुर्धा भवतीति मूलाचारग्रन्थे (गाथा ६४६-६४८) **निर्दिष्टम्।**

म्लेच्छ जनों में आहार की विधि एवं भक्ष्य द्रव्य —इन दोनों का अनुचित व निन्दनीय स्वरूप होता ही है। किन्तु मोक्षमार्ग में योग्य आहार आदि का होना आवश्यक ही होता है, इसी तरह बाह्य पदार्थों के सेवन में भी विवेक होना अत्यावश्यक होता है —इस तथ्य का समर्थन करने हेतु (ही) शास्त्रकार ने म्लेच्छ जन व बहिरात्मा के परस्पर-साम्य का प्रतिपादन किया है।

अब विस्तार से व्याख्यान कर रहे हैं। उपभोग्य व शरीर के योग्य (आहार-वर्गणा के) पुद्गलों का ग्रहण 'आहार' होता है। वह आहार शरीरनामकर्म के उदय से तथा विग्रहगतिनामकर्म के उदयाभाव से होता है। वह छः प्रकार का होता है। नियमसार ग्रन्थ की (गाथा-63) तात्पर्यवृत्ति टीका में एक उद्धृत पद्य में कहा गया है—

"नोकर्माहार, कर्माहार, लेपआहार, कवलाहार, ओज आहार, मन (मानसिक) आहार —इस प्रकार क्रमश छः प्रकार का आहार जानें।"

यहाँ कवलाहार (सामान्यतः लोगों द्वारा किया जाने वाला खाद्य आदि के आहार) का प्रसङ्ग है —ऐसा जानें। वह (कवलाहार) भी अशन, पान, खाद्य व स्वाद्य —इस प्रकार चार प्रकार का होता है —ऐसा मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 646-648) में बताया गया है।

आहारेणैव मांस-वसा-मज्जा-धातुनिर्माणं भवति— इतिधवलाग्रन्थे (पु.६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-१, पृ.६३) **सम्यग् निरूपितम्। समयसारग्रन्थे** (गाथा-१७९) **च तस्य संकेतो विहित एव। अन्नादिकमायुःकर्मणो भवधारणकारणभूतस्य कारणं भवतीति राजवार्तिके** (८/१०/३) **निरूपितम्। अत आहारस्य महत्त्वं स्पष्टमेव। यथा स्वामी सेवकं भृति** (वेतन)**-दानेन उपकरोति, तथैव मुमुक्षुः मोक्षमार्गानुष्ठाने शरीरमाहारदानेन पोषयति।**

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-१४७०)**—**

जह गहिदवेयणो वि य अदयाकज्जे णिउज्जदे भिच्चो।
तह चेव दमेयव्वो देहो मुणिणा तवगुणेसु।।

मुमुक्षूणां कृते युक्ताहारवत्त्वं, मधुमांसादिवर्ज्यपदार्थत्यागश्च उपयोगितां वहतः। अतएव प्रवचनसारग्रन्थे (गाथा-३/२६, २९) **प्रोक्तम्—**

जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो।।

आहार से ही मांस, वसा, मज्जा आदि धातुओं का निर्माण होता है —ऐसा धवला ग्रन्थ में (पु. 6, खण्ड 1, भाग-9, चूलिका-1, पृ. 63) सम्यक्तया बताया गया है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-179) में भी उसका संकेत किया ही गया है। आयु कर्म भव-धारण का कारण है और आयु कर्म के भी कारण अन्न आदि हैं —ऐसा राजवार्तिक (8/10/3) में कहा गया है। इसलिए आहार का महत्त्व स्पष्ट ही है। जिस प्रकार मालिक सेवक को वेतन देकर उसका उपकार करता है, उसी प्रकार मुमुक्षु मोक्षमार्ग के अनुष्ठान में शरीर को (एक नौकर की तरह) आहार देकर उसका पोषण करता है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-1470) में कहा गया है—

''जैसे वेतन लेने वाले सेवक को कार्य में नियुक्त करते समय उस पर दया नहीं की जाती, उसी प्रकार मुनि को अपने शरीर (रूपी सेवक) को तप रूप गुण में नियुक्त कराना चाहिए।''

मुमुक्षुओं के लिए युक्त आहार करना, मधु व मांस आदि वर्जनीय पदार्थों का त्याग — इन दोनों की उपयोगिता है। इसीलिए प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा 3/26 व 29) में कहा गया है—

''युक्त आहार व विहार करने वाला और कषाय से रहित श्रमण होता है।''

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं।।

एतद्दृष्ट्या आत्मानुशासनग्रन्थे (श्लोक-२२५) **प्रोक्तम्—**

विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः।।

शास्त्रकारैराहारविवेकविषये बहुशो भणितम्। संक्षेपेणैवात्र संकेत्यते। यत् किञ्चित् क्षुधाशमनाय येन केन विधिना आहाररूपेण अज्ञैः पशुतुल्यैरेव गृह्यते। बहिरात्माऽपि निजाकुलता-शमनाय शास्त्रवर्जितं हिताहितविवेकरहितं विषयसेवनं कुरुते, अतः स पशुतुल्यः म्लेच्छकल्प एव। अतएव पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/८२९) **समुपदिष्टम्—**

"वह शुद्ध आहार निश्चय ही एक समय (वक्त) ही ग्रहण किया जाता है, वह आहार भी उतना ही लिया जाता है कि पेट पूरी तरह भरा हुआ न हो, जैसा मिले, वैसा ही ग्रहण किया जाता है, भिक्षावृत्ति से और दिन में ही लिया जाता है और उस आहार में रस एवं मधु व मांस (जैसे वर्ज्य पदार्थ) नहीं लिये जाते।"

इसी दृष्टि से आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-225) में कहा गया है—

"(आगमोक्त विधि से) हितकारक (पथ्य) एवं परिमित भोजन को ग्रहण करता है, निद्रा पर विजय प्राप्त करता है, तथा जो अध्यात्म के रहस्य को जान चुका है, ऐसा जीव समस्त क्लेशों के समूह को जड़मूल से नष्ट कर देता है।"

शास्त्रकारों ने आहार-सम्बन्धी विवेक के बारे में बहुत प्रकार से कहा है। उसका संक्षिप्त निरूपण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। जो कुछ भी, भूख मिटाने के लिए, जिस किसी विधि से आहार को अज्ञानी पशु तुल्य व्यक्ति ही ग्रहण करते हैं। बहिरात्मा भी निज आकुलता को मिटाने के लिए शास्त्र में वर्जित तथा हित-अहित के विवेक से रहित विषय-सेवन करता है, इसलिए वह पशु तुल्य या म्लेच्छ जैसा ही है। इसीलिए पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/829) में यह उपदेश दिया गया है—

सतृणाभ्यवहारित्वं करीव कुरुते कुदृक्।
तज्जहीहि जहीहि त्वं कुरु प्राज्ञ विवेकिताम्।।

समयसारग्रन्थस्य (गाथा २३-२५) **आत्मख्यातिटीकायां च तथैव समवबोधितम्—** ''रे दुरात्मन्! आत्मपंसन्! जहीहि जहीहि परमविवेकघस्मर-सतृणाभ्यवहारित्वम् इति।'' **योगी तु ज्ञातुर्द्रष्टुरवस्थामाश्रित आनन्दामृतमेव भुंक्ते। उक्तं च समयसारकलशे** (सं. १६३)—

आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्,
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति।।

सर्वैः सम्यग्दृष्टिभिः, विशेषतो व्रतिभिः, हिंसादोषप्रसक्ताः मधु-नवनीत-मद्य-मांसादयः, तथा ये केचिदपि सचित्त-पदार्थाः ते सर्वेऽपि सर्वथा त्याज्याः। एवं पञ्चोदुम्बरफलानि बहुजन्तु-योनिस्थानानि अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि च त्याज्यानि। श्रमणैश्च यत् किञ्चिदपि संयमादिविरोधिनः, ते सर्वे पदार्थास्त्याज्याः। अत्र कानिचित् प्रमुख-शास्त्रीयवचनानि मननीयानि।

''कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) तो हाथी की तरह ही घास-फूस सहित आहार करता है, तुम तो विद्वान् (समझदार) हो, इसलिए तुम विवेक रखो और वैसा करना छोड़ दो।''

समयसार ग्रन्थ (गाथा 23-25) की आत्मख्याति टीका में भी इसी प्रकार अच्छी तरह समझाया गया है— ''रे दुरात्मन्! आत्मघाती! (तूँ पशु की तरह) परम अविवेक-पूर्वक पेटू (खाऊ) की तरह घास-फूस के साथ खाने की आदत छोड़।'' योगी तो ज्ञाता-द्रष्टा की स्थिति में रह कर आनन्दरूपी अमृत का भोग करता है। समयसारकलश (सं. 163) में कहा गया है—

''वह ज्ञान (ज्ञाता भाव) सर्वदा आनन्द रूपी अमृत का भोजन करनेवाला होता है, वह अपनी सहज अवस्था का नाटक (अभिनय) करता है और वह ज्ञान धीर, उदार, अनाकुल व निरुपाधि होता है।''

सभी सम्यग्दृष्टियों, विशेष कर व्रती लोगों को, वे सभी पदार्थ छोड़ देने होते हैं, जो हिंसा-दोष से युक्त हों, जैसे मधु, मक्खन, मद्य व मांस आदि, तथा जो कोई भी पदार्थ सचित्त हों, वे सभी सर्वथा छोड़ने योग्य होते हैं। इसी तरह पाँच उदुम्बर फल, तथा बहुत-से जन्तुओं की उत्पत्ति के स्थान जिन्हें 'अनन्तकाय' नाम से कहा जाता है, वे भी छोड़ने होते हैं। श्रमणों के लिए तो वे सभी पदार्थ त्याज्य होते हैं, जो थोड़ा भी संयम आदि के विरोधी (प्रतिकूल) हों। इस प्रसङ्ग में कुछ प्रमुख शास्त्रीय वचन यहाँ मननीय हैं।

रत्नकरण्डश्रावकाचारे (श्लोक ८४-८५) **च प्रोक्तम्—**

त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये।
मद्यं च वर्जनीयं जिनचरणौ शरणमुपयातैः।।

अल्पफलबहुविघातात् मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि।
नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्।।

सागारधर्मामृतग्रन्थे च (५/१५-१८) **भणितम्—**

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाऽप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टम्।।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक 84-85) में कहा गया है—

''जिनेन्द्र भगवान् के चरणों की शरण को प्राप्त हुए जीवों द्वारा त्रस-हिंसा का परिहार करने के लिए मधु, मांस का और प्रमाद का परिहार करने के लिए मद्य-पान का भी त्याग करना चाहिए।''

''जिनमें फल की अल्पता हो, किन्तु (त्रस आदि) जीवों का घात अधिक होता हो, ऐसे मूली, गीला यानी सचित्त (हरी) अदरक, मक्खन, नीम व केवड़े (आदि) के फूल, और ऐसे ही अन्य पदार्थ त्याज्य होते हैं।''

सागारधर्मामृत ग्रन्थ (5/15-18) में भी कहा गया है—

''भोगोपभोग-परिमाण व्रत के धारक को इन समस्त पदार्थों का त्याग करना चाहिए, जैसे— मांस, मधु व मदिरा और इनकी तरह ही जिनमें त्रस जीवों का या बहुत जीवों का घात अधिक होता है, या जिसके सेवन से प्रमाद सताता है। इसी तरह, जिसमें त्रसघात आदि नहीं होता, किन्तु स्वयं को इष्ट नहीं होते या प्रकृति के प्रतिकूल होते हैं तथा उच्चकुल के लोगों के लिए असेवनीय होते हैं, उन्हें भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि व्रत से इष्ट फल की प्राप्ति होती है।''

नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्।
आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम्।।

अनन्तकाया: सर्वेऽपि सदा हेया: दयापरै:।
यदेकमपि तं हन्तुं प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान्।।

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत्।।

अन्यच्च (त्रिवर्णाचार-षष्ठाध्याये) **प्रोक्तम्—**

आमेन पक्वेन च गोरसेन, मुद्गादियुक्तं द्विदलं तु काष्ठम्।
जिह्वादुति स्यात् त्रसजीवराशि:, सम्मूर्च्छिमा नश्यति नात्र चित्रम्।।

(श्रावकाचार-संग्रह-चतुर्थभागस्य प्रस्तावनायां 167 पृष्ठे उद्धृतम्)

''धर्म का अभिलाषी श्रावक नाली, सूरण, तरबूज, द्रोणपुष्प आदि का जीवनपर्यन्त त्याग करे, क्योंकि उनको खाने वालों का फल (लाभ) तो थोड़ा होता है (अर्थात् जितने समय खाते हैं, उतने समय ही स्वाद आता है), किन्तु उनके खाने से उनमें रहने वाले बहुत से जीवों का घात होता है।''

''दयालु श्रावकों को सदा सभी अनन्तकाय वनस्पति त्यागनी चाहिए, क्योंकि उनमें से जो एक भी संख्या वाली अनन्तकाय वनस्पति को खाने आदि के द्वारा मारने में प्रवृत्त होता है, वह अनन्त जीवों का घात करता है।''

''दयालु श्रावक कच्चे (बिना पकाये) दूध, दही और बिना पकाये दूध से तैयार किये गये मट्ठे के साथ मिले हुए द्विदल (यानी मूंग, उड़द आदि) नहीं खाए। प्राय: करके पुराने द्विदल को नहीं खाए। इसी तरह, वर्षा ऋतु में बिना दले हुए द्विदल को और पत्ते की शाक-भाजी को नहीं खाए।''

और भी, (त्रिवर्णाचार, छठे अध्याय में) यह कहा गया है—

कच्चे या पकाये गोरस (दूध से बने दही या छाछ) में द्विदल (मूंग, उड़द आदि दो फाड़ोंवाला) अन्न या काष्ठ (किराना आदि) मिलाकर खाने से जीभ व लार के मिलने से सम्मूर्च्छन त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं और उनका घात (भी) होता है, यह कोई अचरज की बात नहीं है।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा १००-१०१) **च निर्दिष्टम्—**

सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणऽधी पभुत्तूण।
पत्तोसि तिव्वदुक्खं अणाइकालेण तं चिंत।।

कंदं मूलं बीयं पुप्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं।
असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतसंसारे।।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे (श्लोक ७२-७३) **च समुपदिष्टम्—**

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।।

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्।।

अन्यच्च, तथैव (श्लोक-१६२) **भणितम्—**

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 100-101) में भी कहा गया है—

''हे मुनि! तूँ ने अज्ञानी होकर अत्यन्त आसक्ति व अभिमान के साथ सचित्त भोजन-पान ग्रहण कर अनादि काल से तीव्र दुःख प्राप्त किया है, इसका तो विचार कर।''

''हे जीव! तूँ ने मान व घमण्ड से कन्द-मूल, बीज, पुष्प, पत्र आदि जिस किसी भी सचित्त वस्तुओं का भक्षण कर इस अनन्त संसार में भ्रमण किया है।''

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक 72-73) में भी यह उपदेश दिया गया है—

''उमर, कठूमर (अर्थात् अंजीर), पाकर, बड़ व पीपल के फल त्रस जीवों की योनि (उत्पत्ति-स्थान) होते हैं, इसलिए उनके खाने में उन त्रस जीवों की हिंसा होती है।''

''और, जो पाँचों (उपर्युक्त) फल सूखे हुए और काल पाकर त्रस जीवों से रहित हो जाएँ, फिर भी, उन्हें भक्षण कराने वाले के विशेष रागादि रूप हिंसा तो होती ही है।''

और, वहीं (श्लोक-162) कहा गया है—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्।।

आचार्यसोमदेवकृते उपासकाध्ययनग्रन्थे (२६/३२९) **च भणितम्—**

यदन्तःशुषिरप्रायं हेयं नालीनलादि तत्।
अनन्तकायिकप्रायं वल्लीकन्दादिकं त्यजेत्।।

अन्यच्च, तत्रैव (४१/७६२)**निर्दिष्टम्—**

पलाण्डुकेतकीनिम्बसुमनःसूरणादिकम्।
दुष्पक्वस्य निषिद्धस्य जन्तुसम्बन्धमिश्रयोः।।

एवं रयणसारग्रन्थस्य प्रकृतगाथायां (सं. १३२) **इदमपि गूढरूपेण संकेतितं यद्भक्ष्याभक्ष्य-विवेकरहिता म्लेच्छजना इव मुमुक्षवो न भवेयुः, इति। एतद्दृष्ट्यैव भक्ष्याभक्ष्यविचारोऽत्र व्याख्याने कृतः। विस्तरस्तु तत्तद्ग्रन्थेषु द्रष्टव्यः।**

"चूँकि एक भी अनन्तकाय वनस्पति का घात करने की इच्छा वाला पुरुष अनन्त जीवों का घात करता है, इसलिए सम्पूर्ण अनन्तकाय वनस्पतियों का त्याग करना चाहिए।"

आचार्य सोमदेवकृत उपासकाध्ययन (26/329) में भी कहा गया है—

"जिसके बीच में छिद्र रहते हैं, ऐसे कमलडंडी वगैरह शाकों को नहीं खाना चाहिए। इसी तरह जो अनन्तकाय वनस्पति हैं, जैसे— लता, सूरण वगैरह, उन्हें भी नहीं खाना चाहिए।"

और वहीं (41/762) में भी यह बताया गया है—

"प्याज आदि जमीकन्द, केतकी व नीम के फूल तथा सूरण वगैरह तो जीवन-पर्यन्त छोड़ देने चाहिए, क्योंकि इनमें उसी प्रकार के बहुत-से जीवों का वास होता है।"

इस प्रकार, रयणसार ग्रन्थ की प्रस्तुत गाथा (सं. 132) में यह भी गूढ़ रूप से संकेत किया गया है कि भक्ष्य-अभक्ष्य के विवेक न रखकर मुमुक्षु म्लेच्छजनों की तरह (आचरण करने वाले) न हों। इसी दृष्टि से भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार यहाँ इस व्याख्यान में किया गया है। विस्तार से तो उन-उन ग्रन्थों से जानना चाहिए।

एवं जिह्वेन्द्रियविषयसेवने, तथान्येन्द्रियविषयपदार्थसेवने च हे भव्य! त्याज्यात्याज्यविवेकेन प्रवृत्तः सन् अन्तरात्मस्थितिमाश्रय, तदनु परमात्मपदप्राप्त्यै च प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'पूयसूयरसाणाणं' **इत्यादिगाथां यावत् सप्तगाथात्मकः त्रयोदशाधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां त्रयोदशाधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति त्रयोदशोऽधिकारः।।

इस प्रकार, जिह्वा इन्द्रिय के विषय (आहार) के सेवन में तथा अन्य इन्द्रिय-विषय पदार्थों के सेवन में भी हे भव्य! त्याज्य व अत्याज्य का विवेक रखते हुए प्रवृत्त होओ और अन्तरात्मा की स्थिति प्राप्त करो एवं उसके साथ ही परमात्मा पद की प्राप्ति हेतु भी प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, '**णिय-अप्पणाणझाणज्झयण**' इत्यादि गाथा से लेकर '**पूयसूयरसाणाणं**' इत्यादि गाथा तक, सात गाथाओं वाला —यह तेरहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में तेरहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति त्रयोदशाधिकारः।।

।। चोदसमो अहियारो ।।

(चतुर्दशोऽधिकारः)

इदानीं प्रारभ्यते अन्तरात्मस्वरूप-तत्प्राप्त्युपायनिरूपणपरः चतुर्दशोऽधिकारः। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। अत्राधिकारे 'सिविणे वि ण भुंजदि' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १३३) **समारभ्य** 'दव्वगुणपज्जयेहिं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १३९) **यावत् सप्त गाथाः सन्ति। तत्र प्रथमं** 'सिविणे वि ण भुंजदि' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३३) **वर्तते, यत्रान्तरात्मनः स्वरूपं निरूपितमस्ति। ततः परं** 'मलमुत्तघड व्व' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३४) **वर्तते, या प्रतिपादयति यद् अज्ञानी जीवोऽनादिकालीनवासनां मोक्तुं पूर्णतया न प्रभवति। तदनन्तरं** 'सम्मादिट्ठी णाणी' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३५) **वर्तते, यत्र प्रतिपादितं यज्ज्ञानी सम्यग्दृष्टिः कथमपि, अनिच्छया विषयसुखे प्रवृत्तः इन्द्रियसौख्यमनुभवतीति। ततोऽनन्तरं** 'किं बहुणा हो तजि' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३६) **वर्तते, या त्रिविधात्मसु हेयोपादेयतां बोधयति। ततश्च,** 'चदुगदिसंसारगमण' **इत्यादिकायां गाथायां** (सं. १३७) **बहिरात्मभावानां दुःखस्यैव हेतुत्वं प्रज्ञापितम्।**

।। चौदहवाँ अधिकार ।।

अब, अन्तरात्मा के स्वरूप का और उसकी प्राप्ति के उपाय का निरूपण करने वाला चौदहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बता रहे हैं। इस अधिकार में '**सिविणे वि ण भुंजदि**' इत्यादि गाथा (सं. 133) से लेकर '**दव्वगुण-पज्जयेहिं**' इत्यादि गाथा (सं. 139) तक, सात गाथाएँ हैं। इनमें प्रथम गाथा (सं. 133) '**सिविणे वि ण भुंजदि**' इत्यादि है, जिसमें अन्तरात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद, '**मलमुत्तघड व्व**' इत्यादि गाथा (सं. 134) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि अज्ञानी जीव अनादिकालीन दुर्वासना से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाता। इसके अनन्तर, '**सम्मादिट्ठी णाणी**' इत्यादि गाथा (सं. 135) है, जिसमें बताया गया है कि ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव किसी तरह, अनिच्छा से, विषयसुख में प्रवृत्त होता हुआ इन्द्रिय-सुख का अनुभव करता है। तदनन्तर, '**किं बहुणा हो तजि**' इत्यादि गाथा (सं. 136) है, जो त्रिविध आत्माओं में हेय व उपादेय का बोध कराती है। इसके आगे '**चदुगदिसंसारगमण**' इत्यादि गाथा (सं. 137) है, जिसमें यह बताया गया है कि बहिरात्मा के भाव दुःख के ही हेतु होते हैं।

ततोऽनन्तरं 'मोक्खगदिगमणकारण' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३८) **वर्तते यत्र प्रतिपादितं यदन्तरात्मभावाः मोक्षस्य, अथ च परम्परया प्रशस्तपुण्यबन्धस्य कारणानि भवन्तीति। अन्ते च** 'दव्वगुणपज्जयेहिं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १३९) **पठिता, यत्र निरूपितं यत् स्वपरसमयज्ञ एव मोक्षमधिगच्छतीति। एवं चतुर्दशाधिकारस्यास्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

सम्प्रति अन्तरात्मनो (मध्यमात्मनो) **लक्षणं शास्त्रकारा उग्गाहा-छन्दसा निर्दिशन्ति—**

सिविणे वि ण भुंजदि विसयाइं देहादिभिण्णभावमदी।
भुंजदि णियप्परूवो सिवसुहरत्तो दु मज्झिमप्पो सो।।१३३।।

छाया— स्वप्नेऽपि न भुंक्ते विषयान् देहादिभिन्नभावमतिः।
भुंक्ते निजात्मरूपं शिवसुखरक्तस्तु मध्यमात्मा सः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— देहादिभिण्णभावमदी सिविणे वि विसयाइं ण भुंजदि, सिवसुहरत्तो णियप्परूवो भुंजदि सो दु मज्झिमप्पो —इति गाथान्वयः।

इसके आगे **'मोक्खगदिगमणकारण'** इत्यादि गाथा (सं. 138) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अन्तरात्मा के भाव मोक्ष के तथा परम्परया प्रशस्त पुण्य-बन्ध के कारण होते हैं। अन्त में, **'दव्वगुणपज्जयेहिं'** इत्यादि गाथा (सं.139) है, जिसमें कहा गया है कि स्व-परसमयज्ञ ही मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार इस चौदहवें अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब शास्त्रकार उग्गाहा छन्द से अन्तरात्मा (मध्यमात्मा) का लक्षण बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो स्वप्न में भी विषयों का सेवन नहीं करता है और शरीर आदि से भिन्न अपनी आत्मा को मानता है, तथा जो मोक्ष-सुख में लीन अपनी आत्मा का अनुभव करता है, वह मध्यम आत्मा (अन्तरात्मा) होता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— देहादिभिन्नभावमतिः स्वप्ने अपि विषयान् न भुंक्ते, शिवसुखरक्तः निजात्मरूपं भुंक्ते, स तु मध्यमात्मा —यह गाथा का अन्वय है।

(मज्झिमप्पो सो दु) **स जीवस्तु मध्यमात्मा, यद्वा अन्तरात्मा भवति। किम्भूतः सः ? उच्यते—** (देहादिभिण्णभावमदी) **यो देहादिभ्य आत्मेतरपदार्थेभ्यो भिन्ने भावे निजशुद्धात्मनि मतिं, रुचिं दधाति, स मध्यमात्मा विज्ञेयः। बहिरात्मनः परमात्मनश्च—एतयोर्द्वयोरवस्थयोः मध्यावस्थायां वर्तमानोऽतः स मध्यमात्माऽपि भण्यते। अस्य मध्यमात्मनोऽपि उत्कृष्ट-मध्यम-जघन्येतिभेदत्रयं निरूपितमस्ति। पञ्चमहाव्रतधरा अप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनः शुद्धोपयोगिनो मुनय उत्कृष्टाः, प्रमत्तविरता देशविरताश्च मध्यमाः, अविरतसम्यग्दृष्टयस्तु जघन्या अन्तरात्मानो भवन्ति।**

उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा १९४-१९७)—

जे जिणवयणे कुसला भेयं जाणंति जीवदेहाणं।
णिज्जियदुट्ठट्ठमया अंतरप्पा य ते तिविहा।।

पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिदा णिच्चं।
णिज्जियसयलपमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति।।

(मध्यमात्मा स तु) वह जीव तो 'मध्यम आत्मा' या 'अन्तरात्मा' है। कैसा जीव ? बता रहे हैं— **(देहादिभिन्नभावमतिः)** जो देह आदि आत्म-भिन्न पदार्थों से भिन्न निज शुद्धात्मा रूप पदार्थ में मति यानी रुचि रखता है, उसे 'मध्यम आत्मा' जानना चाहिए। बहिरात्मा व परमात्मा —इन दोनों अवस्थाओं के मध्य की स्थिति में विद्यमान होने से उसे 'मध्यम आत्मा' भी कहा जाता है। इस मध्यम आत्मा के भी उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्य —ये तीन भेद बताये गये हैं। पाँच महाव्रतों के धारक अप्रमत्तादिगुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि उत्कृष्ट अन्तरात्मा हैं, प्रमत्तविरत तथा देशविरत मध्यम अन्तरात्मा हैं और अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) जघन्य अन्तरात्मा हैं।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 194-197) में कहा भी गया है—

"जो जीव जिन-विचन में कुशल हैं, जीव व देह के भेद को जानते हैं तथा जिन्होंने आठ दुष्ट मदों को जीत लिया है, वे तीन प्रकार के अन्तरात्मा हैं।"

"जो जीव पाँच महाव्रतों से युक्त हैं, धर्मध्यान व शुक्लध्यान में सदा स्थित रहते हैं तथा जिन्होंने समस्त प्रमादों को जीत लिया है, वे उत्कृष्ट अन्तरात्मा होते हैं।"

सावयगुणेहिं जुत्ता पमत्तविरदा य मज्झिमा होंति।
जिणवयणे अणुरत्ता उवसमसीला महासत्ता।।

अविरयसम्मादिट्ठी होंति जहण्णा जिणिंदपयभत्ता।
अप्पाणं णिंदंता गुणगहणे सुट्ठु अणुरत्ता।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (२९/७) **च प्रोक्तम्—**

बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करः।।

तथा च किम्भूतः? (सिविणे वि ण भुंजदि विसयाइं) **यः स्वप्नेऽपि विषयान् न भुंक्ते, विषयसेवनेच्छा न तस्य कदाचिदपि भवति, किम्बहुना, स्वप्ने न भवति —इतिभावः। यथा रोगिणः कृते स्निग्धगरिष्ठभोजनमहितकरं भवति, तथैव स विषयसेवनं स्वस्मै अहितकरमेव मनुते। अतएव आत्मानुशासनग्रन्थे** (श्लोक-१९१) **परामृष्टम्—**

''श्रावक के व्रतों को पालने वाले गृहस्थ तथा प्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये जिनवाणी में अनुरक्त रहते हैं, उपशम स्वभाव वाले होते हैं और महापराक्रमी होते हैं।''

''जो जीव अविरत सम्यग्दृष्टि हैं, वे जघन्य अन्तरात्मा हैं। वे जिन भगवान् के चरणों के भक्त होते हैं, अपनी निन्दा करते हैं और गुणों को ग्रहण करने में बड़े अनुरागी होते हैं।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (29/7) में भी कहा गया है—

''जिसने बाह्य पदार्थों को पृथक् करके आत्मा के विषय में ही आत्मा का निश्चय कर लिया है, ऐसे जीव को आत्मतत्त्व के ज्ञाता 'अन्तरात्मा' कहते हैं। वह अन्तरात्मा अज्ञान रूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के समान (तेजस्वी) होता है।''

तथा वह कैसा होता है? **(स्वप्ने अपि न भुंक्ते विषयान्)** जो स्वप्न में भी विषयों का सेवन नहीं करता, अर्थात् विषय-सेवन की इच्छा उसकी कभी नहीं होती, अधिक क्या? स्वप्न में भी नहीं होती है —यह भाव है। जिस प्रकार, रोगी के लिए स्निग्ध व गरिष्ठ भोजन अहितकर होता है, उसी तरह वह अपने लिए विषय-सेवन को अहितकर ही मानता है। इसीलिए आत्मानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-191) में यह परामर्श दिया गया है—

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं स्वल्पोऽप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य।।

वस्तुतस्तस्य देहात्मविवेकिनः, आत्मरतेश्च बाह्यपदार्थेषु अभिलाषैव न प्रादुर्भवति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-४९, ६०)—

स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः।

तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः।।

मया पूर्वमनन्तवारमेव इन्द्रियविषयभोगःकृतः, उज्झितश्च, तेषु रतिः किमर्थमिति स चिन्तयति। उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-३०)—

''हे भव्य! तू विषयी जनों को देखकर स्वयं विषयों की अभिलाषा क्यों करता है? क्योंकि थोड़ी-सी भी यह विषयाभिलाषा तेरे लिए अधिक अनर्थ को ही पैदा करती है। ठीक ही है, तेल-घी आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन करने वाले रोगी व्यक्ति के लिए दोषजनक होने से उसके लिए वह त्याज्य होते हैं, भले ही वे त्याज्य दूसरों के लिए न हो।''

वस्तुतः वह (अन्तरात्मा) देह व आत्मा के विवेक से युक्त होता है और उसकी रति (प्रीति) आत्मा में ही रहती है, इसलिए बाह्य पदार्थों में उसकी अभिलाषा ही नहीं पैदा होती। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-49, 60) में कहा गया है—

''जिनकी दृष्टि अपनी आत्मा पर रहती है, उन (सम्यग्दृष्टि जनों) को कहाँ (पर-पदार्थों में) विश्वास हो सकता है और कहाँ आसक्ति हो सकती है?''

''प्रबुद्ध आत्मा (अन्तरात्मा) को तो अपने आत्म-स्वरूप में लीन रहने में ही आनन्द आता है और इसीलिए वह बाह्य विषयों के प्रति उसकी उदासीनता ही रहती है।''

उस (अन्तरात्मा) का चिन्तन यह रहता है कि मैं पहले भी अनन्त बार ही इन्द्रिय-विषयों का भोग कर चुका हूँ और छोड़ चुका हूँ— इसलिए उनमें रति क्यों व किसलिए करूँ। इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-30) में कहा भी गया है—

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्वेव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।।

उत्कृष्टान्तरात्मनां तु अचेतनेभ्यो ग्रामनगरादिभ्योऽपि ममत्वं न भवति यतो हि संयमघातित्वं ममत्वस्य तेषां कृते भवति। ते च ममत्वहीना विषयासक्तिनिरपेक्षा अन्तरात्मानो धन्या भण्यन्ते। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२९५, ३०१)—

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो।।

धण्णा हु ते मणुस्सा जे ते विसयाउलम्मि लोयम्मि।
विहरंति विगदसंगा णिराउला णाणचरणजुदा।।

वस्तुतो देहसुखेषु श्रमणस्य अन्तरात्मनोऽनादर एव भवति। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-८३)—

''(अनादि काल से) मोहनीय कर्म के कारण मैंने सभी पुद्गलों (भौतिक पदार्थों) को भोग-भोग कर छोड़ दिया है। वे मेरे लिए जूठे हो चुके हैं, अब मैं विवेक प्राप्त कर चुका हूँ, इसलिए उन पदार्थों में मेरी कोई इच्छा नहीं रही।''

उत्कृष्ट अन्तरात्मा (मुनि जनों) के लिए तो ग्राम, नगर आदि अचेतन पदार्थों से भी ममत्व नहीं रहता, क्योंकि उनके लिए ममत्व संयम का विघातक होता है। वे ममत्वहीन व विषयासक्ति से निरपेक्ष रहने वाले 'अन्तरात्मा' धन्य कहे गये हैं। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-295 व 301) में कहा भी गया है—

''जो कुल, ग्राम व नगर या राज्य को छोड़कर भी उससे ममत्व करता है, वह संयम रूपी सार से रहित होने से मात्र द्रव्यलिङ्गी है।''

''वे मनुष्य धन्य हैं जो विषयाकुल इस जगत् में ज्ञान व चारित्र से युक्त हैं, विषयों में आसक्ति नहीं रखते और निराकुल होकर विचरण करते हैं।''

वस्तुतः देह-सुख में अन्तरात्मा श्रमण का अनादर भाव ही रहता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-83) में भी कहा गया है—

विस्सासकरं रूवं अणादरो विसयदेहसुक्खेसु।
सव्वत्थ अप्पवसदा परिसह अधिवासणा चेव।।

तथा सोऽन्तरात्मा किम्भूतः ?— (भुंजदि णियप्परूवो सिवसुहरत्तो) **निजात्मस्वरूपं स भुंक्ते, तथा शिवसुखरक्तो भवति। अत्र शिवशब्दो निजशुद्धात्मनो वाचकः। तद्ध्याने शिवसुखानुभूतिर्भवति। उक्तं च परमात्मप्रकाशग्रन्थे** (दोहा-१/११६)—

जं सिव-दंसणि परमसुहु पावहि झाणु करंतु।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लि वि देउ अणंतु।।

एवं स आत्मस्वरूपमनन्तसुखात्मकं सम्यक्तया श्रद्दधाति, तस्मिन्नेव रतिं कुरुते, नान्यत्र बाह्यपदार्थेषु इति भावः। समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५) **अन्तरात्मा आत्मविषयकभ्रान्तिरहित उक्तः। स शुद्धात्मस्वरूपं सम्यक्तया जानाति।**

''वस्त्र रहित रूप जन-जन में विश्वास पैदा करने वाला होता है। उनका विषय से होने वाले शारीरिक सुख में अनादर भाव ही रहता है। उनकी सर्वत्र स्वाधीनता रहती है (अर्थात् वे किसी के पराश्रित होकर नहीं रहते) और उन्हें परीषहों को सहना पड़ता है।''

और वह अन्तरात्मा कैसा होता है? **(भुंक्ते निजात्मरूपं शिवसुखरक्तः)** वह निज आत्म-स्वरूप का भोग (सेवन) करता है, तथा शिव-सुख में अनुरक्त होता है। यहाँ 'शिव' शब्द निज शुद्धात्मा का वाचक है। उसके ध्यान में शिव-सुख की अनुभूति होती है। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (दोहा-1/116) में कहा गया है—

''ध्यान करते हुए शिव रूप निज शुद्धात्मा के अवलोकन में जो अत्यन्त सुख प्राप्त किया जा सकता है, वह सुख तीन लोक में भी (अनन्त) परमात्म-द्रव्य के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं है।''

इस प्रकार, वह अनन्तसुखमय निज आत्म-स्वरूप पर सम्यक्तया श्रद्धान करता है, उसी में रति (प्रीति) करता है अर्थात् अन्यत्र बाह्य पदार्थों में वह प्रीति नहीं करता —यह भाव है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-5) में अन्तरात्मा को आत्मविषयक भ्रान्ति (अज्ञान) से रहित बताया है, अर्थात् वह शुद्धात्मा के स्वरूप को अच्छी तरह जानता है।

एवमेव मोक्षप्राभृते (गाथा-५) **अन्तरात्मा आत्मसंकल्पः इत्युक्तम्। आत्मानं परित्यज्य न कश्चित् पदार्थस्तस्य संकल्पविषयो भवति। आत्मस्वभावे निरतस्य तस्य निर्वाणप्राप्तिः सुकरा जायते। उक्तं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-१२)— आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं।

बहिरात्मस्थितेरन्तरात्मनः किमन्तरम् —इतिविषये स्वयं शास्त्रकारैः नियमसारग्रन्थे (गाथा-१४७, १४९-१५१) **भणितम्—**

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।।

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।।

अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा।।

इसी तरह मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-5) में अन्तरात्मा को 'आत्मसंकल्प' कहा गया है। आत्मा को छोड़कर कोई अन्य पदार्थ उसके संकल्प (चिन्तन) का विषय नहीं होता। आत्मस्वभाव में निरत होने से उसको निर्वाण की प्राप्ति सुकर हो जाती है। मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-12) में कहा गया है— ''आत्मस्वभाव में जो सुरत होता है, वह योगी निर्वाण को प्राप्त करता है।''

बहिरात्मा व अन्तरात्मा की स्थिति में क्या अन्तर है —इस विषय में स्वयं शास्त्रकार ने नियमसार ग्रन्थ (गाथा-147, 149-151) में कहा गया है—

''यदि तू 'आवश्यक' की इच्छा करता है तो आत्मस्वभाव में अत्यन्त स्थिर भाव को प्राप्त हो, क्योंकि आवश्यक से ही जीव का श्रामण्य गुण परिपूर्ण होता है।''

''जो साधु (उक्त) आवश्यक कर्म से युक्त है, वह 'अन्तरात्मा' है और जो आवश्यक कर्म से रहित है, वह 'बहिरात्मा' है।''

''जो साधु अन्तर्जल्प (संकल्प-विकल्पादि) व बाह्य जल्प (वचन प्रयोग) में वर्तता है (स्थित रहता है), वह 'बहिरात्मा है' और जो (किसी भी प्रकार के) जल्पों में नहीं रहता है, वह 'अन्तरात्मा' है।''

जो धम्मसुक्कझाणम्हि परिणदो सो वि अंतरंगप्पा।
झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।।

परमात्मप्रकाशग्रन्थे (दोहा-१/१४) **च भणितम्—**

देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहिपरिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ।।

ज्ञानसारग्रन्थे (श्लोक-३१) **च निर्दिष्टम्—**

धर्मध्यानं ध्यायति दर्शनज्ञानयोः परिणतो नित्यम्।
स भण्यते अन्तरात्मा लक्ष्यते ज्ञानवद्भिः।।

एवं हे भव्य! अन्तरात्मस्वरूपं सम्यगवबुद्ध्य अन्तरात्मतां स्वजीवने श्रद्धानज्ञानानुष्ठानेषु च प्रकटयेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अनादिकालीनदुर्वासना सम्यक्त्वेन नापगच्छतीति शास्त्रकारा उग्गाहा-(गाहा)-**छन्दसा निरूपयन्ति—**

"जो धर्मध्यान व शुक्लध्यान में परिणत है, वह भी अन्तरात्मा है। ध्यानविहीन साधु 'बहिरात्मा' है —ऐसा जानो।"

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (दोहा-1/14) में भी कहा गया है—

"जो पुरुष परमात्मा को शरीर से पृथक् ज्ञानपूर्ण जानता है, वही परम समाधि में स्थित अन्तरात्मा (पण्डित) है।"

ज्ञानसार ग्रन्थ (श्लोक-31) में भी कहा गया है—

"जो धर्मध्यान को ध्याता है, नित्य दर्शन व ज्ञान में परिणत रहता है, उसको ज्ञानियों ने अन्तरात्मा कहा है।"

इस प्रकार हे भव्य! अन्तरात्मा के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर 'अन्तरात्म-' स्वरूप को अपने जीवन में तथा श्रद्धान, ज्ञान व अनुष्ठान (आचरण) में प्रकट करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अनादिकालीन दुर्वासना सम्यक्त्व से दूर नहीं हो पाती— इसे शास्त्रकार उग्गाहा-(गाहा) छन्द द्वारा बता रहे हैं—

मलमुत्तघडव्व चिरंवासिद दुव्वासणं ण मुंचेदि।
पक्खालिदसम्मत्तजलो य णाणमियेण पुण्णो वि।।१३४।।

छाया— मलमूत्रघट इव चिरवासितां दुर्वासनां न मुञ्चति।
सम्यक्त्वजलप्रक्षालितः च ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— पक्खालिदसम्मत्तजलो णाणमियेण पुण्णो वि मलमुत्तघडव्व चिरंवासिद दुव्वासणं ण मुंचेदि —इति गाथान्वयः।

(मलमुत्तघडव्व चिरंवासिद दुव्वासणं ण मुंचेदि) **यथा मलेन मूत्रेण च पूर्णो घटो भवति, स चिरकालं मलमूत्रादिजनितां दुर्वासनां दुर्गन्धरूपां न मुञ्चति, नैव कदाचिदपि दुर्गन्धेन रहितो भवति, जलादिप्रक्षालनेनापि तथा स्वच्छजलादिपूर्णोऽपि न स्वीयदुर्गन्धं त्यजति —इत्याशयः। इदानीं दृष्टान्तकथनानन्तरं दार्ष्टान्तकथनं क्रियते शास्त्रकारेण—** (पक्खालिदसम्मत्तजलो य णाणमियेण पुणो वि) **तथैव अनादिकर्मवासनादुर्वासितो जीवः सम्यक्त्वजलेन प्रक्षालितोऽपि, किम्बहुना ज्ञानामृतेन परिपूर्णोऽपि सन् अनादिकर्मदुर्वासनया पूर्णतया शून्यो न भवति।**

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार मल-मूत्र का घड़ा चिरकाल से दुर्गन्धित होने के कारण अपनी दुर्वासना (दुर्गन्ध) को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी जल से धोने पर भी ज्ञानामृत से पूर्ण यह आत्मा दुर्वासना को नहीं छोड़ पाती।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— प्रक्षालितसम्यक्त्वजलः ज्ञानामृतेन पूर्णोऽपि मलमूत्रघट इव चिरवासितां दुर्वासनां न मुञ्चति —यह गाथा का अन्वय है।

(मलमूत्रघट इव चिरवासितां दुर्वासनां न मुञ्चति) जिस प्रकार मल व मूत्र से पूर्ण घट होता है, वह चिरकालिक मल व मूत्र आदि से उत्पन्न दुर्गन्ध रूप दुर्वासना को नहीं छोड़ता है, कभी दुर्गन्ध से रहित नहीं होता है, और जल आदि से धोने पर भी तथा उसमें स्वच्छ जल आदि भरने पर भी अपनी दुर्गन्ध को नहीं छोड़ता है —यह आशय है। अब दृष्टान्त-कथन के बाद दार्ष्टान्त (दृष्टान्त का लक्ष्य मूल तथ्य) का कथन शास्त्रकार कर रहे हैं— **(प्रक्षालितसम्यक्त्वजलः च ज्ञानामृतेन पूर्णः अपि)** इसी तरह अनादि कर्म-वासना से दुर्वासित जीव सम्यक्त्व जल से धोये जाने पर भी, अधिक क्या कहें, ज्ञानामृत से भरने पर भी अनादि कर्म-दुर्वासना से पूर्णतः शून्य नहीं होता।

अयम्भावः— अनादिकर्मबन्धयुक्तस्य जीवस्य मिथ्यात्ववशेन निजशुद्धात्मज्ञानरहितस्य बाह्यपदार्थेषु अनवरतजन्मपरम्पराप्राप्तेषु या प्रीतिर्दृढा जायते, सैव विषयासक्तिः दुर्वासना दुर्गन्धतुल्या विज्ञेया। एतस्या अनादिवासनाया एव विषयासक्तिरूपभोगार्तध्यानं समुन्मज्जति।

उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (२३/२१)—

ऋते भवमथार्तं स्यात्, असद्ध्यानं शरीरिणाम्।
दिग्मोहान्मत्ततातुल्यम्, अविद्यावासनावशात्।।

सम्यक्त्वे प्राप्तेऽपि, सम्यग्ज्ञानरूपेण अमृतेन पूर्णस्यापि सा विषयासक्तिः समूलं न नश्यति, यतस्तदर्थं पूर्णकषायक्षय आवश्यकः। कषायैः का हानिः, कश्च कषायक्षयात् लाभः —इति विषये ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/८-१०) **भणितम्—**

अजस्रं रुध्यमानेऽपि चिराभ्यासाद् दृढीकृताः।
चरन्ति हृदि निःशङ्काः नृणां रागादिराक्षसाः।।

आशय यह है— अनादि कर्म-बन्धन से युक्त जीव मिथ्यात्व के कारण निज शुद्धात्म-ज्ञान से रहित होता है, अतः अनवरत जन्म-परम्परा से प्राप्त बाह्य पदार्थों में उसकी प्रीति दृढ़ हो जाती है, उसी विषयासक्ति को दुर्गन्ध जैसी दुर्वासना के रूप में जानना चाहिए। इसी अनादि वासना से ही विषयासक्ति रूप भोगार्तध्यान उत्पन्न होता है।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (23/21) में कहा गया है—

''जो ऋत यानी पीड़ा में उत्पन्न होता है, वह असद्ध्यान है जो प्राणियों को अविद्या वासना के कारण होता है। जिस प्रकार दिशा भूल जाने से जैसी उन्मत्तता होती है, वैसा ही यह असद्ध्यान होता है।''

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी, अर्थात् सम्यग्ज्ञान रूपी अमृत से भरने पर भी उसकी वह विषयासक्ति समूल नष्ट नहीं होती, क्योंकि उसके लिए पूर्ण कषाय का क्षय जरूरी है। कषायों से क्या हानि है, कषायों के क्षय से क्या लाभ है— इस विषय में ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/8-10) में कहा गया है—

''ये राग आदि राक्षस हैं जो दीर्घकाल के अभ्यास के कारण प्रबल हो जाते हैं, इसलिए अनवरत रोके जाने पर भी निःशंक होकर हृदय में विचरण करते रहते हैं।''

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढैः किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम्।
शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम्।।

क्षीणरागं च्युतद्वेषं ध्वस्तमोहं सुसंवृतम्।
यदि चेतः समापन्नं तदा सिद्धं समीहितम्।।

अतः सम्यग्ज्ञानी सम्यक्चारित्रबलेन कषायक्षयार्थं प्रयतते। यतो हि कषाया एव चारित्र-प्रतिबन्धकाः। उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-१६३) 'चारित्तपडिणिबद्धं कसायं' **इति।**

एवमत्र शास्त्रकारेण सम्यक्चारित्रानुष्ठानस्य आवश्यकता सूचिता। न केवलं सम्यग्ज्ञानं पर्याप्तमपितु प्रमादस्य सकषायस्य क्षय आवश्यकः, तदैव दुर्वासना नश्यति —इति तैः समुपदिष्टम्। यावत्कालं सूक्ष्माऽपि रागकणिका तिष्ठति, तावत्कालं मोक्षप्राप्तिर्न सुकरा, तदर्थं यत्नो विधेयः इत्याशयः।

''अज्ञानीजन यदि मन को राग आदि से रहित नहीं कर सकते हैं तो फिर वे व्यर्थ के परिश्रमों (व्रत आदि) से होने वाले क्लेशों से अपनी आत्मा को अधिक पीड़ित क्यों करते हैं?''

''यदि मन राग व द्वेष से रहित होकर मोह को नष्ट करता हुआ समस्त सावद्य प्रवृत्ति से रहित हो चुका होता है तो समझना चाहिए कि प्राणी का अभीष्ट सिद्ध हो चुका (ऐसा मानना चाहिए)।''

इसलिए सम्यग्ज्ञानी सम्यक्चारित्र के बल से कषाय-क्षय हेतु प्रयत्नशील होता है, क्योंकि कषायें ही चारित्र के प्रतिबन्धक होती हैं। समयसार ग्रन्थ (गाथा-163) में कहा भी गया है— 'चारित्र का प्रतिबन्धक कषाय है'।

इस प्रकार यहाँ शास्त्रकार ने सम्यक्चारित्र के अनुष्ठान की आवश्यकता बताई है। मात्र सम्यग्ज्ञान होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु प्रमाद व कषाय का क्षय भी आवश्यक है, तभी यह दुर्वासना नष्ट होती है —यह उपदेश उन्होंने यहाँ दिया है। जितने समय तक सूक्ष्म भी राग का कण विद्यमान रहेगा, उतने समय तक मोक्ष की प्राप्ति सुकर नहीं होती, (अतः) उसी (राग-क्षय) के लिए यत्न करना चाहिए —यह (गाथा का) आशय है।

अतएव पञ्चास्तिकायग्रन्थे (गाथा-१७२) **परामृष्टम्—**

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदु मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायरं तरदि।।

पञ्चास्तिकायग्रन्थस्य (गाथा-१६७) **अमृतचन्द्राचार्यविरचितटीकायां सूक्ष्मा रागकणिका** 'पिञ्जनलग्नतूल'**वत् निरूपिता—** ''यस्य खलु रागरेणुकणिकाऽपि जीवति हृदये, न नाम स समस्त-सिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि निरुपरागशुद्धस्वरूपं स्वसमयं चेतयते। ततः स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं पिञ्जनलग्न-तूलन्यासन्यायमधिदधता अर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुः अपसारणीयः''

जीवघटस्य पूर्णशुद्ध्यै ध्यानस्यैवालम्बनं कर्तव्यमिति ज्ञानार्णवग्रन्थे (श्लोक-२३/३) **निर्दिष्टम्—**

साम्यमेव न सद्ध्यानात् स्थिरीभवति केवलम्।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः।।

इसीलिए पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-172) में यह परामर्श दिया गया है—

''इसलिए मोक्ष का इच्छुक भव्य किसी भी बाह्य पदार्थ में कुछ भी राग नहीं करे, क्योंकि ऐसा करने से ही वह वीतराग होकर संसार-समुद्र से पार हो सकता है।''

पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ (गाथा-167) की आचार्य अमृतचन्द्र विरचित टीका में इस सूक्ष्म राग-कण को 'रूई पींजने वाले उपकरण में लगी रूई' की तरह बताया गया है— ''जिसके हृदय में राग रूपी रेणु का छोटा भी कण विद्यमान हो, वह व्यक्ति भले ही समस्त सिद्धान्त शास्त्रों का ज्ञाता हो, तब भी सर्वांग वीतराग शुद्धस्वरूप स्वसमय का वेदन नहीं करता है। इसलिए यथार्थ शुद्ध स्वरूप की सिद्धि के लिए रूई पींजने वाले उपकरण में लगी रूई के न्याय (दृष्टान्त) को ध्यान में रखते हुए अर्हन्त आदि के प्रति भी राग को क्रमशः छोड़ना उचित है।''

जीव घट की पूर्ण शुद्धि हेतु ध्यान का ही आलम्बन करणीय होता है —ऐसा ज्ञानार्णव (श्लोक 23/3) में कहा गया है—

''प्रशस्त ध्यान से मात्र साम्य भाव ही स्थिर नहीं होता, अपितु यह यन्त्रचालक (शरीर-नियन्ता जीवात्मा) भी जो कर्म समूह के कलङ्क से युक्त है, शुद्ध हो जाता है।''

अतः पूर्वमप्रशस्तरागक्षयः कर्तव्यः, तदनन्तरं प्रशस्तरागस्यापि क्रमेण ध्यानादिमाध्यमेन क्षयः कर्तव्यः, तदैव जीवघटो दुर्वासनादुर्गन्धरहितः, ज्ञानामृतपरिपूर्णो मुक्तिपात्रतां वहति, इत्यतः कारणाद् हे भव्य! क्रमेण जीवघटशुद्धिरूपप्रयोजनसिद्ध्यै त्वया निरन्तरं प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्यग्दृष्टिरनिच्छयैव विषयसुखे प्रवृत्तो भवतीति शास्त्रकारा उग्गाहा-(गाहा)**-छन्दसा निर्दिशन्ति—**

सम्मादिट्ठी णाणी अक्खाण सुहं कहं पि अणुहवदि।
केणावि ण परिहरणं वाहीण विणासणट्ठ भेसज्जं।।१३५।।

छाया— सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी अक्षाणां सुखं कथमपि अनुभवति।
केनापि न परिहरणं व्याधिविनाशनार्थं भेषजम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्मादिट्ठी णाणी) **सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी च यो जीवो भवति। अत्रेदं ज्ञेयम्— सम्यग्दर्शने सति जीवो ज्ञानी भवत्येव।**

इसलिए पहले अप्रशस्त राग का क्षय करना चाहिए, तदनन्तर प्रशस्त राग का भी क्रमशः ध्यान आदि तप के माध्यम से क्षय करना चाहिए, तभी जीव रूपी घट दुर्वासना रूपी दुर्गन्ध से रहित होता है और ज्ञानामृत से परिपूर्ण होकर मुक्ति की पात्रता को धारण करता है —इसलिए हे भव्य! क्रमशः जीव घट की शुद्धि रूपी प्रयोजन की सिद्धि हेतु तुम्हें निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्यग्दृष्टि अनिच्छा से ही विषय-सुख में प्रवृत्त होता है— इसे शास्त्रकार उग्गाहा (गाहा) छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा—अर्थ— जो सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी है, वह किसी प्रकार (परवश होकर, अनिच्छा से) इन्द्रियों के सुख का अनुभव उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई भी (रोगी) रोग दूर करने के लिए औषधि नहीं छोड़ता।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यग्दृष्टिः ज्ञानी)** सम्यग्दृष्टि व ज्ञानी जो जीव होता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है —सम्यग्दर्शन होने पर जीव ज्ञानी होता ही है।

उक्तं राजवार्तिकग्रन्थे (१/१/३०)— ''उभयोर्युगपत्-प्रवृत्तेः। कथम्? प्रकाशप्रतापवत्। यथा सवितुर्घनपटलावरणविगमे प्रतापप्रकाशप्रवृत्तिः युगपद् भवति, तथा ज्ञानदर्शनयोः युगपद् आत्मलाभः। तद्यथा— यदा दर्शनमोहस्य उपशमात् क्षयोपशमाद् क्षयाद्वा आत्मा सम्यग्दर्शनपर्यायेण आविर्भवति, तदैव तस्य मत्यज्ञानश्रुताज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं मतिज्ञानं श्रुतज्ञानं चाविर्भवति।'' **एवं यथार्थतायां सम्यग्दृष्टिपदेन सह 'ज्ञानी' इति पदं पुनरुक्तिदोषमावहति —इति न तर्कणीयम्। ज्ञानीतिपदं विशिष्टसम्यग्ज्ञानिनं सङ्केतयति। यः परिग्रहेच्छारहितः सम्यग्दृष्टिः, सैवात्र ज्ञानीतिपदेन अभिधीयते।**

उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-२१०, २१६-२१७)—

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी----।

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं।
तं जाणगो दु णाणी उहयं पि ण कंखदि कयावि।।

राजवार्तिक ग्रन्थ (1/1/30) में कहा भी गया है— ''दोनों (सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान) की युगपत् (एक साथ) प्रवृत्ति होती है। कैसे? प्रकाश व प्रताप की (युगपत् प्रवृत्ति की) तरह। जैसे सूर्य पर जब मेघ पटल का आवरण हट जाता है, तो प्रताप व प्रकाश दोनों की एक साथ प्रवृत्ति (उत्पत्ति) होती है। उसी तरह सम्यग्ज्ञान व सम्यग्दर्शन का भी युगपत् आत्मलाभ (सद्भाव) होता है। उदाहरणार्थ— जब दर्शनमोहनीय के उपशम या क्षयोपशम या क्षय से आत्मा की सम्यग्दर्शन-पर्याय प्रकट होती है, तभी उसके मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान की निवृत्ति-पूर्वक मतिज्ञान व श्रुतज्ञान आविर्भूत हो जाते हैं।'' इस प्रकार, यथार्थ रूप में सम्यग्दृष्टि पद के साथ 'ज्ञानी' यह पद पुनरुक्ति दोष उत्पन्न करता है —ऐसा तर्क (आशंका) नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) 'ज्ञानी' यह पद यहाँ सम्यग्दृष्टियों में विशिष्ट जीव का संकेत कर रहा है। जो परिग्रह की इच्छा से रहित सम्यग्दृष्टि है, उसे ही यहाँ 'ज्ञानी' इस पद से कहा गया है।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-210, 216-217) में कहा भी गया है—

''ज्ञानी अपरिग्रही होता है, अतः परिग्रह सम्बन्धी इच्छा से रहित कहा गया है।''

''जो वेदन करता है और जिसका वेदन किया जाता है, ये दोनों ही भाव समय-समय (प्रतिसयम क्रम से होते हैं और) नष्ट होते हैं (अर्थात् एक समय से अधिक नहीं रहते)। ज्ञानी जीव उन दोनों भावों को मात्र जानने वाला होता है, उनकी कभी आकांक्षा नहीं करता।''

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो।।

अयं च 'ज्ञानी' **निश्चयेन सप्तमगुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनिर्भवति, तस्यैव वीतराग-सम्यक्त्वाभिधाननिश्चयसम्यक्त्वस्य शुद्धोपयोगापरपर्यायस्य सद्भावात्। अत्र विस्तरस्तु** 'शुद्धोपयोग' **इति संज्ञकात् मदीयग्रन्थाद् विज्ञेयः। अयं च ज्ञानी रागादिभावानपि पररूपेणैव सम्मनुते। यथोक्तं पूज्यपादाचार्येण इष्टोपदेशग्रन्थे** (श्लोक-२७)—

एकोहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजाः भावाः मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।।

अथवा वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानेन सहितः सम्यग्दृष्टिविशेषो जीवोऽत्र ज्ञानीतिपदेन गृहीतः। समयसारग्रन्थस्य (गाथा १८४-१८५) **तात्पर्यवृत्तौ च भणितम्—** "शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पाण्डवादिवद् इति।.............एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति। कोऽसौ? वीतराग-स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी...अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते, जानाति।"

"बन्ध व उपभोग के निमित्तभूत, संसार व शरीर विषयक अध्यवसाय के जो उदय हैं, उनमें ज्ञानी जीव का राग पैदा नहीं होता।"

यह ज्ञानी निश्चय से सप्तमगुणस्थानवर्ती शुद्धोपयोगी मुनि होता है, क्योंकि उसीके वीतरागसम्यक्त्व नामक निश्चयसम्यक्त्व —जिसका दूसरा नाम शुद्धोपयोग है— होता है। मेरे 'शुद्धोपयोग' नामक ग्रन्थ से इसे विस्तार जाना जा सकता है। यह ज्ञानी रागादि भावों को भी पर-रूप में ही मानता है, समझता है। श्री पूज्यपाद आचार्य ने इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-27) में कहा है—

"मैं एक, ममत्वरहित, शुद्ध, ज्ञानी हूँ और योगीन्द्रों (समाधिस्थ) महात्माओं द्वारा ज्ञेय तत्त्व हूँ, संयोग लक्षण वाले (स्त्री, मित्र, पुत्र आदि) बाह्य सभी भाव मेरी आत्मा से भिन्न हैं।"

अथवा वीतराग स्वसंवेदन स्वरूप 'भेदज्ञान' से सहित जो विशेष सम्यग्दृष्टि जीव है, वह यहाँ 'ज्ञानी' पद से ग्राह्य है। समयसार ग्रन्थ (गाथा 184-185) की तात्पर्यवृत्ति में कहा भी गया है— "शुद्धात्म-संवेदन रूपी ज्ञानीपना पाण्डव आदि की तरह होता है।....इस तरह उक्त प्रकार से (वह) शुद्धात्मा को जानता है। वह (जानने वाला) कौन है? (वह है—) वीतराग स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाला होता है।...किन्तु अज्ञानी तो पूर्वोक्त भेदज्ञान के न होने से मिथ्यात्व, राग आदि रूप ही आत्मा को मानता है, जानता है।"

तादृशो ज्ञानी किं करोति ? उच्यते— (अक्खाण सुहं कहं पि अणुहवदि) **अक्षाणाम् इन्द्रियाणां यत् सुखम्, इन्द्रियविषयभूतपदार्थान् आश्रित्य यदनुकूलप्रतीत्यात्मकं सुखाख्यं संवेदनमित्यर्थः, तत्सुखं कथमपि, अनिच्छया, अनुभवति। अत्यन्तग्रीष्मकाले सहजशीतलवायुः, शीतकाले च सूर्योष्णातपः इत्यादिकाः स्पर्शनेन्द्रियविषयाः। एवं शीतकाले उष्णप्रकृतिसुण्ठीमरीचादिकाः ग्रीष्मकाले शीतलप्रकृतिफलरसादिकाः, एवमादिका रसनेन्द्रियविषयाः। एवं वनोपवनपुष्पसुगन्ध-युक्तपवनः एवमादिका घ्राणेन्द्रियविषयाः। एवं रम्यचित्रविचित्रवर्णयुक्तानि वनोपवनानि, मनोहर-जिनमन्दिरादीनि, एवमादिका नेत्रेन्द्रियविषयाः। एवं रमणीयस्वरस्तुतिपाठादयः कर्णेन्द्रियविषयाः। एवमादिपञ्चेन्द्रिय-विषयसेवनं सोऽनीहितवृत्त्या कुरुते।**

अत्र शास्त्रकारा दृष्टान्तमाध्यमेन प्रोक्ततथ्यं समर्थयन्ति— (वाहीण विणासणट्ठं भेसज्जं केणावि ण परिहरणं) **व्याधिविनाशनार्थं भैषज्यं भवति, तस्य कश्चिदपि व्याधिग्रस्तो मनुष्यः परिहारं न करोति, तत्सेवने स्वभावतः प्रवृत्तिस्तस्य भवत्येव।**

वैसा ज्ञानी (भेदज्ञानी) क्या करता है? बता रहे हैं— **(अक्षाणां सुखं कथमपि अनुभवति)**। अक्ष यानी इन्द्रियाँ, उनका जो सुख है, अर्थात् इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का आश्रय लेकर अनुकूल प्रतीति रूप 'सुख' नाम का जो संवेदन होता है, उस सुख को किसी तरह, अर्थात् इच्छारहित होकर, वह अनुभव करता है। अत्यन्त गर्मी में सहजशीतल वायु और शीतकाल में सूर्य का उष्ण ताप इत्यादि स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। इसी तरह शीत काल में उष्ण प्रकृति वाले सोंठ, काली मिर्च आदि और ग्रीष्म काल में शीतल प्रकृति वाले फल व उनके रस आदि, इसी तरह और भी रसना इन्द्रिय के विषय हैं। वन-उपवन के पुष्पों की सुगन्ध वाली हवा, इसी तरह अन्य भी घ्राण इन्द्रिय के विषय हैं। रमणीय चित्र-विचित्र वर्णों वाले वन व उपवन, मनोहर जिनमन्दिर आदि और इसी तरह के अन्य भी पदार्थ नेत्र इन्द्रिय के विषय हैं। रमणीय स्वर वाले स्तुति-पाठ आदि कर्णेन्द्रिय के विषय हैं। इसी तरह के पाँचों इन्द्रियों के विषयों का सेवन वह (सम्यग्ज्ञानी करता भी है तो) अनिच्छा से करता है।

यहाँ शास्त्रकार दृष्टान्त के माध्यम से उपर्युक्त तथ्य का समर्थन कर रहे हैं— **(व्याधीनां विनाशनार्थं भेषजं केनापि न परिहरणम्)** व्याधि को नष्ट करने के लिए दवा होती है, व्याधिग्रस्त मनुष्य उस (दवा) का परिहार (त्याग) नहीं कर पाता, अर्थात् उसके सेवन में उसकी प्रवृत्ति होती ही है।

किञ्च, यद्यपि तदौषधं कटुकं भवति, तथापि अनीहितवृत्त्या तत्स सेवते, तद्वदेव सम्यग्ज्ञानी पञ्चेन्द्रियविषयसेवने प्रवृत्तो भवति। वस्तुतः स सम्यग्ज्ञानबलेन इन्द्रियविषयाणां निस्सारतादिकं हृदि सम्मनुते एवेत्याशयः। अनगारधर्मामृतग्रन्थेऽपि (८/२ श्लोक, उद्धृते पद्ये) **प्रोक्ततथ्यसमर्थका दृष्टान्ताः निर्दिष्टाः—**

धात्रीबालाऽसतीनाथपद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासाद् भुञ्जन् राज्यं न पापभाक्।।

एतादृशेषु अनीहितवृत्त्या विषयानुपभुञ्जानेष्वपि उत्कृष्टभूमिकामारूढस्य वीतरागस्व-संवेदनज्ञानरतस्यैव विषये समयसारग्रन्थे (गाथा-१९३) **प्रोक्तम्—**

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं।।

और, यद्यपि वह औषधि कड़ुवी होती है, फिर भी वह अनिच्छा से उसका सेवन करता है, उसी तरह सम्यग्ज्ञानी पञ्चेन्द्रिय-विषयों के सेवन में प्रवृत्त होता है। वास्तविकता तो यह है कि वह अपने सम्यग्ज्ञान के बल से इन्द्रिय-विषयों की निस्सारता आदि को हृदय से समझता है — यह आशय है। अनगारधर्मामृत ग्रन्थ (के 8/2 श्लोक पर उद्धृत पद्य) में उपर्युक्त तथ्य के समर्थक (अन्य) दृष्टान्तों का भी निर्देश प्राप्त होता है—

''जिस प्रकार एक धाय का (अपने मालिक के) पुत्र पर (दिखावटी या अनिच्छित) प्रेम होता है, असती (कुलटा, व्यभिचारिणी) स्त्री का अपने पति से दिखावटी प्रेम होता है, कमल दल और जल का सम्बन्ध नहीं हुए जैसा होता है, जली हुई रस्सी दिखावटी ही रस्सी होती है, उसी तरह (सम्यग्दृष्टि) राज्य का भोग भोगता हुआ भी पाप का भागी नहीं होता।''

ऐसे, अनीहित (अनिच्छित) रूप से विषयों का उपभोग करने वालों में भी जो उत्कृष्ट भूमिका पर आरूढ़ और वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान में निरत रहता है, उसी के विषय में समयसार ग्रन्थ (गाथा-193) में यह कथन किया गया है—

''सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों द्वारा चेतन या अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सब ही निर्जरा का निमित्त होता है।''

अन्यच्च, तत्रैव (गाथा-१७७) **भणितम्—**

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।

इत्येवं हे भव्य! सम्यग्दर्शनं दृढमवलम्ब्य, विशेषतो बुद्धिपूर्वकरागादिपरिहारेण सर्वदा त्वया वर्तितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

आत्मनः त्रिषु भेदेषु कस्योपादेयता हेयता वेति शास्त्रकारा उग्गाहा-(गाहा)-**छन्दसा निरूपयन्ति—**

किं बहुणा हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि।
भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि।।१३६।।

छाया— किम्बहुना अहो त्यज बहिरात्मस्वरूपान् सकलभावान्।
भज मध्यमपरमात्मनः वस्तुस्वरूपान् भावान्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (किं बहुणा) **किम्बहुना, किमधिकेन कथनेन, साररूपेणैव उच्यते। किमुच्यते?**

और भी वहीं (गाथा-177) यह भी कहा गया है—

''राग, द्वेष व मोह —ये आस्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं होते, इसलिए आस्रव भाव के बिना द्रव्य-प्रत्यय कर्म-बन्ध के कारण नहीं होते।''

इस प्रकार, हे भव्य! सम्यग्दर्शन को दृढ़ता से धारण करते हुए, तुम विशेष रूप से बुद्धिपूर्वक राग आदि का सर्वदा परिहार करते रहना —यह गाथा का तात्पर्य है।

आत्मा के तीन भेदों में कौन उपादेय है और कौन हेय है— इसे शास्त्रकार उग्गाहा (गाहा) छन्द से बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— अधिक क्या कहें? हे भव्य! बहिरात्म-स्वरूप सभी भावों को छोड़ो और अन्तरात्मा व परमात्मा के वस्तुस्वरूप (यथार्थ) भावों को भजो (अंगीकार करो)।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(किं बहुना)** अधिक क्या? अधिक क्या कहें, सार रूप से ही बता रहे हैं। क्या बता रहे हैं?

तत्कथनमस्ति— (हो तजि बहिरप्पसरूवाणि सयलभावाणि) **अहो, इति सम्बोधने। बहिरात्मनः स्वरूपं यत्प्रागुक्तम्, तस्य सकलान् भावान् अर्थात् बहिरात्मसम्बन्धिलक्षणानि परित्यज, बहिरात्मतां पूर्णतया समुत्सृजेत्याशयः। बहिरात्मस्थितिः दुःखप्रदचतुर्गतिभ्रमणकारिकेति तस्यास्त्याज्यतां शास्त्रकारा अग्रे** (गाथा-१३७) **प्रतिपादयिष्यन्ति। तदनन्तरं किं करणीयम्? उच्यते—** (भजि मज्झिमपरमप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि) **मध्यमात्मनः, अन्तरात्मनः, तदनन्तरं च परमात्मनश्च वस्तुस्वरूपान् यथार्थान् भावान् गुणाद्यात्मकान् भज, समाश्रयेत्यर्थः। अन्तरात्मभावाः पुण्यबन्धस्य मोक्षस्य च कारणभूताः इति हेतोस्तदुपादेयतां शास्त्रकाराः अग्रे** (गाथा-१३८) **प्रतिपादयिष्यन्त्येवामुत्र ग्रन्थे।**

अत्रायं भावः— आत्मनस्त्रयः प्रकाराः— बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा चेति। तेषु बहिरात्मता सर्वथा हेया, अन्तरात्मा बहिरात्मनः कृते उपादेयः, परमात्मप्राप्तिदृष्ट्या अन्तरात्माऽपि हेयः। एवं परमात्मा सर्वथा उपादेयतां भजति।

(हमारा) यह कहना है— **(अहो त्यज बहिरात्मस्वरूपान् सकलभावान्)** 'अहो' यह सम्बोधनसूचक पद (अव्यय) है। उसके सभी भावों को, अर्थात् बहिरात्मा से सम्बन्धित लक्षणों को छोड़ दो, बहिरात्मपने को पूर्णतया छोड़ दो —यह आशय है। बहिरात्मा की स्थिति दुःखदायी चतुर्गति भ्रमण की कारण है, इसलिए वह त्याज्य है, यह आगे शास्त्रकार आगे (गाथा-137) प्रतिपादित करने वाले हैं। उस (बहिरात्मपने के त्याग) के बाद क्या करना है? बता रहे हैं— **(भज मध्यमपरमात्मनः वस्तुस्वरूपान् भावान्)** मध्यमात्मा यानी अन्तरात्मा और उसके बाद परमात्मा के वस्तु-स्वरूप यानी यथार्थ गुणादि रूप भावों को भजो अर्थात् उसका आश्रयण लो। अन्तरात्म-भाव पुण्य-बन्ध के तथा मोक्ष के भी कारण होते हैं —इस कारण से उसकी उपादेयता को (स्वयं) शास्त्रकार आगे (गाथा-138) इसी ग्रन्थ में प्रतिपादित करने वाले ही हैं।

यहाँ भाव (आशय) यह है— आत्मा के तीन प्रकार हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा। इनमें बहिरात्मपना सर्वथा हेय है। अन्तरात्मा की स्थिति बहिरात्मा के लिए उपादेय है, किन्तु परमात्मपने की प्राप्ति की अपेक्षा से अन्तरात्मा की स्थिति भी हेय है। इस प्रकार परमात्मा की स्थिति सर्वथा उपादेयता वाली है।

उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-४)—

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत्।।

परमात्मप्रकाशग्रन्थे (१/१२) **च भणितम्—**

अप्पा तिविहु मुणेवि लहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्पसहाउ।।

बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य (गाथा-१४) **टीकायामपि निर्दिष्टम्—** ''अत्र बहिरात्मा हेयः, उपायभूतस्य अनन्तसुखसाधकत्वाद् अन्तरात्मा उपादेयः, परमात्मा पुनः साक्षाद् उपादेयः इत्यभिप्रायः।''

अन्यच्च, मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-४, ७) **भणितम्—**

समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-4) में कहा गया है—

''सभी प्राणधारियों में आत्मा है। उसके तीन भेद हैं— बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा। इन तीनों में बहिरात्मा छोड़ने योग्य है और अन्तरात्मा परमात्मा बनने का एक साधन है, इसलिए अन्तरात्मा रूप साधन से परमात्मस्वरूप साध्य को प्राप्त करना चाहिए।''

परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (1/12) में भी कहा गया है—

''आत्मा के तीन प्रकारों को जानकर, बहिरात्म-स्वरूप भाव को शीघ्र ही छोड़ दो, और जो परमात्मा का स्वभाव है, उसे अन्तरात्मा की स्थिति में रहकर स्वसंवेदन ज्ञान से जानो। वह स्वभाव 'केवलज्ञान' से परिपूर्ण है।''

बृ. द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-14) की टीका में भी बताया गया है— ''यहाँ बहिरात्मा हेय है और उपादेयभूत (परमात्मा) अनन्त सुख का साधक होने से अन्तरात्मा उपादेय है और परमात्मा साक्षात् उपादेय है —यह अभिप्राय है।''

और, मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-4 व 7) में कहा गया है—

तिपयारो सो अप्पा परभिंतरबाहिरो दुहेऊणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा।।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा, छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं।।

बहिरात्मनो लक्षणानि प्राक् शास्त्रकारेण (गाथा १२६-१३२) **भणितानि। यथा स आत्मध्यानपराङ्मुखः इन्द्रियविषयसेवने यथार्थसुखं मन्यते, भक्ष्याभक्ष्य-उपादेयत्याज्यादिविवेक-रहितोऽपि स भवति, तथा पुत्रकलत्रदेहादिकं सर्वमात्मस्वरूपं सम्मनुते, एवं स आत्मानात्मविवेक-रहितो भवति। एतानि सर्वाणि लक्षणानि त्याज्यानि। तथा अन्तरात्मनः स्वरूपं तद्विपरीतमेव। स आत्मानात्मविवेकी, इन्द्रियविषयेषु अनीहः, अनात्मभूतान् परपदार्थान् आत्मीयत्वेन न सम्मनुते। अत्र बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य अन्तरात्मनः स्वरूपं समाश्रयणीयम्। तत्रापि, अन्तरात्मनि स्थित्वाऽपि, परमात्मत्वप्राप्तिरूपलक्ष्यं न विस्मर्तव्यम्, अपितु परमात्मत्वप्राप्त्यै सततं प्रयतितव्यमिति गाथाया आशयः।**

"वह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा व बहिरात्मा के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। हे योगिन्! तुम बहिरात्मा का त्याग करो।"

"मन, वचन व काय —इन तीनों योगों से बहिरात्मा को छोड़कर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ़ होकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने उपदेश दिया है।"

बहिरात्मा के लक्षणों को शास्त्रकार ने (गाथा 126-132 में) बता दिया है। उदाहरणार्थ— वह आत्मध्यान से पराङ्मुख होता है, इन्द्रिय-विषयों के सेवन में यथार्थ सुख मानता है, भक्ष्य-अभक्ष्य तथा उपादेय-त्याज्य सम्बन्धी विवेक से रहित भी होता है तथा पुत्र, कलत्र, देह आदि सभी (बाह्य पदार्थों) को वह आत्मस्वरूप मानता है, इस प्रकार वह आत्मा-अनात्मा के विवेक से रहित होता है। ये सभी लक्षण त्याज्य हैं। और अन्तरात्मा का स्वरूप तो उस (बहिरात्मा) से विपरीत ही है। वह (अन्तरात्मा) तो आत्मा- अनात्मा का विवेक रखता है, इन्द्रिय-विषयों में इच्छारहित होता है, और अनात्मभूत पर-पदार्थों को आत्मीय रूप से नहीं मानता। इन (दोनों) में बहिरात्मा के स्वरूप को छोड़कर अन्तरात्मा के स्वरूप का आश्रयण करना चाहिए। यहाँ भी, अन्तरात्मा-स्वरूप में स्थित होकर भी, परमात्मा-प्राप्ति के लक्ष्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए, अपितु परमात्मत्व की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए —यह गाथा का आशय है।

लक्ष्यस्वरूपपरमात्मनो नामानि समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-६) **प्रोक्तानि—**

निर्मलः केवलः सिद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः।।

अन्तरात्मा कथं परमात्मपदं प्राप्तुं प्रभवतीतिविषये समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक २७-२८, ९७-९९) **च निरूपितम्—**

त्यक्त्वैव बहिरात्मानम्, अन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत् परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम्।।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्कारात् लभते ह्यात्मनि स्थितिम्।।

लक्ष्य स्वरूप परमात्मा के नामों को समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-6) में इस प्रकार बताया गया है—

"निर्मल, केवल, सिद्ध (परिपूर्ण), विविक्त (पवित्र), प्रभु, अव्यय, परमेष्ठी, परात्मा, परमात्मा, ईश्वर और जिन —ये सब परमात्मा के नाम हैं।"

अन्तरात्मा परमात्मा की स्थिति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है— इस विषय में समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक 27-28, 97-99) में इस प्रकार बताया गया है—

"बहिरात्मा (के स्वरूप) को छोड़कर अन्तरात्मा में व्यवस्थित मनुष्य समस्त संकल्पों से रहित परमात्मा का चिन्तन करे।"

"उस परमात्मा में भावना करते रहने से 'वह मैं हूँ' (सोऽहम्) इस प्रकार जिसने संस्कार प्राप्त किया है और फिर उसका अभ्यास करने से जिसका यह संस्कार और भी दृढ़ हो गया है —ऐसा मनुष्य अपने आत्मा (चैतन्य स्वरूप) में निश्चलता को प्राप्त हो सकता है।"

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।।

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

इतीदं भावयेन्नित्यम्, अवाचां गोचरं परम्।
स्वत एव तदाप्नोति, यतो नावर्तते पुनः।।

एवं हे भव्य! स्वभूमिकानुसारं हेयतामुपादेयतां च सम्यगवबुद्ध्य उपादेयात्मस्वरूपप्राप्त्यै यथाशास्त्रं सर्वदा प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

''यह आत्मा अपने से भिन्न अरहन्त-सिद्ध रूप शुद्धात्मा की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही शुद्धात्मा उसी तरह बन जाता है जिस तरह दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती दीपक की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही दीपक बन जाती है।''

''अथवा यह आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप का ही चिदानन्दमय रूप से आराधना करके परमात्मा बन जाता है। जैसे वृक्ष (बांस आदि) स्वयं ही अपने आपको मथकर (अपने आपसे रगड़ खाकर) आग बन जाता है।''

''इस प्रकार, वाणी के अगोचर (अनिर्वचनीय) जो नित्य पद है, उसी (की आराधना) का मनुष्य अभ्यास करे। ऐसा होने पर, उस पद को वह स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा। जहाँ से लौट कर कभी वापस वह नहीं आ सकता।''

इस प्रकार, हे भव्य! अपनी भूमिका के अनुरूप हेयता व उपादेयता को अच्छी तरह समझ कर, उपादेय आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हेतु शास्त्रानुसार सर्वदा प्रयत्नशील रहना चाहिए — यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, बहिरात्मभावाः दुःखहेतवः सन्तीति शास्त्रकाराः उग्गाहा-(गाहा)**-छन्दसा प्रज्ञापयन्ति—**

चदुगदिसंसारगमणकारणभूदाणि दुक्खहेदूणि।
ताणि हवे बहिरप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि।।१३७।।

छाया— चतुर्गतिसंसारगमनकारणभूताः दुःखहेतवः।
ते भवन्ति बहिरात्मानः वस्तुस्वरूपा भावाः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि ताणि भावाणि चदुगदिसंसारगमण-कारणभूदाणि दुक्खहेदूणिहवे —इति गाथान्वयः।

(ताणि हवे बहिरप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि) **तानि पूर्वोक्तानि बहिरात्मनो ये केचिद् वस्तुस्वरूपाः यथार्थाः भावाः परिणामाः, पर्याया वा सन्ति, ते कीदृशाः? उच्यते—** (चतुगदिसंसार-गमणकारणभूदाणि दुक्खहेदूणि) **चतुर्गतिरूपसंसारे यद् गमनं संसरणं परिभ्रमणं वा, तस्य कारणभूताः सन्तः, दुःखहेतवः, दुःखस्यैव हेतवो भवन्ति, इत्यतस्तेषां हेयता स्पष्टै-वेत्याशयः।**

अब, बहिरात्मा के भाव दुःख के हेतु होते हैं— यह शास्त्रकार उग्गाहा (गाहा) छन्द से समझा रहे हैं—

गाथा-अर्थ— वस्तु-स्वरूप से सम्बन्धित जो भी भाव बहिरात्मारूप (अर्थात् बहिरात्मा के) होते हैं, वे चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण के (ही) कारण हैं और दुःख के हेतु हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— बहिरात्मनः वस्तुस्वरूपाः ते भावाः संसारगमनकारणभूताः दुःखहेतवः भवन्ति —यह गाथा का अन्वय है।

(ते भवन्ति बहिरात्मनः वस्तुस्वरूपा भावाः) वे यानी पूर्व में कथित बहिरात्मा के जो कोई भी वस्तु-स्वरूप यानी यथार्थ भाव, परिणाम या पर्याय हैं, वे कैसे हैं? बता रहे हैं— **(चतुर्गतिसंसारगमनकारणभूताः दुःखहेतवः)** चतुर्गतिरूप संसार में जो गमन या संसरण या भ्रमण (आवागमन) है, उसके वे कारण होते हैं और इसलिए दुःखहेतु अर्थात् दुःख के ही हेतु होते हैं, इसलिए उनकी हेयता स्पष्ट ही है —यह आशय है।

बहिरात्मनो यादृशा भावाः आत्मीयपरिणामाः वा भवन्ति, यादृश्यश्च प्रवृत्तयो भवन्ति, तत्परिणामस्तु संसारभ्रमणमेव, ततश्च शाश्वतसुखस्थानप्राप्त्यभावे दुःखसद्भाव एवेति गाथायाः सारः।

प्रथमन्तु बहिरात्मा तत्त्वातत्त्वज्ञानेन, विशेषतया आत्मतत्त्वज्ञानेन रहितः, शरीरादिकमपि आत्मत्वेन मन्वानः, मिथ्यात्वाविष्टत्वात् सम्यक्त्वरहित एव भवति— इति शास्त्रकारेणामुत्र ग्रन्थे प्रत्यपादि—

ण वि जाणदि कज्जमकज्जं सेयमसेयं पुण्णपावं हि।
तच्चमतच्चं धम्ममधम्मं सो सम्मउम्मुक्को।।

णियअप्पणाणझाणज्झयणसुहामियरसायणं पाणं।
मोत्तूणक्खाण सुहं, जो भुंजदि सो हु बहिरप्पा।।

देहकलत्तं पुत्तं मित्तादिविहावचेदणारूवं।
अप्पसरूवं भावदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।

बहिरात्मा के जैसे भाव यानी आत्मीय परिणाम होते हैं, और जैसी उसकी प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनका परिणाम तो संसार-भ्रमण ही है, जिसके कारण शाश्वत सुख के स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति न होने से दुःख ही दुःख है —यह गाथा का सार है।

प्रथम तो बहिरात्मा तत्त्व-अतत्त्व के ज्ञान से, विशेषतया आत्मतत्त्व के ज्ञान से रहित होता हुआ, शरीर आदि को आत्म रूप से मानता है और मिथ्यात्व से ग्रस्त होने से सम्यक्त्व से रहित ही होता है— यह शास्त्रकार ने इसी ग्रन्थ (रयणसार) में (पहले) इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

''जो कर्तव्य-अकर्तव्य, श्रेय-अश्रेय (हित-अहित), पुण्य-पाप, तत्त्व-अतत्त्व और धर्म-अधर्म को निश्चय से नहीं जानता है, वह सम्यक्त्व से रहित होता है।''

''जो मनुष्य अपनी आत्मा के ज्ञान, ध्यान व अध्ययन एवं सुख रूपी अमृत-रसायन का पान छोड़कर इन्द्रियों का सुख भोगता है, वह निश्चय से बहिरात्मा है।''

''जो मनुष्य शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि और विभाव चेतना (रागादि वैभाविक परिणामों) को आत्मस्वरूप भाता है, मानता है, वह बहिरात्मा है।''

समयसारग्रन्थेऽपि (गाथा-९६, ८६) **निर्दिष्टम्—**

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण।।

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-११) **च प्रोक्तम्—**

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो।
मोहोदएण पुणरवि अंगं संमण्णए मणुओ।।

आत्मज्ञानाभावे संसारभ्रमणमेवेति स्वयं शास्त्रकारेण ग्रन्थेऽमुत्र (गाथा-116, 120-121, 85) **प्राक् निर्दिष्टमेव—**

ण वि जाणदि जिणसिद्धसरूवं तिविहेण तह णियप्पाणं।
जो तिव्वं कुणादि तवं सो हिंडदि दीहसंसारे।।

समयसार ग्रन्थ (गाथा-96 व 86) में भी कहा गया है—

"इस प्रकार अज्ञानी जीव अज्ञान भाव से पर-द्रव्यों को अपना (आत्मीय) करता है और आत्म-द्रव्य को पर-रूप करता है।"

"चूँकि आत्मभाव व पुद्गल भाव —दोनों को 'आत्मा' करता है, ऐसा जो कहते हैं (मानते हैं) वे द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि हैं।"

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-11) में भी कहा गया है—

"यह मनुष्य मोह के उदय से मिथ्याज्ञान में रत है तथा साथ ही मिथ्याभाव से वासित होता हुआ शरीर को आत्मा मान रहा है।"

आत्मज्ञान के अभाव में संसार-भ्रमण ही होता है —ऐसा स्वयं शास्त्रकार ने इसी ग्रन्थ (गाथा-116, 120-121, 85) में पहले कहा ही है—

"जो अरहंत व सिद्ध के स्वरूप को तथा तीन प्रकार के भेद वाली अपनी आत्मा को भी नहीं जानता, वह दीर्घ संसार में भ्रमण करता है।"

किं जाणिदूण सयलं तच्चं किच्चा तवं च किं बहुलं।
सम्मविसोहिविहीणं णाणतवं जाण भवबीयं।।

वयगुणसील परीसहजयं ण चरियं तवं छडावसयं।
झाणज्झयणं सव्वं सम्म विणा जाण भवबीयं।।

जाव ण जाणइ अप्पा अप्पाणं दुक्खमप्पणो ताव।
तेण अणंतसुहाणं अप्पाणं भावए जोई।।

आचार्ययोगीन्दुकृते योगसारग्रन्थे (दोहा-७) **च समर्थितम्—**

मिच्छादंसणमोहियउं परु अप्पा ण मुणेइ।
सो बहिरप्पा जिण-भणिउ पुण संसार भमेइ।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थेऽपि (गाथा-९५) **भणितम्—**

"सम्पूर्ण तत्त्व को जानकर भी क्या (लाभ) है? और बहुत तप करके (भी) क्या (लाभ) है? सम्यक्त्व की विशुद्धि से विहीन ज्ञान व तप को संसार का बीज (कारण) जानो।"

"व्रत, गुण, शील, परीषह-जय, चारित्र, तप, षट् आवश्यक, ध्यान और अध्ययन —ये सब सम्यक्त्व के बिना भव-बीज (संसार के ही कारण) हैं —ऐसा जानें।"

"जब तक आत्मा को नहीं चाहता है, तब तक आत्मा को दुःख होता है, इसलिए योगी (साधु) को अनन्त सुख स्वभावी आत्मा की भावना करनी चाहिए।"

आचार्य योगीन्दु-कृत योगसार ग्रन्थ (दोहा-7) में भी इसका समर्थन किया गया है—

"जो मिथ्यादर्शन से मोहित जीव परमात्मा को नहीं जानता या समझता है, उसे जिन भगवान् ने 'बहिरात्मा' कहा है, वह जीव पुनः-पुनः संसार में भ्रमण करता रहता है।"

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-95) में भी कहा गया है—

मिच्छादिट्ठि जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ।
जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो।।

किञ्च, बहिरात्मनो द्वितीयविशेषता यत्तस्य विषयसेवने एव रतिर्भवति, यतो हि स विषयसेवनेन दुःखप्राप्तिरेवेतितत्त्वज्ञानेन रहित एव भवति, इत्यादिकं ग्रन्थेऽमुत्र (गाथा १३०-१३१, १००) **प्राक् प्रतिपादितम्—**

जं जं अक्खाण सुहं तं तं तिव्वं करेदि बहुदुक्खं।
अप्पाणमिदि ण चिंतदि सो चेव हवेदि बहिरप्पा।।

जेसिं अमेज्झमज्झे उप्पण्णाणं हवेदि तत्थ रुई।
तह बहिरप्पाणं बहिरिंदिय-विसएसु होदि मदी।।

देहादिसु अणुरत्ता, विसयासत्ता कसायसंजुत्ता।
आदसहावे सुत्ता, ते साहू सम्मपरिचत्ता।।

''जो मिथ्यादृष्टि जीव है, वह जन्म, जरा व मरण से युक्त तथा हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुःखी होता हुआ भ्रमण करता रहता है।''

और, बहिरात्मा की दूसरी विशेषता यह है कि उसकी विषय सेवन में ही रति (रुचि) होती है, क्योंकि वह 'विषय-सेवन से दुःख की प्राप्ति होती है' —इस ज्ञान से भी रहित ही होता है —इत्यादि भी इसी ग्रन्थ में (गाथा-130-131, 100) पहले प्रतिपादित किया जा चुका है—

''इन्द्रियों के जितने सुख हैं, वे सब आत्मा को अनेक प्रकार के तीव्र दुःख देते हैं। इस बात का विचार जो नहीं करता, वह बहिरात्मा होता है।''

''जैसे विष्ठा में उत्पन्न हुए कीड़े की रुचि उसी विष्ठा में रहती है, वैसे ही बहिरात्मा की बुद्धि बाह्य इन्द्रिय-विषयों में होती है।''

''देह आदि में अनुरक्त, विषयों में आसक्त, कषाय से युक्त, आत्म-स्वभाव में सोये हुए (प्रमादी) —ऐसे साधु सम्यक्त्व से रहित हैं।''

विषयासक्तस्य संसारभ्रमणमेवेति मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-६७, १३) **समर्थितम्—**

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा।।

परदव्वरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहिं।
एसो जिण-उवएसो समासओ बंधमोक्खस्स।।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१३९) **च निर्दिष्टम्—**

इय मिच्छत्तावासे कुणयकुसत्थेहिं मोहिओ जीवो।
भमिओ अणाइकालं संसारे धीर चिंतेहि।।

विषयासक्तस्य सर्वदा दुःखमेवेति प्रवचनसारग्रन्थे च (१/६४) **भणितम्—** ''जेसिं विसएसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।''

विषयों में आसक्त व्यक्ति को संसार में ही भ्रमण करना होता है —इस तथ्य का मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-67 व 13) में समर्थन किया गया है—

''आत्मा को जानकर भी कितने ही अज्ञानी लोग सद्भाव की भावना से अर्थात् निजात्म-भावना से भ्रष्ट होकर विषयों में मोहित होते हुए चतुर्गति रूप संसार में भटकते रहते हैं।''

''पर-द्रव्यों में रत व्यक्ति नाना कर्मों से बन्ध को प्राप्त होता है और पर-द्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध व मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह उपदेश है।''

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-139) में भी यह कहा गया है—

''इस प्रकार, मिथ्यात्व के निवासभूत संसार से मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से मोहित हुआ जीव अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। हे धीर मुनि! तू इस पर तो विचार कर।''

विषयों में आसक्त व्यक्ति को सदा दुःख ही दुःख होता है— ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (1/64) में कहा गया है— ''जिन जीवों को (इन्द्रियों के) विषयों में रति (प्रीति) है, उनके स्वाभाविक रूप से दुःख रहता ही है (अर्थात् कभी दुःखों से उन्हें छुटकारा नहीं मिलता)।''

वस्तुतश्चतुर्गतिसंसारभ्रमणान्मुक्तिरात्मज्ञानेनैव सम्भवतीति शास्त्रकारैः भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-६०) **परामृष्टम्—**

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं।।

एवं प्रस्तुतगाथायामत्र यद् भणितं, तच्छास्त्रीयसिद्धान्तसाररूपमेव। इत्येवं हे भव्य! चतुर्गतिसंसारकारणभूतं बहिरात्मत्वं त्यक्त्वा परमात्मत्वप्राप्तिलक्ष्यं समधिगन्तुं सर्वदा प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

द्विविधात्मनो भावाः पुण्यबन्धस्य मोक्षस्य च हेतुभूताः सन्तीति शास्त्रकारा उग्गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

मोक्खगदिगमणकारणभूदाणि पसत्थपुण्णहेदूणि।
ताणि हवे दुविहप्पा, वत्थुसरूवाणि भावाणि।।१३८।।

छाया— मोक्षगतिगमनकारणभूताः प्रशस्तपुण्यहेतवः।
ते भवन्ति द्विविधात्मनः वस्तुस्वरूपाः भावाः।।

वस्तुतः चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण से मुक्ति यदि होती है तो आत्म-ज्ञान से ही होती है— ऐसा भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-60) में सुझाया गया है—

"हे भव्य जीवों! यदि तुम शीघ्र ही चतुर्गति को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावों के द्वारा अत्यन्त पवित्र व निर्मल आत्मा की ही भावना करो।"

इस प्रकार प्रस्तुत गाथा (सं. 137) में जो कहा गया है, वह शास्त्रीय सिद्धान्तों का सार ही है। इस तरह, हे भव्य! चतुर्गति रूप संसार के कारणभूत बहिरात्मपने को छोड़ कर परमात्मत्व की प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सर्वदा प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अन्तरात्मा के भाव पुण्यबन्ध के तथा परमात्मा के भाव मोक्ष के हेतु हैं— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— द्विविध (अन्तरात्मा व परमात्मा) आत्मा के वस्तुस्वरूप-सम्बन्धी जो भाव हैं, वे (क्रमशः) प्रशस्त पुण्य के तथा मोक्ष-गति में गमन के कारण होते हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— दुविहप्पा ताणि वत्थुसरूवाणि भावाणि पसत्थपुण्णहेदूणि मोक्खगदि-गमणकारणभूदाणि हवे —इति गाथान्वयः।

(ताणि दुविहप्पा वत्थुसरूवाणि भावाणि) **ते द्विविधात्मनः वस्तुस्वरूपा भावाः, अन्तरात्मा, परमात्मा चेति द्विविध आत्मा, तयोः पृथक् पृथक् वस्तुस्वरूपाः यथार्था ये भावाः परिणामाः ये भवन्ति, ते कीदृशाः ? उच्यते** (पसत्थपुण्णहेदूणि मोक्खगदिगमण-कारणभूदाणि हवे) **प्रशस्तपुण्यहेतवः, तथा मोक्षगतिगमने कारणभूताश्च ते परिणामा भवन्ति—इति गाथार्थः।**

अत्रायम्भावः— परमात्मा तु मोक्षगतिं प्राप्त एव भवति, अतः परमात्मभावो न मोक्षकारणम्। वस्तुतः अन्तरात्मनः ध्येयरूपेण परमात्मा यदा तिष्ठति, तदा निर्मोहशुद्धात्मसंवित्तिः यद्वा निश्चय-रत्नत्रयस्थितिः, यद्वा वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपस्थितिः भवति, सैव शुद्धोपयोगसंज्ञयाऽभिधीयते। सा साक्षात् मोक्षकारणम्, तदधस्तना स्थितिः, यत्र शुद्धात्मानुराग-युक्तप्रशस्तशुभचर्या प्रवर्तते, तत्र सम्यक्त्वपूर्वकः शुद्धात्मभावनासहकारिभूतः शुभोपयोगो मुख्यतो पुण्य-बन्धकारणं भवति, परम्परया निर्वाणस्यापि।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— द्विविधात्मनः ते वस्तुस्वरूपाः भावाः प्रशस्तपुण्यहेतवः मोक्षगदि-गमनकारणभूताः भवन्ति —यह गाथा का अन्वय है।

(ते द्विविधात्मनः वस्तुस्वरूपाः भावाः) वे द्विविध आत्मा के वस्तुस्वरूप भाव, अन्तरात्मा व परमात्मा —इन दो भेदों वाली आत्मा है, उनका पृथक्-पृथक् वस्तुस्वरूप यानी यथार्थ जो भाव यानी परिणाम होते हैं, वे कैसे होते हैं? बता रहे हैं— **(प्रशस्तपुण्यहेतवः मोक्षगतिगमन-कारणभूताः भवन्ति)** प्रशस्त पुण्य के हेतु और मोक्षगति में जाने के कारणभूत वे परिणाम होते हैं —यह गाथा का अर्थ है।

तात्पर्य यह है— परमात्मा तो मोक्षगति को प्राप्त हो चुके होते हैं, इसलिए परमात्म-भाव मोक्ष का कारण नहीं है। वस्तुतः अन्तरात्मा का जब ध्येय परमात्मा होता है, तब निर्मोह शुद्धात्म-संवेदन, या निश्चयरत्नत्रय की स्थिति या वीतराग धर्मध्यान या शुक्लध्यान के स्वरूप की स्थिति जो बनती है, वही 'शुद्धोपयोग' की संज्ञा से अभिहित होती है। वह स्थिति साक्षात् मोक्ष की कारण है, और उससे नीचे की स्थिति, जब शुद्धात्मा के प्रति अनुराग से युक्त प्रशस्त शुभचर्या प्रवृत्त होती है, वहाँ सम्यक्त्वसहित और शुद्धात्म-भावना का सहकारी जो शुभोपयोग होता है, वह मुख्यतया पुण्य-बन्ध का कारण होता है और परम्परया निर्वाण का भी कारण होता है।

प्रोक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (२/६४, ८९)—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि।।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावत्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये।।

प्रवचनसारग्रन्थस्य (गाथा-२/३८) **तात्पर्यवृत्तौ च निरूपितम्—** ''याऽन्तरावस्था सा मिथ्यात्व-रागादिरहितत्वेन शुद्धा..........यावतांशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च, तावतांशेन मोक्षकारणं भवति.....।''

बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य (गाथा-३४) **टीकायामुक्तम्—** ''एकदेशेन निरावरणत्वेन क्षायोपशमिक-ज्ञानलक्षणम् एकदेशव्यक्तिरूपं.....शुद्धोपयोगस्वरूपं मुक्तिकारणं भवति।''

प्रवचनसार ग्रन्थ (2/64, 89) में कहा भी गया है—

''यदि जीव का उपयोग शुभ होता है तो पुण्य कर्म का संचय (बन्ध) प्राप्त होता है और अशुभ होता है तो पाप कर्म का संचय प्राप्त होता है। उन शुभ-अशुभ उपयोगों के अभाव में कर्मों का चय-संग्रह (बन्ध) नहीं होता।''

''निज शुद्धात्म-द्रव्य से अन्य (बहिर्भूत) शुभाशुभ पदार्थों में जो शुभ परिणाम है, उसे पुण्य और जो अशुभ परिणाम है, उसे पाप कहा जाता है। तथा अन्य पदार्थों से हटकर निज शुद्धात्म-द्रव्य में जो परिणाम होता है, उसे आगम में दुःख-क्षय का कारण कहा गया है, ऐसा परिणाम 'शुद्ध' कहा जाता है।''

प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-2/38) की तात्पर्यवृत्ति में कहा गया है— ''जो अन्तरावस्था है, वह मिथ्यात्व व राग आदि से रहित होने से शुद्ध होती है...........जितने अंश में वह निरावरण राग आदि से रहित होने के कारण शुद्ध है, उतने अंश में मोक्ष का कारण होती है............।''

बृहद् द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-34) की टीका में कहा गया है— ''एकदेश निरावरण होने से क्षायोपशमिक ज्ञान रूप लक्षण युक्त, एकदेश प्रकट रूप,......शुद्धोपयोग का स्वरूप मुक्ति का कारण होता है।''

''.....यद्यपि पूर्वोक्तं शुद्धोपयोगलक्षणं क्षायोपशमिकं ज्ञानं मुक्तिकारणं भवति, तथाऽपि ध्यातृपुरुषेण यदेव नित्यसकलनिरावरणम् अखण्डैक-सकलविमलकेवलज्ञानलक्षणं परमात्मस्वरूपं तदेवाहं, न च खण्डज्ञानरूप —इति भावनीयम्।'' **किञ्च, तीर्थंकरत्वादिकं प्रशस्तपुण्यफलरूपं भवति, तत् मोक्षस्य साधकमपि भवति —इत्येवं प्रकारेणापि गाथार्थः संगमनीयः।**

इत्येवं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! सविकल्पसरागचारित्रे स्थितः तादृशं पुण्यार्जनं कुरु, येन परम्परया मोक्षः प्राप्येत —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

द्रव्यगुणपर्यायसहितमात्मतत्त्वं विज्ञाय मोक्षप्राप्तिर्भवतीति शास्त्रकाराः उग्गाहाछन्दसा प्ररूपयन्ति—

दव्वगुणपज्जएहिं जाणदि परसगसमयादिविभेदं।
अप्पाणं जाणदि सो सिवगदिपहणायगो होदि।।१३९।।

छाया— द्रव्यगुणपर्यायैः जानाति परस्वकसमयादिविभेदम्।
आत्मानं जानाति सः शिवगतिपथनायको भवति।।

''.....यद्यपि पूर्वोक्त शुद्धोपयोग लक्षणयुक्त क्षायोपशमिक ज्ञान मुक्ति का कारण होता है तो भी ध्याता पुरुष के द्वारा नित्य, सकल, निरावरण, अखण्ड एक, सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान जिसका लक्षण है, ऐसा जो परमात्मस्वरूप है, वही मैं हूँ, खण्ड ज्ञान रूप नहीं' ऐसी वहाँ भावना करणीय होती है।'' और, तीर्थकरत्व आदि जो प्रशस्त पुण्य के फल हैं, वे साक्षात् मोक्ष के कारण भी होते हैं —इस प्रकार से भी गाथा के अर्थ की संगति बैठानी चाहिए।

इस प्रकार, अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! सविकल्प सराग चारित्र में स्थित वैसा पुण्यार्जन करो, जिससे परम्परया मोक्ष की स्थिति प्राप्त हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

द्रव्य, गुण व पर्याय सहित आत्म-तत्त्व को जानकर मोक्ष की प्राप्ति होती है— इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो द्रव्य, गुण व पर्यायों के साथ तथा पर समय व स्वसमय —इन भेदों के साथ आत्मा को जानता है, वह (ही) शिव (मोक्ष) गति के मार्ग का नायक (अग्रणी) होता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः स्फुट एव। (सिवगदिपहणायगो होदि) **शिवगतिः मोक्षगतिः, तस्य यः पन्थाः, मार्गः, तस्य नायकः, अग्रेसरो भवति। कः सः ? उच्यते** (अप्पाणं जाणदि) **यो जीवः आत्मानं जानाति, आत्मानात्मविवेकसहितः, देहात्मभेदज्ञानी वेत्यर्थः। कीदृशमात्मानं कया रीत्या जानाति ?** (दव्वगुणपज्जएहिं परसगसमयादिविभेदं जाणदि) **द्रव्य-गुण-पर्यायैः सहितम्, तथैव स्वसमय-परसमयादिभेदयुक्तं च निजात्मानं यः सम्यग्जानाति। एतादृशः स आत्मज्ञानी तद्भेदज्ञानबलेन, तदनुरूपाचरणेन च मोक्षपथनायकः, संसारमुक्तो वा भवितुमर्हतीति गाथार्थः।**

अयम्भावः— आत्मनश्चैतन्यगुणः, एतदाधारेण स आत्मा अचेतनेभ्यः पौद्गलिकेभ्यो देहादिभ्यो भिन्नः, पूर्णतया पृथक् वर्तते, तथाऽस्यैव आत्मनो बहिरात्मा, अन्तरात्मा परमात्मा वेति पर्याया एव, न चात्मनः पृथक् कश्चित् परमात्मा भवतीत्यादिकरूपेण यज्ज्ञानम्, तदेवात्र द्रव्य-गुणपर्यायसहितमात्मज्ञानं विज्ञेयम्।

एतद्दृष्ट्यैव प्रवचनसारग्रन्थे (१/८०) **प्रोक्तम्—**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय स्पष्ट ही है। **(शिवगतिपथनायको भवति)** शिव गति यानी मोक्ष गति, उसका जो पथ यानी मार्ग, उसका नायक यानी अग्रणी होता है। वह कौन है ? बता रहे हैं— **(आत्मानं जानाति)** जो जीव आत्मा को जानता है, अर्थात् वह आत्मा व अनात्मा के भेदयुक्त ज्ञान से सहित, अर्थात् देहात्मभेदज्ञानी होता है। किस रूप में और किस प्रकार से जानता है ? **(द्रव्यगुणपर्यायैः पर-स्वकसमयादिविभेदं जानाति)** द्रव्य, गुण व पर्यायों के साथ तथा स्वसमय व परसमय आदि भेदों सहित निज आत्मतत्त्व को जो सम्यक्तया जानता है। ऐसा वह आत्मज्ञानी उस भेदज्ञान के बल पर, और तदनुरूप आचरण के द्वारा मोक्ष-मार्ग का नायक या संसार-मुक्त हो सकता है —यह गाथा का अर्थ है।

तात्पर्य यह है— आत्मा का गुण 'चैतन्य' है, इसके आधार पर वह आत्मा (अन्य) अचेतन देह आदि पौद्गलिक पदार्थों से भिन्न व पूर्णतः पृथक् रहता है, और इसी आत्म-तत्त्व के बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —ये पर्यायें ही हैं, आत्मा से पृथक् कोई परमात्मा (नाम का स्वतन्त्र) नहीं होता —इत्यादि रूप से जो ज्ञान है, उसे ही यहाँ द्रव्यगुणपर्यायसहित ज्ञान जानना चाहिए।

इसी दृष्टि से प्रवचनसार ग्रन्थ (1/80) में यह कहा गया है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं।।

तथैव तस्यात्मनः समयसारे स्वसमय-परसमयेतिभेदद्वयं यत् प्रतिपादितं तस्यापि सम्यगवबोधोऽत्र समपेक्षितः। समयसारग्रन्थे (गाथा-२) **प्रोक्तम्—**

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं।।

अत्रैव तात्पर्यवृत्तौ विशदीकृतम्— ''विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद् रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं, तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमिति.....स्वसमयं जानीहि।........पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशाः व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात् तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहि इति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यम्।''

''जो जीव द्रव्य, गुण व पर्यायों के द्वारा अरहन्त भगवान् को जानता है, निश्चय से उसी का मोह विनाश को प्राप्त होता है।''

उसी तरह, उसी आत्मतत्त्व के स्वसमय व परसमय —ये दो भेद समयसार ग्रन्थ (गाथा-2) में प्रतिपादित किये गये हैं, उनका भी सम्यग्ज्ञान यहाँ अपेक्षित है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-2) में यह कहा गया है—

''जो जीवात्मा दर्शन, ज्ञान व चारित्र में स्थित है, निश्चय से उसे स्वसमय जानो और जो पुद्गल कर्म के प्रदेश में स्थित है, उसे 'परसमय' जानो।''

यहीं (गाथा-2) तात्पर्यवृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— ''विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावी निज परमात्मा में रुचि रूप जो सम्यग्दर्शन है, वहीं (निज परमात्मा में) रागादि रहित स्वसंवेदन रूप ज्ञान है, उसी तरह (वहीं, परमात्मा में) निश्चल अनुभूति रूप वीतराग चारित्र है...उसे 'स्वसमय' जानो।....पुद्गल कर्मोदय से उत्पन्न जो नारक आदि कही जाने वाली संज्ञाएँ हैं, वे पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय के अभाव के कारण, वहाँ जब आत्मा स्थित होती है, तब उस जीवात्मा को 'परसमय' जानो —ऐसा स्वसमय व परसमय का लक्षण जानना चाहिए।''

वस्तुतोऽत्र गाथायां (सं. १३९) **शास्त्रकारेण यदुक्तम्, तत्सर्वं पूर्वोक्तमेव, प्रकारान्तरेणात्र भणितम्। यथाऽमुत्र ग्रन्थे** (गाथा-७६, ८३-८४, ८९, १२५) **प्रागुक्तम्—**

पुव्वं जो पंचिंदिय तणु-मण-वचि-हत्थ-पाय-मुंडाओ।
पच्छा सिर मुंडाओ, सिवगदिपहणायगो होदि।।

कम्मं ण खवेदि जो परब्रह्म ण जाणदि सम्मउम्मुक्को।
अत्थ ण तत्थ ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करेदि।।

अप्पाणं पि ण पेच्छदि ण मुणदि ण वि सद्दहदि ण भावेदि।
बहुदुक्खभारमूलं लिंगं घेत्तूण किं करेदि।।

णाणब्भासविहीणो सपरं तच्चं ण जाणदे किं पि।
झाणं तस्स ण होदि हु, ताव ण कम्मं खवेदि ण हु मोक्खं।।

वस्तुतः इस (139) गाथा में शास्त्रकार ने जो कहा है, वह सब पूर्व में कहा ही जा चुका है, यहाँ उसे अन्य प्रकार से कहा गया है। जैसे, इसी ग्रन्थ (गाथा-76, 83-84, 89, 125) में पहले कहा गया है—

''जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, हाथ व पैरों को मूंडता है (वश में करता है) और बाद में सिर मुंडाता है (केशलुंचन करके मुनि-दीक्षा लेता है), वह मोक्षमार्ग का नेता होता है।''

''जो परब्रह्म (परमात्मा) को नहीं जानता और सम्यक्त्व से रहित है, वह कर्मों का नाश नहीं करता है। ऐसा जीव न यहाँ का है और न वहाँ का है। वह लिंग (बाह्य वेश) को धारण करके क्या (लाभ) करता है?''

''जो साधु अपनी आत्मा को भी नहीं देखता है, न उसका मनन करता है, न ही श्रद्धान करता है, न भावना करता है तो वह अत्यन्त दुःख-भार के कारण स्वरूप बाह्य वेश को धारण करके भी क्या करता है? (कुछ लाभ प्राप्त नहीं करता)''

''ज्ञानाभ्यास के बिना स्व-पर की पहचान नहीं होती। स्व-पर की पहचान के बिना ध्यान नहीं होता। ध्यान के बिना कर्मों का नाश नहीं होता। कर्मों का नाश किये बिना मोक्ष नहीं होता।''

विसयविरत्तो मुंचदि, विसयासत्तो ण मुंचदे जोई।
बहिरंतरपरमप्पाभेयं जाणाहि किं बहुणा।।

इत्येवमात्मस्वरूपं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! अन्तरात्मतां स्वसमयस्थितिं वा समाश्रित्य मोक्षगतिनायको भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'सिविणे वि ण भुंजदि' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'दव्वगुणपज्जयेहिं' **इत्यादिकां गाथां यावत् सप्तगाथात्मकः चतुर्दशोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां चतुर्दशोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति चतुर्दशोऽधिकारः।।

''विषयों से विरक्त योगी कर्मों से छूटता है, विषयों में आसक्त नहीं छूटता। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा —इन तीन भेदों (के स्वरूप) को जानो। अधिक कहने से लाभ क्या?''

इस प्रकार, आत्म-स्वरूप को अच्छी तरह समझकर हे भव्य! अन्तरात्मा या स्वसमय की स्थिति का आश्रय लेकर मोक्षगति के नायक बनो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'सिविणे वि ण भुंजदि'** इत्यादि गाथा से लेकर **'दव्वगुणपज्जयेहिं'** इत्यादि गाथा तक, सात गाथाओं वाला —यह चौदहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में चौदहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति चतुर्दशोऽधिकारः।।

।। पण्णरससो अहियारो ।।

(पञ्चदशोऽधिकारः)

सम्प्रति स्वपरसमयादिप्ररूपकः पञ्चदशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्याधिकारस्य पातनिका निर्दिश्यते। अत्र 'बहिरंतरप्पभेदं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १४०) **समारभ्य** 'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १४१) **यावत् द्वे गाथे भवतः। तत्र प्रथमं** 'बहिरंतरप्पभेदं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४०) **वर्तते, यस्या स्वसमयः परमात्मैवेति निर्दिष्टम्। ततश्च** 'मिस्सो त्ति बहिरप्पा' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४१) **वर्तते, यत्र गुणस्थानानुसारं त्रिविधात्मनः स्वरूपं निर्वर्णितम्। एवं समुदायपातनिकाऽस्याधिकारस्य ज्ञातव्या।**

अथ, स्वसमयः परमात्मैवेति शास्त्रकाराः उग्गाहाछन्दोमाध्यमेन विशदयन्ति—

।। पन्द्रहवाँ अधिकार ।।

अब, स्वपरसमय आदि की प्ररूपणा करने वाला पन्द्रहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बताई जा रही है। इसमें **'बहिरंतरप्पभेदं'** इत्यादि गाथा (सं. 140) से लेकर **'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा'** इत्यादि गाथा (सं. 141) तक दो गाथाएँ हैं। इनमें प्रथम **'बहिरंतरप्पभेदं'** इत्यादि गाथा (सं. 140) है, जिसमें 'स्वसमय ही परमात्मा है' —यह बताया गया है। तदनन्तर, **'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा'** इत्यादि गाथा (सं. 141) है, जिसमें गुणस्थानानुसार त्रिविध आत्मा के स्वरूप की प्ररूपणा की गई है। इस प्रकार इस अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब, 'स्वसमय परमात्मा ही है' इसे शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं—

बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं।
परमप्पा सगसमयं, तब्भेदं जाण गुणठाणे।। १४०।।

छाया— बहिरन्तरात्मभेदः परसमयो भण्यते जिनेन्द्रैः।
परमात्मा स्वकसमयः, तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगम। आत्मनो बहिरात्मेत्यादिकाः त्रयः प्रकाराः, तेषां स्वरूपाणि च ग्रन्थकारेण प्रतिपादितानि। किन्तु तत्र के स्वसमयरूपाः, के च परसमयरूपाः इति न निर्दिष्टम्। अतः शास्त्रकारास्तदेव निर्दिशन्ति— (बहिरंतरप्पभेदं परसमयं भण्णदे जिणिंदेहिं) **बहिरात्मा, अन्तरात्मा —इति प्रभेदद्वयमात्मनो यदुक्तम्, तद्द्वयमेव परसमयरूपमिति जिनेन्द्रैः सर्वज्ञतीर्थंकरदेवैः भण्यते, तैरुपदिष्टमित्यर्थः। तथा** (परमप्पा सगसमयं) **परमात्मा स्वसमयः,** (तब्भेदं जाण गुणठाणे) **तस्य परमात्मनो भेदं गुणस्थानानुरूपं जानीहि।**

अयम्भावः— परमात्मनो द्वौ भेदौ— अर्हन्तः सिद्धाश्च। एतयोरर्हद्देवो विवक्षितैकदेश-शुद्धनिश्चयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मा। गुणस्थानानुसारेण अर्हद्देवः सकलः सशरीरः परमात्मा, सिद्धस्तु निष्कलो निःशरीरः परमात्मा विज्ञेयः।

गाथा-अर्थ— जिनेन्द्र भगवान् ने बहिरात्मा व अन्तरात्मा —इन दोनों भेदों को 'परसमय' कहा है। परमात्मा 'स्वसमय' है। इनके भेद (अन्तर) को गुणस्थानों की दृष्टि से जानें।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। आत्मा के बहिरात्मा आदि तीन प्रकार हैं, उनके स्वरूप का प्रतिपादन ग्रन्थकार कर चुके हैं। किन्तु उनमें कौन स्वसमय है और कौन परमसय, यह निर्दिष्ट नहीं किया गया है। इसलिए शास्त्रकार उसे ही यहाँ बताने जा रहे हैं— **(बहिरन्तरात्मभेदः परसमयो भण्यते जिनेन्द्रैः)** बहिरात्मा, अन्तरात्मा —ये दो भेद जो आत्मा के कहे गये हैं, वे दोनों ही 'परसमय' रूप हैं —ऐसा जिनेन्द्र सर्वज्ञ तीर्थंकर देव द्वारा कहा गया है, अर्थात् उनके द्वारा उपदिष्ट है। तथा **(परमात्मा स्वकसमयः)** परमात्मा 'स्वसमय' है। **(तद्भेदं जानीहि गुणस्थाने)** उस परमात्मा के भेद को गुणस्थान के अनुसार (भी) जानों।

भाव यह है— परमात्मा के दो भेद हैं— अर्हन्त देव और सिद्ध। इनमें अर्हन्त देव 'विवक्षित एकदेश शुद्धनिश्चय नय' से सिद्ध जैसे परमात्मा हैं और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं। गुणस्थान के अनुसार अरहन्त देव सकल-सशरीर परमात्मा हैं, किन्तु सिद्ध को निकल व निःशरीर परमात्मा जानना चाहिए।

सशरीरावस्थायामपि अर्हद्देवः गुणस्थानानुसारं (त्रयोदशगुणस्थाने) **सयोगी, तदनन्तरं च** (चतुर्दशगुणस्थाने) **अयोगी जायते। लोकाग्रस्थः सिद्धस्तु गुणस्थानातीत एव। बहिरात्मनः, अन्तरात्मनश्च गुणस्थानानां निर्देशं शास्त्रकाराः स्वयमग्रिमगाथायां** (सं. १४१) **विधास्यन्त्येव। एतेषु त्रिषु प्रकारेषु परमोपादेयः स्वसमयः परमात्मैव, अन्तरात्मावस्था बहिरात्मापेक्षया उपादेयाऽपि परमात्मप्राप्तिहेतोः हेया एव भवतीति नियमसारग्रन्थे** (गाथा-५०, ३८) **च स्वयं शास्त्रकाराः प्राहुः—**

पुव्वुत्तसयलभावा परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं अंतरतच्चं हवे अप्पा।।

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो।।

योगीन्दुकृते योगसारे (दोहा ५-६) **च भणितम्—**

जइ बीहउ चउगइगमणा तो पर-भाव चएहि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिव-सुक्ख लहेहि।।

सशरीर अवस्था में भी अर्हन्त देव गुणस्थानानुसार (तेरहवें गुणस्थान में) सयोगी, और तदनन्तर (चौदहवें गुणस्थान में) अयोगी हो जाते हैं। लोकाग्रस्थित सिद्ध की तो गुणस्थानों से अतीत अवस्था है। बहिरात्मा व अन्तरात्मा के गुणस्थानों का निर्देश स्वयं शास्त्रकार अग्रिम गाथा (सं. 141) में करेंगे। इन उक्त तीन प्रकारों में परमोपादेय तो स्वसमय रूप परमात्मा ही है। अन्तरात्मावस्था बहिरात्मा की अपेक्षा से उपादेय होती हुई भी परमात्म-प्राप्ति हेतु हेय ही होती है —ऐसा नियमसार ग्रन्थ (गाथा-50 व 38) में स्वयं शास्त्रकार ने कहा है—

''पूर्वोक्त सभी (विभावपर्याय आदि) भाव परद्रव्य व परस्वभाव हैं, अतः हेय हैं। चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वकीय द्रव्य है, इसलिए उपादेय है।''

''जीव आदि बाह्य तत्त्व छोड़ने योग्य हैं, कर्मों की उपाधि से उत्पन्न हुए गुण व पर्यायों से रहित आत्मा, आत्मा के लिए उपादेय है।''

योगीन्दु-कृत योगसार (दोहा 5-6) में कहा गया है—

''हे जीव! यदि तुम चतुर्गति के भ्रमण से भयभीत हो तो पर-भाव का त्यागकर, और निर्मल आत्मा का ध्यान कर, ताकि तुम मोक्ष-सुख को प्राप्त कर सको।''

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर जायहि अंतर सहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु।।

स च परमात्मा किंस्वरूपः इति विषये ज्ञानार्णवे (२९/८) **प्रोक्तम्—**

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च सिद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः।।

तत्रैव (२९/३६) **च कथितम्—**

अपाकृत्येति बाह्यात्मा प्रसन्नेनान्तरात्मना।
विधूतकल्पनाजालं परमात्मानमामनेत्।।

तस्य परमात्मनो ध्यानेनैव परमात्मत्वप्राप्तिस्तथा स्वत अन्तरात्मत्वं हीयते। ज्ञानार्णवग्रन्थे (२९/१०) **च निर्दिष्टम्—**

''परमात्मा, अन्तरात्मा व बहिरात्मा —इस तरह आत्मा के तीन प्रकार समझने चाहिए। हे जीव! अन्तरात्मा सहित होकर, परमात्मा का ध्यान कर और भ्रान्ति-रहित होकर बहिरात्म भाव का त्याग करो।''

वह परमात्मा किस स्वरूप वाला है— इस विषय में ज्ञानार्णव (29/8) में कहा गया है—

''जो कर्म रूप लेप से रहित, शरीर से अतिक्रान्त (अशरीर), शुद्ध, कृतकृत्य, अतिशय सुखी (अनन्तसुखमय) और विकल्प-रहित हो चुका है —ऐसे सिद्ध जीव को 'परमात्मा' कहा जाता है।''

वहीं (ज्ञानार्णव-29/36) यह भी कहा गया है—

''बाह्य आत्मा (बहिरात्मा) का निराकरण करके निर्मल अन्तरात्मा के द्वारा समस्त कल्पनाओं के समूह को नष्ट करके परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए।''

उस परमात्मा के ध्यान से ही परमात्मा-स्वरूप की प्राप्ति होती है और (तभी) स्वतः अन्तरात्मा छूट जाता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (29/10) में भी बताया गया है—

अपास्य बहिरात्मानमन्तस्तत्त्वावलम्बितः।
ध्यायेद् विशुद्धमत्यन्तपरमात्मानमव्ययम्।।

तत्रैव (२९/२४, ७६, ८२, ९९) **परामृष्टमपि—**

बाह्यात्मानपास्यैवान्तरात्मानं ततस्त्यजेत्।
प्रकाशयत्ययं योगः स्वरूपं परमेष्ठिनः।।

मुक्तिरेव मुनेस्तस्य यस्यात्मन्यचला स्थितिः।
न तस्यास्ति ध्रुवं मुक्तिर्न यस्यात्मन्यवस्थितिः।।

पृथग् दृष्ट्वात्मनः कायं कायादात्मानमात्मवित्।
ततस्त्यजति संयोगं यथा वस्त्रं घृणास्पदम्।।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम्।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना।।

''योगी बहिरात्मा स्वरूप को छोड़कर, आभ्यन्तर तत्त्व (अन्तरात्मा) का आश्रय लेकर अन्तरात्मा होता हुआ अतिशय पवित्र व अविनश्वर परमात्मा का ध्यान करे।''

वहीं (ज्ञानार्णव-29/24, 76, 82 व 99 श्लोक में) इस प्रकार परामर्श दिया गया है—

''प्रथम बाह्य आत्मा (बहिरात्मा) को छोड़कर अन्तरात्मा को भी छोड़ देना चाहिए। इस योग रूपी प्रवृत्ति से परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशन होता है।''

''जिस मुनि का आत्मा में स्थिर अवस्थान हो चुका है, उसकी कर्मबन्ध से मुक्ति निश्चित ही होने वाली है। किन्तु जिसका स्वयं में अवस्थान नहीं हुआ है, उसकी उस बन्ध से मुक्ति सम्भव नहीं होती।''

''आत्म-स्वरूप का वेत्ता (अन्तरात्मा) आत्मा से शरीर को और शरीर से आत्मा को भिन्न अनुभव करके, उसके सम्बन्ध को घृणायोग्य वस्त्र के समान छोड़ देता है।''

''आत्मा स्वभावतः अतीन्द्रिय है, वचन का अविषय (अनिर्वचनीय) है, रूप-रसादि से रहित है, विकल्पातीत (निर्विकल्प) है और चिदानन्द स्वरूप है। उसे अपने द्वारा, अपने भीतर ही ग्रहण करना चाहिए।''

समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-२८, ९७-९८) **च तथैव भणितम्—**

सोऽहमित्यात्तसंस्कारः, तस्मिन् भावनया पुनः।
तत्रैव दृढसंस्कारात् लभते ह्यात्मनि स्थितिम्।।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

इत्येवं स्वसमयं परमात्मानमुपादेयं निश्चित्य, परमात्मत्वप्राप्तिप्रकारं सम्यगवबुद्ध्य, हे भव्य! तत्प्राप्तये सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

समाधिशतकग्रन्थ (श्लोक-28, 97-98) में भी इसी तरह कहा गया है—

''उस परमात्मा में भावना करने से 'वह मैं हूँ'' (सोऽहम्) इस प्रकार जिसने संस्कार प्राप्त किया है और फिर उसका अभ्यास करने से जिसका यह संस्कार और भी दृढ़ हो गया है, ऐसा मनुष्य अपनी आत्मा (चैतन्य स्वरूप) में निश्चलता को प्राप्त होता है।''

''यह आत्मा अपने से भिन्न अर्हन्त-सिद्ध रूप शुद्धात्मा की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही शुद्धात्मा बन जाता है, जैसे दीपक से भिन्न अस्तित्व रखने वाली बत्ती दीपक की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही दीपक बन जाती है।''

''अथवा यह आत्मा अपने चैतन्य-स्वरूप की ही चिदानन्दमय रूप से आराधना करके परमात्मा बन जाता है। जिस प्रकार वृक्ष (बाँस आदि) स्वयं ही अपने आपको मथकर (घर्षण कर, रगड़ खाकर) आग बन जाता है।''

इस तरह, हे भव्य! स्वसमय रूप परमात्मा की उपादेयता को (मन में) निश्चित कर तथा परमात्मरूप की प्राप्ति के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर, उसकी प्राप्ति हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति गुणस्थानानुसारं त्रिविधात्मनः स्वरूपं शास्त्रकारा गाहा-छन्दसा निर्वर्णयन्ति—

मिस्सो त्ति बाहिरप्पा तरतमया तुरिय अंतरप्प जहण्णो।
सत्तोत्ति मज्झिमंतर खीणुत्तम परम जिणसिद्धा।।१४१।।

छाया— मिश्र इति बहिरात्मा तरतमतया तुर्ये अन्तरात्मा जघन्यः।
सप्त इति मध्यमान्तरः क्षीणे उत्तमः, परमा जिनसिद्धाः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (मिस्सो त्ति बहिरप्पा) **मिश्रः, मिश्रगुणस्थानं तृतीयं वर्तते, तद् यावत्, प्रथमगुणस्थानादारभ्य तृतीयगुणस्थानं यावदित्यर्थः, बहिरात्मा भवति, अर्थात् सम्यक्त्व-लाभात्पूर्वमेव बहिरात्मता भवति। जिनोपदिष्टात्मानात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानयोगे तु बहिरात्मता विनश्यति, अन्तरात्मता प्रारभ्यते —इत्याशयः।**

अतएव समाधिशतके (श्लोक-५) 'शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा' **तथा** 'आन्तरः चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः' **इत्युक्त्वा तयोर्विशेषः प्रतिपादितः।**

अब, गुणस्थान के अनुसार, त्रिविध आत्मा के स्वरूप को शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— मिश्र (तीसरे गुणस्थान) तक 'बहिरात्मा' होते हैं, चौथे (गुणस्थान) में 'जघन्य अन्तरात्मा' होते हैं, (इसके आगे) सात (अर्थात् पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थान) तक तरतमता के साथ 'मध्यम अन्तरात्मा' होते हैं, और क्षीण (बारहवें गुणस्थान) में उत्तम अन्तरात्मा, एवं उससे आगे (तेरहवें-चौदहवें) गुणस्थानों में जिनेन्द्र व सिद्ध परम यानी 'परमात्मा' होते हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(मिश्र इति बहिरात्मा)** मिश्र यानी तीसरा मिश्र गुणस्थान है, वहाँ तक, अर्थात् प्रथम गुणस्थान से लेकर तीसरे गुणस्थान तक, अर्थात् सम्यक्त्व लाभ से पूर्व ही बहिरात्मपना होता है। जिनेन्द्र द्वारा उपदिष्ट आत्म (जीव) व अनात्म (अजीव) तत्त्वों का श्रद्धान व ज्ञान होने पर तो बहिरात्मपना नष्ट हो जाता है और अन्तरात्मपना प्रारम्भ होता है —यह आशय है।

इसलिए समाधिशतक (श्लोक-5) में यह प्रतिपादित किया गया है कि 'बहिरात्मा वह है जिसे देहादि में आत्मविषयक भ्रान्ति (अज्ञानता) होती है' और 'अन्तरात्मा वह है जिसे चित्त-दोष व आत्मा के विषय में भ्रम दूर हो जाता है।'

चतुर्थगुणस्थानाद् (अविरतसम्यग्दृष्टिसंज्ञकाद्) **अन्तरात्मा प्रारभ्यते। ते अन्तरात्मानः चतुर्थादिगुणस्थानेषु समाना यद्वा तारतम्ययुक्ताः ? किंच कियद्गुणस्थानपर्यन्तं तेषां सद्भावः ? एतत्समाधीयते—** (तरतमतया) **ते अन्तरात्मानः तारतम्येन जघन्यमध्यमोत्तमरूपेण स्थिताः भवन्ति। कया रीत्या ? उच्यते—** (तुरिय अंतरप्पा जहण्णो) **तुर्ये चतुर्थे** (अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने) **जघन्यः अन्तरात्मा भवति। तथा तदुपरि ते कथं स्थिताः ? उच्यते—** (सत्तोत्ति मज्झिमंतर) **चतुर्थादुपरि सप्त गुणस्थानेषु, पञ्चमादारभ्य एकादशगुणस्थानं यावत्, मध्यमा अन्तरात्मानो भवन्ति। तदुपरि** (खीणुत्तम) **क्षीणकषायसंज्ञके द्वादशे गुणस्थाने उत्तमा अन्तरात्मानो भवन्ति। एवं चतुर्थादारभ्य द्वादशं गुणस्थानं यावदन्तरात्मानो भवन्ति —इतिपूर्वोक्ताशयः। तस्माद् द्वादशगुणस्थानादुपरि** (परम) **परमात्मानो भवन्ति। तेषां द्वौ भेदौ—** (जिणसिद्धा) **जिनेन्द्राः, अर्हन्तः तथा सिद्धाः। ते परमात्मानस्त्रयोदशचतुर्दशगुणस्थानयोः स्थिताः। चतुर्दश-** (अयोगि)-**गुणस्थाने, चरमसमये द्रव्यविमोक्षो भवति, ततश्च सिद्धत्वं प्राप्य आत्मानः आलोकान्ताद् ऊर्ध्वं गच्छन्ति, लोकाग्रे सिद्धशिलायां स्थिता भवन्ति।**

चतुर्थ (अविरत सम्यग्दृष्टि नामक) गुणस्थान से अन्तरात्मा का प्रारम्भ होता है। चौथे आदि गुणस्थानों में वे अन्तरात्मा समान (एक जैसे) होते हैं या तारतम्य से युक्त? और कितने गुणस्थान तक उनका सद्भाव है? इसका समाधान इस प्रकार है— **(तरतमतया)** वे अन्तरात्मा तारतम्य के साथ यानी जघन्य, मध्यम व उत्तम रूप से स्थित होते हैं। किस रीति से? बता रहे हैं— **(तुर्ये अन्तरात्मा जघन्यः)** चौथे (अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान) में जघन्य अन्तरात्मा होता है। तथा उसके आगे वे कैसे स्थित हैं? बता रहे हैं— **(सप्त इति मध्यमान्तरः)** चौथे से ऊपर सात गुणस्थानों में, अर्थात् पाँचवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक मध्यम अन्तरात्मा होते हैं। उसके ऊपर, **(क्षीणे उत्तमः)** क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती उत्तम अन्तरात्मा होते हैं —यह आशय है। इस प्रकार, चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक 'अन्तरात्मा' होते हैं—यह पूर्व कथन का तात्पर्य है। इसलिए उस बारहवें गुणस्थान से ऊपर (परमाः) परमात्मा होते हैं। उन (परमात्मा) के दो भेद हैं— **(जिनसिद्धाः)** जिनेन्द्र यानी अर्हन्त देव और सिद्ध। वे परमात्मा तेरहवें व चौदहवें गुणस्थान में स्थित होते हैं। चौदहवें (अयोगी) गुणस्थान में, उसके चरम समय में द्रव्यमोक्ष (पौद्गलिक कर्मों का पूर्णतः क्षय) हो जाता है, जिससे सिद्धत्व प्राप्त कर आत्मा लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन करती है और लोकाग्र में सिद्धशिला में स्थित हो जाती है।

उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (३९/५४-५५)—

लघुपञ्चाक्षरोच्चारकालं स्थित्वा ततः परम्।
स स्वभावाद् व्रजत्यूर्ध्वं शुद्धात्मा वीतबन्धनः।।

अवरोधविनिर्मुक्तो लोकाग्रं समये प्रभुः।
धर्माभावे ततोऽप्यूर्ध्वगमनं नानुमीयते।।

एवं गुणस्थानानुसारेण आत्मनां त्रयाणां स्थितिविषये समासेनामुत्र गाथायां प्रतिपादितम्। एतदेव बृ. द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-१४) **टीकायामपि समर्थितम्—** ''अथ त्रिधा आत्मानं गुणस्थानेषु योजयति। मिथ्यासासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्यन्यूनाधिकभेदेन बहिरात्मा ज्ञातव्यः। अविरतगुणस्थाने तद्योग्याशुभलेश्यापरिणतो जघन्यान्तरात्मा, क्षीणकषायगुणस्थाने पुनरुत्कृष्टः, अविरतक्षीणकषाययोर्मध्ये मध्यमः, सयोग्ययोगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृशः परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (39/54-55) में कहा भी गया है—

''वे परमात्मा देव चौदहवें गुणस्थान में पाँच लघु (अ, इ, उ, ऋ, लृ, —इन) पाँच अक्षरों के उच्चारण के कालप्रमाण स्थित रहते हैं और तदनन्तर वे शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होकर कर्म-बन्ध से सर्वथा मुक्त होते हुए स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करते हैं।''

''इस प्रकार, ऊर्ध्वगमन करके वे प्रभु प्रतिबन्ध से रहित होते हुए, लोक के अग्र भाग तक ही जाते हैं, उसके आगे धर्मास्तिकाय द्रव्य के बिना नहीं जा पाते हैं। लोकशिखर के आगे (अलोक में) जाने का अनुमान भी नहीं किया जा सकता।''

इस प्रकार गुणस्थानों के अनुसार आत्मा के तीनों प्रकारों की स्थिति के बारे में संक्षेप से इस गाथा में प्रतिपादन किया गया है। इसी (तथ्य) का बृहद् द्रव्यसंग्रह (गाथा-14) की (ब्रह्मदेव-कृत) संस्कृत टीका में इस प्रकार समर्थन किया गया है— ''अब त्रिविध आत्माओं को गुणस्थानों में घटित करते हैं। मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र —इन तीन गुणस्थानों में तारतम्य रूप न्यूनाधिकता के आधार से बहिरात्मा को जानना। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में उसके योग्य अशुभ लेश्या रूप परिणमित (जीव) जघन्य अन्तरात्मा हैं और क्षीणकषाय गुणस्थान में उत्कृष्ट (अन्तरात्मा), और अविरत सम्यग्दृष्टि एवं क्षीणकषाय गुणस्थान —इनके मध्यवर्ती गुणस्थानों में मध्यम अन्तरात्मा हैं। सयोगी व अयोगी (तेरहवें व चौदहवें) गुणस्थान में विवक्षित एकदेश शुद्ध नय की अपेक्षा से सिद्ध-सदृश परमात्मा हैं और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं।''

इत्येवं सिद्धत्वप्राप्तिसोपानरूपं गुणस्थानक्रमं तदुनरूपमात्मविशुद्धितारतम्यं च सम्यगव-बुद्ध्य, हे भव्य! सिद्धत्वप्राप्तिरूपमोक्षस्य मार्गे सततमग्रेसरतां विधत्स्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'बहिरंतरप्पभेदं' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा' **इत्यादिकां गाथां यावद् गाथाद्वयात्मकः पञ्चदशोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां पञ्चदशोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति पञ्चदशोऽधिकारः ।।

इस प्रकार, सिद्धत्व की प्राप्ति के सोपान रूप गुणस्थानों के क्रम को, तदनुरूप आत्मीय विशुद्धि की तरतमता को भी अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! सिद्धत्व-प्राप्ति रूप मोक्ष के मार्ग में निरन्तर अग्रसर होते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'बहिरंतरप्पभेदं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा'** इत्यादि गाथा तक, दो गाथाओं वाला —यह पन्द्रहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में पन्द्रहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति पञ्चदशोऽधिकारः ।।

।। सोलसो अहियारो।।

(षोडशोऽधिकारः)

सम्प्रति आत्मविशुद्धिकारणप्ररूपणात्मकः षोडशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे 'मूढत्तय-सल्लत्तय' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १४२) **समारभ्य** 'कालमणंतं जीवो' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १५२) **यावदेकादश गाथाः सन्ति। तत्र** 'मूढत्तय-सल्लत्तय' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४२), **एवं** 'रयणत्तय-करणत्तय' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४३), **एवं** 'जिणलिंगहरो जोई' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४४), **ततश्च** 'बहिरब्भंतरगंथविमुक्को' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४५)**— इत्येवं गाथाचतुष्टयं वर्तते, यत्र दोषक्षय-स्वात्मपरिणामविशुद्धिप्रभृतिभिः मोक्षप्राप्तिः सम्भवतीति निरूपितम्। ततः परं** 'जं जादिजरामरणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४६) **वर्तते, यत्र प्ररूपितं यद् यथार्थश्रमणः किम्भावयति, श्रृणोति, साधयति चेति। तदनन्तरं** 'किं बहुणा हो' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४७) **वर्तते, यत्र सम्यक्त्वमहत्त्वं प्रख्यापितम्। ततः परं 'पञ्चमकाले उपशमसम्यक्त्वनाशे कषायाः प्रादुर्भवन्ति' इतिप्ररूपणपरा** 'उवसम्मइ सम्मत्तं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४८) **वर्तते।**

।। सोलहवाँ अधिकार।।

अब, आत्मविशुद्धि के कारणों का निरूपण करने वाला सोलहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इसकी पातनिका बताई जा रही है। इस अधिकार में **'मूढत्तयसल्लत्तय'** इत्यादि गाथा (सं. 142) से लेकर **'कालमणंतं जीवो'** इत्यादि गाथा (सं. 152) तक ग्यारह गाथाएँ हैं। वहाँ **'मूढत्तय-सल्लत्तय'** इत्यादि गाथा (सं. 142), फिर **'रयणत्तय-करणत्तय'** इत्यादि गाथा (सं. 143), इसके आगे **'जिणलिंगहरो जोई'** इत्यादि गाथा (सं. 144) और फिर **'बहिरब्भंतरगंथविमुक्को'** इत्यादि गाथा (सं. 145), इस प्रकार चार गाथाएँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि दोष-क्षय तथा निज-आत्मपरिणामविशुद्धि आदि से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। इसके अनन्तर, **'जं जादिजरामरणं'** इत्यादि गाथा (सं. 146) है, जिसमें यह बताया गया है कि यथार्थश्रमण क्या भावना करता है, क्या सुनता है और क्या साधना करता है। इसके बाद, **'किं बहुणा हो'** इत्यादि गाथा (सं. 147) है, जिसमें सम्यक्त्व के महत्त्व को बताया गया है। इसके आगे, 'पञ्चम काल में उपशम सम्यक्त्व के नाश से कषायों का प्रादुर्भाव होता है' इसका प्रतिपादन करनेवाली **'उवसम्मइ सम्मत्तं'** इत्यादि गाथा (सं. 148) है।

तदनन्तरं श्रावकोचितक्रियानिरूपणपरा 'गुण-वय-तव-सम' **इत्यादिका गाथा** (सं. १४९) **वर्तते। ततश्च** 'णाणेण झाणसिद्धी' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५०) **वर्तते, यस्यां ज्ञानाभ्यासस्य महत्त्वं निरूपितम्। ततोऽनन्तरं** 'कुसलस्स तवो' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५१) **वर्तते, यया प्रतिपादितं यत् श्रुतभावनया तपःसंयमवैराग्यसिद्धिर्भवतीति। अन्ते च,** 'कालमणंतं जीवो' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५२) **वर्तते, यत्र मिथ्यात्वं संसारभ्रमणहेतुरूपं भवतीति निरूपितम्। एवमस्याधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

सम्प्रति दोषक्षय-स्वात्मपरिणामविशुद्ध्यादिभिः मोक्षप्राप्तिः सम्भवतीति शास्त्रकाराः गाहाचतुष्टयेन विशदयन्ति—

मूढत्तय-सल्लत्तय-दोसत्तय-दंड-गारवत्तयेहिं ।
परिमुक्को जोई सो, सिवगदिपहणायगो होदि।।१४२।।

छाया— मूढत्रय-शल्यत्रय-दोषत्रय-दण्ड-गारवत्रयैः।
परिमुक्तो योगी सः शिवगतिपथनायको भवति।।

तदनन्तर, श्रावकोचित क्रियाओं का निरूपण करने वाली '**गुण-वय-तव-सम**' इत्यादि गाथा (सं. 149) है। फिर '**णाणेण झाणसिद्धी**' इत्यादि गाथा (सं. 150) है, जिसमें ज्ञानाभ्यास का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसके अनन्तर, '**कुसलस्स तवो**' इत्यादि गाथा (सं. 151) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि श्रुतभावना से तपश्चरण, संयम व वैराग्य की सिद्धि होती है। और अन्त में, '**कालमणंतं जीवो**' इत्यादि गाथा (सं. 152) है, जिसमें मिथ्यात्व को संसार-भ्रमण का हेतु बताया गया है। इस प्रकार, इस अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब, दोष-क्षय व आत्मीय परिणामों में विशुद्धि आदि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है -इसे शास्त्रकार चार गाहा छन्दों से स्पष्ट कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो योगी तीन मूढ़ताओं, तीन शल्यों, तीन दोषों, तीन दण्डों एवं तीन गारवों से मुक्त रहता है, वह शिवगति (मोक्ष) के पथ का नायक होता है।

रयणत्तय-करणत्तय-जोगत्तय-गुत्तितय-विसुद्धेहिं ।
संजुत्तो जोई सो सिवगदिपहणायगो होदि।।१४३।।

जिणलिंगहरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी।
परमोवेक्खाइरियो सिवगदिपहणायगो होदि।।१४४।।

बहिरब्भंतरगंथविमुक्को सुद्धोपओयसंजुत्तो।
मूलुत्तरगुणपुण्णो सिवगदिपहणायगो होदि।।१४५।।

छाया— रत्नत्रयकरणत्रय-योगत्रय-गुप्तित्रय-विशुद्धिभिः।
संयुक्तो योगी सः शिवगतिपथनायको भवति।।

जिनलिङ्गधरो योगी विरागसम्यक्त्वसंयुतो ज्ञानी।
परमोपेक्षा-ईरितः शिवगतिपथनायको भवति।।

बहिरभ्यन्तरग्रन्थविमुक्तः शुद्धोपयोगसंयुक्तः।
मूलोत्तर-गुणपूर्णः शिवगतिपथनायको भवति।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सो सिवगदिपहणायगो होदि) **स जीवः शिवगतेः, मोक्षस्य यः पन्थाः, मोक्षमार्ग इत्यर्थः, तस्य नायकः, तत्र अग्रेसरो भवति। कः सः ?**

जो योगी रत्नत्रय, तीन करण, तीन योग, तीन गुप्ति, इनकी विशुद्धि से युक्त होता है, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है।

जो योगी जिन-मुद्रा का धारक है, वैराग्य व सम्यक्त्व से सम्पन्न है, ज्ञानी है, तथा परमोपेक्षाभाव को प्राप्त है, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है।

जो बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त है, शुद्धोपयोग वाला है, तथा मूल गुणों व उत्तर गुणों से परिपूर्ण है, वह शिवगति (मोक्ष) के मार्ग का नायक होता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(स शिवगतिपथनायको भवति)** वह जीव शिवगति यानी मोक्ष का जो मार्ग, अर्थात् मोक्षमार्ग, उसका नायक अर्थात् वहाँ अग्रणी होता है। वह कौन है ?

उच्यते— (जोई) **योगी अध्यात्मसाधकः, स एव शिवगतिपथनायको भवति। योगशब्दस्यानेके अर्थाः। अत्र ध्यान-समाधिवाचकः, निर्दोषक्रियाया वा वाचको ग्राह्यः, प्रकरणविशेषात्। यद्वा, जीवादितत्त्वेषु, विशेषत आत्मतत्त्वे निजात्मनः सम्यक् नियोजनं तद्ध्यानं वा योगः।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (६/१२)— ''योगः समाधिः सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थः।''

राजवार्तिकग्रन्थे (६/१/१२) **च प्रोक्तम्**— ''युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानम् —इति अनर्थान्तरम्।''

तत्रैव ग्रन्थे (६/१२/८) **च निर्दिष्टम्**— ''निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्य अनुष्ठानं योगः समाधिः, सम्यक् प्रणिधानम् —इत्यर्थः।''

नियमसारग्रन्थे (गाथा-१३९) **च भणितम्**—

विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु।
जो जुंजदि अप्पाणं णियभावो सो हवे जोगो।।

बता रहे हैं— **(योगी)** योगी, यानी अध्यात्मसाधक होता है, वही शिवगति के मार्ग का नायक होता है। योग शब्द के अनेक अर्थ हैं, यहाँ प्रकरणानुसार वह ध्यान व समाधि का वाचक, या निर्दोष क्रिया का वाचक ग्राह्य है। अथवा जीव आदि तत्त्वों में, विशेषकर आत्मतत्त्व में निज आत्मा का सम्यक् नियोजन या उसका ध्यान —यही 'योग' का यहाँ अर्थ है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (6/12) में कहा भी गया है— ''योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान —ये एकार्थवाची नाम हैं।''

राजवार्तिक ग्रन्थ (6/1/12) में भी कहा गया है— ''समाधि अर्थ की वाचक 'युज्' धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द का अर्थ समाधि व ध्यान होता है।''

वहीं (6/12/8) यह भी कहा गया है— ''निरवद्य (निष्पाप) क्रिया के अनुष्ठान को 'योग' कहते हैं। योग, समाधि व सम्यक् प्रणिधान —ये एकार्थवाचक हैं।''

नियमसार ग्रन्थ (गाथा-139) में कहा भी गया है— ''विपरीत अभिनिवेश का परित्याग करके जो जिनेन्द्र-कथित तत्त्वों में आत्मा को लगाता है, उसका निजभाव 'योग' कहलाता है।''

मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२८, ३२, ४८) **च स्पष्टीकृतम्—**

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चए वि तिविहेण।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा।।

इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं।
झायइ परमप्पाणं जह भणियं जिणवरिंदेण।।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं।।

मूलाराधनाग्रन्थस्य (गाथा-१०२०) **आचारवृत्तौ तु** 'वाग्गुप्तिर्योगः **इतिनिर्दिष्टम्। एवं गुप्तियुक्तो योगी भवतीत्यपि विज्ञेयम्। कीदृशः स योगी?**

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-28, 32, 48) में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

''मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप व पुण्य को मन, वचन व काय रूप त्रिविध योग से छोडकर, जो योगी मौन व्रत से ध्यानस्थ होता है, वही आत्मा को द्योतित करता है, प्रकाशित करता है, या आत्मा का साक्षात्कार (अनुभूति) करता है।''

''ऐसा जानकर योगी सब प्रकार से सभी तरह के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है, वैसा परमात्मा का ध्यान करता है।''

''परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी पापदायक लोभ से मुक्त हो जाता है और नवीन कर्म को ग्रहण नहीं करता —ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।''

मूलाराधना ग्रन्थ (गाथा-1020) की आचारवृत्ति (टीका) में तो 'वाणी की गुप्ति योग है' ऐसा बताया गया है। इस प्रकार गुप्ति (वाग्गुप्ति) से युक्त 'योगी' होता है —यह भी जानें। वह योगी कैसा है?

उच्यते— (मूढत्तय-सल्लत्तय-दोसत्तय-दंड-गारवत्तयेहिं परिमुक्को) **मूढत्रयेण, तिसृभिः मूढताभिः, शल्यत्रयेण, दोषत्रयेण, दण्डत्रयेण, गारवत्रयेण च मुक्तः रहितो यो भवति, स योगी शिवगतिमार्गनेता भवतीत्यर्थः। शिवगतिः सिद्धगतिः। सामान्यतः संसारिणां चतस्रो गतयो भवन्ति— नरकगतिः, तिर्यग्गतिः, मनुष्यगतिः, देवगतिश्चेति। सिद्धगतिस्तु पञ्चमी भण्यते।**

उक्तं च धवलाग्रन्थे (पु. ७, खण्ड-२, भाग-११, सूत्र-१, पृ. ५२०)— ''णिरयगई तिरिक्खगई मणुसगई देवगई चेदि चउव्विहा। अहवा सिद्धगईए सह पंचविहा।''

अत्र लोकमूढता, देवमूढता, समयमूढता (पाखण्डिमूढता वा) **—इति तिस्रो मूढताः। माया, मिथ्यात्वं, निदानमिति त्रीणि शल्यानि। मनःकृतः, वाक्कृतः, कायकृतः इति त्रयो दोषाः। यद्वा कृत-कारित-अनुमोदितेतिभेदेन, यद्वा आरम्भ-संरम्भ-समारम्भेतिभेदेन त्रयो दोषा विज्ञेयाः। मिथ्याप्रशंसार्थं यत् क्रियते तद् गारवम्। तच्च शब्दगारवम्, ऋद्धिगारवम्, सातगारवमिति त्रिविधमस्ति।**

बता रहे हैं— **(मूढ़त्रय-शल्यत्रय-दोषत्रय-दण्ड-गारवत्रयैः परिमुक्तः)** मूढ़त्रय यानी तीन मूढ़ताओं से, तीन शल्यों से, तीन दोषों से, तीन दण्डों से व तीन गारवों से जो मुक्त यानी रहित होता है, वह योगी शिवगति के मार्ग का नेता होता है —यह अर्थ है। शिवगति यानी सिद्ध गति। सामान्यतया संसारी जीवों की चार गतियाँ होती हैं— नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति व देवगति, किन्तु पाँचवीं गति सिद्धगति कही गई है।

धवला ग्रन्थ (पु. 7, खण्ड-2, भाग-11, सूत्र-1, पृ. 520) में कहा गया है— ''नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति व देवगति —ये चार प्रकार की गतियाँ होती हैं। अथवा सिद्धगति को मिलाकर ये गतियाँ पाँच प्रकार की (भी) हैं।''

यहाँ लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता व समयमूढ़ता (या पाखण्डिमूढ़ता) —ये तीन मूढ़ताएँ हैं। माया, मिथ्यात्व व निदान —ये तीन शल्य हैं। मनःकृत, वाणीकृत व कायकृत —ये तीन दोष हैं। अथवा कृत, कारित व अनुमोदित —इन भेदों से, या आरम्भ, संरम्भ व समारम्भ —इन भेदों से तीन दोष होते हैं —यह ज्ञातव्य है। अपनी मिथ्या प्रशंसा के लिए जो किया जाता है, वह 'गारव' होता है। वह तीन प्रकार का है— शब्दगारव, ऋद्धिगारव व सातगारव।

तत्र वर्णोच्चारणभाषणादिसम्बन्धी गर्वः शब्दगारवम्। शिष्यपुस्तकादिभिरात्मोद्भावनं तु ऋद्धिगारवम्। भोजनपानादिसमुत्पन्नसौख्यलीलामदादिकं सातगारवम्। दण्डश्च सावद्यानुष्ठान-रूपः। स च त्रिविधः, मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोहविकल्पात् मानसो दण्डः त्रिविधः। अनृतोपघातपैशून्यपरुषाभिशंसनपरितापहिंसनभेदात् वाग्दण्डः सप्तविधः। प्राणिवधचौर्यमैथुन-परिग्रहारम्भताडनोग्रवेशविकल्पात् कायदण्डोऽपि सप्तविधः। मूढता-शल्य-गारवादिविषये प्राक् (गाथा-५, ७, ५८-५९) **व्याख्याने च निरूपितमतो न विस्तरभयादधिकमत्र वितन्यते।**

सम्प्रति द्वितीया गाथा (सं. १४३) **व्याख्यायते।** (जोई सो सिवगतिपहणायगो होदि) **स योगी शिवगतिमार्गस्य नायकः अग्रणीः भवति। कीदृशो योगी? उच्यते—** (रयणत्तय-करणत्तयजोगत्तय-गुत्तितयविसुद्धेहि संजुत्तो) **रत्नत्रयस्य, करणत्रयस्य, योगत्रयस्य, गुप्तित्रयस्य च विशुद्ध्या संयुक्त एतादृशो यो योगी भवति, स मोक्षमार्गाग्रणीः विज्ञेय इतिगाथार्थः।**

इनमें वर्णोच्चारण, भाषण आदि से सम्बन्धित गर्व शब्दगारव है। शिष्य, पुस्तक आदि द्वारा आत्मा (स्वयं) का उद्भावन (उच्चता का गर्व) —यह ऋद्धिगारव है। भोजन, पान, आदि से उत्पन्न होने वाले सुख से मद-मस्त होना सातगारव है। 'दण्ड' सावद्य अनुष्ठान रूप होता है। वह तीन प्रकार का है— मनोदण्ड, वाग्दण्ड व कायदण्ड। मनोदण्ड भी राग, द्वेष व मोह के भेद से तीन प्रकार का है। झूठ बोलना, वचन से किसी के ज्ञान का घात करना, चुगली करना, कठोर वचन कहना, अपनी प्रशंसा करना, संताप उत्पन्न करने वाला वचन बोलना, हिंसा के वचन कहना —यह सात प्रकार का वचन-दण्ड होता है। प्राणियों का वध करना, चोरी करना, मैथुन, परिग्रह रखना, आरम्भ करना, ताड़न करना और उग्रवेष धारण करना —इस तरह कायदण्ड भी सात प्रकार का होता है। मूढ़ता, शल्य व गारव आदि के विषय में पहले (गाथा-5, 7 व 58-59 के) व्याख्यान में भी निरूपण किया गया है, इसलिए विस्तार के भय से यहाँ अधिक नहीं कहा जा रहा है।

अब, दूसरी गाथा (सं. 143) की व्याख्या की जा रही है। **(योगी स शिवगतिपथनायकः भवति)** वह योगी शिवगतिमार्ग का नायक यानी अग्रणी होता है। कैसा योगी? बता रहे हैं— **(रत्नत्रय-करणत्रय-योगत्रय-गुप्तित्रयविशुद्धिभिः संयुक्तः)** तीन (सम्यग्दर्शन आदि) रत्न, तीन करण, तीन योग व तीन गुप्ति —इनकी विशुद्धि से युक्त, ऐसा जो योगी होता है, उसे मोक्षमार्ग का अग्रणी जानना चाहिए, यह गाथा का अर्थ है।

अत्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रेतिसंज्ञकानि त्रीणि रत्नानि। मनोवचनकाय-व्यापाररूपाणि त्रीणि करणानि। मनोवचनकायनिमित्तेन जायमाना आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपाः त्रयो योगाः। सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः। मनोगुप्तिः, वाग्गुप्तिः, कायगुप्तिरिति तिस्रो गुप्तयः। एतेषां रत्नत्रयादीनां या विशुद्धिः, उत्कृष्टता, तया संयुक्तो योगी शिवगतिपथनायको भवतीति विज्ञेयम्। करणयोगयोः को विशेषः ? उच्यते— यदा मनोवाक्कायव्यापारः शुभे संयुक्तो भवति, तदा तस्य योगसंज्ञा, यदा अशुभे संयुक्तो भवति, तदा करणसंज्ञा भवति।

उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-१०२०)— तिण्हं सुहसंजोगो जोगो, करणं च असुहसंजोगो।

तत्रैव आचार्यवसुनन्दिस्वामिकृतायामाचारवृत्तौ विशदीकृतम्— ''शुभेन संयोगः शुभसंयोगः, पापक्रियापरिहारपूर्वकशुभकर्मादाननिमित्तव्यापारः, सर्वकर्मक्षयनिमित्त-वाग्गुप्तिर्योग इत्युच्यते।......करणं क्रिया परिणामो वा, तेषां मनोवाक्कायानां योऽयमशुभेन संयोगः, तत्करणं पापक्रियापरिणामः, पापादाननिमित्त-व्यापारव्याहारौ च करणमित्युच्यते।''

यहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र —इन नाम वाले तीन रत्न हैं। मन, वचन व शरीर के व्यापार ही तीन करण हैं। मन, वचन व शरीर के निमित्त से होने वाले आत्म-परिस्पन्द रूप तीन योग हैं। समीचीन रूप से 'योग' का निग्रह गुप्ति है। मनोगुप्ति, वाग्गुप्ति व कायगुप्ति —ये तीन गुप्तियाँ हैं। इन तीन रत्नों आदि की विशुद्धि या उत्कृष्टता से युक्त योगी शिवपथ का नायक होता है —यह ज्ञातव्य है। करण व योग में भेद क्या है ? बता रहे हैं— जब मन, वचन व काय का व्यापार शुभ से जुड़ा होता है, तब उसकी 'योग' संज्ञा होती है और जब अशुभ से जुड़ा होता है, तब उसकी करण संज्ञा होती है।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1020) में कहा गया है— ''तीनों (मन, वचन व शरीर) का शुभ से संयोग 'योग' होता है और अशुभ से संयोग 'करण' होता है।''

वहीं आचार्य वसुनन्दि स्वामी द्वारा विरचित 'आचारवृत्ति' (टीका) में इसे स्पष्ट किया गया है— ''शुभसंयोग यानी शुभ से संयोग, अर्थात् पाप-क्रियाओं का परिहार करते हुए शुभ कर्मों के आदान के लिए जो व्यापार है, वह योग है, अथवा समस्त कर्मों के क्षय का हेतु वचन-गुप्ति का नाम 'योग' है, क्रिया का नाम करण है। इन मन, वचन व शरीर का जो अशुभ क्रिया या परिणाम के साथ संयोग है, वह 'करण' है, जो पापक्रिया परिणाम रूप होता है, अथवा पाप कर्म के ग्रहण का निमित्तभूत जो व्यापार और वचन है, वह 'करण' है।''

रत्नत्रयादियुक्ताः, परमपदप्राप्तिसमर्थाः इति मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा ४३-४४) **च प्रतिपादितं दृश्यते—**

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई।।

अथ तृतीया गाथा (सं. १४४) **व्याख्यायते—** (सिवगदिपहणायगो होदि) **शिवगतिपथनायको मोक्षमार्गाग्रणीः स भवति। स कः ? उच्यते—** (जिणलिंगहरो जोई) **जिनलिङ्गं जिनमुद्रां (निर्ग्रन्थवेशं) धारयति यः स योगी मोक्षमार्गाग्रणीर्भवति। स कीदृशः ? उच्यते—** (विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी) **विराग-सम्यक्त्वसंयुतः ज्ञानी च भवति। वैराग्येण, सम्यक्त्वेन च संयुक्तः सम्यग्ज्ञानी अपि भवति। तथा** (परमोवेक्खा-इरियो) **परमोपेक्षासंयममीरितः प्राप्तश्च भवति।**

रत्नत्रय आदि से युक्त प्राणी परमपद को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं —ऐसा मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 43-44) में भी प्रतिपादित किया गया है—

''रत्नत्रय को धारण करने वाला मुनि शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है, वह परम पद को प्राप्त करता है।''

''तीन (करण) के द्वारा, तीन (योगों) को धारण कर, तीन (शल्यों) से रहित, तीन (रत्नों) से सहित और दो (राग व द्वेष) से युक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।''

अब तीसरी गाथा (सं. 144) की व्याख्या की जा रही है— **(शिवगतिपथनायको भवति)** शिवगति के पथ का नायक अर्थात् मोक्षमार्ग का अग्रणी वह होता है। वह कौन है ? बता रहे हैं— **(जिनलिङ्गधरो योगी)** जिनलिङ्ग यानी जिन-मुद्रा (निर्ग्रन्थ वेश) को जो धारण करता है, वह योगी मोक्षमार्ग का अग्रणी होता है। वह कैसा होता है ? बता रहे हैं— **(विराग-सम्यक्त्वसंयुतो ज्ञानी)** विराग (वैराग्य, वीतरागता) व सम्यक्त्व से संयुक्त और ज्ञानी होता है, अर्थात् वह वैराग्य एवं सम्यक्त्व से युक्त होकर सम्यग्ज्ञानी भी होता है। और **(परमोपेक्षा-ईरितः)** परम उपेक्षा संयम (की स्थिति) को प्राप्त हो चुका होता है।

अयम्भावः संयमस्य सप्तदश भेदाः, तेषु उपेक्षासंयमोऽपि भवति। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा ४१६-४१७)—

पुढविदगतेउवाऊवणप्फदीसंजमो य बोधव्वो।
विगतिगचदुपंचेंदिय अजीवकायेसु संजमणं।।

अप्पडिलेहं दुप्पडिलेहमुवेखुअवहट्टु संजमो चेव।
मणवयणकायसंजम सत्तरसविहो दु णादव्वो।।

उपेक्षासंयमस्य स्वरूपविषये तत्र आचारवृत्तिटीकायां विशदीकृतम्— ''उपकरणादिकं व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेण अपि अदर्शनं जीवसम्मूर्च्छनादिकं दृष्ट्वा उपेक्षणं, तस्या उपेक्षायाः संयमनं दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासंयमः।'' **यद्वा संयमो द्विविधः— उपेक्षासंयमः अपहृतसंयमश्च। राजवार्तिकग्रन्थे** (९/६/१५) **च उपेक्षासंयमस्य स्वरूपं निरूपितम्—** ''देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्सृष्टकायस्य त्रिधा गुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वङ्गलक्षण उपेक्षासंयमः।''

भाव यह है— संयम के सत्रह भेद होते हैं, उनमें एक 'उपेक्षा संयम' भी है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 416-417) में बताया भी गया है—

''पृथिवी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति —इनका संयम जानना चाहिए। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय व अजीवकायों का संयम करना चाहिए।'' (पाँच स्थावरकाय, चार त्रसकाय और एक अजीवकाय, इन दस की रक्षा से जुड़ा यह दस प्रकार का संयम हुआ।)

''अप्रतिलेख, दुष्प्रतिलेख, उपेक्षा, अपहरण —इन (चार) में संयम करना, तथा मन-वचन-काय —इन (तीन प्रकार) का संयम (इस प्रकार सत्रह प्रकार का) जानना चाहिए।''

उपेक्षासंयम के स्वरूप के बारे में वहीं आचारवृत्ति टीका में स्पष्ट किया गया है— ''उपकरण आदि को किसी जगह में स्थापित करके पुनः कालान्तर में भी उन्हें नहीं देखना या उनमें सम्मूर्च्छन आदि जीवों को देख कर उपेक्षा कर देना —यह सब 'उपेक्षा' नाम का असंयम होता है, किन्तु इस उपेक्षा का संयम करके प्रतिदिन उन वस्तुओं का निरीक्षण करना, पिच्छिका से उनका परिमार्जन करना 'उपेक्षा संयम' है।'' अथवा संयम के दो भेद हैं— उपेक्षा संयम ओर अपहृत संयम। राजवार्तिक ग्रन्थ (9/6/15) में उपेक्षा संयम का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है— ''देश व काल के विधान को समझने वाले स्वाभाविक रूप से शरीर से विरक्त और तीन गुप्तियों के धारक व्यक्ति के राग व द्वेष रूप चित्तवृत्ति का न होना 'उपेक्षासंयम' होता है।''

नियमसारग्रन्थस्य (गाथा-६४) **तात्पर्यवृत्तौ च भणितम्—** ''अपहृतसंयमिनां संयमज्ञानाद्युपकरणग्रहणविसर्गसमयसमुद्भवसमितिप्रकारोक्तिरियम्। उपेक्षासंयमिनां न पुस्तककमण्डलुप्रभृतयः, अतस्ते परमजिनमुनयः एकान्ततो निःस्पृहाः, अत एव बाह्योपकरणनिर्मुक्ताः।

उपेक्षासंयमो वीतरागचारित्ररूपः शुद्धोपयोगिनां भवति —इति परमात्मप्रकाशग्रन्थस्य (दोहा २/६७) **टीकायामुक्तम्—** ''अथवोपेक्षासंयमापहृतसंयमौ वीतरागसरागापरनामानौ, तावपि तेषामेव संभवतः।'' **परमोपेक्षासंयमः, शुद्धोपयोगः, शुद्धात्मसंवेदनं वीतरागचारित्रमिति पर्यायाः इति प्रवचनसारग्रन्थस्य** (३/३०/२० प्रक्षिप्त) **तात्पर्यवृत्तौ अन्यत्र च निर्दिष्टम्।**

'जिनलिङ्गधरः' **इतिविशेषणेन दिगम्बरमुद्रायाः तथा अन्यान्यपि वैशिष्ट्यानि सूचितानि। स्वयं शास्त्रकाराः सूत्रप्राभृते** (गाथा-२३, १८) **दिगम्बरमुद्रैव श्रमणस्य भवति, नेतरेति प्रत्यपीपदन्—**

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।

नियमसार ग्रन्थ (गाथा-64) की तात्पर्यवृत्ति में भी कहा गया है— ''यह अपहृत-संयमधारियों को संयम व ज्ञान आदि के उपकरण लेते या रखते समय की जाने वाली समिति का प्रकार कहा है। उपेक्षासंयमधारियों को पुस्तक, कमण्डलु आदि नहीं होते वे (तो) परम जिनमुनि एकान्तवासी व निःस्पृह होते हैं, इसीलिए वे बाह्य उपकरणों से रहित होते है।''

उपेक्षासंयम वीतरागचारित्र रूप होता है और शुद्धोपयोगी श्रमणों को होता है —ऐसा परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (2/67) की टीका में कहा गया है— ''उपेक्षासंयम और अपहृतसंयम, जिन्हें वीतराग व सराग संयम (क्रमशः) कहते हैं, ये दोनों भी उन शुद्धोपयोगियों को होते हैं।'' परमोपेक्षासंयम, शुद्धोपयोग, शुद्धात्मसंवेदन, वीतरागचारित्र —ये पर्याय हैं —ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/30/20 प्रक्षिप्त) की तात्पर्यवृत्ति टीका में तथा अन्यत्र भी बताया गया है।

'जिनलिङ्गधर' इस विशेषण से दिगम्बर मुद्रा का तथा अन्य विशेषताओं की भी सूचना दी गई है। स्वयं शास्त्रकार ने सूत्रप्राभृत (गाथा-23 व 18) में श्रमण की दिगम्बर मुद्रा ही होती है, अन्य नहीं —यह प्रतिपादित किया है—

''जिनशासन में कहा गया है कि वस्त्रधारी यदि तीर्थंकर भी हो, तो भी वे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते। एक नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है, बाकी सब उन्मार्ग हैं, मिथ्यामार्ग हैं।''

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।

उपर्युक्तं द्रव्यलिङ्गं प्रव्रज्यां स्वीकृत्यैव श्रमणो दधाति, अतः प्रव्रज्याया यथार्थतां सम्यक्तया श्रद्दधाति, जानाति, अनुचरति च। प्रव्रज्यायाः यथार्थं स्वरूपं बोधप्राभृतग्रन्थे (गाथा ४५-५९) **निर्दिष्टम्—**

गिहगंथमोहमुक्का बावीसपरीसहा जियकसाया।
पावारं भविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

धणधण्णवत्थदाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं।
कुद्दाणविरहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

सत्तूमित्ते य समा पसंसणिद्दा अलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

''जो मुनि यथाजात बालक के समान नग्न मुद्रा के धारक हैं, वे अपने हाथ में तिलतुषमात्र भी परिग्रह ग्रहण नहीं करते। यदि वे थोड़ा बहुत परिग्रह ग्रहण करते हैं तो वे निगोद जाते हैं (अर्थात् निगोद पर्याय में उत्पन्न होते हैं)।''

श्रमण उपर्युक्त द्रव्यलिङ्ग को प्रव्रज्या स्वीकार कर धारण करता है, इसलिए प्रव्रज्या की यथार्थता पर वह अच्छी तरह श्रद्धान करता है, जानता है और उसे आचरण में भी लाता है। प्रव्रज्या के यथार्थ स्वरूप को बोधप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 45-59) में इस प्रकार बताया गया है—

''जो गृह निवास तथा परिग्रह के मोह से रहित है, जिसमें बाईस परीषहों को सहना होता है, कषायों को जीतना होता है, और जो पाप के आरम्भ से रहित होती है, ऐसी दीक्षा (जिनेन्द्रदेव द्वारा) कही गई है।''

''जो धन, धान्य, वस्त्र आदि के दान, तथा सोना, चाँदी, शय्या, आसन तथा छत्र आदि के खोटे दान से रहित होती है, ऐसी दीक्षा (जिनेन्द्र देव द्वारा) कही गई है।''

''जो शत्रु व मित्र, प्रशंसा व निन्दा, हानि व लाभ, तथा तृण व सुवर्ण में समान भाव रखती है, ऐसी दीक्षा (जिनेन्द्र देव द्वारा) कही गई है।''

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता।
परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

''जहाँ उत्तम व मध्यम घर में दरिद्र व धनवान् में कोई भेद नहीं रखा जाता तथा सर्वत्र आहार ग्रहण किया जाता है, ऐसी दीक्षा (जिनेन्द्र देव द्वारा) कही गई है।''

''जो परिग्रह-रहित है, (पर-पदार्थ के) संसर्ग से रहित है, (मान कषाय व भोगपरिभोग की) आशा से रहित है, रागरहित है, दोष रहित है, ममता रहित है, और अहंकार-रहित है, ऐसी जिन-दीक्षा (जिनेन्द्र देव द्वारा) कही गई है।''

''जो स्नेह-रहित है, लोभ रहित है, मोह-रहित है, विकार-रहित है, कलुषता-रहित है, भय-रहित है, और आशा-रहित है, ऐसी जिनदीक्षा (जिनेन्द्र देव द्वारा) कही गई है।''

''जिसमें यथाजात बालक के समान रूप धारण किया जाता है, भुजाएँ नीचे की ओर लटकाई जाती हैं, जो शस्त्र-रहित है, शान्त है और जिसमें दूसरे द्वारा बनाई हुई वसतिका में निवास किया जाता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

''जो उपशम, क्षमा तथा दम (इन्द्रियनिग्रह) से युक्त है, जिसमें शरीर का संस्कार वर्जित है, जो रूक्ष है (कठोर), मद, राग व द्वेष से रहित है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट्ठ णट्ठमिच्छत्ता।
सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

जिणमग्गे पव्वज्जा छह संहणणेसु भणिय णिग्गंथा।
भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया।।

तिलतुसमत्तणिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो णत्थि।
पव्वज्ज हवई एसा जह भणिया सव्वदरिसीहिं।।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ।।

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणई विकहाओ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

''जिसमें मूढ़ता भाव दूर हो जाता है, जिसमें आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं, मिथ्यात्व भाव नष्ट हो जाता है, और जो सम्यग्दर्शन रूप गुण से विशुद्ध है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

''जिन-मार्ग में जिनदीक्षा छहों संहननों वालों के कही गई है। यह दीक्षा कर्म-क्षय का कारण बताई गई है, ऐसी दीक्षा की भव्य पुरुष निरन्तर भावना करते हैं।''

''जिसमें तिल-तुष मात्र बाह्य परिग्रह का संग्रह नहीं होता, ऐसी जिनदीक्षा सर्वज्ञ द्वारा कही गई है।''

''उपसर्ग व परीषहों को सहन करने वाले मुनि निरन्तर निर्जन स्थान में रहते हैं, वहाँ भी सर्वत्र शिला, काष्ठ या भूतल पर बैठते हैं।''

''जिसमें पशु, स्त्री, नपुंसक और कुशील मनुष्यों का संसर्ग नहीं किया जाता, विकथाएँ नहीं कही जातीं, और सदा स्वाध्याय व ध्यान में लीन रहा जाता है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

तववयगुणेहिं सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य।
सुद्धा गुणेहिं सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया।।

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्धसम्मत्ते।
णिग्गंथे जिणमग्गे संखेवेणं जहाखादं।।

एवं श्रीकुन्दकुन्दस्वामिभिः यत्प्रव्रज्यास्वरूपमुक्तं तत्सर्वं जिनलिङ्गधारिणः स्वरूपेऽन्तर्हितं भवत्येवेति विज्ञेयम्।

अत्र प्रासङ्गिकरूपेण ज्ञानोपयोगि विशेषनिरूपणं समुचितमवधार्य किञ्चित् निरूप्यते—

(आर्यिकाप्रव्रज्याविषयकं विवेचनम्)

अत्रायं विशेषः— आर्यिका वन्दनीयाः पूज्याश्च भवन्ति, तासामपि प्रव्रज्या-दीक्षा-संयम-महाव्रत-निर्जरा-ध्यानादिसद्भावो भवति। कथं तर्हि श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः सूत्रप्राभृतग्रन्थे प्रव्रज्यादिनिषेधः कृतः, इत्यारेकायाः समाधानम्—

''जो तप, व्रत और उत्तर गुणों से शुद्ध होती है, संयम, सम्यक्त्व और मूलगुणों से विशुद्ध होती है, तथा दीक्षोचित अन्य गुणों से शुद्ध होती है, ऐसी जिनदीक्षा कही गई है।''

''इस प्रकार आत्म-गुणों से परिपूर्ण अत्यन्त निर्मल सम्यक्त्व सहित, निष्परिग्रह जिनदीक्षा का स्वरूप जैसा जिन-मार्ग में कहा गया है, वैसा संक्षेप में मैंने कहा है।''

इस प्रकार, श्रीकुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा जो प्रव्रज्या का स्वरूप कहा गया है, वह सब जिनलिङ्गधारी के स्वरूप में अन्तर्हित होता ही है —ऐसा जानना चाहिए।

यहाँ प्रासङ्गिक रूप से ज्ञानोपयोगी विशेष निरूपण करना समुचित होगा —ऐसा मानकर कुछ निरूपण कर रहे हैं—

(आर्यिका-प्रव्रज्या विषयक विवेचन)

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— आर्यिका वन्दनीय, पूज्य होती है, उनके भी प्रव्रज्या, दीक्षा, संयम, महाव्रत, निर्जरा, ध्यान आदि का सद्भाव होता है। तब फिर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने सूत्रप्राभृत ग्रन्थ में प्रव्रज्या का निषेध कैसे किया है? इस शंका का समाधान इस प्रकार है—

तत्काले श्वेताम्बरसम्प्रदाये स्त्रीमुक्तिसमर्थिका विशेषचर्चा प्रवर्तिता आसीत्, अतः तन्निराकरणे दिगम्बराचार्याणां विशेषप्रयासोऽभवत्। स्त्री-प्रव्रज्यानिषेधकथनेऽपि दिगम्बराचार्याणामभिप्रायः श्वेताम्बरसम्मतस्य स्त्रीणां तद्भवे मोक्षस्य निषेधपरक एव मन्तव्यः।

सूत्रप्राभृते (गाथा-२३) **उक्तम्—** 'इत्थीसु ण पव्वया भणिआ'।

तत्र आचार्यश्रीश्रुतसागरैष्टीकायां प्रोक्तं तथ्यं समर्थितम्— "सितपटादीनां मार्गाः सर्वेऽपि उन्मार्गकाः कुत्सिता मिथ्यारूपाः .....।" **अनया गाथया सितपटानामत्र स्त्रीमुक्तिप्राप्ति-लक्षणं परित्यक्तं भवति। मरुदेवी-ब्राह्मी-सुन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा-सुलोचना-सीता-राजीमती-चन्दना-अनन्तमती-द्रौपद्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गताः, न च मोक्षम्। वस्तुतः स्त्रीपर्यायेऽपि नार्यः सम्यग्दर्शनमुत्पाद्य पञ्चमगुणस्थानयोग्य-सम्यक्त्वादिधारणं तथा एकादशाङ्गपठनमपि कर्तुं प्रभवन्ति, तपसा षोडशस्वर्गपर्यन्तमिन्द्रपदं च तत्र प्राप्नुवन्ति। अतो निष्कर्षरूपेण कथयितुं शक्यते यत् स्त्रीणां तद्भवे मुक्तिर्न भवतीत्यतस्तासां साक्षान्मुक्तिकारिणी प्रव्रज्या न भवतीत्येव प्रतिपादयितुं श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्याः प्रोचुः—**

उस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय में स्त्री-मुक्ति के समर्थन में विशेष चर्चा प्रवर्तमान थी, इसलिए उस (मान्यता) के निराकरण हेतु दिगम्बर आचार्यों का विशेष प्रयास रहा। स्त्री-प्रव्रज्या के निषेध किये जाने में दिगम्बर आचार्यों का अभिप्राय स्त्रियों के उसी भव में मोक्ष की श्वेताम्बर-मान्यता का निषेध करना था —यह मानना चाहिए।

सूत्रप्राभृत (गाथा-23) में कहा गया है— **इत्थीसु ण ण पव्वज्जा** (स्त्रियों में प्रव्रज्या नहीं होती)।

यहाँ टीका करते हुए आचार्य श्रुतसागर जी ने उक्त तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है— "श्वेताम्बरों के सभी मार्ग उन्मार्ग हैं, कुत्सित हैं और मिथ्यारूप हैं।" इस गाथा द्वारा स्त्री-मुक्ति का श्वेताम्बर मत निराकृत हो जाता है। मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी, यशस्वती, सुनन्दा, सुलोचना, सीता, राजीमती, चन्दना, अनन्तमती, द्रौपदी आदि स्त्रियाँ स्वर्ग गई हैं, मोक्ष प्राप्त नहीं की हैं। वस्तुतः नारियाँ स्त्रीपर्याय में भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर, पञ्चम गुणस्थान-योग्य सम्यक्त्व आदि धारण कर सकती है, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन भी कर सकती हैं और तप से सोलह स्वर्ग तक जाकर वहाँ इन्द्र पद भी प्राप्त करती हैं। इसलिए निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि स्त्रियों को उसी भव में मुक्ति नहीं होती, इसलिए उनकी साक्षात् मोक्षकारिणी प्रव्रज्या नहीं होती —इसे ही प्रतिपादित करने के लिए श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है—

तासिं कह होइ पव्वज्जा (सूत्रप्राभृत-२४)।

इत्थीसु ण पव्वया भणिदा (सूत्रप्राभृत-२५)।

अत्र टीकाकारैः प्रोक्तम्— ''स्त्रीषु न प्रवज्या निर्वाणयोग्या दीक्षा भणिता। इत्यनया गाथया सितपटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्राप्तिलक्षणं परित्यक्तं भवति।'' **वस्तुतो व्यवहारे आर्यिकाणां प्रव्रज्या, दीक्षा, उपचारमहाव्रतानि, संयमः, प्रशस्तध्यानम्, निर्जरा —इत्यादिकाः सर्वाः विशेषताः भवन्ति, तथैव तद्वन्दन-पूजादिकमपि यथोचितं करणीयम् —इत्याचार्यैः शास्त्रेषु प्रतिपादितं दृश्यते। अतएव मूलाचारग्रन्थे आर्यिकाणां समाचारविधिः मुनिवदेव प्रतिपादितः, तासां वन्दनादिकमपि निरूपितं तत्र दृश्यते। परवर्तिभिराचार्यैरपि प्रोक्ततथ्यस्य कुत्रापि निराकरणं नैव विहितम्।**

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-१८७, १८९-१९०) **आर्यिकाणामपि तपः-संयम-ध्यानादि-विशुद्धचर्या भवतीति तथ्यं समर्थयता आचार्येण मुनिजनोचितचर्यया सहैव आर्यिकाणामपि निर्दोषसमाचारीविधिरित्थं प्रोक्तः—**

उनकी (महाव्रतरूप) प्रव्रज्या कैसे हो सकती है ? (सूत्रप्राभृत-24)

स्त्रियों को (मोक्षोपयोगी) प्रव्रज्या नहीं कही गई है। (सूत्रप्राभृत-25)

यहाँ (सूत्रप्राभृत की उक्त गाथाओं पर) टीकाकार आचार्य ने कहा है— ''स्त्रियों में प्रव्रज्या अर्थात् निर्वाणयोग्य दीक्षा नहीं होती। इस गाथा के माध्यम से श्वेताम्बरों की स्त्री-मुक्तिवाला मत निराकृत किया गया है।'' वस्तुतः व्यवहार में आर्यिकाओं की प्रव्रज्या, दीक्षा, उपचार महाव्रत, संयम, प्रशस्त ध्यान, निर्जरा इत्यादि सभी विशेषताएँ होती हैं, उसी तरह उन आर्यिकाओं की वन्दना-पूजा आदि भी यथोचित रूप से करणीय हैं— यह आचार्यों द्वारा शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया दृष्टिगोचर होता है। इसलिए, मूलाचार ग्रन्थ में मुनियों की तरह ही आर्यिकाओं की समाचारी-विधि का प्रतिपादन किया गया है, वहाँ उनकी वन्दना आदि करने का प्रतिपादन हुआ दृष्टिगोचर होता है। परवर्ती आचार्यों द्वारा भी उक्त तथ्य का कहीं भी निराकरण नहीं किया गया है।

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-137, 189-190) में आर्यिकाओं के भी तप, संयम व ध्यान आदि रूप विशुद्ध चर्या होती है— इसका समर्थन करते हुए आचार्य ने मुनिजनोचितचर्या के साथ-साथ आर्यिकाओं की भी निर्दोष समाचारी विधि का इस प्रकार कथन किया है—

एसो अज्जाणं वि य सामाचारो जहक्खिओ पुव्वं।
सव्वम्हि अहोरत्ते विभासिदव्वो जधाजोग्गं।।

अज्झयणे परियट्टे सवणे कहणे तहाणुपेहाए।
तवविणयसंजमेसु य अविरहिदुपओगजोगजुत्ताओ।।

अविकारवत्थवेसा जल्लमलविलित्तचत्तदेहाओ।
धम्मकुलकित्तिदिक्खापडिरूवविसुद्धचरियाओ।।

आगमवचनं तर्कागोचरं भवति। तर्क-युक्त्यनुप्रयोगो यदि आगमानुकूलो भवेत्, तदैव स्वीकार्यः, नान्यथा। यदि आगमे द्वयोराचार्ययोः मतद्वयं परस्परभिन्नं दृश्यते, तदा तत्र द्वयोरुपरि आस्था कर्तव्या सम्यग्दृष्टिभिः। यदि तयोः परस्परसमन्वयसूत्रस्य निर्देशः केनचिदाचार्येण सूचितः प्रतिपादितो वा स्यात्, तदा तदपि परीक्ष्यादर्तव्यम्। आगमवाक्यहार्दे उपस्थापितेऽपि यो न श्रद्धत्ते, स तु मिथ्यादृष्टिरेव।

''पूर्व में जैसी कही गई है, वैसी ही सामाचारी आर्यिकाओं द्वारा भी समस्त अहोरात्र में यथायोग्य की जानी चाहिए।''

''अध्ययन में, पाठ करने में, सुनने में, कहने में और अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन में तथा तप, विनय व संयम में नित्य ही उद्यत रहती हुई वे ज्ञानाभ्यास में तत्पर रहा करती हैं।''

''वे विकाररहित वस्त्र व वेष को धारण करनेवाली, पसीनायुक्त मल व धूलि से लिप्त रहती हुई शरीर-संस्कार से शून्य रहती हैं। धर्म, कुल, कीर्ति व दीक्षा के अनुकूल निर्दोष चर्या का पालन करती हैं।''

आगम-वचन तर्क-अगोचर होते हैं। तर्क व युक्ति का प्रयोग तभी स्वीकार्य होता है जब वह आगमानुकूल हो, अन्यथा (आगम-विपरीत हो तो) नहीं। यदि आगम में दो आचार्यों का परस्पर-भिन्न दो मत दृष्टिगोचर हों तब दोनों मतों के ऊपर सम्यग्दृष्टियों को आस्था करनी चाहिए। यदि दोनों मतों में परस्पर-समन्वय सूत्र का निर्देश किसी आचार्य द्वारा दिया जाए, तो उसकी भी समीक्षा कर उसके प्रति आदर व्यक्त करना चाहिए। आगम-वाक्य का हार्द (तात्पर्य) सामने रखे जाने पर भी जो उसके प्रति श्रद्धान नहीं करता, वह तो मिथ्यादृष्टि ही है।

एवं वस्त्रधारिणीनां तासामार्यिकाणां पूजाविनयादिकरणं, पादप्रक्षालनम्, नवधाभक्ति-करणं मिथ्यात्वसूचकम्, तथा रजस्वलावस्थायामार्यिकाभिः पिच्छिधारणं त्याज्यम् —इत्यादिकं यत् कैश्चित् प्रतिपाद्यते, तदागमविरुद्धम्, केवलि-श्रुत-संघ-धर्मावर्णवादरूपं चेति मन्तव्यम्।

(शास्त्रेषु प्रव्रज्यास्वरूपम्, स्त्रीप्रव्रज्याविधिनिषेधश्च)

अत्र किञ्चिद् प्रासंगिकरूपेण निरूप्यते। प्रव्रज्यायाः किं वास्तविकं स्वरूपम् —इतिविषये श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः बोधप्राभृते (गाथा ४५-५९) **यत् प्रतिपादितं, तत्पूर्वमेव निर्दिष्टम्।**

किञ्च, महापुराणे (३९/१६२-१६६) **प्रव्रज्यासम्बद्धानि सप्तविंशतिसूत्राणि इत्थं प्रोक्तानि—**

तत्र सूत्रपदान्याहुः योगीन्द्राः सप्तविंशतिम्।
यैर्निर्णीतैः भवेत् साक्षात् परिव्रज्यस्य लक्षणम्।।

इस प्रकार, ''वस्त्रधारिणी उन आर्यिकाओं की पूजा तथा विनय करना, पादप्रक्षालन, नवधा भक्ति करना —ये मिथ्यात्व की सूचक हैं, तथा रजस्वला होने की स्थिति में आर्यिकाओं को पिच्छी धारण छोड़ना चाहिए'' —इत्यादि जो किन्हीं आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, तो वह आगमविरुद्ध है और उसे केवली-श्रुत-संघ व धर्म का अवर्णवाद मानना चाहिए।

(शास्त्रों में प्रव्रज्या का स्वरूप और स्त्री-प्रव्रज्या सम्बन्धी विधि या निषेध)

यहाँ प्रासंगिक रूप से कुछ निरूपण किया जा रहा है। प्रव्रज्या का वास्तविक स्वरूप क्या है —इस विषय में श्रीकुन्दकुन्दाचार्य देव ने बोधप्राभृत (गाथा 45-59) में जो बताया है, उसे पूर्व में (प्रस्तुत गाथाओं की व्याख्या में) निर्दिष्ट कर दिया गया है—

और, महापुराण (आदिपुराण-39/162-166) में प्रव्रज्या से सम्बद्ध सत्ताईस सूत्र इस प्रकार कहे गये हैं—

''मुनिराज इस पारिव्रज्य क्रिया में उन सत्ताईस सूत्रों का निरूपण करते हैं जिनका कि निर्णय होने पर पारिव्रज्य का साक्षात् लक्षण प्रकट होता है।

जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं लक्षणं सुन्दराङ्गता।
प्रभामण्डलचक्राणि तथाभिषवनाथते।।

सिंहासनोपधाने च छत्रचामरपोषण:।
अशोकवृक्षनिधयो गृहशोभावगाहने।।

क्षेत्रज्ञाज्ञासमा: कीर्तिर्वन्द्यता वाहनानि च।
भाषाहारसुखानीति जात्यादि: सप्तविंशति:।।

जात्यादिकानिमान् सप्तविंशतिं परमेष्ठिनाम्।
गुणानाहुर्भजेद् दीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादर:।।

परमेष्ठिगुणरूपाणि प्रोक्तानि सप्तविंशतिसूत्राणि दीक्षार्हे प्रव्रजिते वा जने सम्भवन्ति, किन्तु दीक्षितेन तेषु आदरो न करणीय: —इतिमहापुराणकाराशय:।

(वे सूत्र हैं—) (1) जाति, (2) मूर्ति, (3) उसमें रहनेवाले लक्षण, (4) शरीर-सुन्दरता, (5) प्रभा, (6) मण्डल, (7) चक्र, (8) अभिषेक, (9) नाथता, (10) सिंहासन, (11) उपधान, (12) छत्र, (13) चामर, (14) घोषणा, (15) अशोकवृक्ष, (16) निधि, (17) गृहशोभा, (18) अवगाहन, (19) क्षेत्रज्ञ, (20) आज्ञा, (21) सभा, (22) कीर्ति (23) वन्दनीयता, (24) वाहन, (25) भाषा, (26) आहार, (27) सुख —ये जात्यादि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं।

ये जात्यादि सूत्रपद परमेष्ठियों के गुण कहलाते हैं। उस भव्य पुरुष को अपने जाति आदि गुणों में आदर (आसक्ति) न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिए।''

उपर्युक्त सत्ताईस सूत्र हैं जो परमेष्ठी के गुण हैं, ये दीक्षायोग्य व्यक्ति में या दीक्षित व्यक्ति में भी (यथासमय) सम्भव होते हैं, किन्तु दीक्षित व्यक्ति को इनके प्रति आदर (आसक्ति) नहीं करना चाहिए —यह महापुराणकार का आशय है।

एषा प्रव्रज्या निर्विकल्पधर्मध्यानशुक्लध्यान-सर्वकर्मसंवर-निर्जरा-मोक्षादीनां साक्षात् कारणभूताऽवगम्यते। किञ्च, सत्पात्रेषु आर्यिकाणामपि विशिष्टं स्थानमस्ति। आर्यिकापदं सर्वासु स्त्रीषु सर्वोच्चपदमस्ति। ताः मुनिवद् अचेलका न भवन्ति, नापि तासां नग्नप्रव्रज्या स्वीकृता। श्वेताम्बरसम्प्रदाये तु स्त्रीमुक्तिः (स्त्रीणां तद्भवे मुक्तिः) **स्वीक्रियते, तन्मतनिराकरणाय दिगम्बरजैनाचार्याः स्त्रीणाम्** (आर्यिकाणां) **नग्नदीक्षायाः तद्भवमोक्षस्य च निषेधमित्थंप्रकारेण प्रतिपादितवन्तः, प्रव्रज्यामात्रस्य निषेधे न तेषां सम्मतिर्ज्ञेया। यथा सूत्रप्राभृते** (गाथा-२३) **प्रोक्तम्—**

जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सावि संजुत्ता।
घोरं चरियचरित्तं इत्थीसु ण पव्वया भणिया।।

स्त्रीणां सकलसंयमस्यापि अभावः प्रतिपादितः। यथा— तत्रैव (गाथा-२४) **निरूपितम्—**

लिंगम्मि इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहमो काओ तासिं कह होइ पव्वज्जा।।

यह प्रव्रज्या निर्विकल्प धर्मध्यान, शुक्लध्यान, समस्त कर्मों का संवर, निर्जरा व मोक्ष आदि की साक्षात् कारण जानी जाती है। और, सत्पात्रों में आर्यिकाओं का विशिष्ट स्थान होता है। आर्यिकापद सभी स्त्रियों में सर्वोच्च पद होता है। जिस तरह मुनि अचेलक होते हैं, उस तरह वे अचेलक (वस्त्ररहित) नहीं होतीं, उनकी नग्न प्रव्रज्या स्वीकृत नहीं है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में तो स्त्री-मुक्ति (स्त्रियों को उसी भव में मुक्ति) स्वीकृत की गई है, उनके मत के निराकरण के लिए दिगम्बर जैनाचार्यों ने स्त्रियों (आर्यिकाओं) की नग्नदीक्षा एवं तद्भवमोक्ष के निषेध का उक्त प्रकार से प्रतिपादन किया है, प्रव्रज्या मात्र के निषेध में उनकी सम्मति नहीं समझनी चाहिए। उदाहरणार्थ- सूत्रप्राभृत (गाथा-23) में कहा गया—

''स्त्रियों में यदि कोई सम्यग्दर्शन से शुद्ध है तो वह भी मोक्षमार्ग से युक्त कही गई है। वह यद्यपि घोर चारित्र का आचरण कर सकती है तो भी उसके (मोक्षोपयोगी) प्रव्रज्या नहीं कही गई है।''

स्त्रियों के सकल संयम का भी अभाव प्रतिपादित किया गया है। उदाहरणार्थ, वहीं (सूत्रप्राभृत, गाथा-24) में कहा गया है—

''स्त्रियों की योनि, स्तनों का मध्य, नाभि, कुक्षि में सूक्ष्म (अनन्त) जीव-राशि कही गई है, अतः उनके प्रव्रज्या (महाव्रत रूप दीक्षा) कैसे हो सकती है?''

अस्या गाथायाष्टीकायामित्थं विशदीकृतम्— "(तासां कह होइ पव्वज्जा-) तासां स्त्रीणां कथं भवति प्रव्रज्या दीक्षा, अपि तु न भवति। यदि प्रव्रज्या न भवति, तर्हि कथं महाव्रतानि दीयन्ते? सत्यमेतत्, सज्जातिज्ञापनार्थं महाव्रतानि उपचर्यन्ते। स्थापना न्यासः क्रियते —इत्यर्थः।"

पूर्वोक्तगाथायाः (२५) **टीकायामपि भणितम्—** "(इत्थीसु ण पव्वया भणिया) स्त्रीषु न प्रव्रज्या निर्वाणयोग्या दीक्षा भणिता। इत्यनया गाथया सितपटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्राप्तिलक्षणं परित्यक्तं भवति।"

एवमेतन्निरूपणस्य तात्पर्यमिदं यत् स्त्रीणां शास्त्रेषु यत्र प्रव्रज्या-निषेधः प्रतिपादितः, तत्र नग्नदीक्षानिषेध एव तात्पर्यरूपेण स्वीकर्तव्यः। यथा श्वेताम्बरपरम्परायां साक्षान्मुक्तिकारणप्रव्रज्या स्त्रीणां स्वीक्रियते, न तथा दिगम्बरपरम्परायाम्, अपितु दिगम्बराणां मते प्रव्रजितानामार्यिकाणां परम्परया मुक्तिर्भवति, न तद्भवे एवेति निष्कर्षः।

(सूत्रप्राभृत की) इस गाथा की टीका में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— "(**तासां कह होई पव्वज्जा,** अर्थात् उनके प्रव्रज्या कैसे हो सकती है?) उन स्त्रियों के प्रव्रज्या या दीक्षा कैसे हो सकती है? अपितु नहीं हो सकती। (शंका—) यदि प्रव्रज्या उनकी नहीं हो सकती तो महाव्रत उन्हें कैसे दिये जाते हैं? (समाधान—) आपका यह प्रश्न सत्य है, (किन्तु) सज्जाति का ख्यापन करने के लिए महाव्रत उपचरित किये जाते हैं, अर्थात् (महाव्रतों की) स्थापना, न्यास किया जाता है।"

(सूत्रप्राभृत की) पूर्वोद्धृत गाथा (सं. 25) की टीका में भी कहा गया है— "(**इत्थीसु ण पव्वया भणिया**, अर्थात् स्त्रियों की प्रव्रज्या नहीं कही गई है—) स्त्रियों में प्रव्रज्या अर्थात् निर्वाणयोग्य दीक्षा नहीं कही गई है। इस प्रकार, इस गाथा के माध्यम से श्वेताम्बरों का स्त्रीमुक्ति रूप मत निराकृत हो जाता है।"

इस प्रकार, इस निरूपण का तात्पर्य यह है कि शास्त्रों में जहाँ स्त्रियों की प्रव्रज्या का निषेध प्रतिपादित किया गया है, वहाँ नग्नदीक्षा के निषेध को ही तात्पर्य रूप में स्वीकृत करना चाहिए। जैसे— श्वेताम्बर परम्परा में स्त्रियों की साक्षात् मोक्षकारिणी प्रव्रज्या मानी गई है, वैसी दिगम्बर परम्परा में नहीं मानी जाती है, अपितु दिगम्बरों के मत में प्रव्रजित होने वाली आर्यिकाओं की परम्परा से मुक्ति होती है, उसी भव में नहीं —यह निष्कर्ष है।

(स्त्रीप्रव्रज्यायाः शास्त्रीयोद्धरणानि)

प्रासङ्गिकरूपेण स्त्रीप्रव्रज्यायथार्थस्वरूपबोधकशास्त्रीयवचनानि उद्ध्रियन्ते— यथा, प्रवचनसारे (३/२५, प्रक्षिप्तगाथा) **प्रोक्तम्—**

ण विणा वट्टदि णारी, एक्कं वा तेसु जीवलोयम्मि।
ण हि संउडं च गत्तं तम्हा तासिं च संवरणं।।

सूत्रप्राभृते (गाथा-२२) **च भणितम्—**

लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ।।

प्रवचनसारे (३/२५ प्रक्षिप्तगाथा) **च निरूपितम्—**

णिच्छयदो इत्थीणं सिद्धी ण हितेण जम्मणा दिट्ठा।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं।।

(स्त्री-प्रव्रज्या के शास्त्रीय उद्धरण)

प्रासंगिक रूप से स्त्री-प्रव्रज्या के यथार्थ स्वरूप के बोधक शास्त्रीय वचनों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। उदाहरणार्थ— प्रवचनसार (3/25, प्रक्षिप्त गाथा) में कहा गया है

''जीव-लोक में (मोह, प्रमाद, भय, जुगुप्सा, माया आदि दोषों में से) किसी भी दोष के बिना कोई नारी नहीं होती, उनका शरीर (भी) आवरणरहित नहीं होता, इसलिए उनके लिए वस्त्रावरण (निर्धारित) किया गया है।''

सूत्रप्राभृत (गाथा-22) में भी कहा गया है—

''(तीसरा) लिङ्ग स्त्रियों का है। वे दिन में एक ही बार भोजन करती हे। आर्यिका एक ही वस्त्र रखती है, और वस्त्रसहित ही भोजन करती है।''

प्रवचनसार (3/25 प्रक्षिप्त गाथा) में भी कहा गया है—

''चूँकि स्त्रियों के निश्चय से उसी जन्म में सिद्धि (मुक्ति) नहीं कही गई है, इसलिए स्त्रियों का लिङ्ग तत्प्रतिरूप अर्थात् सावरण कहा गया है।''

धवलाग्रन्थे च (पु. १, खण्ड-१, पृ. ३३५) **निरूपितम्—** ''अस्मादेवार्षात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्ध्येद् इति चेन्न, सवासस्त्वाद् अप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः। भावसंयमस्तासां सवाससामप्य-विरुद्ध इति चेत्, न तासां भावसंयमोऽस्ति, भावसंयमाविनाभाविवस्त्राद्युपादानान्यथानुपपत्तेः।''

किञ्च, धवलाग्रन्थेऽन्यत्र (पु. ११, पृ. ११४-११५) **कथितम्—** ''ण च दव्वित्थीणं णिग्गंथतमत्थि, चेलादिपरिच्चाएण विणा तासिं भावणिग्गंथत्ताभावादो। ण च दव्वित्थीणवुंसयवेदाणं चेलादिचागो अत्थि, छेदसुत्तेण सह विरोहादो।''

एवं सिद्धान्तितं भवति यत्स्त्रीणां सावरणप्रवज्या भवति। अन्यान्यपि शास्त्रीयोद्धरणानि प्राप्यन्ते समर्थकानि। यथा— प्रवचनसारग्रन्थस्य (३/२५ प्रक्षिप्तगाथा) **टीकायां प्रोक्तम्—** (वियप्पियं लिंगमित्थीणं—) निर्ग्रन्थलिङ्गात् पृथक्त्वेन विकल्पितं कथितं लिङ्गं प्रावरणसहितं चिह्नम्। कासाम्-स्त्रीणाम् इति।

धवला ग्रन्थ (पुस्तक-1, खण्ड-1, पृ. 335) में भी कहा गया है— ''(शंका—) इसी आगम से द्रव्यस्त्रियों का मुक्ति जाना भी सिद्ध हो जाएगा? (समाधान—) नहीं, क्योंकि वस्त्रसहित होने से उनके अप्रत्याख्यान (संयतासंयत, पंचम) गुणस्थान होता है, इसलिए उनके (भाव) संयम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। (शंका—) वस्त्रसहित होते हुए भी भावसंयम का होना विरुद्ध नहीं होना चाहिए। (समाधान—) उनके भावसंयम नहीं हो सकता, क्योंकि उनके भाव-असंयम के अविनाभावी वस्त्र-ग्रहण करने की संगति (भावसंयम मानने पर) नहीं बैठ सकती है।''

और, धवला ग्रन्थ में अन्यत्र (पु. 11, पृ. 114-115) वह भी कहा गया है— ''द्रव्यस्त्रियों के निर्ग्रन्थपना (नग्नभाव) संभव नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि के त्याग के बिना उनके भावनिर्ग्रन्थता का सद्भाव नहीं हो सकता। द्रव्यस्त्रीवेदी व नपुंसकवेदी वस्त्रादि का त्यागकर निर्ग्रन्थता धारण कर सकते हैं —ऐसी आशंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि वैसा स्वीकार करने पर छेदसूत्र से विरोध आता है।''

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्त्रियों की प्रव्रज्या सावरण (वस्त्रसहित) होती है। इस (तथ्य) के समर्थक अन्य भी शास्त्रीय उद्धरण प्राप्त होते हैं। जैसे, प्रवचनसार (3/25 प्रक्षिप्त गाथा) की टीका में कहा गया है— ''(**वियप्पियं लिंगमित्थीणं—** स्त्रियों का लिङ्ग निर्धारित किया गया है—) निर्ग्रन्थ लिङ्ग से पृथक् रूप से विकल्पित अर्थात् कथित लिङ्ग आवरणसहित चिह्न कहा गया है।''

किञ्च, तत्रैव (प्रवचनसार, ३/२५, प्रक्षिप्तगाथा-१४) **टीकायां निरूपितम्—** "यस्मात् तद्भवे मोक्षो नास्ति, तस्मात् कारणात्... तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिङ्गं चिह्नं लाञ्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैः निर्दिष्टं कथितम्।" **किञ्च, मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-१९०) **च** 'अविकारवत्थवेसा' **इति विशेषणमार्यिकाणां प्रदत्तम्, तेनापि तासां सावरणप्रव्रज्या एव समर्थिता भवति। स्त्रीणां सावरणप्रव्रज्यासमर्थकानि बहुशो वचनानि जैनपुराणादिषु प्राप्यन्ते। तद्यथा- पद्मपुराणे** (११३/ ३९-४१) **हनूमतो विद्याधरस्य प्रव्रज्याया अनन्तरं तस्य स्त्रीणामपि निर्वेदोदयेन आर्यिकाबन्धुमती-सन्निधौ प्रव्रज्याग्रहणं वर्णितम्—**

कृत्वा परमकारुण्यं विप्रलम्भं महाशुचम्।
वियोगानलसंतप्ताः परं निर्वेदमागताः।।

प्रथितां बन्धुमत्याख्यामुपगम्य महत्तराम्।
प्रयुज्य विनयं भक्त्या विधाय महमुत्तमम्।।

श्रीमत्यो भवतो भीता धीमत्यो नृपयोषितः।
महद्भूषणनिर्मुक्ताः शीलभूषाः प्रवव्रजुः।।

और, वहीं (प्रवचनसार-3/25 प्रक्षिप्त गाथा-14) टीका में कहा गया है— "चूँकि (स्त्रियों को) उसी भव में मोक्ष नहीं होता, इस कारण से उन स्त्रियों के लिए जिनवरों-सर्वज्ञों ने उनका प्रतिरूप, वस्त्रावरणसहित लिङ्ग, चिह्न, लांछन बताया गया है।" और, मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-190) में भी आर्यिकाओं का एक विशेषण 'अविकारवस्त्रवेशा' (विकार-अनुत्पादक वस्त्र वेशवाली) दिया गया है, इससे भी उनकी सावरणप्रव्रज्या ही समर्थित हो जाती है। स्त्रियों की सावरण प्रव्रज्या के समर्थक बहुत-से वचन जैन पुराण आदि में प्राप्त होते हैं। जैसे— पद्मपुराण (113/ 39-41) में वर्णित है कि विद्याधर हनूमान के प्रव्रजित होने के पश्चात्, उनकी स्त्रियों ने निर्वेद के उदित होने से आर्यिका बन्धुमती के समीप में प्रव्रज्या ग्रहण की—

"तदनन्तर, जो वियोग रूपी अग्नि से संतप्त थी, महाशोकदायी अत्यन्त करुण विलाप कर परम निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त हुई थीं, श्रीमती (श्रीसम्पन्न) थीं, संसार से भयभीत थीं, धीमती थीं, महाआभूषणों से सहित थीं, और शीलरूपी आभूषणों को धारण करनेवाली थीं, ऐसी राजस्त्रियों ने बन्धुमती नामक प्रसिद्ध आर्यिका के समीप में भक्तिपूर्वक नमस्कार व उत्तम पूजा कर दीक्षा धारण कर ली।"

किञ्च, ब्राह्मी सुन्दरी च प्रव्रज्यां गृहीतवत्यौ, अग्रणीत्वं च प्राप्तवत्यौ —इति हरिवंशपुराणे (९/२१७) **वर्णितम्—**

ब्राह्मी च सुन्दरी चोभे कुमार्यौ धैर्यसंगते।
प्रव्रज्य बहुनारीभिरार्याणां प्रभुतां गते।।

किञ्च, ब्राह्मी-सुन्दरीगणिनीसविधेऽपि विद्याधरजयकुमारपत्नी धृतश्वेतवस्त्रा सुलोचना प्रव्रजिताऽभवदिति च तत्र (१२/५१) **निरूपितम्—**

दु:संसारस्वभावज्ञा सपत्नीभि: सिताम्बरा।
ब्राह्मीं च सुन्दरीं श्रित्वा प्रवव्राज सुलोचना।।

अन्यच्च, तत्रैव (६१/१०) **इदं वर्णितं यद् वसुदेवस्त्रिय: तथा नारायणश्रीकृष्णकन्याश्चापि प्रव्रजिता:—** वसुदेवस्त्रियो विष्णो: कन्याश्चापि प्रवव्रजु:।

और, ब्राह्मी व सुन्दरी ने भी प्रव्रज्या ग्रहण की थी और अग्रणी (गणिनी) पद भी प्राप्त किया था —ऐसा हरिवंशपुराण (9/217) में वर्णित है—

''धैर्य से युक्त ब्राह्मी और सुन्दरी नामक दोनों कुमारियां अनेक स्त्रियों के साथ दीक्षा लेकर आर्यिकाओं की स्वामिनी बन गईं।''

और, ब्राह्मी व सुन्दरी —इन गणिनी (द्वय) के समीप में भी विद्याधर जयकुमार की पत्नी एवं श्वेतवस्त्रधारिणी सुलोचना प्रव्रजित हुई थी —यह भी वहाँ (हरिवंश पुराण-12/51) निरूपित किया गया है—

''दुष्ट संसार के स्वभाव को जाननेवाली अपनी सपत्नियों के साथ सफेद वस्त्र धारण कर लिए और ब्राह्मी व सुन्दरी के पास जाकर दीक्षा ले ली।''

और भी, वहीं (61/10) यह वर्णित है कि वसुदेव की स्त्रियों ने तथा नारायण श्रीकृष्ण की कन्याओं ने प्रव्रज्या ग्रहण की— ''वसुदेव की अन्य स्त्रियों तथा कृष्ण की पुत्रियों ने भी दीक्षा धारण कर ली।''

उत्तरपुराणे च (६३/२३,१७५) **प्रोक्तं यत् बलभद्र-अपराजितकन्या सुमतिः सुव्रता-आर्यिकायाः सविधे प्रव्रजिताऽभवत्, राज्ञी सुवर्णतिलका सुमति-आर्यिकासविधे दीक्षां गृहीतवती** (६३/१७५), **नन्दयशा श्रेष्ठिपत्नी सुदर्शना-आर्यिकासविधे** (७०/१८३), **राज्ञी सुरूपा सुभद्रा-आर्यिकासविधे** (७१/४२३) **संयमं गृहीतवती।**

एवं तत्रैव निरूपितं यद् राज्ञी विमलश्रीः पद्मावती-आर्यिकासन्निधौ संयमं गृहीतवती (७१/४५६), **राज्ञी हिरण्यवती च दान्तमती-आर्यिकायाः सविधे दीक्षिता** (६९/२१२) **जाता।**

पद्मपुराणानुसारं च जनकात्मजा सीता पृथ्वीमती-आर्यिकायाः सविधे दीक्षिता (१०५/७८)**। आदिपुराणानुसारं च भरतानुजा ब्राह्मी तथा सुन्दरी च दीक्षां गृहीतवत्यौ** (२४/१७५-१७७)**। प्रवचनसारग्रन्थस्य** (३/२५, प्रक्षिप्तगाथा-१३) **टीकायां च** 'शतवर्षदीक्षिताया आर्जिकायाः' **इति कथनेन सह, सीतादीनां जिनदीक्षाग्रहणमपि स्पष्टतया संकेतितम्—** ''सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षां गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन...।''

उत्तपुराण (63/23,175) में भी कहा गया है कि सुमति ने सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा ली थी, रानी सुवर्णतिलका ने सुमति आर्यिका के पास दीक्षा ली (63/175), नन्दयशा सेठानी ने सुदर्शना आर्यिका के पास (70/183) और रानी सुरूपा ने सुभद्रा आर्यिका के पास (71/423) संयम ग्रहण किया।

इसी प्रकार, वहीं (उत्तरपुराण में) यह बताया गया है कि रानी विमलश्री ने पद्मावती आर्यिका के पास संयम ग्रहण किया (71/456), रानी हिरण्यवती भी दान्तमती आर्यिका के समीप दीक्षित हुई थी (69/212)।

पद्मपुराण के अनुसार, जनकपुत्री सीता पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षित हुई थी (105/78)। आदिपुराण के अनुसार भरत चक्रवर्ती की छोटी बहिन ब्राह्मी और सुन्दरी ने दीक्षा ग्रहण की (24/175-177)। प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/25 पर प्रक्षिप्त गाथा सं. 13) की टीका में भी 'सौ वर्ष की दीक्षावाली' आर्यिका का कथन तो किया ही गया, साथ ही सीता आदि के दीक्षा-ग्रहण का भी इस प्रकार स्पष्ट संकेत किया है— ''सीता, रुक्मिणी, कुन्ती, द्रौपदी व सुभद्रा आदि नारियों ने जिन-दीक्षा लेकर विशिष्ट तप के द्वारा...।''

एवं शास्त्रेषु आर्यिकाणां संयमग्रहणस्य प्रव्रज्यारूपेण, दीक्षारूपेण वा निरूपणं कृतं दृश्यते। तासां जैनेश्वरी-दीक्षा-नाम्नाऽपि प्रव्रज्या निरूपिता दृश्यते। यथा पद्मपुराणे (१०५/७५) **सीता कथयन्ती निरूपिता—** साऽहं दु:खक्षयाकांक्षा दीक्षां जैनेश्वरीं भजे।।

(आर्यिकाणां महाव्रतोपचार:—)

यतो हि स्त्रीणां विविधाङ्गेषु सूक्ष्मजीवोत्पत्तिविनाशप्रक्रिया भवतीत्यतस्तासामुपचारेण अहिंसामहाव्रतसद्भाव: स्वीक्रियते। आचार्यश्रीवीरनन्दिना आचारसारग्रन्थे (श्लोक-८९) **निरूपितं यत् देशव्रतगुणस्थानेऽपि विद्यमानानां तासां सज्जातित्वसूचनार्थमुपचारेण महाव्रतत्वं कथ्यते। प्रवचनसारग्रन्थस्य** (३/२५ प्रक्षिप्तगाथा-१३) **टीकायां च स्पष्टं भणितम्—** ''यदि मोक्षो नास्ति, तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकानां महाव्रतारोपणम्? परिहारमाह— तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम्। न चोपचार: साक्षाद् भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽयं देवदत्त: इत्यादिवत्। तथा चोक्तम्— मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार: प्रवर्तते।''

इस प्रकार, शास्त्रों में आर्यिकाओं के संयम-ग्रहण को प्रव्रज्या के रूप में या दीक्षा के रूप में निरूपण किया गया दृष्टिगोचर होता है। उनकी प्रव्रज्या को जैनेश्वरी दीक्षा के नाम से भी निरूपण किया गया है। जैसे, पद्मपुराण (105/75) में सीता को यह कहते हुए बताया गया है— ''अब मैं दु:खों का क्षय करने की इच्छा से जैनेश्वरी दीक्षा धारण करती हूँ।''

(आर्यिकाओं का महाव्रतोपचार)

चूँकि स्त्रियों के विविध अङ्गों में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति व विनाश की प्रक्रिया होती है, इसलिए उनके अहिंसा महाव्रत का सद्भाव उपचार से स्वीकार किया जाता है। आचार्य श्री वीरनन्दि ने आचारसार ग्रन्थ (श्लोक-89) में बताया है कि देशव्रत (पंचम) गुणस्थान में विद्यमान उन (आर्यिकाओं) के सज्जातित्व को सूचित करने हेतु उपचार से महाव्रत का सद्भाव स्वीकार किया गया है। प्रवचनसार ग्रन्थ (3/25 पर प्रक्षिप्त गाथा-13) की टीका में भी इस प्रकार स्पष्ट लिखा गया है— ''यदि उन (स्त्रियों) के मोक्ष नहीं होता, तो आपके मत में आर्यिकाओं के महाव्रतों का आरोपण किस प्रकार किया जाता है? इसका समाधान बताया गया है— वह कुलव्यवस्था के लिए उपचार से (उनमें महाव्रतों के संस्कार का आरोपण) किया जाता है। उपचार तो उपचार है, साक्षात् होने योग्य वह नहीं होता है, जैसे, यह देवदत्त तो अग्नि की तरह (क्रोधी) क्रूर है, इत्यादि कथन (उपचार से किये जाते हैं)। और कहा भी है— मुख्य के अभाव में और प्रयोजन-विशेष के निमित्त से उपचार किया जाता है।''

पद्मपुराणे (१०५/८०) **तु सीता आर्यिका** 'महाव्रतधारिणी' **इतिविशेषणेन सह निरूपिता—**
महाव्रतपवित्राङ्गा महासंवेगसंगता।

(जिनादिसाक्ष्ये आर्यिकाप्रव्रज्या)

आर्यिकाभ्यो दीक्षां दातुं के अर्हन्ति? समाधीयते— जिनेन्द्रभगवतः साक्ष्ये ताभ्यो दीक्षा दीयते तथा आचार्यः, गणिनी, आर्यिका वा दीक्षां दातुं प्रभवन्ति। अर्हद्-भगवतः साक्ष्येऽपि आर्यिका दीक्षिता भवतीत्यस्य समर्थनमादिपुराणे (२४/१७५) **प्राप्यते। तत्र निरूपितं यद् ब्राह्मी तीर्थंकरऋषभदेवस्य अनुग्रहेण (तत्सान्निध्यमवाप्य) गणिनीपददीक्षां गृहीतवती—**

भरतस्यानुजा ब्राह्मी दीक्षित्वा गुर्वनुग्रहात्।
गणिनी पदमार्याणां सा भेजे पूजितामरैः।।

एवमेव, उत्तरपुराणे (७५/६८-६९) **चन्दनायाः भगवतो महावीरस्वामिनः सन्निधौ संयमग्रहणं निरूपितम्—**

पद्मपुराण (105/80) में तो सीता आर्यिका को 'महाव्रतधारिणी' इस विशेषण से निरूपित करते हुए कहा गया है— "महाव्रत से पवित्र शरीरवाली तथा महासंवेग से युक्त..."

(जिन आदि की साक्षी में आर्यिका-प्रव्रज्या)

आर्यिका को दीक्षा कौन दे सकते हैं? समाधान— जिनेन्द्र भगवान् की साक्षी में उन्हें दीक्षा दी जाती है तथा आचार्य, गणिनी या आर्यिका भी दीक्षा दे सकते हैं। अर्हन्त भगवान् की साक्षी में भी आर्यिका दीक्षित होती है— इसका समर्थन आदिपुराण (24/175) में प्राप्त होता है। वहाँ बताया गया है कि ब्राह्मी ने तीर्थंकर ऋषभदेव के अनुग्रह से (उनकी सन्निधि प्राप्त कर) गणिनी पद की दीक्षा ग्रहण की थी—

"भरत (चक्रवर्ती) की छोटी बहिन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के मध्य में गणिनी (स्वामिनी) के पद को प्राप्त हुई। वह ब्राह्मी सब देवों द्वारा पूजित हुई।"

इसी प्रकार, उत्तरपुराण (75/68-69) में बताया गया है कि चन्दना ने भगवान् महावीर स्वामी की सन्निधि में संयम ग्रहण किया था—

प्रापितैतत्पुरं वीरं वन्दितुं निजबान्धवान्।
विसृज्य जातनिर्वेगा गृहीत्वात्रैव संयमम्।।

तपोवगममाहात्म्याद् अध्यस्थात् गणिनीपदम्।

एवं गणिनी आर्यिका, सामान्य-आर्यिका वा स्त्रीभ्यो दीक्षां दातुं प्रभवति —इत्यस्य समर्थनं बहुशः शास्त्रेषु प्राप्यते। यथा उत्तरपुराणे (६२/५०८) **निरूपितं यद् विद्याधरपुत्री कनकश्री सुप्रभानामिकाया गणिनी-आर्यिकायाः समीपे दीक्षिताः—**

सुप्रभागणिनीपार्श्वे दीक्षित्वा जीवितावधौ।
सौधर्मकल्पे देवोऽभूत्, चित्रं विलसितं विधेः।।

किञ्च, जीवन्धरमहाराजस्य महादेवी विजया तथा गन्धर्वदत्ताप्रभृतयोऽष्टौ राज्यः समातृकाः गणिनीचन्दनाआर्यिकायाः समीपे परमसंयमं जगृहुः —इति उत्तरपुराणे (७५/६८३-६८४) **प्रोक्तम्—**

''भगवान् महावीर स्वामी की वन्दना के लिए चन्दना गई, वहाँ वैराग्य उत्पन्न होने से उसने अपने सब भाई-बन्धुओं को विदा कर दीक्षा धारण कर ली और तपश्चरण व सम्यग्ज्ञान के माहात्म्य से उसी समय गणिनी का पद प्राप्त कर लिया।''

इस प्रकार, गणिनी आर्यिका या सामान्य आर्यिका स्त्रियों को दीक्षा दे सकती है— इसका समर्थन शास्त्रों में बहुलता से प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ— उत्तरपुराण (62/508) में बताया गया है कि विद्याधर-पुत्री कनकश्री ने सुप्रभा नामक गणिनी आर्यिका के पास दीक्षा ली थी—

''कनकश्री ने सुप्रभा गणिनी आर्यिका के समीप दीक्षा धारण कर ली और अन्त में आयु समाप्त होने पर सौधर्म स्वर्ग में देव पद प्राप्त किया, क्योंकि कर्म का उदय विचित्र होता है।''

और जीवन्धर महाराज की महादेवी विजया तथा गन्धर्वदत्ता आदि आठ रानियों ने अपनी माताओं के साथ गणिनी चन्दना आर्यिका के समीप में परम संयम ग्रहण किया —यह उत्तरपुराण (75/683-684) में बताया गया है—

सत्यन्धरमहादेव्या सहाष्टौ सद्दृशः स्नुषाः।
सद्यो गन्धर्वदत्ताद्यास्तासामपि च मातरः।।

समीपे चन्दनार्यायाः जगृहुः संयमं परम्।

किञ्च, चित्रचूलराज्ञः पुत्री शान्तिमती विरज्य गणिनी-सुलक्षणा-आर्यिकायाः समीपे संयमं धृतवती —इति च उत्तरपुराणे (६३/११२-११३) **निरूपितम्—**

निर्विद्य संसृतेः शान्तिमती क्षेमंकराह्वयात्।
तीर्थेशाद् धर्ममासाद्य सद्यः प्राप्य सुलक्षणाम्।।

गणिनीं संयमं श्रित्वा संन्यस्येशानसंज्ञके।
नाके विलुम्पो भूत्वा (स्वकायपूजार्थमागमत्)।।

एवं मेघवाहनराजकन्या कनकमाला तथा समुद्रसेनविद्याधरपुत्री वसन्तसेना च विमलमती-नामिकायाः गणिनी-आर्यिकायाः समीपे दीक्षां गृहीतवत्यौ —इति उत्तरपुराणे (६३/१२४) **निरूपितम्—**

"सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाली गन्धर्वदत्ता आदि आठों रानियों ने तथा उन रानियों की माताओं ने सत्यन्धर महाराज की महादेवी विजया के साथ चन्दना आर्या के समीप उत्कृष्ट संयम धारण कर लिया।"

और, चित्रचूल राजा की पुत्री शान्तिमती ने विरक्त होकर गणिनी सुलक्षणा आर्यिका के पास संयम धारण किया —यह उत्तरपुराण (63/112-113) में बताया गया है—

"शान्तिमती ने संसार से विरक्त हो कर क्षेमंकर नामक तीर्थंकर से धर्मश्रवण किया और शीघ्र ही सुलक्षणा नाम की आर्यिका के पास जाकर संयम धारण कर लिया। अन्त में संन्यास-मरण कर वह ऐशान स्वर्ग में देव हुई। (वह अपने शरीर की पूजा हेतु आई थी।)"

इसी प्रकार, मेघवाहन राजा की कुमारी कनकमाला तथा समुद्रसेन विद्याधर की पुत्री वसन्तसेना ने विमलमती नामक गणिनी आर्यिका के समीप में दीक्षा ग्रहण की —यह उत्तरपुराण (63/124) में इस प्रकार बताया गया है—

देव्यौ विमलमत्याख्यगणिनीं ते समाश्रिते।
अदीक्षेतां सहैतेन, युक्तं तत्कुलयोषिताम्।।

कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा इत्यादिका अपि राजीमती गणिनीआर्यिकायाः समीपे दीक्षां गृहीत्वा तपसि रता अभूवन् —इति हरिवंशपुराणे (६४/१४४) **वर्णितम्—**

कुन्ती च द्रौपदी देवी सुभद्राख्याश्च योषितः।
राजीमत्याः समीपे ताः समस्तास्तपसि स्थिताः।।

उत्तरपुराणेऽपि (७२/२६४-२६५) **प्रोक्ततथ्यं समर्थितम्—**

पाण्डवाः संयमं प्रापन्, सतामेषां हि बन्धुता।
कुन्ती-सुभद्रा-द्रौपद्यश्च दीक्षां ताः परां ययुः।।

निकटे राजिमत्याख्यगणिन्या गुणभूषणाः।
तास्तिस्त्रः षोडशे कल्पे भूत्वा तस्मात् परिच्युताः।।

''इसी के साथ, दोनों स्त्रियों (कनकमाला व वसन्तसेना) ने भी विमलमती नामक गणिनी आर्यिका के पास जाकर दीक्षा धारण कर ली, क्योंकि कुलीन स्त्रियों का ऐसा करना उचित ही है।

कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा इत्यादि भी राजीमती गणिनी आर्यिका के पास दीक्षा लेकर तपस्या में निरत हो गईं थी —ऐसा हरिवंशपुराण (64/144) में वर्णित है—

''कुन्ती, द्रौपदी व सुभद्रा —ये सभी स्त्रियाँ राजीमती के पास तपश्चर्या में निरत हो गईं।''

उत्तरपुराण (72/264-265) में भी उक्त तथ्य का समर्थन है—

''पाण्डवों ने संयम धारण किया, क्योंकि सज्जनों की बन्धुता यही है। कुन्ती, सुभद्रा व द्रौपदी ने जो गुण रूपी आभूषणों को धारण करने वाली थीं, गणिनी राजीमती के पास जाकर उत्कृष्ट दीक्षा धारण की। तीनों के जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए और वहाँ से च्युत हुए।''

किञ्च, सहस्राधिकानां राजकुमारीणां राज्ञीनां च नेमिनाथतीर्थंकरसविधेऽपि संयमधारणं हरिवंशपुराणे (५८/३०८) **वर्णितम्—**

द्वे सहस्रे नरेन्द्रास्ते कन्याश्च नृपयोषितः।
सहस्राणि बहून्यापुः संयमं जिनदेशितम्॥

आर्यिका अपि आर्यिकादीक्षां दातुं प्रभवन्ति —इति बहुभिः शास्त्रीयवचनैः समर्थ्यते। यथा— हरिवंशपुराणे (६४/१३२) **प्रोक्तं यत् सुबन्धुवैश्यपुत्री सुकुमारिका क्षान्ता-आर्यिकासविधे प्रव्रजिता—**

इति श्रुत्वार्यिकावाक्यं निर्विण्णा सुकुमारिका।
तदन्ते सा प्रवव्राज संसारभयवेदिनी॥

एवं श्रीकान्ता राजकुमारी जिनदत्तानामिकाया आर्यिकायाः समीपे दीक्षां गृहीतवती — इति उत्तरपुराणे (७१/३९४-३९५) **प्रोक्तम्—**

और, हरिवंशपुराण (58/308) में वर्णित है कि हजारों से अधिक राजकुमारियों और रानियों ने नेमिनाथ तीर्थंकर के समीप में संयम धारण किया—

''उस समय दो हजार राजाओं ने, दो हजार कन्याओं ने एवं हजारों रानियों ने जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए पूर्ण संयम को प्राप्त किया।''

आर्यिकाएँ भी आर्यिका-दीक्षा दे सकती हैं —इसका समर्थन बहुत से शास्त्रीय वचनों से होता है। उदाहरणार्थ— हरिवंशपुराण (64/132) में कहा गया है कि सुबन्धु वैश्य की पुत्री सुकुमारिका ने क्षान्ता आर्यिका के पास प्रव्रज्या ग्रहण की—

''क्षान्ता आर्यिका के वचन सुनकर सुकुमारिका विरक्त हो गई और संसार से भयभीत होकर उन्हीं के समीप दीक्षित हो गई।''

इसी तरह, श्रीकान्ता राजकुमारी ने जिनदत्ता नामक आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण की — यह उत्तरपुराण (71/394-395) में कहा गया है—

विषये पुण्डरीकिण्यामशोकाख्यमहीपतेः।
सोमाश्रियश्च श्रीकान्ता सुता भूत्वा कदाचन।।

जिनदत्तार्यिकोपान्ते दीक्षामादाय सुव्रता।
तपस्यन्ती चिरं घोरमुपोष्य कनकावलीम्।।

एवं धनश्री-मित्रश्रीब्राह्मण्यौ गुणवती-आर्यिकासविधे संयमं धृतवत्यौ —इति उत्तरपुराणे (७२/२३६) **वर्णितं दृश्यते—**

गुणवत्यार्यिकाभ्यासे ब्राह्मण्यावितरे तदा।
ईयतुः संयमं वृत्तमीदृक्सदसतामिदम्।।

एवं, श्रेष्ठिपुत्रसुभानुपत्न्यो जिनदत्त-आर्यिकासमीपे तपोव्रतग्रहणं कृतवत्य इति उत्तरपुराणे (७१/२४४) **निरूपितम्—** जिनदत्तार्यिकाभ्यासे तद्भार्याश्च तपो ययुः। **सीता पृथ्वीमती-आर्यिकासविधे दीक्षितेति पद्मपुराणे** (१०५/७८) **निरूपितम्—** पृथ्वीमत्यार्यया तावद् दीक्षिता जनकात्मजा।

''पुण्डरीकिणी नगरी में राजा अशोक व सोमश्री रानी के श्रीकान्ता नाम की पुत्री हुई। किसी एक दिन उसने जिनदत्ता आर्यिका के पास दीक्षा लेकर अच्छे-अच्छे व्रतों का पालन किया, चिरकाल तक तपस्या की और कनकावली नाम का घोर उपवास किया।''

इसी प्रकार, धनश्री व मित्रश्री —इन दो ब्राह्मणियों ने गुणवती आर्यिका के पास संयम धारण किया था —यह उत्तरपुराण (72/236) में वर्णित है—

''शेष दो ब्राह्मणियों ने भी गुणवती आर्यिका के समीप संयम धारण कर लिया। यह ठीक ही है क्योंकि सज्जन व दुर्जनों का चरित्र ही ऐसा होता है।''

इसी प्रकार, (श्रेष्ठिपुत्र) सुभानु की पत्नियों ने जिनदत्त आर्यिका के पास तप व्रत ग्रहण किया —यह उत्तरपुराण (71/244) में निरूपित है— ''जिनदत्ता आर्यिका के समीप उस (श्रेष्ठिपुत्र सुभानु) की पत्नियों ने तप धारण किया।'' सीता भी पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षित हुई थी —यह पद्मपुराण (105/78) में निरूपित है— ''पृथ्वीमती आर्यिका द्वारा जनकपुत्री सीता दीक्षित की गई।''

किञ्च, आचार्या अपि आर्यिकादीक्षां दातुमर्हन्तीति मूलाचारग्रन्थात् (गाथा १८३-१८४) **विज्ञायते—**

पियधम्मो दिढधम्मो संविग्गोऽवज्जभीरु परिसुद्धो।
संगहजुग्गहकुसलो सददं सारक्खणाजुत्तो।।

गंभीरो दुद्धरिसो मिदवादी अप्पकोदुहल्लो य।
चिरपव्वइदो गिहिदत्थो अज्जाणं गणधरो होदि।।

सुदर्शनचरिते (५/८७-८८) **वर्णितमपि यद् श्रेष्ठिवंशजा जिनमती समाधिगुप्तगुरोर्दीक्षां गृहीतवती—**

श्रेष्ठिनी जिनमत्याख्या तदा तद्गुरुपादयोः।
युग्मं प्रणम्य मोहादिपरिग्रहपराङ्मुखा।।

वस्त्रमात्रं समादाय लब्ध्वा दीक्षां यथोचिताम्।
संश्रिता भक्तितः काञ्चिदार्यिकां शुभमानसाम्।।

और, आचार्य भी आर्यिका दीक्षा देने में सक्षम हैं —यह मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 182-184) से ज्ञात होता है—

''जो धर्म के प्रेमी हैं, धर्म में दृढ़ हैं, संवेग भाव से सहित हैं, पाप से भीरु हैं, शुद्ध आचरण वाले हैं, शिष्यों के संग्रह व अनुग्रह में कुशल हैं, और हमेशा पापक्रिया से निवृत्त रहते हैं, जो गम्भीर हैं, स्थितचित्त हैं, मित बोलने वाले हैं, अल्पतम कुतूहल करते हैं, चिरदीक्षित हैं, तत्त्वज्ञ हैं —ऐसे मुनिराज आर्यिकाओं के आचार्य होते हैं।''

सुदर्शनचरित (5/87-88) में वर्णित है कि श्रेष्ठिवंशीया जिनमती ने समाधिगुप्त गुरु के पास दीक्षा ग्रहण की थी—

''जिनमती नामक सेठानी ने तब (समाधिगुप्त नामक) गुरु के दोनों चरणों में प्रणत होकर मोह आदि एवं परिग्रह से पराङ्मुख होती हुई वस्त्र मात्र धारण कर यथोचित दीक्षा ग्रहण की और भक्तिपूर्वक किसी शुभमन वाली आर्यिका का संश्रयण किया।''

एवं प्रकारेण आर्यिका-प्रव्रज्यास्वरूपादिविषये शास्त्रीयप्रमाणसहितं निरूपणं प्रासङ्गिक-रूपेण विहितम्। पर्याप्तमेतदिति मत्त्वा विरम्यते।

इदानीं चतुर्थगाथा (सं. १४५) **व्याख्यायते—** (सिवगदिपहणायगो होदि) **शिवगतिपथनायको भवति। कः सः ? उच्यते—** (मूलुत्तरगुणपुण्णो) **मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च पूर्णः। तत्राष्टाविंशतिमूलगुणाः, उत्तरगुणास्तु चतुरशीतिशतसहस्रसंख्यकाः** (८४०००००) **भवन्ति —इति प्राक् व्याख्याने** (१०१-१०२ गाथयोः) **उक्तप्रायम्।**

तथा (सुद्धोपओयसंजुत्तो) **शुद्धोपयोगसंयुक्तः,** (बहिरब्भंतरगंथविमुक्को) **बाह्य-आभ्यन्तर-ग्रन्थविमुक्तश्च भवति। शुद्धोपयोगश्च शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिरूपो रागादिरहितशुद्धात्मानुभूति-लक्षणो ज्ञेयः। एतमेव वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपेण विद्वांसोऽभिदधति। अयमेव परमोपेक्षा-संयमः वीतरागचारित्रं वा भण्यते।**

इस प्रकार से, आर्यिका-प्रव्रज्या के स्वरूप आदि के विषय में शास्त्रीय प्रमाणों के साथ प्रासंगिक रूप से उक्त निरूपण किया गया है। इतना ही (लिखना) पर्याप्त है —यह मानकर विराम लिया जा रहा है।

अब, चौथी गाथा (सं. 145) का व्याख्यान किया जा रहा है— **(शिवगतिपथनायको भवति)** शिवगति के मार्ग का नायक होता है। वह कौन है ? बता रहे हैं— **(मूलोत्तरगुणपूर्णः)** मूलगुणों व उत्तरगुणों से वह पूर्ण होता है। उक्त मूलगुणों की संख्या अठाईस होती है, उत्तरगुणों की संख्या चौरासी लाख है—ऐसा पहले (गाथा 101-102 के) व्याख्यान में कहा जा चुका है।

तथा **(शुद्धोपयोगसंयुक्तः)** शुद्धोपयोग से युक्त, एवं **(बाह्याभ्यन्तरग्रन्थविमुक्तः)** बाह्य व आन्तरिक ग्रन्थों (परिग्रह) से निर्मुक्त होता है। शुद्धोपयोग को शुभाशुभ उपयोग की निवृत्ति रूप तथा रागादिरहित शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप जानना चाहिए। इसी (शुद्धोपयोग) को विद्वान् लोग वीतराग धर्मध्यान व शुक्लध्यान के रूप में निरूपित करते हैं। इसी को परमोपेक्षा संयम या वीतरागचारित्र भी कहा जाता है।

प्रवचनसारग्रन्थे (१/१४) **शुद्धोपयोगपरिणत श्रमणस्य स्वरूपं निर्दिष्टमस्ति—**

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।।

श्रमणस्य कृते परिग्रहः सर्वथा त्याज्य एव भवति। स च परिग्रहो बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधः। आत्मनः क्रोधादिविभावपरिणामाः आभ्यन्तरपरिग्रहाः। दासदासीप्रभृतयो बाह्यपरिग्रहाः। श्रमणो योगी वा सर्वपरिग्रहविमुक्त एव श्रेष्ठतां भजति। परिग्रहधारी तु निन्दनीय एव। उक्तं च सूत्रप्राभृते (गाथा १७-१९)—

बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं।।

प्रवचनसार ग्रन्थ (1/14) में शुद्धोपयोग रूप से परिणत श्रमण का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है—

''जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थ और उनके प्रतिपादक शास्त्र को अच्छी तरह जान लिया है, जो संयम व तप से सहित है, जिसका राग नष्ट हो चुका है, और जो सुख-दुःख में समता परिणाम रखता है, ऐसा श्रमण मुनि शुद्धोपयोग का धारक कहा गया है।''

श्रमण के लिए परिग्रह सर्वथा त्याज्य ही होता है। और वह परिग्रह बाह्य व आभ्यन्तर भेद से दो प्रकार का होता है। आत्मा के क्रोध आदि विभाव परिणाम —ये आन्तरिक परिग्रह हैं। दास, दासी आदि —ये बाह्य परिग्रह हैं। श्रमण या योगी समस्त परिग्रह से विमुक्त ही हो तो श्रेष्ठ होता है। परिग्रह का धारक तो निन्दनीय ही होता है। सूत्रप्राभृत (गाथा 17-19) में कहा भी गया है—

''मुनियों के तो बाल के अग्रभाग के जितना भी परिग्रह का ग्रहण नहीं होता।''

''जो मुनि यथाजात बालक की तरह नग्न मुद्रा का धारक होता है, वह अपने हाथ में तिलतुष जितना भी परिग्रह नहीं रखता। यदि वह थोड़ा बहुत परिग्रह रखता है तो वह निगोद (पर्याय) में जाता है।''

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स।
सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो।।

मूलाचारग्रन्थे च (गाथा-१००१) **प्रोक्तम्—**

कोहमदमायलोहेहिं परिग्गहे लयइ संसजइ जीवो।
तेणुभयसंगचाओ कायव्वो सव्वसाहूहिं।।

सर्वविधपरिग्रहमुक्ता एव श्रमणाः शुद्धा भवन्ति —इति प्रवचनसारग्रन्थे (३/७३) **भणितम्—**

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा।।

इत्येवं मोक्षमार्गनायकसम्बन्धियोग्यताः सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! पूर्णवीतरागतां शुद्धात्म-स्थितिं वा समधिगन्तुं सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''जिसके मत में मुनि-लिंग के लिए थोड़ा बहुत परिग्रह-ग्रहण किया जाता है, वह जिन-वचन में निन्दनीय ही है क्योंकि परिग्रह रहित निरागार (अनगार) ही (निर्दोष) माना गया है।''

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1001) में भी कहा गया है—

''क्रोध, मान, माया व लोभ के द्वारा यह जीव परिग्रह में आसक्त होता है, इसलिए सभी साधुओं को उभय (बाह्य व आन्तरिक, दोनों) परिग्रह का त्यागकर देना चाहिए।''

समस्त परिग्रह से मुक्त रहने वाले श्रमण ही 'शुद्ध' होते हैं —ऐसा प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा 3/73) में कहा गया है—

''जिन्होंने यथार्थ रूप से तत्त्वों को जान लिया है, और जो बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग परिग्रह को त्यागकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में लीन नहीं होते, वे महामुनि शुद्ध हैं, ऐसा कहा गया है।''

इस प्रकार, मोक्षमार्ग नायक से सम्बद्ध योग्यता को अच्छी तरह समझकर, हे भव्य! पूर्ण वीतरागता या शुद्धात्म-स्थिति को प्राप्त करने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ यथार्थश्रमणः किम्भावयति, शृणोति साधयति चेति शास्त्रकाराः गाहा-छन्दसा प्ररूपयन्ति—

जं जादिजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं।
सिवसुहलाहं सम्मं संभावदि सुणदि साहदे साहू।।१४६।।

छाया— यत् जातिजरामरण-दुःखदुष्टविषाहिविषविनाशकरम्।
शिवसुखलाभं (लम्भकं) सम्यक्त्वं सम्भावयति, शृणोति साधयति साधुः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्मं संभावदि सुणदि साहदे साहू) **साधुः सम्यक्त्वं सम्भावयति, सम्यक्त्ववर्द्धिकाः भावना भावयति, तादृशीः क्रियाश्च वारंवारमभ्यस्यति, तथा शृणोति सम्यक्त्ववर्द्धकशास्त्राणि जिनोपदिष्टानि कर्णगोचरीकरोति, तथा साधयति, सम्यक्त्वं निष्पादयति, पूर्णतां दृढतां च सम्यक्त्वस्य सम्पादयति, इत्यर्थः। कीदृशं सम्यक्त्वम्? उच्यते—** (जं सिवसुहलाहं) **यत् शिवसुखस्य मोक्षसुखस्य लाभः प्राप्तिः, तद्रूपम्, शिवसुखलाभे कारणमित्यर्थः, कारणे कार्योपचारः। यद्वा शिवसुखस्य लम्भकं प्रापकमित्यर्थो विधेयः।**

अब, यथार्थश्रमण क्या भावना करता है, क्या सुनता है और क्या साधना करता है— इसे शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो जन्म, बुढ़ापा मृत्यु एवं दुःख रूपी दुष्ट सर्प के विष का नाश करने वाला है, और मोक्ष-सुख का लाभ कराता है, उसी सम्यक्त्व की साधु भावना करता है, उसे ही सुनता है और उसी को साधता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यक्त्वं सम्भावयति श्रृणोति साधयति साधुः)** साधु (मुनि, अनगार) सम्यक्त्व की सम्भावना अर्थात् सम्यक् भावना करता है, सम्यक्त्ववर्द्धक भावनाएँ भाता है, वैसी ही (सम्यक्त्ववर्द्धक) क्रियाओं का बार-बार अभ्यास करता है, और सम्यक्त्व को सुनता है, अर्थात् सम्यक्त्ववर्द्धक तथा जिनेन्द्र उपदिष्ट शास्त्रों का श्रवण करता है, तथा सम्यक्त्व को साधता है, उसे निष्पन्न करता है अर्थात् सम्यक्त्व में पूर्णता व दृढ़ता लाता है। वह सम्यक्त्व कैसा है? बता रहे हैं— **(यत् शिवसुखलाभं, शिवसुखलम्भकं वा)** जो शिवसुख यानी मोक्षसुख का लाभ यानी प्राप्ति, तद्रूप है, अर्थात् शिवसुख के लाभ में कारण है, यहाँ कारण में कार्य का उपचार किया गया है। अथवा 'शिव-सुख का लम्भक यानी लाभ कराने वाला, प्राप्त कराने वाला' यह अर्थ करना चाहिए।

तथा तत्सम्यक्त्वं (जादिजरामरणं दुहदुट्ठविसाहिविसविणासयरं) **जातिः जन्म, जरा वृद्धता, मरणं मृत्युः, एतेषां यद् दुःखम्, तदेव विषाहिः विषयुक्तसर्पः, तस्य यद् विषं तस्य विनाशकरं, जन्ममरणादिदुःखनिवारकमित्यर्थः। अत्र सम्यक्त्वपदं सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयबोधकमेव। एतत्पदमत्र देशामर्शकम्, अतः सम्यक्चारित्ररत्नस्यापि ग्रहणं परामृशति। सम्यग्ज्ञानरत्नं तु सम्यग्दर्शनानुविद्धमेव, अतस्तत्तु स्वतो गृह्यते एव। त्रिषु रत्नेषु सम्यक्त्वं प्रथमं, मूलं, विशिष्टं चास्ति, अतस्तस्यैव नामनिर्देशः कृतः।**

उक्तं च दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२, ११, ३१)—

दंसणमूलो धम्मो।

जह मूलाओ खंधो साहापरिवार बहुगुणो होई।
तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमग्गस्स।।

तथा वह सम्यक्त्व **(जातिजरामरण-दुःखदुष्टविषाहिविषविनाशकरम्)** जाति यानी जन्म, जरा यानी बुढ़ापा, मरण यानी मृत्यु, इनका जो दुःख है, वही एक विषाहि यानी विषयुक्त (जहरीला) साँप है, उसका जो विष है, उसका विनाश करने वाला, अर्थात् जन्म-मरण आदि दुःखों का निवारक (यह सम्यक्त्व) है। यहाँ 'सम्यक्त्व' पद सम्यग्दर्शन आदि तीनों रत्नों का ही बोधक है। यह पद यहाँ 'देशामर्शक' है, इसलिए वह 'सम्यक् चारित्र' रूप रत्न के ग्रहण का परामर्शक (ग्राहक) है। सम्यग्ज्ञान रत्न तो सम्यग्दर्शन से जुड़ा हुआ ही है, इसलिए वह तो स्वतः गृहीत हो ही जाता है। तीन रत्नों में सम्यक्त्व प्रथम है, मूल है, विशिष्ट है, इसलिए उसी का यहाँ नाम-निर्देश किया गया है।

दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-2, 11 व 31) में भी कहा गया है—

''धर्म का मूल दर्शन (सम्यग्दर्शन) है।''

''जिस प्रकार वृक्ष की जड़ से शाखा-प्रशाखा आदि परिवार से युक्त होकर कई गुना स्कन्ध उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की जड़ जिन-दर्शन (जिन-धर्म का श्रद्धान) है—ऐसा कहा गया है।''

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं।
सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं।।

एवं 'साधुः रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गं सम्भावयति, श्रृणोति, साधयति' —इत्यादिको गाथार्थो मन्तव्यः। वस्तुतः सम्यग्ज्ञानरूपवृक्षस्य वीतरागतारूपचारित्रं फलमेव भवति, सम्यक्चारित्रनिष्पत्त्य-भावे सम्यग्ज्ञानस्यैव वैयर्थ्यात्। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-२६८)—

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तीं पभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

निर्वाणस्य मोक्षमार्गस्य वा साधकत्वादेव 'साधयति इति साधुः' **इति निर्युक्तिः संगच्छते। साधोः निर्वाणादिसाधकत्वं शास्त्रकारैर्बहुशो निरूपितमेव। यथोक्तं बृहद्द्रव्यसंग्रहे** (गाथा-५४)—

दंसणणाणसमग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं।
साधयदि णिच्चसुद्धं साहू सो मुणी णमो तस्स।।

"ज्ञान (सम्यग्ज्ञान) मनुष्य का सार है और ज्ञान से भी अधिक सार सम्यग्दर्शन है, क्योंकि सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र होता है और सम्यक्चारित्र से निर्वाण प्राप्त होता है।"

इस प्रकार, 'साधु रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग की सम्यक् भावना करता है, उसे सुनता है और उसी की साधना करता है' —इत्यादि रूप में गाथा का अर्थ जानना चाहिए। वस्तुतः सम्यग्ज्ञान रूप वृक्ष का वीतरागता रूप चारित्र फल ही है, क्योंकि सम्यक्चारित्र की निष्पत्ति के बिना सम्यग्ज्ञान निरर्थक ही है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-268) में कहा भी गया है—

"जिसके कारण राग (आदि) से विरक्ति हो, जिससे श्रेय (कल्याण-मार्ग) में अनुरक्ति हो, जिससे मैत्री की प्रभावना हो, वही 'ज्ञान' जिनशासन में (सम्यग्ज्ञान के रूप में मान्य) है।"

निर्वाण या मोक्षमार्ग के साधक होने से ही 'जो साधता है, वह साधु है' —यह निर्युक्ति संगत होती है। साधु निर्वाण आदि का साधक होता है —इसे शास्त्रकारों ने बहुत प्रकार से निरूपित किया है। बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-54) में कहा भी गया है—

"जो दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण मोक्ष के मार्गभूत सदा शुद्धचारित्र को प्रकट रूप से साधते हैं, वे मुनि साधु परमेष्ठी हैं।"

मूलाचारग्रन्थेऽपि (गाथा-५१२) **भणितम्—**

णिव्वाणसाधए जोगे सदा जुंजंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु तम्हा ते सव्वसाधवो।।

धवलाग्रन्थे (पु. १, खण्ड-१, भाग-१, सू. १ गाथा-३३ टीका) **च निर्दिष्टम्—**

"अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।"

"परमपयविमग्गया.............. साहू"।

अन्यच्च, तत्रैव (पु. ८, खण्ड-३, सू. ४१) **प्रोक्तम्—** "अणंतणाणदंसणवीरियविरइखइय-सम्मत्तादीणं साहया साहू णाम।"

पञ्चाध्यायीग्रन्थेऽपि (२/६६७) **प्रोक्तम्—**

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-512) में भी कहा गया है—

"चूँकि मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले मूलगुणादिक तपश्चरण रूप योग में जो सर्वदा अपनी आत्मा को जोड़ते हैं और समस्त जीवों में समता भाव रखते हैं, इसलिए वे सभी 'साधु' कहलाते हैं।"

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 1 गाथा-33 टीका) में भी बताया गया है—

"अनन्तज्ञान आदि शुद्धात्म-स्वरूप को जो साधते हैं, वे 'साधु' होते हैं।"

"परमपद का अन्वेषण करने वाले 'साधु' होते हैं।"

और, वहीं (पु. 8, खण्ड-3, सू. 41) यह भी कहा गया है— "अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य, विरति, क्षायिक सम्यक्त्व आदि के साधक 'साधु' (परमेष्ठी) होते हैं।"

पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/667) में भी कहा गया है—

मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम्।
साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञकः।।

प्रवचनसारग्रन्थस्य (गाथा-३/५२) **तात्पर्यवृत्तौ च भणितम्—** ''रत्नत्रयभावनया स्वात्मानं साधयति —इति साधुः।''

आचार्यदेवसेनकृते भावसंग्रहग्रन्थे (गाथा-३७९) **च प्रोक्तम्—**

उग्गतवतवियगत्तो तियालजोएण गमियअहरत्तो।
साहिय मोक्खस्स पओ झाओ सो साहु परमेट्ठी।।

एवं साधुस्वरूपं सम्यगवबुद्ध्य, हे भव्य! सम्यक्त्वादिरत्नत्रयसाधनायां निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र है। जो आत्मसिद्धि के लिए इसका साधन करता है, वह साधु है, अतः 'साधु' यह अन्वर्थक संज्ञा है।''

प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/52) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी कहा गया है— ''रत्नत्रय-भावना से अपनी आत्मा को साधता है, इसलिए वह 'साधु' है।''

आचार्य देवसेन द्वारा रचित 'भावसंग्रह' ग्रन्थ (गाथा-379) में भी कहा गया है—

''जिसका शरीर उग्र तपश्चर्या से प्रदीप्त है, जो त्रिकाल योग-साधना में दिन-रात व्यतीत करता है, और जिसके द्वारा मोक्ष-मार्ग की साधना की जाती है, वह साधु परमेष्ठी ध्यान-योग्य हैं।''

इस प्रकार, हे भव्य! साधु के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर, सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ पुनरपि सम्यक्त्वस्य महत्त्वं प्रकारान्तरेण शास्त्रकाराः गाहाछन्दसा प्रख्यापयन्ति—

किं बहुणा हो देविंदाहिंदणरिंदगणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाण सम्मगुणं।।१४७।।

छाया— किम्बहुना, अहो देवेन्द्र-अहीन्द्र-नरेन्द्र-गणधरेन्द्रैः।
पूज्याः परमात्मानः ये, तत् जानीहि प्रधानं सम्यक्त्वगुणम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (किं बहुणा) **किम्बहुना, किमधिकेन सम्यक्त्वमाहात्म्य-प्रख्यापनेन।** (हो) **अहो इत्याश्चर्ये,** (देविंदाहिंदणरिंदगणहरिंदेहिं जे परमप्पा पुज्जा) **देवेन्द्रैः, अहीन्द्रैः, नरेन्द्रैः, गणधरेन्द्रैः च ये परमात्मानः पूज्या भवन्ति। अर्हदादीनां देवेन्द्रादिपूज्यत्वं मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-५०५, ५६४-५६५) **वर्णितम्—**

अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए।
रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंदे।।

अब, सम्यक्त्व के महत्त्व को पुनः प्रकारान्तर से शास्त्रकार गाहा छन्द से बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— अहो! अधिक क्या कहें, जो परमात्मा देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और गणधरेन्द्रों से पूजित हैं, उनमें सम्यक्त्वगुण (रत्न) की प्रधानता (महत्ता) है —यह जानें।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (किं बहुना) सम्यक्त्व-सम्बन्धी माहात्म्य का और अधिक निरूपण क्या किया जाय, (अहो) 'अहो' यह आश्चर्य-सूचक अव्यय है। **(देवेन्द्राहीन्द्रनरेन्द्रगणधरेन्द्रैः ये परमात्मानः पूज्याः)** देवेन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, गणधरों आदि द्वारा जो परमात्मा पूजित होते हैं। देवेन्द्रों आदि द्वारा अर्हन्त आदि देवों की पूज्यता का निरूपण मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-505, 564-565) में इस प्रकार किया गया है—

''जो नमस्कार करने योग्य हैं, पूजनीय हैं और देवों में उत्तम हैं, जिन्होंने रज (ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय) को नष्ट कर दिया है और अरि (अर्थात् मोहनीय कर्म आदि) को भी नष्ट कर दिया है, वे अर्हन्त हैं।''

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति।।

किह ते ण कित्तणिज्जा सदेवमणुयासुरेहिं लोगेहिं।
दंसणणाणचरित्ते तवविणओ जेहिं पण्णत्तो।।

तेषां पूज्यत्वस्थितौ किं मुख्यं कारणम्? उच्यते— (तं जाण पहाणसम्मगुणं) **तत्र प्रधानं सम्यक्त्वगुणं जानीहि। सम्यक्त्वप्रधानमोक्षमार्गाश्रयणेनैव ते कर्मक्षयं विधाय पूज्यतां प्राप्ताः अर्हदादिदेवाः इत्याशयः। एतदेव दर्शनप्राभृतग्रन्थे समर्थितं** (गाथा ३२-३३) **दृश्यते—**

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहियेण।
चोण्हं वि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो।।

कल्लाणपरंपरया कहंति जीवा विसुद्धसम्मत्तं।
सम्मद्दंसणरयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए।।

''जो वंदना व नमस्कार के योग्य हैं, पूजा व सत्कार के योग्य हैं, और जो सिद्धि-गमन के योग्य हैं, इसलिए वे 'अर्हन्त' कहे जाते हैं।''

''जिन्होंने सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र एवं तप के विनय की प्रज्ञापना की है, वे देवसहित मनुष्यों व असुरों से लोक में क्यों कीर्तनीय नहीं होंगे?''

इन परमात्मा की पूज्यता में मुख्य कारण क्या है? बता रहे हैं— **(तत् जानीहि प्रधानसम्यक्त्वगुणम्)** इनमें सम्यक्त्व गुण को (ही) प्रधान जानो। सम्यक्त्व-प्रमुख मोक्षमार्ग के आश्रयण से ही वे अर्हद् आदि देव कर्मक्षय कर पूज्यता को प्राप्त हुए हैं —यह आशय है। इसी तथ्य का दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 32-33) में समर्थन किया गया है—

''ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व सहित तप व चारित्र —इन चारों के समागम (समन्वित) होने पर ही जीव सिद्ध हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं है।''

''जीव कल्याण की परम्परा के साथ निर्मल सम्यक्त्व को प्राप्त करते हैं, इसलिए सम्यग्दर्शन रूपी रत्न लोक में देव व दानवों द्वारा पूजा जाता है।''

सम्यक्त्वेनैव बोधिरूपरत्नत्रयप्राप्तिः सम्भवति, नान्यथा। उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-३७)—

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं।
सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहिं।।

सम्यक्त्वस्येदं माहात्म्यं शास्त्रकाराः स्वयं दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा २१-२२) **च प्रत्यपीपदन्—**

एवं जिणपण्णत्तं दंसणरयणं धरेह भावेण।
सारं गुणरयणत्तयसोवाणं पढम मोक्खस्स।।

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं।।

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा ७३४-७३५) **च प्रतिपादितम्—**

सम्यक्त्व से ही बोधि रूप रत्नत्रय की प्राप्ति हो पाती है, अन्यथा नहीं। शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-37) में कहा भी गया है—

''ज्ञान, ध्यान, योग व दर्शन की शुद्धि (निरतिचार प्रवृत्ति) —ये सब वीर्य के अधीन हैं और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन सम्बन्धी बोधि (रत्नत्रय रूप) परिणति को प्राप्त होते हैं।''

सम्यक्त्व के इस माहात्म्य का प्रतिपादन स्वयं शास्त्रकार ने दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 21-22) में किया है—

''इस प्रकार, जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ सम्यग्दर्शन रत्नत्रय में साररूप है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है। इसलिए (हे भव्य जीवों!) उसे भावपूर्वक धारण करो।''

''जितना चारित्र धारण किया जा सकता है, उतना धारण करना चाहिए और जितना धारण नहीं किया जा सकता, उसका श्रद्धान (तो) करना (ही) चाहिए, क्योंकि केवलज्ञानी जिनेन्द्र देव ने श्रद्धान करने वालों के (ही) सम्यग्दर्शन होना बताया है।''

भगवती आराधना ग्रन्थ (गाथा 734-735) में भी प्रतिपादित किया गया है—

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं।।

णगरस्स जहा दुवार मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं।।

अथ, पञ्चमकाले उपशमसम्यक्त्वनाशे कषायोत्पत्तिः— इति शास्त्रकाराः गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—

उवसम्मइ सम्मत्तं मिच्छत्तबलेण पेल्लदे तस्स।
परिवट्टंति कसाया अवसप्पिणी कालदोसेण।।१४८।।

छाया— उपशमकं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वबलेन पीड्यते तस्य।
प्रवर्तन्ते कषायाः अवसर्पिणी-कालदोषेण।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अवसप्पिणीकालदोसेण तस्स मिच्छत्तबलेण उवसम्मइ सम्मत्तं पेल्लदे, कसाया परिवट्टंति —इति गाथान्वयः।

''समस्त दुःखों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने में समर्थ सम्यक्त्व के विषय में प्रमाद मत करो। ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार व तप का आधार तत्त्व-श्रद्धान (सम्यक्त्व) ही है।''

''जिस प्रकार नगर में प्रवेश का उपाय उसका द्वार होता है, उसी प्रकार, ज्ञान, चारित्र, वीर्य व तप का द्वार सम्यक्त्व है। जिस प्रकार नेत्र मुख को शोभित करते हैं, उसी प्रकार सम्यक्त्व से ज्ञानादि शोभित होते हैं। जिस प्रकार जड़ वृक्ष की स्थिति में कारण होती है, उसी प्रकार सम्यक्त्व ज्ञानादि की स्थिति में निमित्त होता है।''

अब, पञ्चमकाल में उपशम सम्यक्त्व के नाश से कषायों की उत्पत्ति होती है— इसे गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— अवसर्पिणी काल के दोष से मिथ्यात्व की प्रबलता से उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, फिर कषाय पुनः उत्पन्न हो जाती हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अवसर्पिणीकालदोषेण तस्य मिथ्यात्वबलेन उपशमकं सम्यक्त्वं पीड्यते, कषायाः प्रवर्तन्ते —यह गाथा का अन्वय है।

(अवसप्पिणीकालदोसेण) **अवसर्पिणीकालस्य प्रवर्तमानस्य, तस्यापि विशेषतः पञ्चमाराकालस्यास्य दुष्प्रभावेण, किम्भवति? उच्यते—** (उवसम्मइ सम्मत्तं पेल्लदे) **उपशमकं सम्यक्त्वं पीड्यते, क्षीयते, ह्लीयते, नश्यति वा।**

अत्रेदं ज्ञेयम्— काललब्ध्या करणलब्धियोग्यः, अधःकरण—अपूर्वकरणे विधाय अनिवृत्तिकरणस्य चरमसमये, (भव्यश्चातुर्गतिको मिथ्यादृष्टिः संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तो गर्भजः) **विशुद्धिवर्धमानः शुभलेश्यो ज्ञानोपयोगवान् जीवः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभान् मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतीश्च उपशमय्य कतकनिर्मलीकृततोयसमानं यत्पदार्थश्रद्धानमुत्पद्यते, तदुपशमसम्यक्त्वं नाम। तत्र सम्यक्त्वपीड़ायाः को विशेषहेतुः? उच्यते—** (मिच्छत्तबलेण) **मिच्छात्वबलेन, तत्र मिथ्यात्वं तथा परिवर्द्धते यथा सम्यक्त्वं ह्लासोन्मुखं जायते, ततश्च मिथ्यात्वग्रस्तस्य जीवस्य का हानिः? उच्यते—** (परिवट्टंति कसाया) **कषायाः प्रवर्तन्ते। एते कषायास्तु जीवकृते दुर्गतिद्वारमुद्घाटयन्त्येव।**

(अवसर्पिणीकालदोषेण) अवसर्पिणी काल जो प्रवर्तमान है, उसका भी यह विशेष रूप से जो पञ्चम आरा चल रहा है, उसके दुष्प्रभाव से। क्या होता है? बता रहे हैं— **(उपशमकं सम्यक्त्वं पीड्यते)** उपशम सम्यक्त्व पीड़ित होता है, अर्थात् क्षीण, ह्लासयुक्त या नष्ट होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— काललब्धि (पूर्ण) होने पर करणलब्धि **(विशिष्ट आत्मीय परिणाम-विशुद्धि)** के योग्य होकर, अधःकरण व अपूर्वकरण की प्रक्रिया करके, अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में (वह जीव भव्य, चारों गतियों में से किसी भी गति का, मिथ्यादृष्टि, संज्ञी, पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त व गर्भज होता है) परिणाम विशुद्धि को बढ़ाता हुआ, शुभ लेश्या से युक्त, ज्ञानोपयोगयुक्त मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धी कषाय की तीन प्रकृतियों- क्रोध, मान, माया व लोभ का तथा दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति का उपशमन करता है, तदनन्तर कतक (फिटकरी) द्वारा निर्मल किये हुए जल की तरह जो तत्त्वार्थश्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे 'उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं। इस सम्यक्त्व के पीड़ित होने में विशेष हेतु क्या है? बता रहे हैं— **(मिथ्यात्वबलेन)** मिथ्यात्व के बल से। मिथ्यात्व इस तरह बढ़ जाता है कि सम्यक्त्व का ह्लास शुरू हो जाता है, फलस्वरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त जीव की क्या क्षति होती है? बता रहे हैं— **(प्रवर्तन्ते कषायाः)** कषायें प्रवृत्त होने लगती हैं। ये कषाय तो जीव के लिए दुर्गति का द्वार उद्घाटित कर देती हैं।

प्रोक्तं च आराधनासारग्रन्थे (गाथा-३६)—

अत्थि कसाया बलिया सुदुज्जया जेहि तिहुअणं सयलं।
भमइ भमाडिज्जंतो चउगइभवसायरे भीमे।।

मूलाचारग्रन्थे (गाथा-७३७) **च भणितम्—**

कोधो माणो माया लोभो य दुरासया कसायरिऊ।
दोससहस्सावासा दुक्खसहस्साणि पावंति।।

कषायवशात् जीवः संयमं चारित्रं वा पालयितुं पूर्णतया अशक्तो भवति। असंयतेन्द्रियो जीवो विषयभोगेषु आसक्तोऽशुभकर्मबन्धं विधाय दुर्गतिपरम्परामेव स्वयं स्वकृते निष्पादयति। भणितं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-९८४)—

अकसायं तु चरित्तं कसायवसिओ असंजदो होदि।

आराधनासार ग्रन्थ (गाथा-36) में कहा भी गया है—

''वे कषाय अत्यन्त बलवान व अत्यन्त दुर्जेय होती हैं, जिसके द्वारा भ्रमित यह जीव समस्त त्रिलोक में भयंकर चतुर्गति रूप संसार-सागर में भ्रमण करता रहता है।''

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-737) में भी बताया गया है—

''क्रोध, मान, माया व लोभ —ये दुष्ट आश्रय रूप कषाय रूपी शत्रु हजारों दोषों के घर होते हैं और हजारों दुःखों को प्राप्त कराते हैं।''

कषाय के वशीभूत जीव संयम या चारित्र को पालने में पूर्णतः अशक्त हो जाता है। असंयत इन्द्रियों वाला जीव विषयभोगों में अत्यन्त आसक्त होकर अशुभ कर्मों का बन्ध कर दुर्गति की परम्परा को ही स्वयं अपने लिए उत्पन्न करता है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-984) में कहा भी गया है—

''कषायरहित होना चारित्र है और कषाय के वशीभूत जीव असंयत हो जाता है।''

आराधनासारग्रन्थे (गाथा-३७) **च प्रोक्तम्—**

जाम ण हणइ कसाए स कसाई णेव संजमी होइ।
संजमरहियस्स गुणा ण हुंति सव्वे विसुद्धियरा।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-२९६) **च निर्दिष्टम्—**

रयणत्तये वि लद्धे तिव्वकसायं करेदि जइ जीवो।
तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ठरयणत्तओ होउं।।

अजितेन्द्रियस्य विषयसुखासक्तिः परमदुःखदैवेति पद्मपुराणे (श्लोक-२९/७७) **वर्णितम्—**

आपातरमणीयानि सुखानि विषयादयः।
किम्पाकफलतुल्यानि चित्रं प्रार्थयते जनः।।

आराधनासार ग्रन्थ (गाथा-३७) में भी बताया गया है—

''जब तक कषाय-सहित जीव कषायों को नष्ट नहीं करता, तब तक वह संयमी नहीं रह पाता और संयमहीन के समस्त गुण विशुद्धिकारक नहीं होते।''

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-296) में भी कहा गया है —

''रत्नत्रय को प्राप्त करके भी यदि जीव तीव्र कषाय करता है तो वह रत्नत्रय को नष्ट करके दुर्गतियों में गमन करता है।''

अजितेन्द्रिय को विषय-सुखों में जो आसक्ति होती है, वह परम दुःखदायी होती है— यह पद्मपुराण (श्लोक-29/77) में इस प्रकार कहा गया है—

''विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख प्रारम्भ में मनोहर होता है, किन्तु (परिणाम में) किम्पाक फल की तरह (दुःखद) होता है। आश्चर्य यह है कि फिर भी मनुष्य इसकी कामना करता है।''

आदिपुराणग्रन्थे (३६/७४) **च निरूपितम्—**

वरं विषं यदेकस्मिन् भवे हन्ति न हन्ति वा।
विषयास्तु पुनर्घ्नन्ति हन्त जन्तूननन्तशः।।

अतएव कषायजयाय इन्द्रियजयोऽत्यावश्यक इति ज्ञानार्णवग्रन्थे (१८/११५-११७) **विशदरूपेण निरूपितं दृश्यते—**

अजिताक्षः कषायाग्निं विनेतुं न प्रभुर्भवेत्।
अतः क्रोधादिकं जेतुमक्षरोधः प्रशस्यते।।

विषयाशाभिभूतस्य विक्रियन्तेऽक्षदन्तिनः।
पुनस्त एव दृप्यन्ति क्रोधादिगहनं श्रिताः।।

इदमक्षकुलं धत्ते मदोद्रेकं यथा यथा।
कषायदहनः पुंसां विसर्पति तथा तथा।।

आदिपुराण ग्रन्थ (श्लोक-36/74) में भी बताया गया है—

''विष अच्छा है, जो एक ही भव में प्राणी को मारता है या नहीं भी मारता, किन्तु इन्द्रियों के विषय तो जीवों को अनन्त बार मारते रहते हैं, यह कितने शोक की बात है!''

इसीलिए कषाय-जय के लिए इन्द्रिय-जय अत्यावश्यक है —ऐसा ज्ञानार्णव ग्रन्थ (श्लोक 18/115-117) में कहा गया है—

''जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की है, वह जीव कषाय रूप अग्नि को नष्ट करने के लिए समर्थ नहीं होता है। इसलिए उन क्रोध आदि कषायों को जीतने के लिए इन्द्रियनिग्रह की प्रशंसा की जाती है।''

''जो प्राणी विषय-तृष्णा से पराभूत होता है, उसके इन्द्रियरूपी हाथी मानसिक विकार को प्राप्त होते हैं और फिर वे ही क्रोधादि वन का आश्रय लेकर (और भी अधिक) उन्मत्त हो जाते हैं।''

''जैसे-जैसे यह इन्द्रिय-समूह मद की तीव्रता को प्राप्त करता है (मदोन्मत्त होता जाता है), वैसे-वैसे मनुष्यों की कषाय रूपी अग्नि बढ़ती जाती है।''

शास्त्रकारेण कषायाणां मूले मोहो मिथ्यात्वमेवेति गाथायामत्र संकेतितम्। समर्थितं चैतत् ज्ञानार्णवग्रन्थे (२१/२९-३२)—

अयं मोहवशाज्जन्तुः क्रुध्यति द्वेष्टि रज्यते।
अर्थेषु, न स्वभावेन, तस्मान्मोहो जगज्जयी।।

रागद्वेषविषोद्यानं मोहबीजं जिनैर्मतम्।
अतः स एव निःशेषदोषसेनानरेश्वरः।।

असावेव भवोद्भूतदाववह्निः शरीरिणाम्।
तथा दृढतरानन्तकर्मबन्धनिबन्धनम्।।

रागादिगहने खिन्नं मोहनिद्रावशीकृतम्।
जगन्मिथ्याग्रहाविष्टं जन्मपङ्के निमज्जति।।

शास्त्रकार ने इस गाथा (सं. 148) में यह सूचित किया है कि कषायों के मूल में मोह मिथ्यात्व ही है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (21/29-32) में भी इसी का समर्थन करते हुए कहा गया है—

''यह प्राणी बाह्य पदार्थों में जिस किसी पर क्रोध करता है, शत्रुता का व्यवहार किसी से करता है, किसी में आसक्त होता है, वह (सब) मोह के प्रभाव में करता है, न कि स्वतः। अतः 'मोह' ही जगत् का विजेता है।''

''जिनेन्द्र देव का मत है कि राग-द्वेष रूप बगीचे का बीज मोह है। अतः समस्त दोषों की सेना का स्वामी (सेनापति) एक मोह ही है।''

''वह मोह प्राणियों के संसार रूप वन में उत्पन्न हुई वन की अग्नि (दावाग्नि) की तरह (विस्तार को प्राप्त होकर प्राणियों को संतप्त करता) है, तथा प्राणियों के अतिशय दृढ़ व अपरिमित कर्मबन्ध का कारण भी वही मोह है।''

''सभी संसारी प्राणी मिथ्यादर्शन रूपी पिशाच से पीड़ित होकर राग-द्वेषादि भयानक वन में विचरण करते हुए खेद को प्राप्त होते हैं और तब मोह रूप निद्रा के वशीभूत होकर संसार रूप कीचड़ में निमग्न हो जाते हैं।''

मिथ्यात्वदुष्प्रभावविषये भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा ७२३-७२४, ७३२-७३३) **वर्णितम्—**

संसारमूलहेदुं मिच्छत्तं सव्वधा विवज्जेहि।
बुद्धी गुणण्णिदं पि हु मिच्छत्तं मोहिदं कुणदि।।

मयतण्हियाओ उदयत्ति मया मण्णंति जह सतण्हयगा।
तह य णरा वि असद्भूदं सद्भूतं ति मण्णंति मोहेण।।

कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि दुद्धिए कडुगमेव जह खीरं।
होदि णिहिदं तु णिव्वलियम्मि य मधुरं सुगंधं च।।

तह मिच्छत्तकडुगिदे जीवे तवणाणचरणविरियाणि।
णासंति वंतमिच्छत्तम्मि य सफलाणि जायंति।।

अत एव ज्ञानार्णवग्रन्थे (१५/४१) **मुमुक्षवः परामृष्टाः—**

मिथ्यात्व के दुष्प्रभाव के बारे में 'भगवती-आराधना' ग्रन्थ (गाथा 723-724, 732-733) में इस प्रकार वर्णित है—

''मिथ्यात्व संसार का मूल कारण है। उसका मन, वचन व शरीर से त्याग करो, क्योंकि मिथ्यात्व से गुणसम्पन्न बुद्धि भी मूढ़ बन जाती है।''

''सूर्य की किरणें पृथ्वी की ऊष्मा से मिल कर जल का भ्रम पैदा करती हैं, उसे मृगतृष्णा कहते हैं। जैसे प्यास से पीड़ित मृग उसे पानी समझते हैं, वैसे ही मनुष्य भी दर्शनमोह के कारण अतत्त्व को भी तत्त्व जानते-समझते हैं।''

''जैसे अशुद्ध कड़वी तूम्बी में रखा दूध कडुआ हो जाता है, तथा शुद्ध तूंबी में रखा दूध मीठा व सुगन्धित रहता है, वैसे ही मिथ्यात्व से दूषित जीव में तप, ज्ञान, चारित्र, वीर्य —ये सब नष्ट हो जाते हैं और मिथ्यात्व को दूर करने वाले जीव में तप आदि सफल होते हैं।''

इसीलिए ज्ञानार्णव ग्रन्थ (श्लोक-15/41) में मुमुक्षुओं को यह परामर्श दिया गया है—

विरम विरम संगान् मुञ्च मुञ्च प्रपञ्चं, विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं, कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः।।

एवं हे भव्य! कषायजयाय तथा कषायमूलमिथ्यात्वप्रतिपक्षभूतं सम्यक्त्वं दृढीकर्तुं च निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ, श्रावकाणां काः क्रिया भवन्तीति शास्त्रकारा (उग्गाहा)**-गाहाछन्दसा निर्वर्णयन्ति—**

गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं जलगालणं अणत्थमियं।
दंसण-णाण-चरित्तं किरिया तेवण्ण सावया भणिदा।।१४९।।

छाया— गुण-व्रत-तपः-साम्य-प्रतिमा-दानं जलगालनम् अनस्तमितम्।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रं क्रियाः त्रिपञ्चाशत् श्रावकीयाः भणिताः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (किरिया तेवण्ण सावया भणिदा) **त्रिपञ्चाशत् श्रावकीयाः क्रिया भणिताः। श्रावकैः कर्तव्यरूपेण याः क्रियाः भवन्ति, ता अत्र निर्दिश्यन्ते इत्यर्थः। कास्ताः क्रियाः?**

''हे भव्य! तू परिग्रह से सर्वथा विराम ले लो, प्रपञ्च (धूर्तता, माया) को छोड़ दो, मोह का परित्याग कर दो, आत्मस्वरूप को प्रयत्नपूर्वक जानो, चारित्र की पहिचान कर उससे सम्बन्ध स्थापित करो (उसे धारण कर लो), अपने असाधारण स्वरूप को देखो तथा निर्बाध मोक्षसुख के लिए पुरुषार्थ करो।''

इस प्रकार, हे भव्य! कषाय-जय के लिए तथा कषायों के मूल मिथ्यात्व के प्रतिपक्षी सम्यक्त्व को दृढ़ करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, श्रावकों की कौन-कौन सी क्रियाएँ होती हैं— इसे शास्त्रकार (उग्गाहा) गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— (आठ मूल) गुण, (बारह) व्रत, (बारह) तप, समता भाव, (ग्यारह) प्रतिमाएँ, (चार) दान, जलगालन (पानी छानकर पीना), रात्रिभोजन त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र —ये (कुल मिलाकर) तिरेपन क्रियाएँ श्रावकों की कही गई हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(क्रियाः त्रिपञ्चाशत् श्रावकीयाः भणिताः)** श्रावकों की क्रियाएं तिरेपन (53) कही गई हैं। श्रावकों के लिए जो क्रियाएं कर्तव्य रूप में हैं, उनका यहाँ निर्देश किया जा रहा है —यह अर्थ है। वे क्रियाएँ कौन-कौन हैं?

उच्यते— (गुण-वय-तव-सम-पडिमा-दाणं जलगालणं अणत्थमियं, दंसण-णाण-चरित्तं) **गुणाः, व्रतानि, तपांसि, साम्यम्, प्रतिमाः, दानानि, जलगालनम्, अनस्तमितं रात्रिभोजनत्यागो वा, सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानम्, सम्यक्चारित्रं चेति क्रियाः। एतासु गुणाः मूलगुणा अष्टौ भवन्ति, व्रतानि द्वादश भवन्ति, तपांसि द्वादश। समताभाव एकः, एकादश प्रतिमाः, दानानि चत्वारि, रात्रिभोजनत्याग एकः , सम्यग्दर्शनमेकम्, सम्यग्ज्ञानमेकम्, सम्यक् चारित्रं चैकम्, —एताः संहत्य त्रिपञ्चाशत् भवन्तीति विज्ञेयम्।**

सम्प्रति विस्तरेण विव्रियते— हिंसा-असत्य-चौर्य-परिग्रह-अब्रह्मसेवनैकदेशविरतिरूपाणि पञ्च अणुव्रतानि। मद्यत्यागः, मधुत्यागः, मांसत्यागश्चेति त्रयाणां (पञ्चभिरणुव्रतैः सह) **मेलने मूलगुणानां संख्या अष्ट जायते। प्रोक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारे** (श्लोक-६६)—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुः गृहिणां श्रमणोत्तमाः।।

बता रहे हैं— **(गुण-व्रत-तपः-साम्य-प्रतिमा-दानं जलगालनम्, अनस्तमितम्, दर्शन-ज्ञान-चारित्रम्)** गुण, व्रत, तप, साम्य (समता), प्रतिमा, दान, जल छानकर पीना, सूर्यास्त होने पर भोजन न करना या रात्रिभोजन का त्याग, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र —ये क्रियाएँ हैं। इनमें गुण यानी मूलगुण आठ होते हैं। व्रत बारह होते हैं। तप बारह होते हैं। समता भाव एक है। प्रतिमाएँ (आत्मविशुद्धि के क्रमिक सोपान) ग्यारह होती हैं। दान चार हैं। रात्रिभोजन-त्याग एक है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, तथा सम्यक्चारित्र —ये (भेदविवक्षा को गौण रखते हुए) प्रत्येक एक-एक हैं। ये सभी मिलकर तिरेपन हो जाते हैं —यह ज्ञातव्य है।

अब विस्तार से व्याख्यान कर रहे हैं —हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह, अब्रह्मसेवन —इनसे एकदेश (स्थूल रूप से) विरति रूप पाँच अणुव्रत हैं। मद्यत्याग, शहद का त्याग व मांस का त्याग —इन्हें (पाँच अणुव्रतों के साथ) मिलाने से मूलगुणों की संख्या आठ होती है। रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक-66) में कहा भी गया है—

''मद्य, मांस व मधु के त्याग सहित पाँच अणुव्रतों को श्रेष्ठ मुनिराजों ने गृहस्थों के अष्ट मूलगुण के रूप में कहा है।''

विवक्षाभेदेन अष्टगुणा अन्येऽपि वर्णिताः। यथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाये (श्लोक-६१) **भणितम्—**

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बुरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैः, मोक्तव्यानि प्रथममेव।।

एतेऽष्टौ मूलगुणाः व्रतिनोऽव्रतिनश्च भवन्ति। उक्तं च पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/७२३)—

तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम्।
क्वचिदव्रतिनां यस्मात् सर्वसाधारणा इमे।।

सागारधर्मामृतग्रन्थे तु (श्लोक-२/१८) **निर्दिष्टम्—**

मद्यपलमधुनिशासन-पञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

विवक्षा-भेद से अन्य (प्रकार से) भी आठ मूलगुणों का वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (श्लोक-61) में कहा गया है—

''हिंसा-त्याग की कामना वाले पुरुषों को सर्वप्रथम मद्य, मांस, शहद तथा (ऊमर, कठूमर आदि) पाँच उदम्बर फलों का त्याग करना चाहिए।''

ये आठों मूलगुण व्रती व अव्रती— दोनों के होते हैं। पञ्चाध्यायी ग्रन्थ(2/723) में कहा भी गया है—

''व्रतधारी गृहस्थों के ये आठ मूलगुण होते हैं। कहीं-कहीं ये अव्रतियों के भी होते हैं, क्योंकि ये सर्वसाधारण धर्म हैं।''

सागारधर्मामृत ग्रन्थ (श्लोक-2/18) में तो इस प्रकार कथन किया गया है—

''कहीं (किन्हीं आचार्य के मत में) (1) मद्यत्याग, (2) मांसत्याग, (3) मधुत्याग, (4) रात्रिभोजन त्याग व (5) पाँच उदम्बर फल — इनका त्याग, (6) देव-वन्दना, (7) जीव-दया, व (8) पानी छानकर पीना —ये आठ मूलगुण माने गये हैं।''

पञ्च अणुव्रतानि, त्रीणि गुणव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि —इत्येवं संहत्य द्वादश श्रावकोचितानि व्रतानि भवन्ति। अणुव्रतानां निर्देशो रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-५२) **एवं वर्ण्यते—**

प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः।
स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति।।

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२०७४) **तु प्रोक्तम्—**

पाणवध-मुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं ।
अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं।।

दिग्व्रतम्, देशव्रतम्, अनर्थदण्डविरतिव्रतम् —एतानि त्रीणि गुणव्रतानि। प्रोक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२०७५)—

जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं।
देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं।।

पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत —इस प्रकार सब को मिलाकर श्रावकोचित व्रतों की संख्या बारह हो जाती है। अणुव्रतों का निर्देश रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-52) में इस प्रकार वर्णित है—

''हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील, अब्रह्मचर्य), मूर्च्छा (परिग्रह) —इन पाँच स्थूल पापों से विरत होना (पाँच प्रकार का) अणुव्रत होता है।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2074) में तो कहा गया है—

''हिंसा, असत्य, अदत्तादान, परस्त्रीगमन और इच्छा (परिग्रह) का अपरिमाण (अर्थात् अपरिमित इच्छा या परिग्रह) —इन से विरति रूप पाँच अणुव्रत होते हैं।''

दिग्व्रत, देशव्रत (देशावकाशिक व्रत), अनर्थदण्डविरति व्रत —ये तीन गुणव्रत हैं। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2075) में कहा भी गया है—

''दिग्विरति, अनर्थदण्डविरति, देशावकाशिक —ये तीन गुणव्रत होते हैं।''

देशावकाशिकम्, सामायिकम्, प्रोषधोपवासः, वैयावृत्त्यं चेति चत्वारि शिक्षाव्रतानि भवन्ति। प्रोक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-९१)—

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।।

भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२०७६) **च पृथक् रूपेण शिक्षाव्रतानि निरूपितानि—**

भोगाणं परिसंखा सामाइयमतिहिसंविभागो य।
पोसहविधि य सव्वो चदुरो सिक्खाउ वुत्ताओ।।

तपांसि बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधानि। तत्र अनशनम्, अवमौदर्यम्, वृत्तिपरिसंख्यानम्, रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनम्, कायक्लेशश्चैतानि षड् बाह्यतपांसि। प्रायश्चित्तम्, विनयः, वैयावृत्त्यम्, स्वाध्यायः, व्युत्सर्गः, ध्यानं चेति आभ्यन्तरतपांसि षड्। प्रतिमा एकादश भवन्ति, तासां नामानि 'बारस अणुवेक्खा'**-ग्रन्थे** (गाथा-६९) **निर्दिष्टानि—**

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, वैयावृत्त्य —ये चार शिक्षाव्रत हैं। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-91) में कहा भी गया है—

"देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास व वैयावृत्त्य —ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।"

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-2076) में शिक्षाव्रतों का निरूपण भिन्न रूप में किया गया है—

"भोगपरिमाण, सामायिक, अतिथिसंविभाग, प्रोषधोपवास —ये चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं।"

तप के बाह्य व आभ्यन्तर —ये दो भेद हैं। इन में अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश —ये छः बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान —ये छः आभ्यन्तर तप हैं। प्रतिमाएँ ग्यारह होती हैं, उनके नाम 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-69) में इस प्रकार बताये गये हैं—

दंसण-वय-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य।
बंभारंभ-परिग्गह-अणुमणमुद्दिट्ठ-देसविरदेदे।।

आहारदानम्, औषधदानम्, ज्ञानसंयमादिउपकरणदानम्, आवासदानम् —इति चत्वारि दानानि।

सम्प्रति क्रमप्राप्तो जलगालनविधिर्निरूप्यते। जलबिन्दवो वस्तुतः अप्कायजीवानां सूक्ष्माणां शरीररूपाणि भवन्ति। तत्रापि अन्येषां त्रसजीवानां सद्भावोऽपि भवितुं शक्नोति। एवं सचित्तजलस्य पानं, तेन स्नानादिकाः क्रियाः, जीववधाय भवन्ति, अतः तज्जलविशुद्ध्यर्थं वस्त्रादिना यथाविधि गालनमपेक्षितं भवति। एकस्मिन् जलबिन्दावपि स्थितानां सूक्ष्मैकेन्द्रियाणां जीवानां संख्यामधिकृत्य व्रतविधानसंग्रहे (श्लोक-३१, उद्धृत श्लोक) **भणितम्—**

एकबिन्दूद्भवा जीवाः पारावतसमा यदि।
भूत्वोच्चरन्ति चेज्जम्बूद्वीपोऽपि पूर्यते च तैः।।

"दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा, सामायिकप्रतिमा, सचित्तत्यागप्रतिमा, रात्रिभक्तत्याग प्रतिमा, ब्रह्मचर्यप्रतिमा, आरम्भत्यागप्रतिमा, परिग्रहत्यागप्रतिमा, अनुमतित्यागप्रतिमा, उद्दिष्टत्यागप्रतिमा —ये ग्यारह प्रतिमाएँ देशविरत श्रावक की होती हैं।"

आहारदान, औषधदान, ज्ञान व संयम के उपकरण आदि का दान और वसतिका (आवास) दान —ये चार दान हैं।

अब, क्रमप्राप्त जलगालनविधि का निरूपण किया जा रहा है। जल की बूँदें वस्तुतः सूक्ष्म अप्कायजीवों की शरीर रूप होती हैं। वहाँ (जल में) भी अन्य त्रस जीवों का भी सद्भाव हो सकता है। इस प्रकार, सचित्त (सजीव) जल को पीना और उससे स्नान आदि की क्रियाएँ करना जीवहिंसा रूप होता है। इसलिए उस (प्रयोग के योग्य) जल की शुद्धि के लिए वस्त्र आदि से यथाविधि उसका गालन (उसे छानना) अपेक्षित हो जाता है। एक जलबिन्दु में भी स्थित सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की संख्या के विषय में व्रतविधानसंग्रह (श्लोक-31 पर उद्धृत श्लोक) में कहा गया है—

"जल की एक बूँद में जितने जीव हैं, वे कबूतर के बराबर होकर यदि उड़ें तो उनके द्वारा यह जम्बूद्वीप लबालब भर जाए।"

अतो जलशुद्ध्यै जलगालनविधिरपेक्षितो भवति। किञ्च, अगालितजलप्रयोगे अतिरागदोष-सद्भावोऽपि अभिव्यक्तो भवति, अतो रागदोषपरिहाराय तथा जीवहिंसाविरत्यै च जलगालनविधेः श्रावकोचितक्रियासु परिगणनं विहितमस्ति। अस्मिन् विधौ जलशुद्धि-अशुद्धिविवेकस्य महत्त्वं स्पष्टमेव निहितमस्ति। एवं जीवविराधनाभीरुभिः श्रावकैः जीवरहितप्रासुकजलस्यैव प्रयोगः कर्तव्य इति शास्त्रेषु बहुशो निर्दिष्टं वरीवर्ति। यथा, रत्नमालाग्रन्थे (श्लोक-२०) **प्रोक्तम्—**

वस्त्रपूतं जलं पेयमन्यथा पापकारणम्।
स्नानेऽपि शोधनं वारः करणीयं दयापरैः।।

सागारधर्मामृते (२/१४) **च निर्दिष्टम्—**

रागजीववधापायभूयस्त्वात् तद्वदुत्सृजेत्।
रात्रिभक्तं तथा युंज्यान्न पानीयमगालितम्।।

इसलिए जल की शुद्धि हेतु जलगालन-विधि अपेक्षित हो जाती है। और, अनछने जल के प्रयोग में अत्यधिक राग होना भी अभिव्यक्त होता है, इसलिए राग-दोष के परिहार के लिए तथा जीव-हिंसा से बचने के लिए श्रावकोचित क्रियाओं में जलगालन-विधि परिगणित की गई है। इस विधि में जल की शुद्धि व अशुद्धि के विवेक का महत्त्व स्पष्ट रूप से निहित है। इस प्रकार, जीव-विराधना से डरने वाले श्रावकों को जीवरहित प्रासुक जल का ही प्रयोग करना चाहिए —यह शास्त्रों में बहुत बार बताया गया है। उदाहरणार्थ, रत्नमाला ग्रन्थ (श्लोक-20) में कहा गया है—

''मनुष्यों को सदा वस्त्र से पवित्र छना हुआ जल ही पीना चाहिए, अन्यथा अनछना पानी पीने से पापबन्ध होता है। स्नान आदि में भी दयापरायण लोगों को जल का शोधन (कर ही प्रयोग) करना चाहिए।''

सागारधर्मामृत (2/14) में भी बताया गया है—

''धर्मात्मा पुरुषों को मद्यादि की तरह राग तथा जीवहिंसा से बचने के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए और जो दोष रात्रिभोजन में लगते हैं, वे ही दोष अगालित (अनछने) पेय पदार्थों के प्रयोग में भी लगते हैं, यह जानकर बिना छने पेय (जल आदि) पदार्थों का भी त्याग कर देना चाहिए।''

अन्यच्च, लाटीसंहिताग्रन्थे (२/२३-२४) **परामृष्टम्—**

गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैलं पयो द्रवम्।
तोयं जिनागमाम्नायाद् आहरेत्स न चान्यथा।।

अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचारसंज्ञकः।
अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य शेषता।।

धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचारग्रन्थे (४/८८-८९) **च भणितम्—**

प्रमादो नैव कर्तव्यो जलानां गालनं बुधैः।
श्रीमज्जैनमते दक्षैः सदा जीवदयापरैः।।

पिबन्ति गालितं तोयं तेऽत्र भव्या विचक्षणाः।
अन्यथा पशुभिस्तुल्याः पापतो विकलाशयाः।।

इसके अतिरिक्त, लाटी संहिता ग्रन्थ (2/23-24) में भी यह परामर्श दिया गया है—

"घी, तेल, दूध, पानी आदि के पतले (द्रवभूत) पदार्थों को जैन शास्त्रों में कही हुई विधि से किसी मजबूत गाढ़े वस्त्र से छानकर ही प्रयोग में लाना चाहिए, अन्यथा काम में नहीं लाना चाहिए।"

"चूंकि जलादि पदार्थों में त्रस जीवों के मरे हुए शरीर के अवयव भी रह जाते हैं, इसलिए अनछने जलादि पदार्थों के प्रयोग में मांस के त्याग का भी अतिचार अवश्य लगता है।"

धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार ग्रन्थ (4/88-89) में भी कहा गया है—

"श्रीमन्त जैनमत में दक्ष, जीवदया में तत्पर ज्ञानियों को जल के गालन में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।"

"जो पुरुष यहाँ वस्त्र-गालित जल को पीते हैं, वे ज्ञानी भव्य हैं। अन्यथा प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष तो पशुओं के समान हैं और पाप के उपार्जन करने से हीन हृदय वाले हैं।"

किञ्च, जलगालनविधौ प्रयुक्तं वस्त्रं कीदृशं स्यादिति विषयेऽपि धर्मोपदेशपीयूषवर्ष-श्रावकाचारे (४/८७, उद्धृत श्लोक सं. १४) **निर्देशः प्राप्यते—**

षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं चतुर्विंशतिविस्तृतम्।
तद् वस्त्रं द्विगुणीकृत्य तोयं तेन तु गालयेत्।।

गालितजलस्य प्रासुकता कियत्कालं तिष्ठतीति विषयेऽपि रत्नमालाग्रन्थे (श्लोक-३१) **प्रोक्तम्—**

मुहूर्ताद् गालितं तोयं प्रासुकं प्रहरद्वयम्।
उष्णोदकमहोरात्रम् अगालितमिवोच्यते।।

जलगालनविधेरतिचारा अपि सागारधर्मामृतग्रन्थे (३/१६) **इत्थं निरूपिताः—**

मुहूर्तयुग्मोर्द्ध्वमगालनं वा दुर्वाससा गालनमम्बुनो वा।
अन्यत्र वा गालितशेषितस्य न्यासो निपानेऽस्य न तद्व्रतेऽर्च्यः।।

और, जल छानने की प्रक्रिया में प्रयुक्त किया जानेवाला वस्त्र कैसा हो —इस विषय में भी धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार (4/87, उद्धृत श्लोक सं. 14) में भी यह निर्देश प्राप्त होता है—

''छत्तीस अंगुल प्रमाण लम्बे और चौबीस अंगुल चौड़े वस्त्र को दुगुना (दुहरा) करके उससे जल को छानना चाहिए।''

छाने हुए जल की प्रासुकता कितने काल तक रहती है —इस विषय में रत्नमाला ग्रन्थ (श्लोक-31) में कहा गया है—

''छना हुआ जल दो घड़ी तक, (हरड़े आदि से) प्रासुक किया हुआ दो पहर या छः घण्टे तक तथा उबाला हुआ जल 24 घण्टे तक प्रासुक या पीने योग्य रहता है, उसके बाद बिना छने के समान हो जाता है।''

जल छानने की विधि के अतीचारों को भी सागारधर्मामृत (3/16) में इस प्रकार निरूपित किया गया है—

''दो मुहूर्त अर्थात् चार घड़ी के बाद जल का नहीं छानना अथवा छोटे व छिद्र सहित पुराने वस्त्र से छानना, अथवा छानने के बाद में बचे हुए जल का दूसरे जलाशय में डालना — यह जलगालनव्रत में उचित (योग्य) नहीं है।''

इदानीं क्रमप्राप्त— रात्रिभोजनत्यागमधिकृत्य किञ्चिद् निरूप्यते— जलगालनम्, रात्रिभोजन-विरतिश्च, अनयोरन्तर्भावः श्रावकमूलगुणेषु च विहितो दृश्यते। सागारधर्मामृतग्रन्थे (२/१८) **यथा प्रोक्तम्—**

मद्यमलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती।
जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणाः।।

एवं रात्रिभोजनविरमणं प्रत्येकश्रावककृते अनिवार्यमेव सिद्ध्यति। किञ्च, अहिंसाणुव्रत-रक्षार्थमपि रात्रिभोजनविरतेः पालनमावश्यकम्। उक्तं च सागारधर्मामृतग्रन्थे (४/२४)—

अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत्।।

रात्रिभोजनत्यागव्रतस्य षष्ठाणुव्रतरूपेणापि निर्देशो विहितो दृश्यते, तेनास्य श्रावकजीवने महत्त्वं स्पष्टं भवति। आचारसारग्रन्थे (५/७०७१) **च प्रोक्तम्—**

अब, क्रमप्राप्त रात्रिभोजनत्याग के विषय में कुछ बताया जा रहा है— जलगालन (जल छानना) तथा रात्रिभोजनविरति —इन दोनों का अन्तर्भाव श्रावक के मूलगुणों में किया गया दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, सागारधर्मामृत ग्रन्थ (2/18) में कहा गया है—

''मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग, पञ्चोदुम्बरफलत्याग, देववन्दना, जीवदया और जलगालन —इस प्रकार किसी आचार्य ने ये आठ मूलगुण कहे हैं।''

इस प्रकार, प्रत्येक श्रावक के लिए रात्रिभोजनविरति अनिवार्य ही सिद्ध हो जाती है। और, अहिंसा अणुव्रत की रक्षा हेतु भी रात्रिभोजनविरति का पालन आवश्यक होता है। सागारधर्मामृत (4/24) ग्रन्थ में कहा भी है—

''व्रतों का पालक श्रावक अहिंसाणुव्रत की रक्षा के लिए धैर्ययुक्त होता हुआ रात्रि में मन-वचन-काय से चारों ही (अन्न, पान, लेह्य, खाद्य) प्रकार के आहार को जीवपर्यन्त छोड़ दे।''

रात्रिभोजनत्याग व्रत का छठे अणुव्रत के रूप में भी निर्देश किया गया दृष्टिगोचर होता है, इससे श्रावक के जीवन में इस (रात्रि-भोजन-त्याग) की महत्ता स्पष्ट हो जाती है। आचारसार ग्रन्थ (5/7071) में कहा भी है—

व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्।
सर्वथान्नान्निवृत्तिस्तत् प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्।।

रात्रिभोजने के महान्तो दोषाः सम्भवन्ति —इतिविषये पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थे (श्लोक १२९-१३४) **विशदीकृतम्—**

रात्रौ भुञ्जानानां यस्माद् निवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात् त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिन्दिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा।।

''अहिंसा आदि व्रतों की रक्षा के लिए रात्रिभोजन का त्याग करना अथवा रात में अन्न आदि खाने का त्याग करना छठी रात्रिभुक्तित्यागप्रतिमा या छठा अणुव्रत है।''

रात्रिभोजन में कौन-से बड़े दोष सम्भव हैं —इस विषय में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (श्लोक 129-134) में स्पष्ट किया गया है—

''चूंकि रात्रि में भोजन करनेवालों के अनिवार्य रूप से हिंसा है, अतः हिंसा के त्यागी जनों को रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए।''

''अनिवृत्ति (अर्थात् अत्यागभाव) रागादिकों की उत्कृष्टता से होता है, इसलिए वह हिंसा का अतिक्रमण नहीं करता (अर्थात् वहाँ हिंसा होती ही है), तो फिर जो पुरुष रात-दिन आहार करता है, उसके हिंसा कैसे सम्भव नहीं है? (अर्थात् हिंसा होगी ही)''

(शंका—) ''यदि ऐसा है तो दिन में भोजन का परित्याग कर देना चाहिए और रात्रि में भोजन करना चाहिए। इस प्रकार से नित्य हिंसा नहीं होती है।''

नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य।।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत् कथं हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजीवानाम्।।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति।।

अत्रेदं ज्ञेयम्— यद्यपि दार्शनिकप्रतिमाधारी अव्रती भवति, तथापि तत्कृतेऽपि कुलाचाररूपेण रात्रिभोजनविरतिरूपं चरणं पालनीयमेव भवति। वस्तुतो दार्शनिकः पाक्षिको वा श्रावको भवेत्, रात्रिभोजनविरतिरूपकुलक्रियां विना तस्य दार्शनिकत्वं पाक्षिकत्वं वा न यथार्थतः संगच्छते। विशदीकृतं चैतत् लाटीसंहिताग्रन्थे (१/४४-५०)—

(समाधान—) ''ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि दिन में भोजन की अपेक्षा रात्रिभोजन में राग की अधिकता होती है, जैसे कि अन्न का ग्रास खाने वाले की अपेक्षा मांस के ग्रास को खाने वाले के अधिक राग होता है।''

''सूर्य के प्रकाश के बिना भोजन करनेवाला मनुष्य हिंसा का परिहार कैसे कर सकेगा? (नहीं कर सकेगा।) यदि दीपक को जलाकर रात्रि में भोजन करेगा तो भोज्य पदार्थ में पड़े हुए सूक्ष्म जीवों की हिंसा को कैसे दूर कर सकेगा?''

''अधिक कहने से क्या लाभ? जो पुरुष मन-वचन-काय से रात्रिभोजन का परित्याग करता है, वह सदा ही अहिंसा धर्म का पालन करता है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— यद्यपि दार्शनिक प्रतिमा का धारक अव्रती होता है, फिर भी उसके लिए भी कुलाचार रूप से रात्रिभोजनविरति आचरण तो पालनीय ही होता है। वस्तुतः श्रावक दार्शनिक हो या पाक्षिक हो, रात्रिभोजनविरति रूप कुलक्रिया के बिना उसकी दार्शनिकता या पाक्षिकता, कोई भी यथार्थ रूप से संगत नहीं होती है। लाटीसंहिता ग्रन्थ (1/44-50) में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

न वाच्यं भोजयेदन्नं कश्चिद् दर्शनिको निशि।
अव्रतित्वादशक्यत्वात् पक्षमात्रात् सपाक्षिकः।

अस्ति तत्र कुलाचारः सैषा नाम्ना कुलक्रिया।
तां विना दर्शनिको न स्यान्न स्यान्नामतस्तथा।।

मांसमात्रपरित्यागाद् अनस्तमितभोजनम्।
व्रतं सर्वजघन्यं स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रियाः।।

''कदाचित् यहाँ पर कोई यह शंका करे कि दर्शन प्रतिमा को धारण करनेवाला (दर्शन प्रतिमा में भी मूलगुणों का धारण करनेवाला) अव्रती है— उसके कोई व्रत नहीं है, इसलिए वह रात्रि में अन्नादिक भोजनों का भी त्याग नहीं कर सकता —वह रात्रि में अन्नादिक भोजन खा सकता है, अथवा वह अभी अव्रती है, इसलिए वह रात्रि-भोजन के त्याग में असमर्थ है— शक्ति रहित है, इसलिए भी वह रात्रि में अन्नादिक भोजन खा सकता है। अथवा वह पाक्षिक है— व्रतादिकों के धारण करने का केवल पक्ष रखता है। व्रतादिकों का धारण नहीं करता, इसलिए भी वह रात्रि-भोजन का त्याग नहीं कर सकता।''

''परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नहीं है क्योंकि इस दर्शन प्रतिमा में अथवा दर्शन प्रतिमा के अन्तर्गत मूलगुणों के धारण करने में एक कुलाचार माना गया है (कुल-परम्परा से चला आया जो आचरण उसे कुलाचार कहते हैं) और उसी कुलाचार को कुलक्रिया भी कहते हैं। रात्रि-भोजन का त्याग करना इस पाक्षिक श्रावक का कुलाचार या कुलक्रिया है। इस कुलाचार या कुलक्रिया के बिना वह मनुष्य दर्शनप्रतिमाधारी अथवा पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता। और की तो क्या? इस रात्रिभोजनत्यागरूप कुलक्रिया के बिना वह नाम मात्र से भी पाक्षिक श्रावक नहीं हो सकता।''

''जो मांस मात्र का त्यागी है और रात्रि-भोजन नहीं करता है, वह सबसे जघन्यव्रती कहलाता है तथा उससे जो नीच है अर्थात् जिसके मांस और रात्रि-भोजन का भी त्याग नहीं है वहाँ पर कोई भी क्रिया नहीं समझनी चाहिए।''

नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती।
पक्षमात्रावलम्बी स्याद् व्रतमात्रं न चाचरेत्।।

यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात्।
लोपात्सर्वविदाज्ञायाः साध्या पाक्षिकता कुतः।।

आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः।
कश्चित् सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः।।

''कदाचित् कोई यह कहे कि पाक्षिक श्रावक किसी व्रत का पालन नहीं करता, इसीलिए वह अव्रती है। वह तो व्रत धारण करने का केवल पक्ष रखता है— किसी व्रत का पालन नहीं करता। अतएव वह रात्रि-भोजन का त्याग भी नहीं कर सकता। परन्तु शंका करनेवाले द्वारा यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि रात्रि-भोजन का त्याग न करने से उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतों के धारण करने के पक्ष को स्वीकार करना भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष बाधा आ जाती है। जब रात्रि-भोजन का त्याग करना कुलक्रिया है और उसके बिना दर्शन प्रतिमा या मूलगुण हो ही नहीं सकते, फिर भला रात्रि-भोजन करनेवाले के मूलगुणों का अथवा सम्यग्दर्शन धारण करने का भी पक्ष किस प्रकार कहा जा सकता है? दूसरी बात यह है कि यदि रात्रि-भोजन त्यागरूप कुलक्रिया का पालन न किया जायेगा तो फिर सर्वज्ञदेव की आज्ञा का लोप करना समझा जायेगा। क्योंकि सर्वज्ञदेव ने रात्रि-भोजन का त्याग कुलाचार में बतलाया है और बिना इस कुलाचार के सम्यग्दर्शन हो नहीं सकता। इसलिए रात्रि-भोजन का त्याग न करना कुलाचार का पालन नहीं करना है और कुलाचार का पालन न करना सर्वज्ञदेव की आज्ञा का लोप करना है तथा जब सर्वज्ञदेव की आज्ञा का लोप ही हो जायेगा तो फिर उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहर सकेगा।''

''चूंकि भगवान् सर्वज्ञदेव की यही आज्ञा है कि जो क्रियावान् है— कुलक्रिया का पालन करता है, वही श्रावक माना जाता है। जो सबसे निकृष्ट श्रावक है, उसको भी अपनी कुलक्रियायें कभी नहीं छोड़नी चाहिये। अतएव मांसत्याग करनेवाले पाक्षिक श्रावक को रात्रि-भोजन का त्याग अवश्य कर देना चाहिए।''

उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिकव्रतेषु च।
सन्देहो नैव कर्तव्यः, कर्तव्यो व्रतसंग्रहः।।

जैनश्रावकाणां कृते आहारग्रहणयोग्यकालनिरूपणप्रसङ्गेऽपि रात्रिभोजनविरतिः समर्थिता दृश्यते। यथा लाटीसंहितायां (५/२३४-२३५) **भणितम्—**

काले पूर्वाह्नके यावत् परतो पराह्नेऽपि च।
यामस्यार्द्धं न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने।।

याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत्।
आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा।।

"बहुत कहाँ तक कहा जाय इस दर्शन प्रतिमा के वर्णन में जो कुछ पहले कह चुके हैं, और जो कुछ आगे कहेंगे, उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए। सभी सन्देहों को छोड़कर केवल व्रतों का संग्रह करना चाहिए।"

जैन श्रावकों के लिए आहार करने के योग्य काल के निरूपण के प्रसङ्ग में भी रात्रिभोजनविरति का समर्थन किया हुआ दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ, लाटीसंहिता (5/234-235) में कहा गया है—

"भोजन का समय दोपहर से पहले-पहले है अथवा दोपहर के बाद दिन ढलने का समय भी भोजन का समय है, अणुव्रती श्रावकों को सूर्य निकलने के बाद आधे पहर तक भोजन नहीं करना चाहिए, इसी प्रकार सूर्य अस्त होने के आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार अणुव्रती श्रावक को रात में सर्वथा भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस दिन पानी बरस रहा हो, काली घटा छायी हो और उस घटा के कारण अन्धेरा-सा हो गया हो, उस समय भी भोजन नहीं करना चाहिए। अणुव्रती श्रावकों को प्रायः पहले पहर में भोजन नहीं करना चाहिए। (क्योंकि वह समय मुनियों के भोजन का समय नहीं है। मुनि प्रायः दूसरे पहर में भोजन के लिए निकलते हैं तथा मुनियों को आहार देकर या उस समय तक पात्र की प्रतीक्षा कर भोजन करना श्रावक का कर्तव्य है अतएव श्रावकों को पहले पहर में भोजन नहीं करना चाहिए।) इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकों को दोपहर के समय का भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए। यह भोजन का समय बतलाया है, औषधि और जल का समय नहीं बतलाया। अतः वह उन्हें ले सकता है।"

रात्रिभोजनत्यागात्मकमूलगुणस्य शास्त्रे अतीचारा अपि प्रोक्ताः। यथा, सागारधर्मामृतग्रन्थे (३/१५) **भणितम्—**

मुहूर्तेऽन्त्ये तथाऽऽद्येऽह्नो वल्भानस्तमिताशिनः।
गदच्छिदेऽप्याम्रघृताद्युपयोगश्च दुष्यति।।

रात्रिभोजनत्यागस्य माहात्म्यं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३८३) **इत्थं निरूपितम्—**

जो णिसि भुक्तिं वज्जदि सो उववासं करेदि छम्मासं।
संवच्छरस्स मज्झे आरंभं मुयदि रयणीए।।

एवं रत्नत्रयात्मक-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसहिताः श्रावकोचिताः त्रिपञ्चाशत् क्रियाः हे भव्य! सम्यगवबुद्ध्य, त्रिविधेन योगेन निरवद्यतया तासामनुष्ठाने सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

रात्रिभोजनत्यागरूप मूलगुण के अतीचार भी शास्त्रों में बताई गई है। उदाहरणार्थ, सागारधर्मामृत ग्रन्थ (3/15) में कहा गया है—

''रात्रि-भोजन का त्याग करनेवाले श्रावक द्वारा दिन के अन्तिम प्रहर व प्रथम मुहूर्त में भोजन करना तथा रोग दूर करने हेतु आम व घी वगैरह का सेवन करना अतीचारजनक होता है।''

रात्रिभोजनत्याग का माहात्म्य कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-383) में इस प्रकार निरूपित किया गया है—

''जो पुरुष रात्रिभोजन का त्याग करता है, वह एक वर्ष में छः महीने का उपवास करता है। रात्रिभोजन का त्याग करने के कारण, वह भोजन व व्यापार आदि से सम्बन्धित सम्पूर्ण आरम्भ भी रात्रि में नहीं करता।''

इस प्रकार रत्नत्रयात्मक— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के साथ श्रावकोचित तिरेपन क्रियाओं को हे भव्य! अच्छी तरह समझकर, त्रिविध योग से निर्दोष रूप से उनके अनुष्ठान में निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, ज्ञानाभ्यासस्य महत्त्वमुपादेयतां च शास्त्रकाराः उग्गाहाछन्दसा बोधयन्ति—

णाणेण झाणसिद्धी झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं णाणब्भासं तदो कुज्जा।।१५०।।

छाया— ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः, ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणम्।
निर्जरणफलं मोक्षः, ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (णाणब्भासं तदो कुज्जा) **ततः, तस्मात् ज्ञानाभ्यासं कुर्यात्। सम्यग्ज्ञानप्राप्त्यै शास्त्रस्वाध्यायमाध्यमेन सततमेव श्रावकेण ज्ञानाभ्यासः कर्तव्यः। कस्मात् कारणात्? उच्यते—** (णाणेण झाणसिद्धी) **ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः भवति। ध्यानपदेन प्रकरणवशात् प्रशस्तध्यानमेव ग्राह्यं नत्वप्रशस्तम्। वस्तुतो ध्यानं ज्ञानस्यैव विशिष्टपर्यायः।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/२७)— ''एतदुक्तं भवति— ज्ञानमेव अपरिस्पन्दाग्निशिखावत् अवभासमानं ध्यानमिति।''

पञ्चाध्यायीग्रन्थे (२/८३९) **च भणितम्—**

अब, ज्ञानाभ्यास की महत्ता व उपादेयता को शास्त्रकार उग्गाहा छन्द द्वारा समझा रहे हैं—

गाथा-अर्थ— ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, और ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है, इसलिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(ज्ञानाभ्यासं ततः कुर्यात्)** इस कारण से ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु शास्त्र-स्वाध्याय के द्वारा निरन्तर ही श्रावक को ज्ञानाभ्यास करना चाहिए। किस कारण से? बता रहे हैं— **(ज्ञानेन ध्यानसिद्धिः)** ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है। यहाँ ध्यान पद से प्रशस्त ध्यान का ही ग्रहण करणीय है, न कि अप्रशस्त ध्यान का। वस्तुतः ध्यान ज्ञान की ही एक विशिष्ट पर्याय है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/27) में कहा भी गया है— ''तात्पर्य यह है कि निश्चल अग्नि-शिखा की तरह अवभासमान ज्ञान ही 'ध्यान' कहा जाता है।''

पञ्चाध्यायी ग्रन्थ (2/839) में भी कहा गया है—

यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थतः।।

ध्यानसिद्ध्या किं प्रयोजनं सेत्स्यति? उच्यते— (झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं) **ध्यानात् सर्वकर्मणां निर्जरा भवति। निर्जरायाश्च किं फलम्? उच्यते—** (णिज्जरणफलं मोक्खं) **कर्मनिर्जरायाः फलं भवति —मोक्षः, मुक्तिप्राप्तिः, अर्थात् सर्वपुरुषार्थप्रधानभूतो मोक्षः स्वहस्तगतो भवति, अतः प्रशस्तध्यानस्य महत्त्वं, ततश्च ज्ञानाभ्यासस्य सर्वतोदृष्ट्या उपादेयत्वं स्पष्टमेवेति गाथाया आशयः।**

तत्त्वानुशासनग्रन्थे (श्लोक-६६) **च ध्यानस्य महत्त्वं प्रत्यपादि—** ''स्वर्गापवर्गफलदं ध्यानम्।'' **किञ्च, तत्रैव** (श्लोक-३३) **भणितम्—**

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यम्।।

नियमसारग्रन्थे च (गाथा ११९-१२०) **ध्यानमहत्त्वं निरूपितम्—**

''जो क्षायोपशमिक ज्ञान किसी एक विषय में निरन्तर रहता है, वह यद्यपि ध्यान कहलाता है, तथापि इसमें भी वास्तव में क्रम ही पाया जाता है, अक्रम नहीं।''

ध्यान-सिद्धि से भला क्या प्रयोजन सिद्ध होगा? बता रहे हैं— **(ध्यानात् सर्वकर्मनिर्जरणम्)** ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल क्या है? बता रहे हैं— **(निर्जरणफलं मोक्षः)** कर्म-निर्जरा का फल होता है—मोक्ष, मुक्ति की प्राप्ति, अर्थात् समस्त पुरुषार्थों में प्रधान जो मोक्ष पुरुषार्थ है, वह हस्तगत हो जाता है, इसलिए प्रशस्त ध्यान के महत्त्व को, तदनन्तर ज्ञानाभ्यास की सभी दृष्टियों से उपादेयता स्पष्ट ही हो जाती है —यह गाथा का आशय है।

तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-66) में ध्यान के महत्त्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है— ''ध्यान स्वर्ग व मुक्ति रूपी फल का दाता है।'' और, वहीं (श्लोक-33 में) यह भी कहा गया है—

''चूँकि निश्चय व व्यवहार रूप दोनों प्रकार की मुक्ति का हेतु (मोक्षमार्ग) ध्यान की साधना में प्राप्त होता है, इसलिए सुधीजनों! सदैव आलस्य छोड़कर ध्यान का अभ्यास करो।''

नियमसार (गाथा 119-120) में भी ध्यान का महत्त्व इस प्रकार निरूपित किया गया है—

अप्पसरूवालंबणभावेण दु सव्वभावपरिहारं।
सक्कदि कादुं जीवो, तम्हा झाणं हवे सव्वं।।

सुहअसुहवयणरयणा रायादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु णियमं हवे णियमा।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (५/२८) **च परामृष्टम्—**

आत्मायत्तं विषयविरतं तत्त्वचिन्तावलीनं,
निर्व्यापारं स्वहितनिरतं निर्भृतानन्दपूर्णम्।
ज्ञानारूढं शमयमतपोध्यानलब्धावकाशं,
कृत्वाऽऽत्मानं कलय सुमते दिव्यबोधाधिपत्यम्।।

एवं ध्यानमहत्त्वं सम्यगवबुद्ध्य हे भव्य! तस्य सिद्ध्यै ज्ञानाभ्यासे निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''आत्म-स्वरूप का अवलम्बन करने वाले भाव से जीव समस्त विभाव भावों का निराकरण करने में समर्थ होता है, इसलिए ध्यान ही सब कुछ है।''

''शुभ-अशुभ वचनों की रचना तथा रागादिक भावों का निराकरण कर जो आत्मा का ध्यान करता है, उसके नियमतः 'नियम' यानी रत्नत्रय होता है।''

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (5/28) में भी परामर्श दिया गया है—

''हे सुबुद्धे! तू अपने आपको अपने ही स्वाधीन, विषयों से विरक्त, तत्त्व-चिन्तन में लीन, शरीर व इन्द्रियों आदि के व्यापार से रहित, अपने हित में उद्यत, दुःख के संसर्ग से रहित, निराकुल सुख से परिपूर्ण, ज्ञान में आरूढ़ (ज्ञानानन्दस्वरूप), तथा शम, यम, तप व ध्यान में अवस्थित करके दिव्यबोध (केवलज्ञान) के स्वामित्व का अनुभव कर।''

इस प्रकार, ध्यान के महत्त्व को हे भव्य! अच्छी तरह समझो और उस (ध्यान) की सिद्धि हेतु ज्ञानाभ्यास में निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ, श्रुतभावनया तपः-संयम-वैराग्याणि सिद्ध्यन्तीति शास्त्रकाराः गाहाछन्दसा प्रतिपादयन्ति—

कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो।
सुदभावणेण तत्तिय तम्हा सुदभावणं कुणह।।१५१।।

छाया— कुशलस्य तपः, निपुणस्य संयमः शमपरस्य वैराग्यम्।
श्रुतभावनेन तत्-त्रयं तस्मात् श्रुतभावनां कुर्यात्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (तम्हा सुदभावणं कुणह) **तस्मात् कारणात् श्रुतभावनां कुर्यात्, अर्थात् श्रुतागमानां वारंवारमभ्यासः, स्वाध्यायो वा श्रावकैः कर्तव्यः। किमर्थं कुर्यात्? तदेव विव्रियते—** (कुसलस्स तवो णिवुणस्स संजमो समपरस्स वेरग्गो) **कुशलस्य परीषहजयादिदक्षस्य तपः सहजतया सिद्ध्यति, तथैव निपुणस्य इन्द्रियजयसमर्थस्य संयमः सहजसाध्यो जायते, तथैव शमपरस्य वैराग्यं सहजरूपेण साध्यं भवति —इति सर्वसम्मतः सिद्धान्तः।**

अब, श्रुत-भावना से तप, संयम व वैराग्य सिद्ध होते हैं— इसे शास्त्रकार गाहा छन्द द्वारा प्रतिपादित कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— कुशल साधक को तप की सिद्धि हो जाती है, निपुण साधक को संयम और शमभावी (शान्तस्वभावी) को वैराग्य हो जाता है, किन्तु श्रुत की भावना (बारम्बार अभ्यास) से ये तीनों सध जाते हैं, इसलिए श्रुतभावना करनी चाहिए।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(तस्मात् श्रुतभावनां कुर्यात्)** इस कारण से श्रुतभावना करे अर्थात् श्रुत यानी आगमों का बारम्बार अभ्यास या स्वाध्याय श्रावकों को करना चाहिए। किस लिए करे? बता रहे हैं— **(कुशलस्य तपो निपुणस्य संयमः शमपरस्य वैराग्यम्)** कुशल यानी परीषह-जय आदि में दक्ष व्यक्ति के लिए तप सहजतया सिद्ध हो जाता है, निपुण यानी इन्द्रिय-जय में समर्थ व्यक्ति के लिए संयम सहज साध्य हो जाता है, तथा शमपरायण व्यक्ति के लिए वैराग्य सहजतया सध जाता है —यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है।

श्रुतभावनया किं साध्यते? उच्यते— (सुदभावणेण तत्तियं) **श्रुतभावनया तु तत् त्रयमपि, वैराग्य-संयम-तपइतित्रितयमपि सिद्ध्यति, अतः सर्वाभीष्टसिद्ध्यै श्रुताभ्यासं कुर्यादित्याशयः।**

अत्रेदं तात्पर्यम्— मोक्षपुरुषार्थसिद्ध्यै वैराग्यस्य, संयमानुष्ठानस्य तथा तपसः, विशेषतः स्वाध्यायध्यानयोः परमावश्यकता भवति।

प्रोक्तं च मोक्षप्राभृतग्रन्थे (गाथा १०१-१०२)—

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरंमुहो य सो होदि।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो।।

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साहू।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं।।

शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा ७-८) **च भणितम्—**

श्रुतभावना से क्या सिद्ध होता है? बता रहे हैं— **(श्रुतभावनेन तत् त्रयम्)** श्रुत-भावना से तो तीनों ही, यानी वैराग्य, संयम व तप ये तीनों ही सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए समस्त अभीष्ट की सिद्धि हेतु श्रुत का अभ्यास श्रावक करे —यह आशय है।

यहाँ तात्पर्य यह है— मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए वैराग्य, संयमानुष्ठान व तप, विशेषतः स्वाध्याय व ध्यान (तप) —इनकी परम आवश्यकता होती है।

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 101-102) में कहा भी गया है—

''जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है, वह पर-द्रव्य से पराङ्मुख रहता है, इसी प्रकार जो साधु संसार-सुख से विरक्त होता है, वह स्वकीय शुद्ध सुख में अनुरक्त रहता है।''

''गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभित है, जो हेय व उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा ध्यान व अध्ययन में जो अच्छी तरह लीन रहता है, वही साधु उत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त होता है।''

शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 7-8) में भी कहा गया है—

णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता।
हिंडंति चादुरगदिं विसएसु विमोहिया मूढा।।

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा।
छिंदंति चादुरगदिं तवगुणजुत्ता ण संदेहो।।

मोक्षप्राभृतग्रन्थे च (गाथा-२५, ६०) **विशदीकृतम्—**

वरवयतवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं।।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि।।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकाग्रन्थे (१/९७) **च परामृष्टम्—**

''जो कोई व्यक्ति ज्ञान को जान कर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं, वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतुर्गति रूप संसार में भ्रमण करते रहते हैं।''

''किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तपश्चरण तथा मूलगुण व उत्तरगुणों से युक्त होते हैं, वे चतुर्गति रूप संसार को छेदते हैं अर्थात् नष्ट करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है।''

मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-25 व 60) में भी स्पष्ट किया गया है—

''व्रत व तप के द्वारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है, किन्तु अव्रत व अतप के द्वारा नरक के दुःख प्राप्त करना अच्छा नहीं है। छाया व धूप में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है।''

''जो ध्रुवसिद्धि (अर्थात् जिन्हें मोक्ष प्राप्त होना ही है, ऐसे) तथा जो चार ज्ञानों से सहित हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान भी तपश्चरण करते हैं, ऐसा जानकर ज्ञानसम्पन्न पुरुष को भी तपश्चरण करना चाहिए।''

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका ग्रन्थ (1/97) में भी परामर्श दिया गया है—

मानुष्यं किल दुर्लभं भवभृतस्तत्रापि जात्यादय:,
तेष्वेवाप्तवच:श्रुति: स्थितिरतस्तस्याश्च दृग्बोधने।
प्राप्ते ते अतिनिर्मले अपि परं स्यातां न येनोज्झिते,
स्वर्मोक्षैकफलप्रदे स च कथं न श्लाघ्यते संयम:।।

राजवार्तिकग्रन्थे (९/६/२७) **च प्रोक्तम्—** ''संयमो ह्यात्महित:। तमनुतिष्ठन्निहैव पूज्यते परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयत: प्राणवधविषयरागेषु नित्यप्रवृत्त: कर्माशुभं संचिनुते।'' **एवं वैराग्य-संयम-तपोभिर्यदिष्टफलं प्राप्यते, तदेव श्रुताभ्यासेन स्वाध्यायादिना प्राप्यते —इति शास्त्रकारस्याभिप्राय:। अतएव स्वाध्यायमहत्त्वं भगवती-आराधना-ग्रन्थे** (गाथा १०३-१०४, १०६) **निरूपितम्—**

सज्झायं कुव्वंतो पंचिदियसंवुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिदो भिक्खू।।

''इस संसारी प्राणी को मनुष्यत्व, उत्तम जाति आदि, जिनवाणी-श्रवण, लम्बी आयु, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान —ये सब मिलने उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुर्लभ हैं।''

''ये सभी संयम के बिना स्वर्ग व मोक्ष रूप अद्वितीय फल को नहीं दे सकते, इसलिए संयम कैसे प्रशंसनीय नहीं हैं?''

राजवार्तिक ग्रन्थ (9/6/27) में भी कहा गया है— ''आत्मीय हित संयम ही है, उसे पालन करने वाले की इसी संसार में पूजा होती है, परलोक की तो बात ही क्या? असंयमी तो निरन्तर हिंसा आदि व्यापारों में लिप्त होता है, इसलिए अशुभ कर्मों का संचय करता है।'' इस तरह, वैराग्य, संयम व तप से जो अभीष्ट फल प्राप्त होता है, वही श्रुत-अभ्यास से उनके स्वाध्याय आदि से, प्राप्त हो जाता है —यह शास्त्रकार का अभिप्राय है। इसीलिए भगवती-आराधना (गाथा 103-104, 106) ग्रन्थ में स्वाध्याय के महत्त्व को इस प्रकार निरूपित किया गया है—

''विनय से युक्त होकर स्वाध्याय करता हुआ साधु पाँचों इन्द्रियों के विषयों से संवृत और तीन गुप्तियों से गुप्त एकाग्रमना होता है।''

जह जह सुदमोग्गाहदि अदिसयरसपसरमसुदपुव्वं तु।
तह तह पल्हादिज्जदि नवनवसंवेगसड्ढाए।।

बारसविहम्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
ण वि अत्थि ण वि य होहिदि सज्झायसमं तवो कम्मं।।

एवं श्रुताभ्यासस्य महनीयतां हे भव्य! सम्यग् विज्ञाय तदर्थं त्वया प्रयासो विधेय इति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति मिथ्यात्वं संसारवर्द्धकम्, इति शास्त्रकारा (चपला)-**गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—**

कालमणंतं जीवो मिच्छत्तसरूवेण पंचसंसारे।
हिंडदि ण लहदि सम्मं संसारब्भमणपारंभो।।१५२।।

छाया— कालमनन्तं (यावत्) जीवो मिथ्यात्वस्वरूपेण पञ्चसंसारेषु।
हिण्डते न लभते सम्यक्त्वं संसारभ्रमणप्रारम्भः।।

''जैसे-जैसे अतिशय अभिधेय (अर्थ) से भरे हुए तथा अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुने हुए) श्रुत में व्यक्ति अवगाहन करता है, वैसे-वैसे नई-नई धर्मश्रद्धा से आह्लाद-युक्त होता जाता है।''

''सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट आभ्यन्तर व बाह्य भेदों सहित बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय के समान कोई तप क्रिया न तो है और न (भविष्य में) होगी।''

इस प्रकार, श्रुत-अभ्यास की महनीयता को हे भव्य! अच्छी तरह जानकर, उसके लिए तुम्हें प्रयास करना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

मिथ्यात्व संसार-वर्धक है— इसे शास्त्रकार (चपला) गाहा छन्द द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— (यह जीव) मिथ्यात्व स्वरूप होने से अनन्त काल तक पञ्च परावर्तन रूप संसार में भ्रमण करता है। यह (जीव) सम्यक्त्व नहीं प्राप्त करता है, अतः उसका संसार-भ्रमण होता रहता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (कालमणंतं जीवो पंच-संसारे हिंडदि) **अनन्तकालं यावत् जीवः पंचसंसारे, द्रव्यक्षेत्रकालभवभावेतिपञ्चविधे संसारे भ्रमति, न च मुक्तो भवति। संसारस्य पञ्चविधत्वं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा-६६) **इत्थं निरूपितम्—**

संसारो पंचविहो दव्वे खेत्ते तहेव काले च।
भवभमणो य चउत्थो पंचमओ भावसंसारो।।

केन कारणेन भ्रमति? उच्यते— (मिच्छत्तसरूवेण) **मिथ्यात्वस्वरूपेन, मिथ्यात्वयुक्तेन भावेन स संसारे भ्रमति। भणितं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे** (गाथा ६७-७२)—

बंधदि मुंचदि जीवो पडिसयमं कम्मपुग्गला विविहा।
णोकम्मपुग्गला वि य मिच्छत्तकसायसंजुत्तो।।

सो को वि णत्थि देसो लोयायासस्स णिरवसेसस्स।
जत्थ ण सव्वो जीवो जादो मरिदो य बहुवारं।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (कालमनन्तं जीवो पञ्चसंसारे हिण्डते) अनन्त काल तक जीव पाँच संसारों में अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भव —इन पाँच प्रकार के संसारों में भ्रमण करता रहता है, अर्थात् मुक्त नहीं होता। संसार के पाँच प्रकारों का निरूपण कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-66) में इस प्रकार किया गया है—

''संसार पाँच प्रकार का होता है— द्रव्यसंसार, क्षेत्रसंसार, कालसंसार, भवसंसार व भावसंसार।''

किस कारण से भ्रमण करता है? **(मिथ्यात्वस्वरूपेण)** मिथ्यात्व स्वरूप के कारण, अर्थात् मिथ्यात्वयुक्त भाव के कारण वह संसार में परिभ्रमण करता रहता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 67-72) में कहा भी गया है—

(द्रव्यसंसार—) ''मिथ्यात्व व कषाय से युक्त संसारी जीव प्रतिसमय अनेक प्रकार के कर्म-पुद्गलों को भी ग्रहण करता है और छोड़ता है।''

(क्षेत्रसंसार—) ''समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है, जहाँ सभी जीव अनेक बार जिये और मरे न हों।''

उवसप्पिणि-अवसप्पिणि-पढमसमयादि-चरमसमयंतं।
जीवो कमेण जम्मदि मरदि य सव्वेसु कालेसु।।

णेरइयादि-गदीणं अवरट्ठिदिदो वरट्ठिदी जाव।
सव्वट्ठिदिसु वि जम्मदि जीवो गेवेज्जपज्जंतं।।

परिणमदि सण्णिजीवो विविहकसाएहिं ठिदिणिमित्तेहिं।
अणुभागणिमित्तेहिं य वट्टंतो भावसंसारे।।

एवं अणाइकाले पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणादुक्खणिहाणो जीवो मिच्छत्तदोसेण।।

एतेषां पञ्चपरिवर्तनानां निरूपणं 'बारस अणुवेक्खा'**-ग्रन्थेऽपि** (गाथा २४-२९) **आचार्यवैः कुन्दकुन्दस्वामिभिः विहितमस्ति। एतद्विषये यदपि निरूपणमपेक्षितमस्ति, तन्मदीय-सर्वोदया-टीकायां द्रष्टव्यम्।**

(कालसंसार—) "उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी काल के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय पर्यन्त सभी समयों में यह जीव क्रमशः जन्म लेता और मरता है।"

(भवसंसार—) "संसारी जीव नरकादिक चार गतियों की जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त सब स्थितियों में ग्रैवेयक तक जन्म लेता है।"

(भावसंसार—) "संज्ञी जीव जघन्य आदि उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध के कारण तथा अनुभागबन्ध के कारण अनेक प्रकार के कषायों से (तथा श्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण योगस्थानों से) वृद्धि को प्राप्त भावसंसार में परिभ्रमण करता रहता है।"

"इस प्रकार, अनेक दु:खों की उत्पत्ति के कारण, पाँच प्रकार के संसार में यह जीव मिथ्यात्व रूपी दोष के कारण अनादि काल तक भ्रमण करता रहता है।"

इन पाँचों परिवर्तनों का निरूपण आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा 24-29) में भी किया है। इस विषय में जो भी निरूपण अपेक्षित है, उसे मेरी 'सर्वोदया' (टीका) में देखना चाहिए।

कियत्कालं— भ्रमति, यद्वा संसारभ्रमणावसानं सम्भवति वा न वा? तदेव सूच्यते— (ण लहदि सम्मं संसारभमणपारंभो) **यावत्कालं सम्यक्त्वं न लभते, तावत्कालं संसारभ्रमण-प्रारम्भः। यद्वा, यतो हि स जीवः सम्यक्त्वं न लभते, अतस्तस्य संसारभ्रमणस्य प्रारम्भः प्रवर्तनं भवत्येव, न स निरुद्ध्यते —इत्याशयः।**

एवं 'मूढत्तय-सल्लत्तय' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'कालमणंतं जीवो' **इत्यादिकां गाथां यावदेकादशगाथात्मकः षोडशोऽधिकारः सम्पन्नः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां षोडशोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति षोडशोऽधिकारः।।

कितने समय तक भ्रमण करता रहता है, या संसार भ्रमण का अवसान (अन्त) सम्भव भी है या नहीं? इसे ही बता रहे हैं— **(न लभते सम्यक्त्वं संसारभ्रमण-प्रारम्भः)** जब तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता, तब तक संसार-भ्रमण का आरम्भ (प्रवर्तन) होता रहता है। अथवा, चूँकि वह जीव सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता, इसलिए उसके संसार-भ्रमण का प्रारम्भ या प्रवर्तन होता ही रहता है, वह रुकता नहीं —यह आशय है।

इस प्रकार, **'मूढत्तय-सल्लत्तय'** इत्यादि गाथा से लेकर **'कालमणंतं जीवो'** इत्यादि गाथा तक, ग्यारह गाथाओं वाला —यह सोलहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में सोलहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति षोडशोऽधिकारः।।

।। सत्तरसमो अहियारो ।।

(सप्तदशोऽधिकारः)

इदानीं सम्यक्त्वमहत्त्वनिरूपणपरः सप्तदशोऽधिकारः प्रारभ्यते। प्रथममस्य पातनिका निर्दिश्यते। अस्मिन्नधिकारे 'सम्मद्दंसण सुद्धं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १५३) **समारभ्य** 'कामदुहिं कप्पतरुं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १६५) **यावत् त्रयोदश गाथाः सन्ति। तत्र** 'सम्मद्दंसण सुद्धं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५३), **ततश्च** 'किं बहुणा वयणेण दु' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५४), **ततश्च** 'णिक्खेव-णय-पमाणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५५), **एवं तिस्रो गाथाः सन्ति, यासु सम्यक्त्वमेव सौख्यप्रदम्, तेन विना दीर्घसंसारः इति प्रतिपादितम्। ततोऽनन्तरं** 'वसदि-पडिमोवयरणे' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५६) **तथा** 'पिच्छे संथरणे इच्छासु' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५७), **एवं द्वे गाथे स्तः, ययोर्निर्दिष्टं यद् बाह्यपदार्थेषु ममत्वमप्रशस्तध्यानं वा मुक्तिबाधकमेवेति। ततः परं** 'रयणत्तयमेव गणं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५८) **वर्तते, या यथार्थगणगच्छसमयस्वरूपं प्ररूपयति। तदनन्तरं** 'मिहिरो महंधयारं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १५९) **वर्तते, या सम्यक्त्वमेव कर्मविनाशक्षममिति निरूपयति।**

।। सत्रहवाँ अधिकार ।।

अब, सम्यक्त्व-महत्त्व का निरूपण करनेवाला सत्रहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। पहले इस अधिकार की पातनिका बता रहे हैं। इस अधिकार में **'सम्मद्दंसण सुद्धं'** इत्यादि गाथा (सं. 153) से लेकर **'कामदुहिं कप्पतरुं'** इत्यादि गाथा (सं. 165) तक तेरह गाथाएँ हैं। इनमें **'सम्मद्दंसण सुद्धं'** इत्यादि गाथा (सं. 153), फिर **'किं बहुणा वयणेण दु'** इत्यादि गाथा (सं. 154), और आगे **'णिक्खेव-णय-पमाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 155), इस प्रकार तीन गाथाएँ हैं, जिनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि सम्यक्त्व सौख्यकारी है और उसके बिना दीर्घसंसार है। इसके बाद, **'वसदि-पडिमोवयरणे'** इत्यादि गाथा (सं. 156) तथा **'पिच्छे संथरणे इच्छासु'** इत्यादि गाथा (सं. 157), इस तरह दो गाथाएँ हैं, जिनमें यह बताया गया है कि बाह्य पदार्थों में ममत्व या अप्रशस्त ध्यान मुक्ति में बाधक होता है। इसके बाद, **'रयणत्तयमेव गणं'** इत्यादि गाथा (सं. 158) है, जो गण, गच्छ व समय के यथार्थ स्वरूप का कथन करती है। तदनन्तर, **'मिहिरो महंधयारं'** इत्यादि गाथा (सं. 159) है, जो यह निरूपित करती है कि सम्यक्त्व ही कर्म-नाश में सक्षम है।

ततः परं 'मिच्छंधयाररहिदं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६०) **वर्तते, यस्यां मिथ्यात्वान्धकार-विनाशकं दीपमिव सम्यक्त्वं प्रतिपादितम्। तदनन्तरं** 'कतकफलभरियणिम्मल' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६१) **वर्तते, या सम्यक्त्वमहत्त्वं प्रकारान्तरेण निरूपयति। ततः परं** 'पवयणसारब्भासं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६२) **वर्तते, या प्रवचनसाराभ्यासस्य मोक्षप्राप्त्यै उपादेयतां निर्दिशति। तदनन्तरं** 'धम्मज्झाणब्भासं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६३) **धर्मध्यानाभ्यासमहत्त्वं निर्दिशति। ततश्च** 'अदिसोहण-जोएण' **इत्यादिकायां गाथायां** (सं. १६४) **कालादिलब्धिमहत्त्वं प्रतिपादितम्। अन्ते च,** 'कामदुहिं कप्पतरुं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६५) **वर्तते, यस्यां सम्यक्त्वमहत्त्वं पुनरपि निरूपितम्। एवमस्याधिकारस्य समुदायपातनिका विज्ञेया।**

सम्प्रति सम्यक्त्वं सौख्यकरम्, तेन विना दीर्घसंसारः इति शास्त्रकारा (गाहू)-**उग्गाहा-गाहाछन्दोभिः निरूपयन्ति—**

सम्मद्दंसण सुद्धं जाव दु लभदे हि ताव सुही।
सम्मद्दंसण सुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही।।१५३।।

छाया— सम्यग्दर्शनं शुद्धं यावत् तु लभते हि तावत् सुखी।
सम्यग्दर्शनं शुद्धं यावत् न लभते हि तावत् दुःखी।।

इसके आगे '**मिच्छंधयाररहिदं**' इत्यादि गाथा (सं. 160) है, जो यह प्रतिपादित करती है कि सम्यक्त्व मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाला दीपक है। इसके बाद, '**कतकफलभरियणिम्मल**' इत्यादि गाथा (सं. 161) है, जो प्रकारान्तर से सम्यक्त्व के महत्त्व को बताती है। तदनन्तर, '**पवयणसारब्भासं**' इत्यादि गाथा (सं. 162) है, जो मोक्ष-प्राप्ति में प्रवचन-सार के अभ्यास की उपादेयता का निरूपण करती है। इसके आगे, '**धम्मज्झाणब्भासं**' इत्यादि गाथा (सं. 163) है, जो धर्मध्यान के अभ्यास का महत्त्व बताती है, तदनन्तर, '**अदिसोहणजोएण**' इत्यादि गाथा (सं. 164) है, जिसमें कालादिलब्धि के महत्त्व का निरूपण किया गया है। और अन्त में, '**कामदुहिं कप्पतरुं**' इत्यादि गाथा (सं. 165) है, जिसमें सम्यक्त्व के महत्त्व को फिर से कहा गया है। इस प्रकार इस अधिकार की समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

अब, सम्यक्त्व सुखकारी है और उसके विना दीर्घसंसार है— इसे शास्त्रकार (गाहू) उग्गाहा व गाहा छन्दों के माध्यम से बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जब तक यह जीव शुद्ध सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त करता, तब तक (ही) दुःखी रहता है। किन्तु जब शुद्ध सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, तब सुखी हो जाता है।

किं बहुणा, वयणेण दु, सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा।
सम्मत्तेण वि जुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु।।१५४।।

णिक्खेव-णय-पमाणं सद्दालंकार-छंद लहियाणं।
णाडयपुराण कम्मं सम्म विणा दीहसंसारं।।१५५।।

छाया— किम्बहुना वचनेन, तु सर्वं दुःखमेव सम्यक्त्वं विना।
सम्यक्त्वेन अपि युक्तं सर्वं सौख्यमेव जानीहि खलु।।

निक्षेप-नय-प्रमाणं शब्दालङ्कारछन्दो लब्धवताम्।
नाटक-पुराणं कर्म सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सम्मद्दंसण सुद्धं जाव ण लभदे हि ताव दुही) **सम्यग्दर्शनं शुद्धं निर्दोषं यावत् न लभते, तावत्कालं स दुःखी एव तिष्ठति। एतदेव विधिरूपेण निरूप्यते—** (सम्मद्दंसण सुद्धं जाव दु लभदे हि ताव सुही) **शुद्धं सम्यग्दर्शनं यावदेव, यदैव लभते, तावदेव तदैव स सुखी जायते, सम्यक्त्वं सर्वेषां सुखप्राप्तिमूलमित्याशयः।**

अधिक क्या कहें, सम्यक्त्व के बिना तो सब दुःख ही दुःख है, और सम्यक्त्व से युक्त सभी सुख रूप ही है —ऐसा निश्चित जानो।

निक्षेप, नय, प्रमाण, शब्दालङ्कार, छन्द, नाटक, पुराण —इन्हें (ज्ञान से) अधिगत किया और क्रियाएँ भी कीं, किन्तु सम्यक्त्व के बिना (वे) संसार के (ही) कारण रही हैं।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(सम्यग्दर्शनं शुद्धं यावत् न लभते हि तावत् दुःखी)** शुद्ध यानी निर्दोष सम्यग्दर्शन जब तक प्राप्त नहीं होता, तब तक वह दुःखी ही रहता है। इसी बात को विधि रूप से कहा जा रहा है— **(सम्यग्दर्शनं शुद्धं यावत् तु लभते हि तावत् सुखी)** शुद्ध (यानी निर्दोष) सम्यग्दर्शन जब ही प्राप्त करता है, तभी वह सुखी हो जाता है। तात्पर्य है कि सम्यक्त्व सभी सुखों की प्राप्ति का मूल है।

प्रोक्तं च अमितगतिकृत-श्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-२/६९-७०)—

न दुःखबीजं शुभदर्शनक्षितौ, कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।
सदाऽप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं, कुदर्शनी तद् विपरीतमीक्षते।।

सम्यक्त्वमेघः कुशलाम्बु वन्दितं निरन्तरं वर्षति धौतकल्मषः।
मिथ्यात्वमेघो व्यसनाम्बु निन्दितं जनावनौ क्षालितपुण्यसञ्चयः।।

अथ द्वितीया गाथा (सं. १५४) **व्याख्यायते—** (किं बहुणा वयणेण दु) **किं बहुवचनेन, अधिकभाषणेन न कोऽपि लाभः, साररूपेणैवात्र कथितुमुचितं प्रतीयते। किं च सारभूतं कथनम्? उच्यते—** (सव्वं दुक्खेव सम्मत्त विणा) **सर्वं कर्तव्यमनुष्ठानं वा सम्यक्त्वेन विना दुःखमेव। तथा** (सम्मत्तेण वि जुत्तं सव्वं सोक्खेव जाणं खु) **सम्यक्त्वेन युक्तं सर्वमपि कर्तव्यमनुष्ठानं वा सौख्यमेव भवतीति निश्चितं जानीहि।**

आचार्य अमितगति-कृत श्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-2/69-70) में कहा भी गया है—

"सम्यग्दर्शन रूपी शुभ भूमि में गिरा हुआ दुःख रूप बीज कदाचित् भी अंकुरित नहीं होता और बिना बोया गया भी सुख रूप बीज सदा ही अंकुरित हो जाता है। किन्तु मिथ्यादर्शन रूपी अशुभ भूमि में इससे विपरीत देखा जाता है।"

"कल्मष (पाप) को धोने वाला सम्यक्त्व रूपी मेघ वन्दनीय व कल्याणकारी जल की निरन्तर वर्षा करता रहता है, किन्तु पुण्य के संचय को धोने वाला मिथ्यात्व रूपी मेघ, निन्दनीय व दुःखदायी जल को जनता रूपी भूमि में निरन्तर बरसाता रहता है।"

अब दूसरी गाथा (सं. 154) की व्याख्या की जा रही है— **(किं बहुना वचनेन तु)** अधिक वचन से यानी भाषण से कोई लाभ नहीं, अतः यहाँ सार रूप से ही कहना उचित प्रतीत होता है। वह सारभूत कथन आखिर क्या है? बता रहे हैं— **(सर्वं दुःखमेव सम्यक्त्वं विना)** सम्यक्त्व के बिना सभी कर्तव्य या अनुष्ठान दुःख ही है। तथा **(सम्यक्त्वेन अपि युक्तं सर्वं सौख्यमेव जानीहि खलु)** सम्यक्त्व से युक्त सभी, कर्तव्य या अनुष्ठान सुखरूप ही होते हैं —इसे निश्चित ही जानो।

वस्तुतः सम्यक्त्ववर्धिकाः क्रियाः पुण्यहेतवो भवन्ति, पुण्येन च भौतिकसुखसम्पदः सुलभा एवेति भट्टारकसकलकीर्तिरचिते प्रश्नोत्तरोपासकाचारे (२/६८, ७२-७३, ७७-८२) **भणितम्—**

वैराग्यवासितं चित्तं ज्ञानाभ्यासादितत्परम्।
सर्वतत्त्वदयोपेतं सूते पुण्यं शरीरिणाम्।।

दृष्टिपूर्वं मुनीनां च तपोज्ञानयमादिकम्।
मुक्तेर्बीजं भवेदग्रे साम्प्रतं पुण्यकर्मदम्।।

दर्शनेन विना पुंसां दानवृत्तादिसेवनम्।
पुण्याय न च मुक्त्यै हि भाषितं मुनिपुंगवैः।।

जायते पुण्यपाकेन नाकलक्ष्मीः सुधीमताम्।
भोगोपभोगसम्पन्ना सद्विमानादिसंयुता।।

वस्तुतः सम्यक्त्व-वर्द्धक क्रियाएँ पुण्य की हेतु होती हैं और पुण्य से भौतिक सुख-सम्पदाएँ सुलभ ही हो जाती हैं। भट्टारकसकलकीर्ति द्वारा रचित 'प्रश्नोत्तरोपासकाचार (श्लोक-2/68, 72-73 एवं 77-82) में कहा भी गया है—

"जीवों को देव, गुरु व शास्त्र के प्रति सेवाभाव होना, सदा संसार से भयभीत होकर संवेग धारण करना और सम्यग्दर्शन को बढ़ाने वाली क्रियाओँ (में प्रवृत्ति) का होना पुण्य के लिए होता है।"

"जो मुनिराज सम्यग्दर्शन पूर्वक तप करते हैं, ज्ञान का अभ्यास करते हैं, यम-नियम आदि का पालन करते हैं, वह सब भावी मोक्ष का कारण होता है और वर्तमान में अनेक प्रकार के पुण्य का सम्पादन करने वाला होता है।"

"सम्यग्दर्शन के बिना दान देने एवं व्रत पालन करने आदि से न तो पुण्य ही होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है —ऐसा श्री जिनेन्द्र देव ने कहा है।"

"बुद्धिमानों को पुण्य कर्म के उदय से अनेक भोग-उपभोगों से परिपूर्ण और अनेक ऋद्धि-सिद्धियों से भरी हुई स्वर्ग की लक्ष्मी प्राप्त होती है।"

शुभोदयेन जायन्ते शक्रराजविभूतय:।
अनेकदेवसम्पूर्णा दिव्यनार्योपलक्षिता:।।

चक्रवर्त्यादिदिव्यश्रीं लभन्ते धर्मिण: शुभात्।
षट्खण्डानेकभूपालनारीं रत्नादिशोभिताम्।।

यस्य पुण्योदयो जात:, तस्य लक्ष्मीर्वशीभवेत्।
धनधान्यादिसम्पूर्णा भुवनत्रयसंस्थिता।।

यत् किञ्चिद् दुर्लभं लोके ऋद्धिसारसुखादिकम्।
तत्सर्वं जायते पुंसां पुण्यभाजां न संशय:।।

सुखं पुण्योद्भवं ब्रूते, सर्वज्ञो यदि कोऽपर:।
प्रतिक्षणभवं शक्रतीर्थराजादिगोचरम्।।

''पुण्य कर्म के उदय से इन्द्र की विभूति प्राप्त होती है, जिसमें अनेक देव सेवा करते हैं और अनेक सुन्दर देवांगनाएँ प्राप्त होती हैं।''

''धर्म के ही प्रभाव से चक्रवर्ती की दिव्य लक्ष्मी प्राप्त होती है, जिससे छहों खण्डों के अनेक राजा आकर नमस्कार करते हैं और नारी-रत्न आदि चौदह रत्न व नौ निधियों से जो सदा सुशोभित रहती है।''

''इस संसार में जिस जीव के पुण्य कर्म का उदय होता है, उसके धन-धान्य आदि से परिपूर्ण और तीनों लोकों में रहने वाली समस्त लक्ष्मी वशीभूत हो जाती है।''

''संसार में जो कुछ दुर्लभ है, जो कुछ सारभूत ऋद्धियाँ हैं, और जो कुछ सुख है, वे सब मनुष्यों को पुण्य कर्म के ही उदय से होते हैं —इसमें कोई सन्देह नहीं है।''

''इन्द्र आदि को जो प्रतिक्षण नवीन-नवीन सुख उपलब्ध होते हैं अथवा तीर्थंकरों को जो गृहस्थ अवस्था में सुख उपलब्ध होते हैं, वे सब पुण्य कर्म के उदय से ही होते हैं —उसका वर्णन सर्वज्ञ के अतिरिक्त कौन कर सकता है?''

अथ तृतीया गाथा (सं. १५५) **व्याख्यायते।** (सम्म विणा दीहसंसारं) **सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः दीर्घसंसारहेतुभूतं भवति। किं किं भवति संसारहेतुभूतम्? उच्यते—** (णिक्खेवणयपमाणं सद्दालंकारछंद णाडयपुराण लहियाणं) **निक्षेप-नय-प्रमाणानि, शब्दालङ्कारछन्दःशास्त्राणि, नाटकपुराणानि लब्धवतां अर्थात् तज्ज्ञानवतां यदपि** (कम्मं) **कर्म, अनुष्ठानं भवति, तत्सर्वमपि सम्यक्त्वेन रहितं यदि भवति, तदा दीर्घसंसारहेतुभूतमेवेत्यर्थः।**

निक्षेप-नय-प्रमाणेत्यादीनां विस्तृतं ज्ञानं ये प्राप्नुवन्ति, शब्दशास्त्रं तथा अलङ्कारशास्त्रं, छन्दःशास्त्रं, नाटकानि, पुराणानि च ये सम्यक्तया जानन्ति, तेषु शास्त्रेषु विज्ञाः विद्वांसो भवन्ति, तथाऽपि तेषां सर्वाः क्रियाः मिथ्यात्वयुक्तत्वात्, सम्यक्त्व-रहितत्वाद्वा, दीर्घसंसारहेतुभूताः, निरन्तरदुःखप्रदायिका एव प्रतिफलन्ति —इत्याशयः।

तच्च सम्यक्त्वं शुद्धमेव भवेत्तदैवाभीष्टफलप्रदं भवतीति पण्डितमेधाविविरचिते धर्मसंग्रह-श्रावकाचारग्रन्थे (१/५३-५४) **च भणितम्—**

अब तीसरी गाथा (सं. 155) का व्याख्यान किया जा रहा है। **(सम्यक्त्वं विना दीर्घसंसारः)** सम्यक्त्व के बिना दीर्घ संसार होता है, अर्थात् दीर्घ संसार का हेतु होता है। संसार के हेतु वे क्या-क्या हैं? बता रहे हैं— **(निक्षेपनयप्रमाणं शब्दालङ्कारछन्दो नाटकपुराणं लब्धवताम्)** निक्षेप, नय व प्रमाण, शब्दशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, नाटक (नाट्यशास्त्र) व पुराण शास्त्र —इन्हें प्राप्त करनेवाले अर्थात् इनका ज्ञान रखनेवालों का जो कुछ भी **(कर्म)** कर्म यानी अनुष्ठान (सामान्य आचार) होता है, वह सभी सम्यक्त्व से रहित हो तो वह दीर्घ संसार का हेतु ही होता है —यह अर्थ है।

निक्षेप, नय, प्रमाण इत्यादि का जो विस्तृत ज्ञान प्राप्त करते हैं, अर्थात् शब्दशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, नाटकों व पुराणों को जो अच्छी तरह जानते हैं, उन-उन शास्त्रों में विज्ञ या विद्वान् हैं, फिर भी उनकी समस्त क्रियाएँ मिथ्यात्व-युक्त होने के कारण, या सम्यक्त्व-रहित होने से, दीर्घ संसार के हेतुभूत होती हैं, और (फलस्वरूप) निरन्तर दुःख-प्रदायक रूप में ही फलित होती हैं —यह आशय है।

वह सम्यक्त्व शुद्ध (दोषरहित) होना चाहिए, तभी अभीष्ट फल का दायक होता है —यह पं. मेधावी द्वारा विरचित 'धर्मसंग्रह' श्रावकाचार ग्रन्थ (1/53-54) में कहा गया है—

मलैर्मुक्तं भवेच्छुद्धं सम्यक्त्वं शातकुम्भवत्।
तेनालङ्कृत आत्मायं महार्घ्यः स्याज्जगत्त्रये।।

सम्यक्त्वं समलं चेत्स्यान्न तदा कर्मशान्तये।
सापथ्यमिह रोगाणां सदौषधमिवाङ्गिनाम्।।

अमितगतिकृतश्रावकाचारे (श्लोक-२/८३) **च भणितम्—**

अपारसंसार-समुद्रतारकं, वशीकृतं येन सुदर्शनं परम्।
वशीकृतास्तेन जनेन सम्पदः, परैरलभ्या विपदामनास्पदम्।।

अतएव भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते प्रश्नोत्तरश्रावकाचारग्रन्थे (२/८४-८५) **परामृष्टम्—**

"जिस तरह सुवर्ण का ऊपरी मैल दूर होने से वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है, उसी तरह अनादि काल से कर्मों के जाल में फँसा हुआ यह आत्मा जब सम्यक्त्व रूपी भूषण से अलंकृत हो जाता है, उस समय तीनों लोक में ऐसा कोई बहुमूल्य पदार्थ नहीं होता जो आत्मा के समान कहा जा सके।"

"जिस तरह रोगयुक्त मनुष्यों को पथ्य सहित औषध (ही) रोगों को दूर करने में समर्थ होती है, उसी तरह दुर्निवार कर्म रूपी रोगों को शान्त करने के लिए दोष-रहित सम्यक्त्व जैसा उपकारक होता है, वैसा दूसरा कोई हितकारी उपाय नहीं होता है।"

आचार्य अमितगति द्वारा विरचित श्रावकाचार (श्लोक-2/83) में भी कहा गया है—

"जिस जीव ने इस अपार संसार-समुद्र से पार उतारने वाले और विपदाओं से रहित ऐसे श्रेष्ठ सम्यग्दर्शन को अपने वश में कर लिया, उस पुरुष ने दूसरों द्वारा अलभ्य ऐसी सभी श्रेष्ठ संपदाओं को वश में कर लिया है —ऐसा समझना चाहिए।"

इसीलिए भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा विरचित प्रश्नोत्तरश्रावकाचार ग्रन्थ (2/84-85) ग्रन्थ में यह परामर्श दिया गया है—

तत्त्वश्रद्धानतो जीवाः प्राप्नुवन्ति सुखाकरम्।
दर्शनं दोषशङ्कादिवर्जितं विमलात्मकम्।।

परमगुणविचित्रैः सर्वलोकप्रदीपैः, गतसकलविदोषैः तीर्थनाथैः प्रणीतम्।
विबुधजनसुसेव्यं तत्त्वसारं विशालं, त्वमपि भज विशङ्कं दर्शनं ज्ञानसिद्ध्यै।।

किञ्च, दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-७) **च निर्दिष्टम्—**

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।
कम्मं बालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।।

एवं मिथ्यात्व-सम्यक्त्वयोरन्तरं सम्यग् विज्ञाय सम्यक्त्वेन सह धर्मानुष्ठाने निरन्तरं प्रवर्तस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''इन सातों तत्त्वों का श्रद्धान करने से जीवों को जो शंका आदि दोषों से रहित और सुख की निधि ऐसा निर्मल सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है।''

''हे भव्य जीव! यह सम्यग्दर्शन समस्त तत्त्वों का सारभूत है, अनेक विद्वानों (या देवों) द्वारा भी सेवित होता है, यह अत्यन्त विशाल है और अनन्त ज्ञान आदि परम गुणों से पवित्र है, समस्त लोक-अलोक को प्रकाशित करने वाले तथा समस्त दोषों से रहित ऐसे तीर्थंकर परमदेव ने इसका निरूपण किया है। इसलिए सम्यग्ज्ञान प्रकट करने के लिए तूँ भी शंका आदि समस्त दोषों से रहित इस सम्यग्दर्शन का सेवन कर, इसे धारण कर।''

और, दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-7) में भी बताया गया है—

''जिस मनुष्य के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल-प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता रहता है, उसका पूर्व बन्ध से संचित कर्म बालू के ढेर की तरह नष्ट हो जाता है।''

इस प्रकार, मिथ्यात्व व सम्यक्त्व के अन्तर को हे भव्य! अच्छी तरह समझो और सम्यक्त्व-युक्त होकर धर्मानुष्ठान में निरन्तर प्रवृत्त होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, बाह्यपदार्थेषु ममत्वभावोऽप्रशस्तध्यानं वा मुक्तौ बाधकमेवेति शास्त्रकाराः गाहाछन्दोभ्यां निर्दिशन्ति—

वसदि-पडिमोवयरणे गणगच्छे समयसंघजादिकुले।
सिस्सपडिसिस्सछत्ते सुदजादे कप्पडे पुत्थे।।१५६।।

पिच्छे संथरणे इच्छासु लोहेण कुणदि ममयारं।
यावच्च अट्टरुद्दं, ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं।।१५७।।

छाया— वसति-प्रतिमोपकरणे गणगच्छे समयसंघजातिकुले।
शिष्यप्रतिशिष्यच्छात्रे सुतजाते कर्पटे पुस्तके।।

पिच्छिकायां संस्तरे इच्छासु लोभेन करोति ममकारम्।
यावच्च आर्तरौद्रे तावन्न मुच्यते न खलु सौख्यम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (ताव ण मुंचेदि ण हु सोक्खं) **तावत्कालं न मुच्यते, न खलु सौख्यं भवति। जीवो न कदाचिदपि सुखी भवति, न च मुक्तो भवतीत्यर्थः। कियत्कालम्? उच्यते—** (यावच्च अट्टरुद्दं) **यावत्कालम् आर्तरौद्रध्याने भवतः, तावत्कालं स जीवो मुक्तिं सुखं च न प्राप्तुं शक्नोति।**

अब, बाह्य पदार्थों में किया गया ममत्व भाव या अप्रशस्त ध्यान मुक्ति में बाधक ही है —ऐसा शास्त्रकार दो गाहा छन्दों द्वारा बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— कोई श्रमण वसतिका (बस्ती, निवास), प्रतिमोपकरण, गण, गच्छ, शास्त्र, संघ, जाति, कुल, शिष्य, प्रतिशिष्य, छात्र, पुत्र-प्रपौत्र, वस्त्र, पुस्तक, पिच्छी, संस्तर (चटाई, बिछावन), —इनमें, तथा इच्छाओं में, लोभवश (जब तक) ममत्व करता है, और जब तक उसे आर्त या रौद्र ध्यान रहता है, तब तक वह मुक्त नहीं होता और न ही उसे सुख मिलता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(तावत् न मुच्यते न खलु सौख्यम्)** तब तक (वह जीव) मुक्त नहीं होता और न ही उसको सुख होता है। जीव कभी सुखी नहीं होता और न ही मुक्त होता है —यह अर्थ है। कितने काल तक? बता रहे हैं— **(यावत् च आर्तरौद्रे)** जितने समय तक आर्त व रौद्र ध्यान रहता है, उतने समय तक वह जीव मुक्ति और सुख को प्राप्त नहीं कर सकता है।

तथा च, (कुणदि ममयारं) **यावत्कालं जीवो ममकारं ममत्वभावं करोति, ममत्वयुक्तो भवति, तावत्कालमपि जीवो मुक्तिं सुखं वा नावाप्नोति। केन कारणेन ममत्वं करोति? उच्यते—** (लोहेण) **लोभेन, लोभाविष्टो जनो ममत्वं करोति। केषु केषु विषयेषु? उच्यते—** (वसदिपडिमोवयरणे) **वसतौ, आवासस्थाने, तथा छत्रचमरसिंहासनादिप्रातिहार्यरूपेषु प्रतिमोपकरणेषु ममत्वं मूर्च्छामासक्तिभावं वा करोति, तथा** (गणगच्छे) **गणे गच्छे च ममत्वं करोति।**

अत्र गणः स्थविरसन्ततिः, इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/२४) **प्रतिपादितम्। यद्वा त्रयाणां** (मुनिप्रभृतीनां) **समूहो गणः, तदधिकसंख्यकानां तु समूहो गच्छः** (धवलाग्रन्थे, पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २६, पृ.६३) **इतिशास्त्रेषु प्रतिपादितम्। तथा** (समय-संघ-जादि-कुले) **समये, संघे, जातौ, कुले च ममत्वं करोति। अत्र समयः सिद्धान्तः, सम्यग् अवैपरीत्येन ईयन्ते गम्यन्ते जीवादयः पदार्था येनेति निरुक्तेः। यद्वा सम्यग् अयन्ते गच्छन्ति, यत्र जीवादयः पदार्थाः स्वरूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्ति —इति व्युत्पत्त्या समयः आगमोऽपि भवति।**

और **(करोति ममकारम्)** जितने समय तक ममकार यानी ममत्व भाव करता है, ममत्व से युक्त रहता है, उतने समय तक भी जीव मुक्ति या सुख नहीं प्राप्त करता। किस कारण से ममत्व करता है? बता रहे हैं— **(लोभेन)** लोभ से, लोभ से आविष्ट होकर व्यक्ति ममत्व करता है। किन-किन विषयों में (ममत्व करता है)? बता रहे हैं— **(वसति-प्रतिमोपकरणे)** वसति यानी आवास-स्थान में, तथा छत्र, चमर, सिंहासन आदि प्रातिहार्य रूप 'प्रतिमोपकरणों' में ममत्व यानी मूर्च्छा या आसक्ति करता है, और **(गण-गच्छे)** गण व गच्छ में ममत्व करता है।

यहाँ 'गण' का अर्थ है— स्थविरों (मुनियों) की सन्तति (कुल या परिवार) —ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/24) में प्रतिपादित है। अथवा तीन (मुनि आदि) का समूह 'गण' होता है, और उससे अधिक संख्या का समूह 'गच्छ' होता है —यह भी शास्त्रों (धवला ग्रन्थ, पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26, पृ. 63) में प्रतिपादित है। तथा **(समय-संघ-जाति-कुले)** समय, संघ, जाति और कुल में ममत्व करता है। यहाँ समय का अर्थ है —सिद्धान्त, क्योंकि 'सम्यक् प्रकार से जिसके माध्यम से जीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं, वह समय है' —यह 'समय' पद की निरुक्ति है। अथवा 'जीव आदि पदार्थ जिसमें सम्यक् अयन या गमन करते हैं, अर्थात् स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं' इस व्युत्पत्ति से समय का अर्थ 'आगम' भी होता है।

संघश्च 'रत्नत्रयोपेतः श्रमण गणः' **—इति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे** (६/१३) **निरूपितम्। यद्वा ऋषि-मुनि-यति-अनगारनिवहः संघः, अथवा मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविकानिवहः संघः इति विज्ञेयम्। संघस्यैव गणः, वृन्दः इत्यादिकाः पर्यायाः सन्ति। यद्वा अनेकव्रतगुणसंहननात्सङ्घः। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे** (गाथा-७१३)—

संघो गुणसंघाओ संघो य विमोचओ य कम्माणं।
दंसणणाणचरित्ते संघायंतो हवे संघो।।

समानप्रसवसहिता जातिः। दीक्षकाचार्यशिष्यसमुदायः कुलमिति सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/२६) **प्रोक्तम्। अथवा लोकदुगुंछारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते —इति प्रवचनसारग्रन्थस्य** (३/३) **तात्पर्यवृत्तिटीकायां भणितम्। यद्वा मातृपक्षो जातिः, पितृपक्षः कुलम्। एतेषु च ममत्वे कृते मोक्षः सुखं वा न प्राप्यते।**

रत्नत्रय से युक्त श्रमणों के गण को संघ कहते हैं —ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (6/13) में बताया गया है। अथवा ऋषि, मुनि, यति व अनगार का समूह अथवा मुनि, आर्यिका, श्रावक व श्राविका —इनका समूह 'संघ' होता है —यह जानें। संघ के ही गण, वृन्द इत्यादि पर्याय होते हैं। अथवा अनेक व्रत, गुण —इनका संहनन (एकत्र स्थित) होने के कारण 'संघ' कहा जाता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-713) में कहा भी गया है—

''गुणों के समूह का नाम संघ है। यह संघ कर्मों से छुड़ाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के मेल से संघ होता है।''

समान जन्म वालों की (एक) 'जाति' होती है। दीक्षा-आचार्य के शिष्यों का समुदाय 'कुल' होता है —ऐसा सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/26) में कहा गया है। अथवा लौकिक दोषों से रहित जिन-दीक्षा के योग्य (परिवार) 'कुल' होता है —यह प्रवचनसार (गाथा-3/3) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कहा गया है। अथवा मातृ-पक्षीय 'जाति' होती है और पितृपक्षीय 'कुल' होता है। इनमें ममत्व करने पर मोक्ष या सुख प्राप्त नहीं होते।

तथा (सिस्स-पडिसिस्स-छत्ते) **शिष्ये, प्रतिशिष्ये, एवं छात्रे च ममत्वं यः करोति, तस्य सौख्यं मोक्षश्च-एतयोर्न प्राप्तिरित्यर्थः। यद्यपि शुद्धोपयोगिनामपि क्वापि शुभोपयोगकाले शिष्यादिग्रहण-पोषणादिचर्याः भवन्ति, यथोक्तं प्रवचनसारग्रन्थे** (३/४८)—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।

अत्रेदं ज्ञेयम्— स्वस्थानाप्रमत्तगुणस्थाने आरोहदशापेक्षया शुद्धोपयोगः, अवरोहदशापोक्षया तु शुभोपयोगः, अतः शुद्धोपयोगिनां क्वापि शुभोपयोगो निर्दिश्यते। विस्तरस्तु 'बारस अणुवेक्खा'-**ग्रन्थस्य** (गाथा-६४) **मदीयसर्वोदयासंस्कृतटीकायां द्रष्टव्यः। यद्वा प्रवचनसारग्रन्थस्य** (गाथा-३/४८) **तात्पर्यवृत्तिटीकायामपि प्रकारान्तरेण समाधानं दत्तं, तदपि द्रष्टव्यम्। एवं शुभोपयोगस्थितस्यापि तस्य मुनेः शिष्यादिषु ममत्वं मन्दतमरूपेणैव भवति, न तु तीव्रतया, अन्यथा अशुभोपयोगरूपेण परिणतिः प्रसज्ज्यते।**

तथा **(शिष्य-प्रतिशिष्य-छात्रे)** शिष्य में, प्रतिशिष्य में एवं छात्र में ममत्व करता है, उसको मोक्ष व सुख —इनकी प्राप्ति नहीं होती —यह अर्थ है। शुद्धोपयोगी मुनियों को भी कभी शुभोपयोग होता है, उस समय शिष्य आदि के ग्रहण व पोषण आदि की चर्या उनके द्वारा की जाती है। प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/48) में कहा भी गया है—

''दर्शन व ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना, उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्र देव की पूजा का उपेदश देना—यह सब सराग यानी शुभोपयोगी मुनियों की प्रवृत्ति है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— स्वस्थान-अप्रमत्त गुणस्थान में आरोह-दशा की दृष्टि से शुद्धोपयोग होता है और अवरोह-दशा की दृष्टि से शुभोपयोग होता है, इसलिए शुद्धोपयोगी मुनियों को कभी शुभोपयोग होना यहाँ कहा गया है। विस्तार से जानना हो तो 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-64) की मेरी सर्वोदया संस्कृत टीका द्रष्टव्य है। अथवा प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/48) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी प्रकारान्तर से समाधान दिया गया है, वह भी द्रष्टव्य है। इस प्रकार, शुभोपयोग में स्थित उस मुनि का शिष्य आदि में जो ममत्व होता है, वह उनके मन्दतम रूप से ही होता है, न कि तीव्रता से, अन्यथा अशुभोपयोग की परिणति प्रसक्त होगी।

सम्यक्त्वपूर्वकः शुभोपयोगः पुण्यबन्धस्य कारणं भवति, किन्तु निर्वाणसुखस्यापि परम्परया। शुद्धोपयोग एव साक्षान्मोक्षसुखकारणम्। किञ्च शुभोपयोगसद्भावे मोक्षप्राप्तिर्न सुगमा, शुभाशुभोभयोपयोगराहित्ये एव शुद्धोपयोगस्ततश्च मोक्षसद्भावात्। एवं वस्तुस्थितौ शिष्यप्रशिष्यादिषु ममत्वं मोक्षसुखप्रतिबन्धकं यदत्रोक्तम्, तस्य तात्पर्यं वर्तते यत्तीव्रममत्वं तु सर्वथा मोक्षादिप्रतिबन्धकमेव भवति, मन्दममत्वमपि स्वसद्भावे साक्षात् मोक्षसुखादिप्रतिबन्धकमेवेति।

किञ्च, सूक्ष्मोऽपि रागभावस्त्याज्य एवेति बारस-अणुवेक्खाग्रन्थे (गाथा-५२) **भणितम्—**

रागो दोसो मोहो हास्सादिणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणो त्ति य जिणा विंति।।

अत्र विषये विस्तरस्तु (बारस-अणुवेक्खा-ग्रन्थोपरि मदीयायां) **सर्वोदयानाम्न्यां संस्कृत-टीकायां द्रष्टव्यः।**

सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग पुण्य-बन्ध का कारण है, किन्तु परम्परया निर्वाण-सुख का भी कारण होता है। शुद्धोपयोग ही साक्षात् मोक्ष-सुख का कारण है। और, शुभोपयोग के रहते हुए मोक्षप्राप्ति सुगम नहीं, क्योंकि शुभोपयोग व अशुभोपयोग —इन (दोनों) के असद्भाव में ही शुद्धोपयोग होता है, जिससे मोक्ष का सद्भाव होता है। इस (यथार्थ) वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य में शिष्य व प्रशिष्य आदि में ममत्व करना मोक्ष-सुख का प्रतिबन्धक है —यह जो यहाँ कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि तीव्र ममत्व तो सर्वथा मोक्ष आदि का प्रतिबन्धक ही होता है, मन्द ममत्व भी अपने सद्भाव से मोक्ष-सुख आदि का प्रतिबन्धक ही होता है।

और, भले ही सूक्ष्म राग हो, वह त्याज्य ही है —यह 'बारस अणुवेक्खा' ग्रन्थ (गाथा-52) में कहा गया है—

"राग, द्वेष, मोह तथा हास्य आदि नोकषाय रूप परिणाम —ये चाहे स्थूल हों या सूक्ष्म, अशुभ मन है —ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।"

यहाँ कुछ (अधिक) विस्तार से जानना हो तो (बारस अणुवेक्खा ग्रन्थ पर की गई मेरी) सर्वोदया (संस्कृत) टीका से जान सकते हैं।

अत्रेदं ज्ञेयम्— यो गुरुणा शास्यते, स शिष्यः। शिष्यस्य शिष्यः 'प्रशिष्यः'**। छत्रं गुरोर्दोषावरणं शीलमस्य स छात्रः। शिष्यः कीदृशो भवतीति विषये सुभाषितसंग्रहे** (श्लोक सं. ४२०-४२१) **निरूपितम्—**

गुरुभक्तो भवाद् भीतो विनीतो धार्मिकः सुधीः।
शान्तस्वान्तो ह्यतन्द्रालुः शिष्टः शिष्योऽयमिष्यते।।

विनीतः सुगुणग्राही गुर्वाज्ञाप्रतिपालकः।
सारसंग्राहको भव्यः, सम्यग्दृष्टिः सुशिष्यकः।।

तथा (सुदजादे) **सुतः पुत्रः, तस्माज्जातः पौत्रः तस्मिन्, ममत्वं यः करोति, सोऽपि न मुक्तो भवति, न सौख्यं प्राप्नोति। तथा** (कप्पडे, पुत्थे, पिच्छे, संथरणे) **वस्त्रे, पुस्तके, पिच्छिकायाम्, संस्तरणे च, लोभेन ममकारं यः करोति, तस्यापि कृते मुक्तिः सौख्यं च न सुलभे —इत्यर्थः।**

यहाँ यह ज्ञातव्य है— शिष्य वह होता है जो गुरु द्वारा शासित (शिक्षित) किया जाता है। शिष्य का शिष्य 'प्रशिष्य' होता है। छात्र वह होता है, जिसका स्वभाव गुरु के दोषों का आवरण (आच्छादन) करना होता है। शिष्य कैसा होता है —इस विषय में 'सुभाषित संग्रह' (श्लोक 420-421) में इस प्रकार बताया गया है—

गुरु का भक्त, जन्म (आदि, अर्थात्, संसार) से भयभीत, विनीत, धार्मिक, अच्छी बुद्धि वाला, शान्त, अन्तर्मुखी, अतन्द्रालु (आलस्यरहित) व शिष्ट —ऐसे गुण वाला 'शिष्य' होता है।"

"विनीत, सद्गुणों को ग्रहण करने वाला, गुरु की आज्ञा का पालन करने वाला, सारभूत पदार्थों का संग्रह करने वाला, भव्य सम्यग्दृष्टि ही 'सुशिष्य' होता है।"

तथा **(सुतजाते)** सुत यानी पुत्र, उससे जात (उत्पन्न) यानी पौत्र, उसमें (अर्थात् पुत्र व पौत्र में) जो ममत्व करता है, वह भी मुक्त नहीं होता और न ही सुख प्राप्त करता है। तथा **(कर्पटे, पुस्तके, पिच्छिकायां, संस्तरणे)** वस्त्र, पुस्तक, पिच्छी व संस्तरण (बिछौना, बिस्तर) में लोभपूर्वक ममत्व जो करता है, उसके लिए भी मुक्ति व सुख सुलभ नहीं होते —यह अर्थ है।

तथा (इच्छासु) **यथा ममत्वभावकारणाद् परद्रव्याणि न त्यज्यन्ते, तथैव इच्छाविषयक-ममत्वकारणाद् ता अपि न त्यज्यन्ते, ततश्च स्वेच्छापूर्त्यै परिग्रहादिदोषाणामनिवार्यत्वात् कर्ममुक्तिः तथा यथार्थसुखप्राप्तिः सुदुष्करैवेत्याशयः। तथा यावच्च** (अट्टरुद्दं) **आर्तरौद्रे अप्रशस्तध्याने प्रवर्तेते, तावत्कालं न मुच्यते, न च सुखं प्राप्नोति —इत्यर्थः।**

अत्र किञ्चिद् विव्रियते— शिष्यादिषु स्नेहः, तथा आर्तरौद्रध्याने —इत्येतानि श्रमणानां कृते वर्जनीयानि —इति शास्त्रकारेण लिङ्गप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५, ८, १८) **च प्रतिपादितम्—**

सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण।
सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।।

अट्टं झायदि झाणं अनंतसंसारिओ होदी।।

पव्वज्जहीणगहिणं णेहं सीसम्मि वट्टदे बहुसो।
आयारविणयहीणो तिरिक्खजोणी ण सो सवणो।।

तथा **(इच्छासु)** जिस प्रकार ममत्व के कारण, पर-द्रव्य छोड़े नहीं जाते, उसी प्रकार इच्छा-विषयक ममत्व के कारण वे इच्छाएँ भी छोड़ी नहीं जाती, परिणामस्वरूप निज इच्छा की पूर्ति हेतु परिग्रह आदि दोष अनिवार्य रूप से होते ही हैं, जिससे कर्मों से मुक्ति एवं यथार्थ सुख की प्राप्ति दुष्कर ही होती है —यह आशय है। तथा जब तक जीव के **(आर्तरौद्रे)** आर्त व रौद्र —ये दो अप्रशस्त ध्यान प्रवृत्त होते हैं, तब तक जीव मुक्त नहीं होता और सुख भी प्राप्त नहीं करता —यह अर्थ है।

यहाँ कुछ व्याख्यान किया जा रहा है— शिष्य आदि में जो स्नेह होता है और जो आर्त व रौद्र ध्यान होते हैं —ये श्रमणों के लिए वर्जनीय हैं —ऐसा शास्त्रकार ने लिङ्गप्राभृत (गाथा-5, 8 व 18) में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

''जो विविध प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आर्त व रौद्र ध्यान करता है, वह पाप से मोहितबुद्धि पशु है, मुनि नहीं है।''

''जो आर्तध्यान करता है, वह अनन्तसंसारी होता है।''

''जो दीक्षा रहित गृहस्थ शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है और विनयहीन है, वह तिर्यञ्च है, साधु नहीं है।''

स्नेहश्च रागात्मक एव। रागेण च बन्ध एव। उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-१५०)—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज।।

ममत्वभावश्च मोहमूलकः, रागद्वेषौ जनयत्येव, एवं तयोः कर्मबन्धहेतुत्वान्मोक्षो ममत्वयुक्तस्य प्रतिबद्ध्यते एव। उक्तं च तत्त्वानुशासनग्रन्थे (१६-१८)—

मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहात् ममाहंकारसम्भवः।
इमकाभ्यां तु जीवस्य रागो द्वेषस्तु जायते।।

ताभ्यां पुनः कषायाः स्युः, नोकषायाश्च तन्मयाः।
तेभ्यो योगाः प्रवर्तन्ते ततः प्राणिवधादयः।।

तेभ्यः कर्माणि बध्यन्ते ततः सुगतिदुर्गती।।

स्नेह रागरूप ही है और राग से बन्ध ही होता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-150) में कहा भी है—

''रागयुक्त जीव कर्म बांधता है और वीतरागता को प्राप्त जीव मुक्त हो जाता है। ऐसा जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है, अतः कर्मों में राग मत करो।''

ममत्व भाव का भी मूल 'मोह' होता है जो राग व द्वेष को उत्पन्न करता ही है, और वे (राग-द्वेष) कर्म-बन्ध के हेतु होते हैं और इस प्रकार ममत्वयुक्त जीव के लिए मोक्ष-प्राप्ति में रुकावट बनी ही रहती है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक 16-18) में कहा भी है—

''मिथ्याज्ञान-युक्त मोह से जीव के ममकार और अहंकार का जन्म होता है और इन दोनों से राग व द्वेष उत्पन्न होते हैं।''

''फिर उन दोनों (राग व द्वेष) से कषायें, नोकषायें उत्पन्न होती हैं जो राग-द्वेषमय होती हैं। उन कषायों व नोकषायों से योग (मन, वचन व काय की प्रवृत्ति) प्रवृत्त होते हैं और उन योगों के प्रवर्तन से प्राणीवधादि (हिंसादि) कार्य होने लगते हैं।''

''उन प्राणीवध आदि कार्यों से कर्म बंधते हैं और फिर सुगति या दुर्गति की प्राप्ति होती है।''

अत एव श्रमणानां कृते कुलग्रामनगरादिष्वपि ममत्वं निन्दनीयमेव। उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-२९५)—

कुलगामणयररज्जं पयहिय तेसु कुणइ ममत्तिं जो।
सो णवरि लिंगधारी संजमसारेण णिस्सारो।।

एवं ममत्वमप्रशस्तध्यानं च संसारदुर्गतिवर्धकमवबुद्ध्य हे भव्य! वीतरागमार्गे सततमग्रेसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति, यथार्थगणगच्छसमयस्वरूपं शास्त्रकाराः गाहाछन्दसा प्ररूपयन्ति—

रयणत्तयमेव गणं, गच्छं गमणस्स मोक्खमग्गस्स।
संघो गुणसंघादो समओ खलु णिम्मलो अप्पा।।१५८।।

छाया— रत्नत्रयमेव गणः, गच्छः, गमनं मोक्षमार्गे।
संघो गुणसंघातः समयः खलु निर्मल आत्मा।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (रयणत्तयमेव गणं) **रत्नत्रयं सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्-चारित्ररूपं मोक्षमार्गत्वेन स्वीकृतं यत्, तदेव गणः।**

इसीलिए श्रमणों के लिए कुल, ग्राम, नगर आदि के प्रति भी ममत्व करना निन्दनीय होता है। भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-295) में कहा भी गया है—

''जो कुल, ग्राम, नगर व राज्य को छोड़कर भी उसमें ममत्व करता है, वह दिगम्बर लिङ्ग का धारक मात्र ही है और संयम रूप सार से रहित-निस्सार ही है।''

इस प्रकार, ममत्व व अप्रशस्त ध्यान को संसार व दुर्गति का वर्द्धक समझ कर हे भव्य! वीतराग मार्ग में निरन्तर अग्रसर होते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, यथार्थ रूप में गण, गच्छ व समय के स्वरूप को गाहा छन्द से शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— रत्नत्रय ही 'गण' है और मोक्षमार्ग में गमन ही 'गच्छ' है, गुणों का समूह ही 'संघ' है, और निर्मल आत्मा ही 'समय' है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(रत्नत्रयमेव गणः)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र —'ये तीन रत्न' 'मोक्षमार्ग' के रूप में स्वीकृत हैं, वे ही (समुदित रूप में) 'गण' हैं।

तथा (मोक्खमग्गस्स गमणस्स गच्छं) **मोक्षमार्गे गमनम्, मोक्षमार्गानुष्ठानम्, तदेव गच्छः श्रमणस्य कृते। अतो बाह्यगणगच्छादिभ्यः सर्वतो ममत्वं परित्यज्य रत्नत्रये तदनुष्ठाने वा रतिः कर्तव्या। अत्र रत्नत्रयमात्मैव। अतस्तत्रैव रतिर्विधेया। भणितं च समयसारग्रन्थे** (गाथा-१६, ४१२)—

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु।।

भावप्राभृतग्रन्थे (गाथा-५७) **च प्रोक्तम्—**

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे।।

तथा **(मोक्षमार्गे गमनमेव गच्छः)** मोक्षमार्ग में जो गमन यानी उसका जो अनुष्ठान है, वही श्रमण के लिए 'गच्छ' है। इसलिए बाह्य गण व गच्छ आदि सभी से ममत्व को हटाकर रत्नत्रय या उसके अनुष्ठान में रति करनी चाहिए। यहाँ रत्नत्रय आत्मा ही है, इसलिए वही रति करनी चाहिए। समयसार ग्रन्थ (गाथा-16 व 412) में कहा भी गया है—

''साधु को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र की सदा ही उपासना करनी चाहिए। निश्चय नय से तो उन तीनों को एक (आत्मा) ही जानो।''

''मोक्ष-पथ में तू अपनी आत्मा को (स्वयं को) स्थापित कर, उसी का अनुभव कर और उसी का ध्यान कर, वहीं पर सदा विहार कर, अन्य द्रव्यों में विहार मत कर।''

भावप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-57) में भी कहा गया है—

''ममत्व को मैं छोड़ता हूँ और निर्ममत्व में स्थित होता हूँ। अब मेरा आलम्बन (मात्र) आत्मा है, शेष को छोड़ता हूँ।''

आत्मनो निश्चयरत्नत्रयपरिणतिरेव मोक्षमार्गगमनम्। उक्तं च परमात्मप्रकाशग्रन्थस्य (१/९६) **टीकायाम्—** ''यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकम् अभेदविवक्षया कृत्वा एकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैर्निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैः बहुभिः परिणतेः अनेकोऽपि आत्मा तु अभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यते।'' **एवम्भूताय रत्नत्रयैकत्वपरिणतात्मने सर्वार्थसिद्धिः स्वतः सुलभा जायते।**

उक्तं च रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थे (श्लोक-१४९)—

येन स्वयं वीतकलङ्कविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम्।
नीतस्तमायाति पतीच्छयेव, सर्वार्थसिद्धिस्त्रिषु विष्टपेषु।।

एवं गणो गच्छो वा निजात्मैव मन्तव्यः, तत्रैव स्थितिः श्रमणस्य कृते श्रेयसीति शास्त्रकाराशयः। तथा (संघो गुणसंघादो) **संघश्च गुणसंघातः, अत्र गुणपदेन मूलोत्तरगुणाः, यद्वा सम्यग्दर्शनादिकाः, यद्वा निःसङ्गत्वादिका गुणा ग्राह्याः।**

निश्चय रत्नत्रय रूप में जो आत्मा की परिणति है, वही मोक्षमार्गगमन है। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (1/96) की टीका में कहा भी गया है— ''जिस प्रकार, दाख, कपूर व श्रीखण्ड आदि बहुत-से द्रव्यों से बना हुआ 'पानक' (पेय पदार्थ) अभेदविवक्षा से एक कहा जाता है, उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति रूप निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र —इन बहु रूपों से परिणत आत्मा अनेक होता हुआ भी अभेद विवक्षा से 'एक' ही कहा जाता है।'' इस तरह रत्नत्रय के एकत्व में जिसकी आत्मा परिणत हो गई हो, उसके लिए सर्वार्थसिद्धि स्वतः सुलभ हो जाती है।

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-149) में कहा भी है—

''जिस भव्य जीव ने अपनी आत्मा को निर्दोष दर्शन, निर्दोष ज्ञान व निर्दोष चारित्र —इन तीन रत्नों का पिटारा बना लिया है, उसके पास मानों सर्वार्थसिद्धि रूप कन्या तीनों लोकों में घूमती हुई उसे ही पति (के रूप में वरण करने) की इच्छा से स्वतः उपस्थित हो जाती है।''

इस प्रकार, निज आत्मा को ही गण या गच्छ मानना चाहिए। वही 'स्थिति' करना श्रमण के लिए कल्याणकारी है —यह शास्त्रकार का आशय है। तथा **(संघो गुणसंघातः)** संघ का अर्थ है— गुणों का संघात (समूह)। यहाँ 'गुण' पद से मूल गुण व उत्तरगुण या सम्यग्दर्शनादि गुण या निःसङ्गता आदि गुण लिये जा सकते हैं।

तथैव (समओ खलु णिम्मलो अप्पा) **निर्मलः शुद्ध आत्मैव समयः आगमो विज्ञेयः। अत्रेदं तात्पर्यम्— आगमज्ञानस्य सार आत्मज्ञानमेव। उक्तं च परमात्मप्रकाशग्रन्थे** (१/९८)—

अप्पा णियमणि णिम्मलउ णियमेँ वसइ ण जासु।
सत्थ पुराणाइँ तवचरणु मुक्खु वि वरहिँ किं तासु।।

एवं निर्मल आत्मैव आगमज्ञानसारतया आगमरूपो मन्तव्यः। यथा आगमाध्ययनं पदार्थानां परोक्षतया आसाक्षाद् वा ज्ञानं गमयति, तथैव शुद्धात्मस्थितिरपि केवलज्ञानपर्यायं प्रकटीकृत्य समस्तपदार्थान् साक्षादेव बोधयतीति दृष्ट्या 'निर्मल आत्मा समयः' **इत्युक्तिः सङ्गतैव।**

एवं हे भव्य! गणगच्छसंघममत्वविवर्जितः सन् शुद्धात्मोपासनायामेव सततं प्रयतो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

इसी तरह **(समयः खलु निर्मलः आत्मा)** निर्मल यानी शुद्ध आत्मा ही समय अर्थात् 'आगम' है —ऐसा जानें। यहाँ यह तात्पर्य है— आगमज्ञान का सार आत्मज्ञान ही है। परमात्मप्रकाश ग्रन्थ (1/98) में कहा भी गया है—

''जिसके निज मन में निर्मल आत्मा निश्चय से नहीं रहता, उस जीव के (पढ़े हुए) शास्त्र-पुराण तथा (की गई) तपस्या —ये क्या मोक्ष करा सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं करा सकते।''

इस प्रकार, निर्मल आत्मा ही आगमज्ञान का सार है, इसलिए उसे आगम रूप जानना चाहिए। जिस प्रकार, आगमों का अध्ययन पदार्थों को परोक्ष रूप से या असाक्षात् ज्ञान कराता है, उसी प्रकार, शुद्धात्म-स्थिति भी केवलज्ञान पर्याय को प्रकट कर समस्त पदार्थों को साक्षात् ही बोध कराती है —इस दृष्टि से 'निर्मल आत्मा समय है' यह उक्ति संगत ही है।

इस प्रकार, हे भव्य! गण, गच्छ व संघ के प्रति ममत्व से रहित होकर शुद्धात्मा की उपासना में ही निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, सम्यक्त्वमेव कर्मविनाशक्षममिति शास्त्रकारा (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—**

मिहिरो महंधयारं मरुदो मेहं महावणं दाहो।
वज्जो गिरि जहा विणसिज्जदि सम्मं तहा कम्मं।।१५९।।

छाया— मिहिरो महान्धकारं मरुत् मेघं महावनं दाहः।
वज्रो गिरिं यथा विनाशयति सम्यक्त्वं तथा कर्म।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (विणसिज्जदि सम्मं तहा कम्मं) **तथैव सम्यक्त्वं कर्म विनाशयति। कर्मणो नाशः सम्यक्त्वेन विधीयते, अत्र दृष्टान्ताः के?**

उच्यते— (मिहिरो महंधयारं जहा) **यथा मिहिरः सूर्यः महान्धकारं विनाशयति, तथैव सम्यक्त्वं कर्म-समूहं विनाशयतीत्यर्थः। किञ्च,** (मरुदो मेहं) **यथा मरुतो वायुः मेघं विनाशयति, प्रचण्डवायुना यथा मेघसमूहः छिन्नो भिन्नश्च जायते, तथैव सम्यक्त्वेन कर्मणो विनाशो भवति। किञ्च,** (महावणं दाहो) **यथा वनाग्निः सुविस्तृतं काननमपि विनाशयति, तथैव सम्यक्त्वं कर्मनाशं विदधाति। किञ्च,** (वज्जो गिरि) **वज्रं देवेन्द्रास्त्रम्, तत् गिरिं पर्वतमपि भेत्तुं समर्थमस्ति, तथैव सम्यक्त्वं कर्मनाशाय समर्थमिति विज्ञेयम्।**

अब, 'सम्यक्त्व ही कर्मों का विनाश करने में समर्थ है'— इसे (सिंहणी) गाहा छन्द के द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— सम्यग्दर्शन कर्म को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अत्यन्त घने अन्धकार को, वायु मेघ को, अग्नि महावन को तथा वज्र पर्वत को नष्ट कर देता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (विनाशयति सम्यक्त्वं तथा कर्म) उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्म का विनाश करता है। कर्म का नाश सम्यक्त्व द्वारा किया जाता है। इस प्रसङ्ग में दृष्टान्त क्या हैं?

बता रहे हैं— **(मिहिरो महान्धकारं यथा)** जिस प्रकार मिहिर यानी सूर्य महान् अन्धकार को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्म-समूह को नष्ट कर देता है —यह अर्थ है। और, (मरुतो मेघं) जिस प्रकार मरुत यानी वायु मेघ को नष्ट कर देती है, प्रचण्ड वायु द्वारा जिस प्रकार मेघ-समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व से कर्मों का नाश हो जाता है। और, **(महावनं दाहः)** जिस प्रकार वन की आग अत्यधिक विस्तृत जंगल को भी नष्ट कर देती है। उसी तरह सम्यक्त्व कर्म का नाश कर देता है। और, **(वज्रो गिरिं)** वज्र यानी देवेन्द्र का अस्त्र पर्वत को भी भेदन करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व कर्म को नष्ट करने में समर्थ है —यह जानें।

अत्रायं विशेषः— सम्यक्त्वं दर्शनमोहनीयजनितमिथ्यात्वकर्मण एव नाशाय समर्थम्, शेषकर्मणां नाशे तु परम्परयैव, न तु साक्षात्। सम्यक्त्वसहितव्रत-तपःप्रभृतिभिरेव सर्वकर्मक्षयः सम्भवतीति दृष्ट्या सम्यक्त्वस्य महत्त्वं तु निर्विवादमेव।

अत्रायं विस्तरः— कर्मनिमित्तः संसारः। कर्मक्षयादेव संसारमुक्तिः। कर्मबन्धश्च मिथ्यात्वादि-जनित एव। अतः संसारभ्रमणे कारणं मिथ्यात्वं प्रमुखतया भण्यते। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-७२)—

एवं अणाइकाले पंचपयारे भमेइ संसारे।
णाणा-दुक्खणिहाणे जीवो मिच्छत्तदोसेण।।

मिथ्यात्वस्य नाशः सम्यक्त्वेनैव भवति। मिथ्यात्वजनिताज्ञानं सम्यक्त्वे सति नश्यति, तदेव जीवः सम्यग्ज्ञानी संजायते। उक्तं च दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१५)— सम्मत्तादो णाणं।

यहाँ यह विशेष ज्ञातव्य है— सम्यक्त्व तो दर्शनमोहनीयजनित मिथ्यात्व कर्म का ही नाश करने में समर्थ है, शेष कर्मों का नाश तो वह परम्परा से ही करता है, साक्षात् नहीं। समस्त कर्मों का क्षय तो सम्यक्त्व सहित व्रत, तप आदि से ही सम्भव होता है, इस दृष्टि से सम्यक्त्व का महत्त्व तो निर्विवाद ही है।

यहाँ कुछ विस्तार से कथनीय है —संसार का निमित्त 'कर्म' है। कर्म-क्षय से ही संसार-मुक्ति होती है। कर्मबन्ध मिथ्यात्व आदि से ही जनित होता है। इसलिए संसारभ्रमण के कारणों में मिथ्यात्व का कथन प्रमुख रूप से किया जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-72) में कहा भी गया है—

"इस प्रकार, अनेक दुःखों की उत्पत्ति के कारण पाँच प्रकार के संसार में, यह जीव मिथ्यात्व रूपी दोष के कारण अनादि काल तक भ्रमण करता रहता है।"

मिथ्यात्व का नाश सम्यक्त्व से ही होता है। मिथ्यात्व-जनित अज्ञान का नाश तभी होता है जब सम्यक्त्व होता है, और तभी जीव सम्यग्ज्ञानी होता है। दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-15) में कहा भी गया है— "सम्यक्त्व से (सम्यक्) ज्ञान होता है।"

सम्यग्ज्ञानी रागादीनामकर्ता भणितः, अतो रागाद्यभावात् कर्मास्त्रवनिरोध एव तस्य। उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-२८०, १७७-१७८)—

ण य रायदोस मोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।।

रागो दोसो मोहो आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स।
तम्हा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति।।

हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं।
तेसिं पि य रागादी, तेसिमभावे ण बज्झंति।।

किञ्च, सम्यग्ज्ञानिनः कर्मसंवरेण सह कर्मनिर्जराऽपि प्रारभ्यते। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे (३/३८)—

सम्यग्ज्ञानी जीव को राग आदि का अकर्ता कहा गया है, इसलिए राग आदि के अभाव के कारण कर्म के आस्त्रव का निरोध ही उसके होता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-280, 177-178) में कहा भी गया है—

''ज्ञानी राग, द्वेष व मोह को अथवा कषाय भाव को स्वयं निजरूप नहीं करता, इसलिए वह उन भावों का कर्ता नहीं होता।''

''राग, द्वेष व मोह —ये आस्त्रव सम्यग्दृष्टि के नहीं होते। इसलिए रागादि भावास्त्रव के बिना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं होते।''

''(मिथ्यात्व आदि) चार प्रकार के हेतु अष्टविध कर्मों के कारण होते हैं और उन चार प्रकार के हेतुओं के कारण जीव के रागादि भाव हैं। उन रागादि भावों का अभाव होने से सम्यग्दृष्टि के कर्मबन्ध नहीं होता।''

और, सम्यग्ज्ञानी जीव को कर्मों के संवर के साथ-साथ कर्म-निर्जरा भी प्रारम्भ हो जाती है। प्रवचनसार ग्रन्थ (गाथा-3/38) में कहा भी गया है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहि।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमेत्तेण।।

सम्यक्त्वे सति मिथ्यात्वावस्थापेक्षया असंख्यातगुणितकर्मनिर्जरा प्रारभ्यते, एकदेशविरति-सर्वविरत्याद्यवस्थासु सा क्रमशो वर्द्धते। उक्तं च कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा १०६-१०८)—

मिच्छादो सद्दिट्ठी असंखगुणकम्मणिज्जरा होदि।
तत्तो अणुवयधारी तत्तो य महव्वई णाणी।।

पढमकसाय-चउण्हं विजोजओ तह य खवयसीलो य।
दंसणमोहतियस्स य तत्तो उवसमग-चत्तारि।।

"अज्ञानी जीव, जिस कर्म को लाखों करोड़ों भवों (पर्यायों) द्वारा नष्ट करता है, उसे ज्ञानी जीव तीन गुप्तियों से गुप्त होकर उच्छ्वास मात्र में क्षीण कर देता है।"

सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व अवस्था की दृष्टि से (अपेक्षाकृत) असंख्यात गुनी कर्म-निर्जरा प्रारम्भ हो जाती है, वह क्रमशः एकदेशविरति व सर्वविरति आदि अवस्थाओं में बढ़ती जाती है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा 106-108) में कहा भी गया है—

"मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। सम्यग्दृष्टि से भी अणुव्रती के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। अणुव्रती से भी ज्ञानी महाव्रती के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। महाव्रती से भी अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करने वाले के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी दर्शनमोहनीय का क्षपण (विनाश) करने वाले के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी (अधिक) उपशमश्रेणी के आठवें, नौंवे व दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का उपशम करने वाले के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी (अधिक) ग्यारहवें गुणस्थान वाले उपशमक के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी (अधिक) क्षपकश्रेणी के आठवें, नौवें व दसवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है।

खवगो य खीणमोहो सजोइणाहो तहा अजोईया।
एये उवरिं उवरिं असंखगुणकम्मणिज्जरया।।

किन्तु सम्यक्त्वमेतन्न सर्वैर्जीवैः प्राप्तुं शक्यते। कैः कदा कथं सम्यक्त्वप्राप्तिः सम्भवतीति विषये या मर्यादा भवन्ति, तासां निरूपणं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३०७) **कृतमस्ति—**

चदुगदि-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो।
संसारतडे णियडो णाणी पावेइ सम्मत्तं।।

अयम्भावः— देवो नारको मनुष्यः तिर्यग्वा, कस्याञ्चिदपि गतौ जीवः सम्यक्त्वं प्राप्तुं शक्नोति। किन्तु भव्य एव सम्यक्त्वं लभते, नाभव्यः। भव्येष्वपि केचिदेव, न सर्वे। यथा संज्ञी पञ्चेन्द्रियः, न त्वसंज्ञी। तथैव विशुद्धेन आकारेण सहितः अर्थात् अनन्तगुणविशुद्ध्या वर्धमानः एव, नान्यः।

उससे भी (अधिक) बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान वाले के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी (अधिक) 'सयोग केवली' भगवान् के असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है। उससे भी (अधिक) अयोगकेवली भगवान् के असंख्यातगुनी कर्मनिर्जरा होती है। इस प्रकार इन ग्यारह स्थानों में ऊपर-ऊपर असंख्यातगुनी-असंख्यातगुनी कर्म-निर्जरा होती है।''

किन्तु यह सम्यक्त्व सभी जीवों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। कौन-कौन, कब और किस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है —इस विषय में जो मर्यादाएँ (नियमादि) हैं, उनका निरूपण कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-307) में इस प्रकार किया गया है—

''चारों गतियों का भव्य, संज्ञी, विशुद्धपरिणामी, जागता हुआ, पर्याप्त (अवस्था में स्थित), ज्ञानी जीव संसार-तट के निकट आने पर सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।''

तात्पर्य यह है— देव, नारकी, मनुष्य व तिर्यञ्च —इनमें से किसी भी गति में स्थित जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है, किन्तु उनमें भव्य जीव को ही सम्यक्त्व प्राप्त होता है, अभव्य जीव को नहीं। तथा (भव्यों में भी) कुछ ही सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं, सभी नहीं, जैसे— संज्ञी पञ्चेन्द्रिय ही हो, असंज्ञी नहीं हो, इसी तरह वह विशुद्ध आकार वाला हो अर्थात् वह अनन्तगुनी विशुद्धि से वृद्धिशील हो, अन्य नहीं।

तथैव भावपीतपद्मशुक्ललेश्यैकतरलेश्य एव, न भावाशुभलेश्यः। तथैव जाग्रज्जीव एव सम्यक्त्वं लभते, न तु निद्रानिद्राप्रचलाप्रचला-स्त्यानगृद्धिनिद्रात्रयसहितः। एवमेव पर्याप्तः अर्थात् षट्पर्याप्तिपूर्णतामधिगत एव, नापर्याप्तः।

तथा संसारतटे निकटस्थित एव, अर्थात् उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलपरिवर्तनकालपर्यन्त-संसारस्थायी एव, नाधिकसंसारस्थायी। तथा ज्ञानी अर्थात् भेदज्ञानविशिष्ट एव सम्यक्त्वयोग्यः, नान्यः। एवं काललब्ध्यादिकारणसन्निधाने, अधःकरण-अपूर्वकरण-अनिवृत्तिकरणेतिकरणत्रय-परिणामपूर्णताऽपि सम्यक्त्वलाभे समपेक्षितैव। तच्च सम्यक्त्वं औपशमिकक्षायिकक्षायो-पशमिकेतिभेदात् त्रिविधं भवति। तत्र मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वेतिप्रकृतित्रयस्य तथा अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभेतिचतुष्टयस्य, एवं सप्तानां प्रकृतीनां क्षयात् क्षायिकं सम्यक्त्वम्, उपशमात्तु औपशमिकं सम्यक्त्वम्। क्षयोपशमजनितं क्षायोपशमिकम्, तच्च वेदकसम्यक्त्वनाम्नाऽपि भण्यते।

इसी तरह, उनमें भी पीत, पद्म व शुक्ल —इन तीन भावलेश्याओं में से किसी एक लेश्या वाला ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है, न कि भाव अशुभ लेश्या वाला जीव। इसी तरह, जागता हुआ जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त करता है, न कि निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्यानगृद्धि —इन तीन निद्राओं वाला। इसी तरह, पर्याप्त, अर्थात् छहों पर्याप्तियों की पूर्णता को प्राप्त हो चुका जीव ही सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, न कि अपर्याप्त।

इसी तरह, संसार-तट के निकट में स्थित ही जीव, अर्थात् उत्कृष्ट रूप से अर्धपुद्गल परावर्तन काल पर्यन्त संसार में रहने वाला जीव सम्यक्त्व प्राप्त करता है, न कि अधिक संसार-स्थिति वाला। तथा ज्ञानी यानी भेदज्ञान से युक्त ही जीव सम्यक्त्व के योग्य है, अन्य नहीं। इसी तरह, सम्यक्त्व के लाभ में काललब्धि आदि कारणों की सन्निधि में, अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण —इन तीन करण रूपी (आत्मीय विशिष्ट) परिणामों की पूर्णता भी अपेक्षित है ही। वह सम्यक्त्व औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक —इन भेदों से तीन प्रकार का होता है। इनमें मिथ्यात्व, सम्यग्-मिथ्यात्व व सम्यक्त्व प्रकृति —इन (दर्शनमोहनीय की) तीन प्रकृतियों तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ —इन चार, इस तरह, (कुल) सात प्रकृतियों के क्षय से 'क्षायिक सम्यक्त्व' होता है। (इन्ही सात प्रकृतियों के) उपशम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' होता है। क्षयोपशम से होने वाला (सम्यक्त्व) क्षायोपशमिक होता है, उसे वेदक सम्यक्त्व भी कहा जाता है।

तत्स्वरूपं प्रोक्तं कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रन्थे (गाथा-३०९)—

अणउदयादो छण्हं सजाइरूवेण उदयमाणाणं।
सम्मत्तकम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं।।

अयम्भावः— अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वसम्यक्मिथ्यात्वेतिप्रकृतीनां षण्णामनुदयात्, उदयाभावात् तथा सद्रूप-उपशमात् क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वं भवति। तत्र अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभेतिकषायचतुष्टयस्य विसंयोजनं भवति, अर्थात् अनन्तानुबन्धि-कषायाः सजातीय-अप्रत्याख्यानावरणीयकषायरूपेण उदयं प्राप्नुवन्ति, तथैव मिथ्यात्वमपि सम्यक्त्वप्रकृतिरूपेण समुदयं प्राप्नोति। एतेषु त्रिषु सम्यक्त्वेषु क्षायिकसम्यक्त्वं प्राप्तो जीवस्तु तस्मिन्नेव भवे, यद्वा तृतीये चतुर्थे वा भावे मुक्तो भवति, चतुर्थभवं नातिक्रामति। औपशमिक-सम्यक्त्वस्य जघन्या उत्कृष्टा च स्थितिरन्तर्मुहूर्तकालिका।

उसका स्वरूप कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ (गाथा-309) में इस प्रकार बताया गया है।

''उक्त सात प्रकृतियों में से छः प्रकृतियों का उदय न होने तथा समान, जातीय प्रकृतियों के रूप में उदय होने पर और 'सम्यक्त्व' प्रकृति के उदय में 'क्षायोपशमिक सम्यक्त्व' होता है।''

तात्पर्य यह है— अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ —इन चार प्रकृतियों तथा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व —इन दो प्रकृतियों, कुल मिला कर छः प्रकृतियों के उदयाभाव से तथा उन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। वहाँ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया व लोभ —इन चार कषायों का विसंयोजन होता है, अर्थात् वे अनन्तानुबन्धी कषाय अपने सजातीय अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय रूप से उदय प्राप्त करते हैं, उसी तरह मिथ्यात्व भी 'सम्यक्त्व' प्रकृति रूप में उदय प्राप्त करता है। इन तीनों सम्यक्त्वों में क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त जो जीव होता है, वह उसी भव में या (अधिक से अधिक) तीसरे या चतुर्थ भव में मुक्त हो जाता है, (किसी भी हालत में) वह चतुर्थ भव को पार नहीं करता। औपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य व उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त समय वाली होती है।

ततश्च मिथ्यात्वोदये सति जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तम्, उत्कृष्टतः पुद्गलपरिवर्ताधस्तिष्ठति, अर्थात् वेदकसम्यक्त्वी, उपशमसम्यक्त्वी वा पुनः मिथ्यात्वोदये सत्यपि नियमतः अर्द्धपुद्गलपरावर्तकाल-समाप्त्यनन्तरं संसारे न तिष्ठति, मुक्तो भवत्येव। क्षायोपशमिकसम्यक्त्वस्य जघन्यस्थितिरन्तर्मुहूर्त-कालिका, उत्कृष्टतस्तु षट्षष्टिसागरोपमकालं यावत् स्थितिर्भणिता। विस्तरस्तु तत्तच्छास्त्रेषु द्रष्टव्यः।

एवं हे भव्य! सम्यक्त्वस्वरूप भेदसहितं तन्माहात्म्यं सम्यगवबुद्ध्य निर्दोषसम्यक्त्वं परिपालयन् कर्मक्षयाय सम्यक्चारित्रानुष्ठाने सततं प्रवर्तस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ, मिथ्यात्वान्धकारविनाशकं दीपकोपमं सम्यक्त्वं शास्त्रकाराः (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा प्ररूपयन्ति—**

मिच्छंधयाररहिदं हियमज्झं सम्मरयणदीवकलावं।
जो पज्जलदि स दीसदि, सम्मं लोयत्तयं जिणुद्दिट्ठं।।१६०।।

छाया— मिथ्यात्वान्धकाररहिते हृदयमध्ये सम्यक्त्वरत्नदीप-कलापम्।
य: प्रज्वालयति स पश्यति सम्यक् लोकत्रयं जिनोद्दिष्टम्।।

उस (अन्तर्मुहूर्त काल) के बाद, मिथ्यात्व का उदय होने पर उसकी स्थिति भी जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्टतः पुद्गलपरावर्त के भीतर ही रहती है। अर्थात् वेदकसम्यक्त्वी या उपशमसम्यक्त्वी होकर पुनः मिथ्यादृष्टि होने पर भी, वह नियम से अर्धपुद्गलपरावर्त काल के समाप्त होने पर संसार में नहीं रहता, मुक्त हो जाता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त काल की होती है, उत्कृष्टतः तो छियासठ सागर प्रमाण काल तक स्थिति होती है। विस्तार से जानना हो तो उन-उन शास्त्रों को देखना-जानना चाहिए।

इस प्रकार, हे भव्य! सम्यक्त्व के स्वरूप व भेद के साथ-साथ उसके महत्त्व को अच्छी तरह समझ कर, निर्दोष सम्यक्त्व का पालन करते हुए, कर्म-क्षय हेतु सम्यक्चारित्र के अनुष्ठान में निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के विनाशक दीपक-तुल्य सम्यक्त्व का (सिंहणी)-गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार निरूपण कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से रहित अपने हृदय में सम्यक्त्व रत्न रूपी दीप-समूह (दीपावली) को प्रज्वलित करता है, वह तीनों लोकों को भलीभांति देखता है (देखने में सक्षम होता है)।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः स्पष्ट एव। (स दीसदि सम्मं लोयत्तयं) **स पश्यति सम्यक्तया त्रीन् लोकान्। समस्तलोक ऊर्ध्व-मध्य-अधोभागैर्विभक्तः, अतस्त्रयो लोका भण्यन्ते। त्रयोऽपि लोकाः केनचिद् विशिष्टजीवेन द्रष्टुं शक्यन्ते। स को जीवः ?**

उच्यते— (जो सम्मरयणदीवकलावं हियमज्झं पज्जलदि) **यः सम्यक्त्वरत्नदीपकलापं हृदयमध्ये प्रज्वालयति। सम्यक्त्वरत्नमेव दीपकलापरूपमिवात्र भणितम्। यथा कश्चित् स्वगृहमध्ये दीपसमूहं प्रज्वाल्य गृहस्थितान् पदार्थान् द्रष्टुं क्षमते, तथैव सम्यक्त्वरत्नदीपं प्रज्वाल्य स्वहृदयं प्रकाशपूर्णं करोति, तदेव प्रकाशितं हृदयं समस्तलोकं सम्यक्तया द्रष्टुं समर्थं भवति —इत्यर्थः। सम्यक्त्व-रत्नात्मकदीपसमूहेन हृदयं कीदृशं भवति ? उच्यते—** (मिच्छंधयाररहिदं) **मिथ्यात्वरूपान्धकारेण रहितं जायते, तदन्धकारराहित्येन पूर्णतया प्रकाशो हृदये विजृम्भते। इति** (जिणुद्दिट्ठं) **इति जिनेन सर्वज्ञेन उपदिष्टम्, अर्थात् एतदवितथमेवेति ज्ञेयमित्यर्थः।**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय स्पष्ट ही है। **(स पश्यति सम्यक् लोकत्रयम्)** वह तीनों लोकों को सम्यक् रूप से देखता है। समस्त लोक ऊर्ध्व, मध्य व अधः —इन प्रकारों से विभक्त है, इसलिए 'तीन लोक' कहे गए हैं। तीनों लोकों को कोई विशिष्ट जीव (केवली होकर) देख सकते हैं। वह जीव कौन है?

बता रहे हैं— **(यः सम्यक्त्वरत्नदीपकलापं हृदयमध्ये प्रज्वालयति)** जो सम्यक्त्व रत्न रूपी दीप-कलाप (दीपावली) को (अपने) हृदय में प्रज्वलित करता है। सम्यक्त्व रत्न को ही यहाँ दीप समूह के समान कहा गया है। जिस प्रकार, कोई व्यक्ति अपने घर के भीतर दीप-समूह प्रज्वलित करके घर में रखे पदार्थों को देखने में समर्थ होता है, उसी प्रकार, सम्यक्त्व रत्नरूपी दीप को प्रज्वलित कर अपने हृदय को प्रकाश से पूर्ण कर देता है, वही प्रकाशित हृदय समस्त लोक को सम्यक् रूप से देखने में समर्थ होता है —यह अर्थ है। सम्यक्त्व रत्नरूपी दीपक-समूह द्वारा हृदय की क्या स्थिति होती है? बता रहे हैं— **(मिथ्यात्वान्धकाररहिते)** मिथ्यात्व रूपी अन्धकार से रहित हृदय हो जाता है, उस अन्धकार से रहित होने से हृदय में प्रकाश पूर्ण रूप से फैल जाता है। ऐसा **(जिनोद्दिष्टम्)** जिनेन्द्र सर्वज्ञ, देव ने उपदिष्ट किया है, अर्थात् यह पूर्णतः सत्य (यथार्थ) ही है —ऐसा जानें —यह अर्थ है।

अत्रेदं ज्ञेयम् —यथा यदैव दीपप्रकाश उद्योतते, तदैवान्धकारः प्रविलीयते, एवं दीपप्रकाशन -अन्धकारनाशयोर्युगपद्भावः, तथैव सम्यक्त्वाविर्भावमिथ्यात्वविलययोर्युगपद्भावित्वमेव।

उक्तं च राजवार्तिकग्रन्थे (१/३/४)— "तापप्रकाशवत् युगपदुत्पत्तेरभ्युपगमाच्च।..........यदा अस्य सम्यग्दर्शनमुत्पद्यते, तदैव प्राक्तनं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं च सम्यक्त्वेन परिणमति..."

किञ्च, यथा अन्धकारः पदार्थाधिगमे सामान्यजीवानां उलूकादीन् विहाय कृते प्रतिबन्धक एव, तथैव मिथ्यात्वान्धकारोऽपि जीवानां जिनोपदिष्टपदार्थादिषु तत्त्वरुचेः प्रतिबन्धकः। उक्तं च प्राकृतपञ्चसंग्रहग्रन्थे (१/८)—

मिच्छादिट्ठी जीओ उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं च।।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— जिस प्रकार जब भी दीप का प्रकाश प्रकट होता है, तभी अन्धकार विलीन हो जाता है, जैसे दीप का प्रकाश व अन्धकार का नाश युगपत् होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व का आविर्भाव तथा मिथ्यात्व-विलय दोनों ही एकसाथ होते हैं।

राजवार्तिक ग्रन्थ (1/3/4) में कहा भी गया है— "(अग्नि या सूर्य का) ताप व प्रकाश —इन दोनों की युगपत् (एक साथ) उत्पत्ति मानी गई है।...जब जिस व्यक्ति को सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तभी पूर्व में विद्यमान मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान —दोनों 'सम्यक्त्व' (सम्यग्ज्ञान) रूप में परिणत हो जाते हैं।"

और, जिस प्रकार पदार्थ-ज्ञान होने में, सामान्यतया जीवों के लिए उल्लू आदि जीवों को छोड़कर अन्धकार प्रतिबन्धक होता ही है, उसी प्रकार मिथ्यात्व रूपी अन्धकार भी जिनोपदिष्ट पदार्थ आदि में जीवों की रुचि को प्रतिबन्धित करता है। (प्राकृत) पञ्चसंग्रह ग्रन्थ (1/8) में कहा भी गया है—

"मिथ्यादृष्टि (जिनेन्द्र द्वारा) उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता। वह तो अन्य द्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट सद्भूत (अयथार्थ) तत्त्वों पर श्रद्धा करता है।"

एवं यदैव मिथ्यादर्शनविलयो भवति, तदैव तस्य जीवस्य जिनोपदिष्टतत्त्वेषु श्रद्धानं निर्मलं प्रादुर्भवति, ततश्च श्रद्धाननिर्मलतायां क्रमशो वर्द्धमानायां सर्वपदार्थान् तथा लोकत्रययथार्थस्वरूपं च सम्यक्तया श्रद्दधाति, पश्यतीति भावः। अथवा रत्नत्रये सम्यग्दर्शनमेव प्रधानम् —इति दृष्ट्या सम्यक्त्वपदं सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्रयोरपि वाचकम्, अतो यो रत्नत्रयेण आत्मानं प्रकाशयति, उद्योतयति, तद्युक्तं करोति, स घातिकर्मचतुष्टयं विनाश्य सर्वज्ञो भूत्वा लोकत्रयं हस्तामलकवत् साक्षात्करोति। एवं सम्यक्त्वरत्नं केवलज्ञानोत्पत्तौ परम्परया कारणमित्याद्यर्थोऽप्यूह्यः। अत एवोक्तं दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-७)—

सम्मत्तसलिलपवाहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स।,
कम्मं बालुयवरणं बंधुच्चिय णासए तस्स।।

एवं हे भव्य! स्वहृदये सम्यक्त्वरत्नदीपं प्रज्वाल्य सर्वलोकप्रत्यक्षज्ञानमाविर्भावयितुं निरन्तरं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

इस प्रकार, जब ही मिथ्यादर्शन का विलय होता है, तभी उस जीव का जिन-उपदिष्ट तत्त्वों में निर्मल श्रद्धान प्रकट हो जाता है, फलस्वरूप ज्यों-ज्यों श्रद्धान की निर्मलता क्रमशः बढ़ती जाती है, वह समस्त पदार्थों तथा तीन लोकों के यथार्थ स्वरूप पर सम्यक् रूप से श्रद्धान करता है, उसे देखता है —यह भाव है। अथवा, रत्नत्रय में प्रधान सम्यग्दर्शन ही है— इस दृष्टि के आधार पर सम्यक्त्व पद को यहाँ सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का भी वाचक मानना चाहिए। इसलिए जो जीव रत्नत्रय से आत्मा को प्रकाशित (उज्ज्वल) करता है, उद्योतित करता है, उससे युक्त करता है, वह चार घातिकर्मों का नाशकर, सर्वज्ञ होकर तीनों लोकों को हाथ मे रखे आँवले की तरह साक्षात्कार करता है। इस तरह, सम्यक्त्व रत्न केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की उत्पत्ति में परम्परया कारण है—इत्यादि अर्थ भी किया जा सकता है। इसीलिए दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-7) में कहा भी गया है—

''जिस मनुष्य के हृदय में सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित होता है, उसका पूर्वबन्ध से संचित कर्म रूपी बालू का आवरण नष्ट हो जाता है।''

इस प्रकार हे भव्य! अपने हृदय में सम्यक्त्व रत्न के दीपक को प्रज्वलित करो और समस्त लोक को प्रत्यक्ष देखने वाले 'ज्ञान' को प्रकट करने हेतु निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अथ पुनरपि सम्यक्त्वमहत्त्वं प्रकारान्तरेण शास्त्रकाराः (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा समर्थयन्ति—**

कतकफलभरियणिम्मल जलं ववगयकालिया सुवण्णं च।
मलरहियसम्मजुत्तो भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं।।१६१।।

छाया— कतकफलभृतनिर्मलं जलं व्यपगतकालिकं सुवर्णं च।
मलरहितसम्यक्त्वयुक्तो भव्यवरो लभते लघु मोक्षम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (भव्ववरो लहइ लहु मोक्खं) **भव्येषु वराः श्रेष्ठाः जीवाः लघु, लघुकाले एव मोक्षं लभन्ते, मुक्ता भवन्ति। न सर्वे भव्याः मुक्तिं गच्छन्त्येव, अपितु तेषु श्रेष्ठा एव मुक्ता भवन्ति, इति** 'भव्ववरो' (भव्यवरः) **इतिपदेन संकेतितम्।**

उक्तं च धवलाग्रन्थे (पु. १, खण्ड-१, भाग-१, सू. १४१, पृ. ३९५-३९६)— ''मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न। मुक्तिगमनयोग्यतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति, सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात्।''

अब, पुनः शास्त्रकार (सिंहणी) गाहा छन्द द्वारा सम्यक्त्व के महत्त्व का समर्थन अन्य प्रकार से कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार निर्मली (कतक) डालने से जल निर्मल हो जाता है, (आग से) सुवर्ण की कालिमा दूर हो जाती है, उसी प्रकार निर्दोष सम्यक्त्व से युक्त श्रेष्ठ भव्य प्राणी शीघ्र मोक्ष प्राप्त करता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (भव्यवरो लभते लघु मोक्षम्) भव्यों में जो श्रेष्ठ जीव हैं, वे लघु यानी अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, मुक्त हो जाते हैं। सभी भव्य मुक्ति प्राप्त करते ही हों —ऐसा नहीं है, अपितु उनमें श्रेष्ठ ही मुक्त होते हैं —इस तथ्य का संकेत 'भव्यवर' इस पद के माध्यम से (शास्त्रकार द्वारा) किया गया है।

धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 141, पृ. 395-396) में कहा भी गया है— ''मुक्ति को नहीं जाने (प्राप्त करने) वाले जीवों में 'भव्यपना' कैसे संगत हो सकता है? यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि मुक्ति जाने की योग्यता की अपेक्षा से उनकी भव्य संज्ञा युक्तिसंगत बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जाने के योग्य होते हैं, वे सब नियम से कलंकरहित होते हों —ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा मान लेने पर 'सुवर्णपाषाण' में व्यभिचार दोष आ जाएगा।''

राजवार्तिकग्रन्थे (२/७/९) **च विशदीकृतम्—** ''योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यति असौ अभव्य एव इति चेत् न, भव्यराश्यन्तर्भावात्।........यथा योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकीभविष्यति, न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति, न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः।।''

कीदृशो भव्यवरो मुक्तिं शीघ्रं प्राप्नोति? उच्यते —(मलरहियसम्मजुत्तो) **मलरहितेन निर्दोषेण निर्मलेन वा सम्यक्त्वेन यो युक्तो भवति, निर्मलसम्यक्त्वधारी भव्यवरो जीवः स शीघ्रमेव मुच्यते इत्यर्थः। सम्यक्त्वरहितस्तु भव्यवरोऽपि न मुच्यते इति निषेधमुखेन तात्पर्यं च समधिगम्यम्।**

अत एवोक्तं दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१०, ३४)—

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परवड्ढी।
तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति।।

राजवार्तिक ग्रन्थ (2/7/9) में भी स्पष्ट किया गया है— ''जो भव्य अनन्तकाल में भी सिद्ध नहीं होगा, वह तो अभव्य के जैसा ही हुआ? (उत्तर—) नहीं, वह अभव्य नहीं है, क्योंकि उसमें भव्यत्व शक्ति है, जैसे कि कनकपाषाण को —जो कभी सोना नहीं बनेगा —उसे अन्धपाषाण नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें सोना होने की योग्यता है। अथवा, उस आगामी काल को —जो अनन्त काल में भी नहीं आएगा —अनागामी नहीं कह सकते, उसी तरह सिद्धि न होने पर भी, भव्यत्व शक्ति होने के कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते, वह भव्य राशि में ही शामिल है।''

कैसा भव्यवर शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है? बता रहे हैं— **(मलरहित-सम्यक्त्वयुक्तः)** मलरहित यानी निर्दोष या निर्मल सम्यक्त्व से जो युक्त यानी सम्पन्न होता है, वह निर्मलसम्यक्त्वधारी भव्यवर जीव शीघ्र ही मुक्त होता है —यह अर्थ है। सम्यक्त्व से रहित तो भव्यवर भी मुक्त नहीं होता —इस निषेधपरक तात्पर्य को भी समझ लेना चाहिए।

इसीलिए दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-10 व 34) में कहा गया है—

''जैसे जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के (शाखा आदि) परिवार की वृद्धि नहीं हो पाती, वैसे ही जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं, वे मूल से नष्ट होते हैं। अतः ऐसे जीव सिद्ध अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाते।''

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च।।

अत्र दृष्टान्तद्वयं शास्त्रकारेण प्रस्तूयते— (कतकफलभरियणिम्मलजलं) **कतकफलेन भृतं निर्मलं जलं यथा भवति, तथा। लोके पङ्कमिश्रितजलस्य निर्मलीकरणाय कतकफलप्रयोगो विधीयते, तत्र कतकफल-निक्षेपेण पङ्कभागोऽधस्तनभागे एकत्रीभवति, उपरिभागे तु निर्मलं जलमेव तिष्ठति, तद्वदेव यस्य भव्यवरस्य सम्यक्त्वं निर्मलं सम्पद्यते, स शीघ्रमेव मोक्षगामी —इत्याशयः। अन्यत्र शास्त्रेष्वपि उपशमसम्यक्त्वस्य स्वरूपं कतकफलनिर्मलीकृतजलसदृशं वर्णितमपि।**

यथोक्तं धवलाग्रन्थे (पु. १, खण्ड-१, भाग-१, सू. १४४, गाथा-२१६, पृ. ३९८) **तथा गोम्मटसारग्रन्थे** (जीवकाण्डे, गाथा-६५०)—

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थ-सद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं।।

"यह जीव उत्तम गोत्र सहित मनुष्य-पर्याय को प्राप्त कर तथा वहाँ सम्यक्त्व को प्राप्त कर अक्षय सुख एवं मोक्ष को प्राप्त करता है।"

यहाँ दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा रहे हैं— **(कतकफलभृतनिर्मलजलम्)** कतक फल (निर्मली, फिटकरी) से भृत यानी युक्त होकर जल जिस प्रकार निर्मल हो जाता है, उसी तरह। लोक में कीचड़ से मिश्रित जल को निर्मल करने के लिए 'कतक' फल का प्रयोग किया जाता है, वहाँ कतक फल के निक्षेप (डालने) से कीचड़ का अंश नीचे एकत्रित हो जाता है, किन्तु ऊपर-ऊपर निर्मल जल ही रहता है, उसी तरह जिस भव्यवर का सम्यक्त्व निर्मल हो जाता है, वह शीघ्र ही मोक्षगामी होता है —यह आशय है। अन्य शास्त्रों में भी 'उपशम सम्यक्त्व' के स्वरूप को 'कतक' फल से निर्मल किये गये जल के समान बताया गया है।

जैसे, धवला ग्रन्थ (पु. 1, खण्ड-1, भाग-1, सू. 144, गाथा-216, पृ. 398) तथा गोम्मटसार ग्रन्थ (जीवकाण्ड, गाथा-650) में कहा गया है—

"दर्शनमोहनीय के उपशम से, कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मलता को प्राप्त जल की तरह, पदार्थों का जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह उपशम सम्यग्दर्शन है।"

प्राकृतपञ्चसंग्रहग्रन्थे (१/१६६) **च भणितम्—**

दंसणमोहस्सुदए उवसंते सच्चभावसद्दहणं।
उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णकलुसं जहा तोयं।।

समयसारग्रन्थस्य टीकायां च प्रतिपादितं यद् यथा लोके कतकफलप्रयोगेण शुद्धजलं प्राप्यते, तथैव शुद्धनयप्रयोगेण शुद्धात्मानुभवः कर्तुं शक्यते। यथा समयसारग्रन्थस्य (गाथा-११) **तात्पर्यवृत्तिटीकायां विशदीकृतम्—** ''यथा कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकी जनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति। तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्व-रागादिविभावपरिणामसहितम् आत्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानम् अनुभवतीत्यर्थः।''

तत्रैव आत्मख्यातिटीकायामपि प्रतिपादितम्— ''....केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपात-मात्रोपजनितपङ्कपयसोः विवेकतया स्वपुरुषाकार-आविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वाद् अच्छमेव तदनुभवन्ति।...

प्राकृत पञ्चसंग्रह ग्रन्थ (1/166) में भी कहा गया है—

''जिस प्रकार कीचड़ आदि से उत्पन्न कलुषता (मलिनता) प्रशान्त होने पर जल निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार दर्शनमोह के उदय के उपशान्त होने पर जो सत्यार्थ-श्रद्धान होता है, उसे 'उपशम सम्यग्दर्शन' कहते हैं।''

समयसार ग्रन्थ की टीका में भी यह प्रतिपादित किया गया है कि जिस प्रकार लोक में 'कतक' फल के प्रयोग से शुद्ध जल प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार 'शुद्ध नय' के प्रयोग से शुद्धात्मा का अनुभव किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, समयसार ग्रन्थ (गाथा-11) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— ''जिस प्रकार ग्रामीण व्यक्ति कीचड़ मिला हुआ पानी पीता है, किन्तु नगरवासी व्यक्ति विवेकी होता है और वह (जल में) 'कतक' फल को डाल कर शुद्ध जल को पीता है। उसी तरह, स्वसंवेदन रूप भावना से शून्य (अज्ञ) जन मिथ्यात्व व राग आदि विभाव परिणामों से सहित आत्मा का अनुभव करता है, किन्तु सम्यग्दृष्टि तो अभेदरत्नत्रय रूप निर्विकल्प समाधि के सामर्थ्य से 'कतक' फल की तरह 'शुद्धनय' का आश्रयण कर (निर्मल जल की तरह) शुद्ध आत्मा की अनुभूति करता है, यह अर्थ है।''

वहीं (गाथा-11 की) आत्मख्याति टीका में भी यह प्रतिपादित किया गया है— ''कोई (विशिष्ट) जीव अपने हाथ से 'निर्मली' डालकर कीचड़ व जल को पृथक्-पृथक् करने से

भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनित-आत्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकार-आविर्भावित-सहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति....।''

सम्प्रति दृष्टान्तान्तरं प्रस्तूयते— (ववगयकालिया सुवण्णं च) **यथा कालिम्ना रहितं सुवर्णं भवति, तद्वत्। लोके अन्यधातुमिश्रितसुवर्णस्य शुद्धिः जनैः अग्निपाकेन क्रियते, अग्निपाकेन क्रमशोऽन्यधातुमिश्रिता या मलिनता, सा विलीयते, तथा सुवर्णं क्रमशः शुद्धं शुद्धतरं शुद्धतमं सम्पद्यते, तदेव सुवर्णं पूर्णशुद्धं सत् षोडशवर्णिकासुवर्णनाम्ना अभिधीयते। षोडशवर्णिका-सुवर्णत्वप्राप्तेः अधस्तनभूमिकासु सुवर्णं यत्, तद्** (उत्तरवर्तिभूमिकापेक्षया) **अशुद्धमेव। सम्यक्त्वमपि तद्वदेव शुद्धं भवतीत्याशयः।**

अन्यत्र शास्त्रेषु निरन्तरपाकपरम्पराजनितशुद्धसुवर्णमिव उपयुक्तनयाश्रयणेन शुद्धात्मा अनुभवितुं शक्यते —इति वर्णितम्। यथा शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-९) **निरूपितम्—**

जिसमें अपना पुरुषाकार (प्रतिबिम्ब) दिखाई दे, ऐसे स्वाभाविक निर्मल जल को पीने का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार भूतार्थदर्शी (शुद्धनय से देखने वाले) जीव अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्ध नय के अनुसार ज्ञान मात्र में उत्पन्न हुई आत्मा व कर्म में परस्पर-विवेक बुद्धि द्वारा अपने पुरुषाकार रूप स्वरूप से प्रकट हुए स्वाभाविक एक 'ज्ञायक' भावपने से, जिसमें एक ज्ञायक भाव ही प्रकाशमान रहता है, ऐसी शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं।''

अब, दूसरा दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा रहा है— **(व्यपगतकालिकं सुवर्णं च)** जिस प्रकार कालिमा (अन्य धातु की मिलावट) से रहित सुवर्ण (स्वर्ण) होता है, उस तरह। लोक में अन्य धातुओं से मिश्रित सुवर्ण की शुद्धि अग्नि-पाक द्वारा (आग में तपा-तपा कर) की जाती है, अग्नि-पाक से अन्य धातुओं से मिश्रित जो मलिनता है, वह नष्ट हो जाती है, और सुवर्ण क्रमशः शुद्ध से शुद्धतर व शुद्धतम होता जाता है। वही सुवर्ण पूर्ण शुद्ध होकर 'सोलह बान' वाला सुवर्ण —इस नाम से अभिहित होता है।' सोलह बान' वाले सुवर्णपने की प्राप्ति से पूर्व, निचली अवस्थाओं में जो सुवर्ण है, वह उत्तर-उत्तर की अपेक्षा अशुद्ध ही है। सम्यक्त्व भी उसी तरह शुद्ध होता है —यह आशय है।

अन्य शास्त्रों में भी यह वर्णित किया गया है कि निरन्तर अग्नि-पाक देते रहने से शुद्धता को प्राप्त सुवर्ण की तरह, उपयुक्त 'नय' के आश्रयण से शुद्धात्मा का अनुभव किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-9) में बताया गया है—

जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणेवेण।
तह जीवो वि विसुद्धं णाण विसलिलेण विमलेण।।

समयसारग्रन्थस्य (गाथा-१२) **तात्पर्यवृत्तिटीकायां च भणितम्—** "...............न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति। किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत् केषाञ्चित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवति......।"

तथैव तत्रैव आत्मख्यातिटीकायां वर्णितम्— "ये खलु पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीय-अपरम-भावानुभवनशून्यत्वात् शुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतित-अस्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एव उपरितनैक-प्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात् परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्......।"

"जिस प्रकार, सुहागा व नमक के लेप से युक्त करके फूँका हुआ सोना विशुद्धता को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह जीव भी विशुद्ध हो जाता है।"

समयसार ग्रन्थ (गाथा-12) की तात्पर्यवृत्ति टीका में भी कहा गया है— "निर्विकल्प समाधि में निरत जीवों के लिए भूतार्थ 'निश्चय नय' प्रयोजनवान् (सार्थक, उपादेय) है, किन्तु वही मात्र 'निश्चय नय' प्रयोजनवान् है —ऐसा नहीं है, किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित (निचली भूमिका में) जीवों के लिए तो सोलह बान वाले सुवर्ण की प्राप्ति के अभाव में निचली बानों वाले सुवर्ण की प्राप्ति (जिस प्रकार उपादेय होती है, उसी) की तरह प्राथमिक भूमिका वाले जीवों के लिए कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषयसम्बन्धी कषाय व अप्रशस्त ध्यान से बचने के लिए व्यवहार नय भी प्रयोजनवान् (सार्थक व उपादेय) होता है............।"

इसी प्रकार, वहीं (गाथा-12) आत्मख्याति टीका में बताया गया है— "जो पुरुष अन्तिम पाक-क्रिया (सोलह बान वाली) से उत्तीर्ण (सम्पन्न) होने वाले शुद्ध सोने की तरह उत्कृष्ट व असाधारण (परम) भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें वह अनुभव नहीं होता जो (निचली व मध्यमवर्ती स्थिति वाले लोगों को) प्रथम व द्वितीय आदि अनेक पाक-परम्परा से पकाये जाने वाले अशुद्ध सोने के समान जो अनुत्कृष्ट भाव (अनुभूत) होता है। अतः शुद्ध द्रव्य की अपेक्षा रखने वाले होने के कारण, उनके लिए वह शुद्ध नय ही प्रयोजनवान् (उपादेय) है जो (शुद्ध नय) अचलित-अखण्ड एकस्वभावी रूप 'एक' भाव को प्रकट करता है और जो अन्तिम प्रतिवर्णिका (सोलहवीं बान) के समान जाना जाता है।"

एवं स्वर्णशुद्धतामाध्यमेन आत्मीयशुद्धता यथा प्रतिपादिता, तथैव प्रस्तुतगाथायां तद्-दृष्टान्तमाश्रित्य सम्यक्त्वशुद्धता निरूपितेति विज्ञेयम्।

इत्येवं हे भव्य! सम्यगवबुद्ध्य निर्मलसम्यक्त्वं दधन् मोक्षमार्गे सततमग्रसरो भवेति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ प्रवचनसाराभ्यासस्य मोक्षप्राप्त्यै उपादेयतां शास्त्रकाराः (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—**

पवयणसारब्भासं परमप्पज्झाणकारणं जाण।
कम्मक्खवणणिमित्तं कम्मक्खवणे हि मोक्खसुहं।।१६२।।

छाया— प्रवचनसाराभ्यासं परमात्म-ध्यानकारणं जानीहि।
कर्मक्षपणनिमित्तं कर्मक्षपणे हि मोक्षसुखम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (परमप्पज्झाणकारणं जाण) **परमात्मनो यद् ध्यानं, तस्य कारणं जानीहि। तत् कारणं किम्?**

इस प्रकार, स्वर्ण की शुद्धता (सम्बन्धी दृष्टान्त) के माध्यम से आत्मीय शुद्धता जिस प्रकार प्रतिपादित की गई है, उसी प्रकार प्रस्तुत गाथा में उस दृष्टान्त का सहारा लेकर सम्यक्त्व की शुद्धता का निरूपण किया गया है —यह जानें।

इस तरह, हे भव्य! अच्छी तरह समझ कर निर्मल सम्यक्त्व को धारण करते हुए मोक्षमार्ग में निरन्तर अग्रसर होते रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, मोक्ष-प्राप्ति में प्रवचन-सार (शुद्धात्मस्वरूप) के अभ्यास की उपादेयता को शास्त्रकार (सिंहणी) गाहा छन्द से बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— प्रवचन-सार (शुद्धात्म-स्वरूप) का अभ्यास परमात्मा के ध्यान का कारण है —ऐसा जानें। वह (ध्यान) कर्म-क्षय का कारण है और कर्म-क्षय होने पर निश्चित रूप से मोक्ष-सुख मिलता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(परमात्मध्यानकारणं जानीहि)** परमात्मा का जो ध्यान है, उसके कारण को जानो। वह कारण क्या है?

उच्यते— (पवयणसारब्भासं) **प्रवचनस्य जिनागमस्य यः सारः, तस्य अभ्यास एव परमात्मध्यानकारणमिति जानीहि। अत्र प्रवचनपदेन जिनवचनं यद्वा तदनुसारि आचार्याणां गुरुवराणां च वचनमपि सूच्यते। सर्वजिनोपदेशसारः समयसार एव, यो निर्मलः शुद्धात्मैव, नान्यः। उक्तं च समयसारग्रन्थे** (गाथा-१५)—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं।।

विशदीकृतं चैतत् तात्पर्यवृत्तिटीकायाम्— "अखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवति....।" **तस्य प्रवचनसारभूतस्य शुद्धात्मतत्त्वस्य ज्ञानं प्रवचनाभ्यासादेव प्राप्यते, अतो जिनागमाभ्यासः कर्तव्यो भवति। उक्तं च प्रवचनसारग्रन्थे** (३/३३)—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू।।

बता रहे हैं— **(प्रवचनसाराभ्यासम्)** प्रवचन यानी जिनागम, उसका जो सार (सारभूत तत्त्व), उसका अभ्यास ही परमात्मध्यान का कारण है —यह जानो। यहाँ प्रवचन पद से जिनवचन या तदनुसारी आचार्यों व गुरुवरों का वचन भी सूचित किया गया है। समस्त जिनोपदेश का सार 'समयसार' ही है, जो निर्मल शुद्धात्मा ही है, अन्य (कोई) नहीं। समयसार ग्रन्थ (गाथा-15) में कहा भी गया है—

"जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष, (तथा नियत व असंयुक्त) देखता है, वह द्रव्यश्रुत व भावश्रुत रूप समस्त जिन-शासन को देखता है, जानता है।"

इसी (ग्रन्थ व गाथा) की तात्पर्यवृत्ति टीका में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है— "अखण्ड ज्ञान रूप 'शुद्धात्मा' को जान लेने पर समस्त जिन-शासन ज्ञात हो जाता है।" उस प्रवचनसारभूत शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान 'प्रवचन' के अभ्यास से ही प्राप्त होता है, इसलिए जिनागमों का अभ्यास करणीय होता है। प्रवचनसार ग्रन्थ (3/33) में कहा भी गया है—

"आगम से हीन मुनि न आत्मा को जानता है और न आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को ही जानता है। इन्हें न जानने वाला भिक्षु किस प्रकार कर्मों का क्षय कर सकता है? (अर्थात् नहीं कर सकता।)"

तत्समयसाररूपं शुद्धात्मतत्त्वं सर्वनयपक्षातीतं भवति। उक्तं च समयसारग्रन्थे (गाथा-१४४)— सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो।

एतदेव अद्वैतरूपं सर्वविकल्पातीतमपि निरूप्यते। उक्तं च समयसारकलशे (सं. ९)—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं,
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्,
अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।

एवं जिनशासनसाररूपे शुद्धात्मनि वारंवारं भावना या भवति, सैव प्रवचनसाराभ्यासः। एतेन च परमात्मध्यानं सुकरमिति शास्त्राशयः। परमात्मध्यानेन किम्प्रयोजनं सिद्ध्यति ? उच्यते— (कम्मक्खवणणिमित्तं) **तत्परमात्मध्यानं कर्मक्षपणे कर्मक्षये निमित्तं भवति। कर्मक्षये च को लाभः ?**

वह समयसार रूप शुद्धात्मत्त्व समस्त नय-पक्षों से अतीत होता है। समयसार ग्रन्थ (गाथा-144) में कहा भी गया है— ''जो सब नय-पक्षों से रहित है, वही 'समयसार' कहा गया है।''

इसी को सर्वविकल्पातीत अद्वैत (तत्त्व) रूप कहा गया है। समयसारकलश (सं. 9) में कहा गया है—

''जहाँ नयों की शोभा उदित नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है, निक्षेप का चक्र (समूह) तो न जाने कहाँ चला जाता है। और अधिक क्या कहें, इन समस्त भेदों को नष्ट करने वाले, शुद्ध नय के विषयभूत चैतन्य चमत्कार मात्र तेजपुञ्ज आत्मा के अनुभव में आने पर, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।''

इस प्रकार, जिन-शासन के सार रूप शुद्धात्मा में जो बार-बार भावना होती है, वही प्रवचनसार का अभ्यास है। इस (अभ्यास) से परमात्मा का ध्यान सुकर हो जाता है —यह शास्त्रकार का आशय है। परमात्म-ध्यान से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है? बता रहे हैं— **(कर्मक्षपणनिमित्तं)** वह परमात्म-ध्यान कर्म-क्षपण यानी कर्म-क्षय में निमित्त होता है। कर्म-क्षय से क्या लाभ है?

उच्यते— (कम्मक्खवणे हि मोक्खसुहं) **कर्मक्षये सति मोक्षसुखं प्राप्यते। एवं भेदविज्ञानबलेन शुद्धात्मभावनाभ्यासात् योगी शुद्धात्मतां प्राप्य मुक्तो भवति, अनन्तज्ञानसुखादियुक्तोऽपि भवति। समर्थितं चैतद् इष्टोपदेशग्रन्थे** (श्लोक-३३, ४७)—

गुरूपदेशादभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरम्।
जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम्।।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानन्दः कश्चिद् योगेन योगिनः।।

तत्त्वानुशासनग्रन्थे (श्लोक-१७०) **च भणितम्—**

तमेवानुभवंश्चायम् ऐकाग्र्यं परमृच्छति।
तथात्माधीनमानन्दम्, एति वाचामगोचरम्।।

बता रहे हैं— **(कर्मक्षपणे हि मोक्षसुखम्)** कर्म-क्षय होने पर मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार, भेदविज्ञान के बल से शुद्धात्म-भावना का अभ्यास करते-करते योगी शुद्धात्म स्वरूप को प्राप्त कर मुक्त हो जाता है और अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि से युक्त भी हो जाता है। इसका समर्थन इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-33, 47) में इस प्रकार किया गया है—

''जो कोई प्राणी गुरु-उपदेश से, उपदेशानुरूप शास्त्राभ्यास से तथा स्वात्मानुभव से स्व-पर के भेद को जानता है, वही पुरुष निरन्तर मोक्ष-सुख को जानता (अनुभव करता) है।''

''(प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप) व्यवहार से बाहर (रहित) होकर, जब आत्मा अपने अनुष्ठान में (स्वरूप की प्राप्ति में) लीन हो जाता है, तब उस आत्मनिष्ठ योगी को (ध्यान रूपी) योग से अनिर्वचनीय परमानन्द प्राप्त होता है।''

तत्त्वानुशासन ग्रन्थ (श्लोक-170) में भी कहा गया है—

''उस शुद्धात्मा के अनुभव करते रहने से परम एकाग्रता (ध्यान) की प्राप्ति होती है और जो वचनातीत आत्माधीन आनन्द है, वह भी उसे प्राप्त हो जाता है।''

मोक्षप्रापिकाया ध्यानप्रक्रियायाः निरूपणं समाधिशतके (श्लोक ५०-५१, ५३, ७९, ९७-९९) **कृतमपि—**

आत्मज्ञानात् परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात् किञ्चिद् वाक्कायाभ्यामतत्परः।।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः।
अन्तः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम्।।

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत् तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत्।।

आत्मनमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः।
तयोरन्तरविज्ञानाद् अभ्यासादच्युतो भवेत्।।

मोक्ष को प्राप्त कराने वाली (पूर्वोक्त) ध्यान-प्रक्रिया का निरूपण समाधिशतक (श्लोक 50-51, 53, 79, 97-99) में इस प्रकार किया गया है—

''साधक आत्म-ज्ञान के अलावा किसी दूसरे कार्य को अधिक समय तक अपनी बुद्धि में धारण न करे। यदि प्रयोजनवश कुछ करना भी पड़े तो उसे वाणी व शरीर से अनासक्त होकर करे।''

''(ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि) जो कुछ शरीर आदि बाह्य पदार्थ इन्द्रियों द्वारा देखे जाते हैं, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, और इन्द्रियों को बाह्य विषयों से रोककर स्वाधीन करता हुआ, जिस उत्कृष्ट अतीन्द्रिय आनन्दमय ज्ञान-ज्योति को अन्तरङ्ग में देखता हूँ, अनुभव करता हूँ, वही मेरा वास्तविक स्वरूप होना चाहिए।''

''साधक उस आत्मस्वरूप का कथन करे, उसे दूसरों को बताए, उसके विषय में पूछे, उसी की चाह करे, उसी को अपना अभीष्ट बनाए ताकि अज्ञानमय (बहिरात्म) रूप छूटकर ज्ञानमय स्वरूप की प्राप्ति हो।''

''अन्तरङ्ग में आत्मा के वास्तविक स्वरूप को देखकर और बाह्य में शरीर आदि परभावों को देखकर, इन दोनों के भेदविज्ञान से तथा अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञान में दृढ़ता प्राप्त होती है, जिससे जीव मुक्त हो जाता है।''

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी।।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

इतीदं भावयेन्नित्यम्, अवाचांगोचरं पदम्।
स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः।।

एवं स्वशुद्धात्मभावनोत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकलक्षणसुन्दरमनोहरा-नन्दस्यन्दिनिष्क्रियाद्वैतशब्दवाच्येन ज्ञानकाण्डेन हे भव्य! अष्टकर्मक्षयः सम्भवतीति सम्यगवबुद्ध्य, समस्तकर्मकलङ्करहितशुद्धात्मस्वरूपप्राप्त्यै सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

''यह आत्मा अपने से भिन्न (अरहंत, सिद्धरूप) शुद्धात्मा की उपासना करके स्वयं भी वैसा ही शुद्धात्मा बन जाता है, जैसे (दीपक से भिन्न अस्तित्व वाली) बत्ती दीपक की उपासना करके स्वयं भी दीपक रूप बन जाती है।''

''अथवा यह आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप की ही आराधना करके उसी तरह परमात्मा बन जाता है, जिस तरह वृक्ष (बांस आदि) स्वयं ही अपने आपको मथ कर (घर्षण कर) आग बन जाता है।''

''इस प्रकार, वाणी से अगोचर (अनिर्वचनीय) जो नित्य पद है, उसी का मनुष्य अभ्यास करे। ऐसा होने पर उस पद को वह स्वतः ही प्राप्त हो जाएगा, जहाँ से लौट कर कभी वापस नहीं आ सकता।''

इस प्रकार, निज शुद्धात्म-भावना से उत्पन्न होने वाले, तथा राग आदि विकल्प रूप उपाधि से रहित परम आह्लाद ही जिसका लक्षण (स्वरूप) है, ऐसा सुन्दर-मनोहर आनन्द जिससे झरता है, और जो निष्क्रिय अद्वैत शब्द से अभिहित होता है, ऐसे ज्ञानकाण्ड से हे भव्य! आठों कर्मों का क्षय सम्भव होता है— इसे अच्छी तरह समझकर, समस्त कर्म-कलङ्क से रहित शुद्धात्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहो —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति धर्मध्यानाभ्यासस्य महत्त्वं शास्त्रकाराः (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा निरूपयन्ति—**

धम्मज्झाणब्भासं करेदि तिविहेण भावसुद्धेण।
परमप्पझाणचेट्ठो तेणेव खवेदि कम्माणि।।१६३।।

छाया— धर्मध्यानाभ्यासं करोति त्रिविधया भावशुद्ध्या।
परमात्म-ध्यानस्थितः तेनैव क्षपयति कर्माणि।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— तिविहेण भावसुद्धेण धम्मज्झाणब्भासं करेदि, परमप्पझाणचेट्ठो तेणेव कम्माणि खवेदि —इति गाथान्वयः।

(परमप्पझाणचेट्ठो) **परमात्मध्याने, स साधको योगी वा, परमात्मध्याने निरत इत्यर्थः। स योगी परमात्मध्यानस्थितः कथं भवति ? उच्यते—** (तेणेव खवेदि कम्माणि) **तेन एव कर्माणि क्षपयति, समस्तकर्मक्षये समर्थो भवतीत्यर्थः। कथं परमात्मध्यानस्थितो भवति ? उच्यते—** (धम्मज्झाणब्भासं करेदि तिविहेण भावसुद्धेण) **भावशुद्ध्या त्रिविधया, मनोवचनकायसम्बन्धिशुद्ध्या, यो धर्मध्यानस्य अभ्यासं करोति, तेन धर्मध्यानेन स कर्मक्षये समर्थो भवति, इत्यतो धर्मध्यानाभ्यासः कार्य इति शास्त्रकाराणामाशयः।**

अब, धर्मध्यान सम्बन्धी अभ्यास के महत्त्व को (सिंहणी) गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जो (साधक) त्रिविध (मन, वचन व काय की) भाव-शुद्धि के साथ धर्मध्यान का अभ्यास करता है, और परमात्म-ध्यान में स्थित हो जाता है एवं उसी से कर्मों का क्षय कर देता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— त्रिविधया भावशुद्ध्या धर्मध्यानाभ्यासं करोति, परमात्मध्यानस्थितः तेनैव कर्माणि क्षपयति —यह गाथा का अन्वय है।

(परमात्मध्यानस्थितः) परमात्म-ध्यान में वह साधक या योगी अर्थात् परमात्म-ध्यान में निरत। वह क्या करता है ? बता रहे हैं— **(तेनैव क्षपयति कर्माणि)** उसी से कर्मों का क्षय करता है, अर्थात् समस्त कर्मों को क्षीण करने में समर्थ होता है। परमात्मध्यान में स्थित कैसे होता है। बता रहे हैं— **(धर्मध्यानाभ्यासं करोति त्रिविधया भावशुद्ध्या)** विविध भाव-शुद्धि के साथ, अर्थात् मन, वचन व काय की शुद्धि के साथ, जो धर्मध्यान का अभ्यास करता है, उस धर्मध्यान से वह कर्मक्षय में समर्थ होता है, इसलिए धर्मध्यान का अभ्यास करणीय है —यह शास्त्रकार का आशय है।

अत्रेदं ज्ञेयम्— धर्मध्यानं श्रेण्यारोहणात्पूर्वं (सप्तमगुणस्थानपर्यन्तं) **भवति, श्रेण्यारोहणे अष्टमगुणस्थानादारभ्योपरि शुक्लध्यानं भवति।**

उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे (९/३६)— **'**श्रेण्यारोहणात् प्राग् धर्म्यं, श्रेण्योः शुक्ले**'। धर्मध्यानेन चतुर्थगुणस्थानादारभ्य सप्तमं यावत् कस्मिंश्चिदपि गुणस्थाने दर्शनमोहनीयस्य क्षयो भवति। अन्येषां समस्तानां वा कर्मणां क्षयः शुक्लध्यानेन भवति। एवं वस्तुस्थितौ गाथायामत्र धर्मध्यानेन कर्मक्षयो य उक्तः, तस्य संगतिः कथं सम्भवति? अत्र समाधानम्-प्रारम्भिकसाधकानां कृते कथनमिदम्। किञ्च, धर्मध्यानपूर्वकमेव शुक्लध्यानमिति दृष्ट्या तत्र प्रवर्तनायोपदेशोऽत्र ज्ञेयः।**

उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (३९/३)—

अथ धर्म्यमतिक्रान्तः शुद्धिं चात्यन्तिकीं श्रितः।
ध्यातुमारभते वीरः शुक्लमत्यन्तनिर्मलम्।।

यहाँ यह ज्ञातव्य है— धर्मध्यान श्रेणी-आरोहण से पूर्व (अर्थात् सातवें गुणस्थान तक) होता है। श्रेणी-आरोहण में अर्थात् आठवें गुणस्थान से लेकर ऊपर के गुणस्थानों में शुक्लध्यान होता है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (9/36) में कहा भी गया है— ''श्रेणी-आरोहण से पहले धर्मध्यान होता है, दोनों (क्षपक व उपशम) श्रेणियों में शुक्ल ध्यान होते हैं।'' धर्मध्यान से, चौथे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में दर्शनमोहनीय का क्षय होता है। अन्य कर्मों का अथवा समस्त कर्मों का क्षय शुक्लध्यान से होता है। इस प्रकार की यथार्थ स्थिति में इस गाथा (सं. 163) में धर्मध्यान से कर्मक्षय का होना जो कहा गया है, उसकी संगति किस प्रकार सम्भव है? इसका समाधान इस प्रकार है— प्रारम्भिक साधकों के लिए यह कथन है। और, चूँकि धर्मध्यानपूर्वक ही शुक्लध्यान होता है —इस दृष्टि से उस (धर्मध्यान) में प्रवृत्त कराने के लिए यहाँ उपदेश किया गया है —यह जानें।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (39/3) में कहा भी गया है—

''इस धर्मध्यान के अनन्तर, धर्मध्यान से अतिक्रान्त होकर अत्यन्त शुद्धता को प्राप्त हुआ धीर वीर मुनि अत्यन्त निर्मल शुक्लध्यान का प्रारम्भ करता है।''

किञ्च, धर्मध्यानं कारणसमयसारः, शुक्लध्यानं च कार्यसमयसारः इति द्वयोस्तयोः सम्बन्धः। उक्तं च बृ. नयचक्रग्रन्थस्य (गाथा-३६८) **चूलिकायाम्—** ''चतुर्विधधर्मध्यानं कारणसमयसारः, तदनन्तरं प्रथमशुक्लध्यानं द्विचत्वारिंशभेदरूपं पराश्रितं कार्यसमयसारः।......ततः स्वाश्रितधर्मध्यानं कारणसमयसारः, ततः प्रथमशुक्लध्यानं कार्यसमयसारः........एवमप्रमत्तादिक्षीणकषायपर्यन्तं समयं समयं प्रति कारणकार्यरूपं ज्ञातव्यम्।'' **किञ्च, सूक्ष्मसाम्परायसंज्ञके दशमे गुणस्थाने** (पूर्वविदः) **धर्मध्यानस्यापि सद्भावः स्वीक्रियते।**

उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रस्य— 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' (९/३७)**। व्याख्याने राजवार्तिकग्रन्थे** (९/३७/२)— ''चशब्दः पूर्वध्यानसमुच्चयार्थः।........शुक्ले चाद्ये पूर्वविदो भवतो धर्म्यं चेति।'' **एवं धर्मध्यानेन सप्तमगुणस्थानं यावत् दर्शनमोहस्य क्षयः क्रियते, तथैव सूक्ष्मसाम्परायसंज्ञक-दशमगुणस्थानस्य चरमे मोहनीयकर्मणः सर्वोपशमनं, मोहनीयकर्मणः क्षयश्च धर्मध्यानेन विधीयेते।**

और, धर्मध्यान कारणसमयसार है और शुक्लध्यान कार्यसमयसार है —इस प्रकार दोनों का सम्बन्ध है। बृ. नयचक्र (माइल्लधवल रचित) की (गाथा-368 पर) चूलिका में यह कहा गया है— ''चारों प्रकार का धर्मध्यान कारणसमयसार है, उसके बाद होने वाला प्रथम शुक्लध्यान जो बयालीस भेद वाला है और परपदार्थाश्रित है, वह कार्यसमयसार है।........तदनन्तर, जो स्वाश्रित धर्मध्यान है, वह कारणसमयसार है, तदनन्तर होने वाला प्रथम शुक्लध्यान कार्यसमयसार है।.....इसी तरह, अप्रमत्त आदि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान तक प्रतिसमय दोनों में कारण-कार्यपना (अर्थात् पूर्वावस्था कारण है और उत्तरवर्ती अवस्था कार्य है, ऐसा) जानना चाहिए।'' और, सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में (पूर्वविद् के) धर्मध्यान का भी सद्भाव माना जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र (9/37)— 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः'। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए राजवार्तिक ग्रन्थ (9/37/2) में कहा गया है— ''च शब्द (शुक्लध्यान के साथ-साथ) पूर्व (धर्म) ध्यान का भी समुच्चय करने के लिए है।......आदि के दो शुक्ल ध्यान पूर्वविद् के होते हैं और धर्मध्यान भी होता है।'' इस प्रकार, धर्मध्यान से सातवें गुणस्थान तक दर्शनमोह का क्षय किया जाता है, उसी तरह सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान के चरम समय में मोहनीय कर्म का सर्वोपशमन तथा मोहनीय कर्म का क्षय भी धर्मध्यान से होता है।

प्रोक्तं च धवलाग्रन्थे (पु. १३, खण्ड-५, भाग-४, सू. २६)— ''मोहणीयस्स उवसमो जदि धम्मज्झाणफलो तो ण क्खदी, एयादो दोण्णं कज्जाणमुप्पत्तिविरोहादो। ण, धम्मज्झाणादो अणेयभेयभिण्णादो अणेयकज्जाणमुप्पत्तीए विरोहाभावादो।'' **एवं धर्मध्यानस्यापि कर्मक्षयप्रक्रियायां महत्त्वमपेक्ष्य, यद्वा परम्परया समस्तकर्म-क्षयहेतुत्वं चापेक्ष्य गाथायाममुत्र धर्मध्यानेन कर्मक्षयो निर्दिष्टः।**

एवं हे भव्य! त्रिविधशुद्धया धर्मध्यानाभ्यासं विधेहि —इति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति कालादिलब्धीनां महत्त्वं शास्त्रकाराः (सिंहणी)-**गाहाछन्दसा प्रदर्शयन्ति—**

अदिसोहणजोएण सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि।।१६४।।

छाया— अतिशोधनयोगेन शुद्धं हेम भवति यथा तथा च।
कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति।।

धवला ग्रन्थ (पु. 13, खण्ड-5, भाग-4, सू. 26) में कहा भी गया है— ''शंका —यदि मोहनीय कर्म का उपशमन धर्मध्यान का फल है तो उससे मोहनीय का क्षय कैसे? क्योंकि एक कारण से दो कार्यों की उत्पत्ति में विरोध होता है। (उत्तर) नहीं, धर्मध्यान के अनेक भेद होते हैं। अतः अनेक कार्यों की उत्पत्ति में विरोध का प्रसंग नहीं होता।'' इस तरह धर्मध्यान की भी कर्मक्षय-प्रक्रिया में महत्ता की दृष्टि से, अथवा परम्परया समस्त कर्म-क्षय में उसके हेतुपने को दृष्टिगत रखकर, इस गाथा (163) में धर्मध्यान से कर्मक्षय होने का निर्देश किया गया है।

इस तरह हे भव्य! तीनों प्रकार की शुद्धि के साथ धर्मध्यान का अभ्यास करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, काल आदि लब्धियों के महत्त्व को (सिंहणी) गाहा छन्द द्वारा शास्त्रकार बता रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार अतिशोधन क्रिया द्वारा स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी तरह काल-लब्धि आदि के द्वारा आत्मा परमात्मा हो जाता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जह हेमं अदिसोहणजोएण सुद्धं हवेदि तह य कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पा हवदि —इति गाथान्वयः।

(कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि) **कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति। अत्र दृष्टान्तमाह—** (अदिसोहणजोएण सुद्धं हेमं हवेदि जह तह य) **यथा अतिशोधनयोगेन स्वर्णं शुद्धं भवति, तथैव आत्मा कर्मशुद्ध्या शुद्धावस्थां प्राप्नुवानः** 'परमात्मा' **इति भण्यते। एषैव गाथा मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-२४) **च निर्दिष्टा दृश्यते। शास्त्रकारेण प्रागपि** (गाथा-१६१) **निरूपितमस्ति यद् यथा अग्निसंयोगेन स्वर्णस्य क्रमशः शुद्धता जायते, तथैव सम्यक्त्वी भव्यजनोऽपि कर्ममलाशुद्धिरहितो भवति, अल्पकालेनैव मुक्तोऽपि भवति।**

अस्यां (सं. १६४) **गाथायां विशेषरूपेण विशदीकृतमस्ति। आत्मशुद्धतायां स्वर्णदृष्टान्तः शीलप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-९) **च प्रदत्तः। यथा स्वर्णधातुरशुद्ध एव आकरात् प्राप्यते, तथैव जीवोऽपि अनादिकर्मकलङ्कयुक्तो भवति। स्वर्णस्य शुद्धिः, तदशुद्धतयाः श्यामिकायाः वा परिहारः,**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यथा अतिशोधनयोगेन हेम शुद्धं भवति, तथा च कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति —यह गाथा का अन्वय है।

(कालादिलब्ध्या आत्मा परमात्मा भवति) काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा बन जाता है। यहाँ दृष्टान्त प्रस्तुत कर रहे हैं— **(अतिशोधनयोगेन शुद्धं हेम भवति यथा, तथा च)** जिस प्रकार अतिशोधन क्रिया द्वारा स्वर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा कर्म-शोधन द्वारा शुद्ध अवस्था को प्राप्त करता हुआ 'परमात्मा' कहा जाता है। यही गाथा (इसी रूप में) मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-24) में भी निर्दिष्ट दृष्टिगोचर होती है। शास्त्रकार ने पहले भी (गाथा-161 में) यह बताया है कि जिस प्रकार अग्नि-संयोग से स्वर्ण में क्रमशः शुद्धता आ जाती है, उसी प्रकार सम्यक्त्वयुक्त भव्यजन भी कर्म-मल की अशुद्धि से रहित हो जाता है और अल्प समय में ही मुक्त भी हो जाता है।

इस गाथा (प्रस्तुत गाथा सं. 164) में उसे ही विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है। आत्मा की शुद्धता में स्वर्ण का दृष्टान्त शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-9) में दिया गया है। जिस प्रकार, स्वर्ण धातु खान से अशुद्ध ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार जीव भी अनादि कर्म-कलङ्क से युक्त ही रहा है। स्वर्ण की शुद्धि अर्थात् उसकी अशुद्धता यानी कालिमा का परिहार अग्नि-पाक द्वारा नियत

अग्निपाकेन नियतविधिना विधीयते, तथैव प्राणिनः कर्ममलस्यापि तपःसंयमाद्यनुष्ठानैः क्षयो विधीयते। शुद्धं स्वर्णं सर्वजनाभिलाष्यं तेजस्वि च भवति, तथैव आत्मा शुद्धो निर्मलश्च सर्वप्राणि-पूज्यतामधिगच्छति।

पूज्यपादाचार्येणापि इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-२) **च समर्थितमेतत्—**

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता।
द्रव्यादिस्वादिसम्पत्तौ, आत्मनोऽप्यात्मता मता।।

अत्रायं विस्तरः— 'कालादि'**-पदे आदिपदेन क्षयोपशमविशुद्धिदेशनालब्ध्यादीनामपि ग्रहणं संसूच्यते। लब्धयः एताः पञ्च भणिताः— काललब्धिः, करणलब्धिः, उपदेशलब्धिः उपशम-लब्धिः, प्रायोग्यतारूपलब्धिः —इत्येताः पञ्च लब्धयो नियमसारग्रन्थस्य** (गाथा-१५६) **तात्पर्य-वृत्तिटीकायां प्रोक्ताः।**

विधि से किया जाता है, उसी तरह प्राणी के कर्म-मल का भी तप, संयम आदि के अनुष्ठान द्वारा क्षय किया जाता है। शुद्ध स्वर्ण सभी जनों का अभिलषित व तेजयुक्त होता है, उसी तरह आत्मा शुद्ध व निर्मल होकर समस्त प्राणियों द्वारा पूज्य हो जाता है।

आचार्य पूज्यपाद ने भी इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-2) में उक्त तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया है—

''जिस तरह योग्य उपादान कारण के योग से पाषाण (अशुद्ध स्वर्ण) भी सुवर्ण हो जाता है, उसी तरह द्रव्यादि स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्व भाव) की सम्पत्ति (योग्य सामग्री) के होने पर आत्मा का भी (परम) आत्मा होना मान्य है।''

यहाँ कुछ विस्तार से कथनीय है— 'कालादि' पद में आये 'आदि' पद से क्षयोपशम, विशुद्धि, देशनालब्धि आदि का भी ग्रहण यहाँ सूचित किया गया है। ये लब्धियाँ पाँच कही गई हैं —काललब्धि, करणलब्धि, उपदेशलब्धि, उपशमलब्धि, प्रायोग्यतारूपलब्धि —ये पाँच लब्धियाँ नियमसार ग्रन्थ (गाथा-156) की तात्पर्यवृत्ति टीका में कही गई हैं।

धवला-ग्रन्थे (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ३, गाथा-१, पृ. २०५) **तु नामान्तरेण इत्थं निरूपिताः—**

खयउवसमियविसोही देसणपाओग्गकरणलद्धी य।
चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होइ सम्मत्ते।।

तत्र क्षयोपशमलब्धिः का भवतीतिविषये धवलाग्रन्थे (पु. ७, खण्ड-२, भाग-१, सू. ७३, पृ. १०८) **निरूपितम्—** ''उदयमागदाणमइदहरदेसघातित्तणेण उवसंताणं जेण खओवसमसण्णा अत्थि, तेण तत्थुप्पण्ण- जीवपरिणामो खओवसमलद्धीसण्णिदो। (तीए खओवसमलद्धीए वेदगसम्मत्तं होदि।)''

तथा तत्रैव ग्रन्थे (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ३ पृ. २०४) **भणितम्—** ''पुव्वसंचिदकम्ममलपडलस्स अणुभागफद्दयाणि जदा विसोहीए पडिसमयमणंतगुणहीणाणि होदूणुदीरिज्जंति, तदा खओवसमलद्धी होदि।''

धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू. 3, गाथा-1, पृ. 205) में इन्हें अन्य नामों से इस प्रकार निरूपित किया गया है—

''क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि —ये चार लब्धियाँ सामान्य हैं (अर्थात् ये भव्य हो अभव्य, सभी के सम्भव हैं) किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होने के काल में (ही) होती हैं।''

वहाँ क्षयोपशम लब्धि क्या हो होती है —इस विषय में धवला ग्रन्थ (पु. 7, खण्ड-2, भाग-1, सू. 73, पृ. 108) में इस प्रकार बताया गया है— ''सम्यक्त्व प्रकृति रूप देशघाती स्पर्धकों की अनन्तगुणी हानि होने से उदय में आये हुए अत्यल्प देशघातिपने की अपेक्षा उपशान्त हुए (सम्यक्त्व प्रकृति के) स्पर्धकों की 'क्षयोपशम' संज्ञा है। उस क्षयोपशम से उत्पन्न जीव-परिणाम को 'क्षयोपशमलब्धि' कहते हैं। (उसी लब्धि से वेदकसम्यक्त्व होता है।)''

और, वहीं (धवला, पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू.3, पृ. 204) यह भी कहा गया है— ''पूर्वसंचित कर्मों के मलरूप पटल के अनुभाग-स्पर्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुनाहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त किये जाते हैं, उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है।''

विशुद्धिलब्धिविषयेऽपि धवलाग्रन्थे (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ३, पृ. २०४) **प्रतिपादितम्—** ''पडिसमयमणंतगुणहीणकमेण उदीरिद-अणुभाग-फद्दयजणिदजीवपरिणामो सादादिसुहकम्मबंधणिमित्तो असादादिअसुहकम्मबंधविरुद्धो विसोही णाम। तिस्से उवलंभो विसोहिलद्धी णाम।''

देशनालब्धिस्वरूपं च धवलाग्रन्थे (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ३, पृ. २०४) **निर्दिष्टं वर्तते—** ''छद्दव्व-णवपदत्थोवदेसो देसणा नाम। तीए देसणाए परिणद-आइरियादीणमुवलंभो, देसिदत्थस्स गहणधारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलद्धी णाम।''

एवमेव प्रायोग्यलब्धिस्वरूपमपि तत्र (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ३, पृ. २०४) **निरूपितम्—** ''सव्वकम्माणमुक्कसट्ठिदिमुक्कस्साणुभागं च घादिय अंतोकोडाकोडीट्ठिदिम्हि वेट्ठाणाणुभागे च अवट्ठाणं पाओग्गलद्धी णाम।''

विशुद्धिलब्धि के विषय में भी धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू., पृ. 204) में इस प्रकार कहा गया है— ''प्रतिसमय अनन्तगुनी हीनता के क्रम से उदीरणा को प्राप्त अनुभाग स्पर्धकों से उत्पन्न हुआ, तथा साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध का निमित्तभूत और असाता आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी जो जीव-परिणाम है, उसे 'विशुद्धि' कहते हैं। उसकी प्राप्ति का होना 'विशुद्धिलब्धि' है।''

देशनालब्धि का स्वरूप भी धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू. 3, पृ. 204) में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है— ''छः द्रव्यों व नौ पदार्थों के उपदेश का नाम 'देशना' है। उस देशना से परिणत आचार्यादि की उपलब्धि को और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण व विचारणा की शक्ति के समागम को 'देशनालब्धि' कहते हैं।''

इसी तरह प्रायोग्यलब्धि के स्वरूप को भी वहीं (धवला, पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू. 3, पृ. 204) इस प्रकार बताया गया है— ''सर्व कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्तःकोडाकोडी स्थिति में, और द्विस्थानीय अनुभाग में अवस्थान करने को 'प्रायोग्यलब्धि' कहा जाता है।''

एताश्चतस्रो लब्धयो भव्यस्य, अभव्यस्य चापि सम्भवन्ति। पञ्चमी करणलब्धिर्भव्यस्यैव भवति, तथा सम्यक्त्वकाले चारित्रग्रहणकाले च भवति। उक्तं च लब्धिसारग्रन्थे (गाथा-३३)—

तत्तो अभव्वलोग्गं परिणामं बोलिऊण, भव्वो हि।
करणं करेदि कमसो अधापवत्तं अपुव्वमणियट्टिं।।

गोम्मटसारे (जीवकाण्ड, गाथा-६५१) **च भणितम्—** करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात्। **इयं करणलब्धिर्वस्तुतः निजशुद्धात्माभिमुखपरिणाम एव, नान्यत्। उक्तं च बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य** (गाथा-३७) **टीकायाम्—** ''इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेन अध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वा कर्मशत्रुं हन्तीति।''

किञ्च तत्रैव (बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-४१) **टीकायाम् विशदीकृतम्—** ''आगमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसंज्ञेन अध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसंज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गतम्।''

ये चारों लब्धियाँ भव्य व अभव्य को भी होती हैं। किन्तु पाँचवीं 'करणलब्धि' भव्य को ही होती है और सम्यक्त्व होने के समय एवं चारित्र ग्रहण के समय होती है। लब्धिसार ग्रन्थ (गाथा-33) में कहा भी गया है—

''अभव्य के भी योग्य ऐसी चार लब्धियों रूप परिणाम को समाप्त करके जो भव्य है, वह जीव अध:प्रवृत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण को सम्पन्न करता है।''

गोम्मटसार ग्रन्थ (जीवकाण्ड, गाथा-651) में भी कहा गया है— ''करणलब्धि तो भव्य को ही होती है।'' यह करणलब्धि वस्तुतः निजशुद्धात्माभिमुखपरिणाम रूप ही होती है, अन्य कुछ नहीं। बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-37) की संस्कृत टीका में कहा गया है— ''पाँच लब्ध्यों से और अध्यात्म भाषा में निज-शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम नामक निर्मल भावना-विशेष रूप खड्ग द्वारा पुरुषार्थ करके, कर्मशत्रु को नष्ट करता है।''

और भी, वहीं (बृ. द्रव्यसंग्रह, गाथा-41) टीका में स्पष्ट किया गया है— ''आगम भाषा में दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीय के क्षयोपशम और क्षय से और अध्यात्म भाषा में निज-शुद्धात्मा के सम्मुख परिणाम तथा काल आदि लब्धि-विशेष से उनका मिथ्यात्व नष्ट हो जाएगा।''

प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखस्य जीवस्य त्रीणि करणाणि परिणाम-विशुद्धिरूपाणि भवन्ति— अधःप्रवृत्तकरणम्, अपूर्वकरणम्, अनिवृत्तिकरणं च। एतानि करणानि विशिष्टनिर्जरा-साधनभूतानि आत्मविशुद्धिरूपाणि क्रमेण भवन्ति। एतेषां स्वरूपादिपरिचयो गोम्मटसारग्रन्थे (जीवकाण्डे) **तथा धवलाग्रन्थे** (पु. ६, खण्ड-१, भाग-९, चूलिका-८, सू. ४ पृ. २१४-२२२) **च विस्तरेण द्रष्टव्यः।**

एवं हे भव्य! परमात्मत्वप्राप्तिक्रमं सम्यगवबुद्ध्य तदर्थं सततं प्रयतस्वेति गाथायास्तात्पर्यम्।

सम्प्रति पुनरपि सम्यक्त्वस्य महत्त्वं (चपला)-**गाहाछन्दसा शास्त्रकारा निदर्शयन्ति—**

कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परसं।
लद्धो भुंजदि सोक्खं जहच्छिदं जाण तह सम्मं।।१६५।।

छाया— कामदुहां कल्पतरुं चिन्तारत्नं रसायनं पारसं(मणिम्)।
लब्ध्वा भुंक्ते सौख्यं यथा— इच्छितं जानीहि तथा सम्यक्त्वम्।।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रति अभिमुख जीव के परिणाम-विशुद्धि रूप ये तीन 'करण' होते हैं— (1) अधःप्रवृत्तकरण, (2) अपूर्वकरण व (3) अनिवृत्तिकरण। ये करण क्रम से आत्मविशुद्धिरूप तथा विशिष्ट कर्म-निर्जरा के साधन होते हैं। इनके स्वरूप आदि का परिचय विस्तार पूर्वक गोम्मटसार ग्रन्थ (जीवकाण्ड) तथा धवला ग्रन्थ (पु. 6, खण्ड-1, भाग-9, चूलिका-8, सू. 4, पृ. 214-222) से जानना चाहिए।

इस प्रकार, हे भव्य! (आत्मा से) परमात्मा बनने के क्रम को अच्छी तरह समझ कर उसके लिए निरन्तर यत्न करना चाहिए —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, शास्त्रकार पुनः (चपला)-गाहा छन्द के माध्यम से सम्यक्त्व के महत्त्व को प्रदर्शित कर रहे हैं—

गाथा—अर्थ— जिस प्रकार कामधेनु, कल्पतरु, चिन्तामणि रत्न, रसायन व पारसमणि को प्राप्त कर व्यक्ति यथेच्छित सौख्य प्राप्त करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी (यथेच्छ सुखदायी) जानो।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— जह कामदुहिं कप्पतरुं चिंतारयणं रसायणं परसं लद्धो इच्छिदं सोक्खं भुंजदि, तह सम्मं जाण —इति गाथान्वयः।

(जाण तह सम्मं) **सम्यक्त्वं तथा तादृशं जानीहि। पूर्वोक्तकालादिलब्धिजनितं सम्यक्त्वं तादृशं भवति— इति ज्ञातव्यम्, इत्यर्थः। केन कैश्च वा सदृशं तद् भवति?**

उच्यते— (कामदुहिं, कप्पतरुं चिंतारयणं, रसायणं, परसं लद्धो जहच्छिदं सोक्खं भुंजदि) **यथा कामदुहां** (कामधेनुं) **लब्ध्वा यथेच्छितं सौख्यं लभते, तथैव सम्यक्त्वं प्राप्य यथेच्छितं फलं जनः प्राप्नोति। एवमेव कल्पतरुः स्वसमीपस्थजनाय तच्चिन्तितं कञ्चिदपि पदार्थं दातुं समर्थः। चिन्तारत्नं चिन्तामणिरत्नमपि स्वस्वामिने तदभीष्टफलदायकं सिद्ध्यति। रसायनं स्वर्णादिनिर्माणोपयोगि भवति, यद्वा असाध्यरोगादिनिवारणे स्वास्थ्यसंवर्धनकरणे च समर्थं भण्यते। पारसमणिरपि स्वस्पर्शेण लोहधातुमपि स्वर्णरूपेण परिवर्तयति।**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— यथा कामदुहां कल्पतरुं चिन्तारत्नं रसायनं पारसं (मणिं) लब्ध्वा इच्छितं सौख्यं भुंक्ते, तथा सम्यक्त्वं जानीहि —यह गाथा का अन्वय है।

(जानीहि तथा सम्यक्त्वम्) सम्यक्त्व को वैसा, उसके समान जानो अर्थात् पूर्वोक्त काल आदि लब्धियों द्वारा उत्पन्न सम्यक्त्व वैसा होता है —यह जानें। वह सम्यक्त्व कैसा, किसके या किनके समान होता है?

बता रहे हैं— **(कामदुहां कल्पतरुं चिन्तारत्नम्, रसायनम्, पारसं लब्ध्वा यथेच्छितं सौख्यं भुंक्ते)** जिस प्रकार, कामदुहा यानी कामधेनु को प्राप्तकर (व्यक्ति) यथेच्छ सुख प्राप्त करता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्तकर व्यक्ति जैसा चाहे वैसा फल प्राप्तकर लेता है। इसी तरह, कल्पतरु (कल्पवृक्ष) अपने पास में स्थित व्यक्ति को उसके द्वारा सोचे गये किसी भी पदार्थ को देने में समर्थ होता है। चिन्तारत्न यानी चिन्तामणि रत्न भी अपने मालिक (धारक) को उसका अभीष्ट फल देने वाला सिद्ध होता है। रसायन स्वर्ण आदि के निर्माण में उपयोगी होता है, या असाध्य रोग आदि के निवारण में एवं स्वास्थ्य को संवर्धित करने में समर्थ कहा जाता है। पारस मणि भी अपने स्पर्श से लोहे को भी स्वर्ण रूप में परिवर्तित कर देती है।

एवं कल्पतरु:, चिन्तामणिरत्नम्, रसायनम्, पारसमणिः —इत्येतान् पदार्थान् प्राप्य कश्चिद् जनः यद् यद् इच्छति, तदेव प्राप्तुं समर्थो भवति, तथैव सम्यक्त्वरत्नं समधिगम्य सर्वविधसौख्यं, क्रमशश्च मोक्षसौख्यं प्राप्तुं सफलो भवति, इत्यतः सम्यक्त्वरत्नस्य सर्वप्रकारेण महत्त्वं तथोपादेयत्वं च निर्विवादमेवेति शास्त्रकाराशयः। दर्शनप्राभृतग्रन्थे (गाथा १५-१६) **च सम्यक्त्वेन निर्वाणप्राप्तिः कथं भवतीति सूचितं शास्त्रकारेण—**

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थे पुण सेयासेयं वियाणेदि।।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहइ णिव्वाणं।।

रत्नकरण्डश्रावकाचारग्रन्थेऽपि (श्लोक-३४)— 'न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि श्रेयः' **इत्युक्त्वा सम्यक्त्वमहत्त्वं प्रतिपादितम्।**

इस तरह, कल्पतरु, चिन्तामणिरत्न, रसायन, पारसमणि —इन पदार्थों को प्राप्तकर कोई भी व्यक्ति जो-जो चाहता है, वही प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है, उसी तरह सम्यक्त्व रत्न को प्राप्तकर सभी प्रकार के सुखों को और क्रमशः मोक्ष सुख को भी प्राप्त करने में सफल हो जाता है —इसलिए सम्यक्त्व रत्न की सभी प्रकार से महत्ता तथा उपादेयता निर्विवाद ही है —ऐसा शास्त्रकार का आशय है। दर्शनप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 15-16) में भी शास्त्रकार ने यह बताया है कि सम्यक्त्व से निर्वाण की प्राप्ति किस रीति से होती है—

"सम्यक्त्व से सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यग्ज्ञान से समस्त पदार्थों की उपलब्धि होती है। पदार्थों की उपलब्धि होने से यह जीव श्रेय-अश्रेय (या सेवनीय-असेवनीय) को जानने लगता है।"

"श्रेय व अश्रेय (या सेवनीय-असेवनीय) को जानने वाला व्यक्ति अपने दुश्शीलस्वभाव को नष्टकर शीलवान् हो जाता है और शील (चारित्र) के फलस्वरूप (स्वर्ग आदि) अभ्युदय को प्राप्त कर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।"

रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ (श्लोक-34) में भी 'सम्यक्त्व के समान तीनों लोकों में और तीनों कालों में भी कोई अन्य श्रेयस्कर नहीं है' —यह कहते हुए सम्यक्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (६/५८) **चास्य अमृतोपमत्वं निरूप्य महत्त्वं विशदीकृतम्—**

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजम्, जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम्।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थं प्रधानं, पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बु।।

किञ्च, भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा ७३४-३६) **सम्यक्त्वभावनानिरूपणप्रसङ्गे सम्यक्त्वमहिमा निरूपितः—**

मा कासि तं पमादं सम्मत्ते सव्वदुक्खणासयरे।
सम्मत्तं खु पदिट्ठा णाणचरणवीरियतवाणं।।

णगरस्स जह दुवारं मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं।
तह जाण सुसम्मत्तं णाणचरणवीरियतवाणं।।

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (6/58) में इसे अमृत के समान बताते हुए इसके महत्त्व को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''हे भव्य जनों! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत का पान करो, क्योंकि यह अनुपम सुख का निधान (स्थान) है, समस्त कल्याणों का बीज है, संसार-सागर को तरने के लिए जहाज है, भव्य जीव ही इसका पात्र है, पाप वृक्ष को काटने के लिए कुठार है, पुण्यतीर्थों में प्रधान है और विपक्षी मिथ्यादर्शन को जीतने (नष्ट करने) वाला भी यही है।''

और, भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा 734-736) में सम्यक्त्व भावना के निरूपण में सम्यक्त्व की महिमा इस प्रकार बताई गई है—

''सम्यक्त्व समस्त दुःखों को नष्ट करनेवाला है, ज्ञान, चारित्र, वीर्याचार व तप का आधार भी सम्यक्त्व ही है, अतः सम्यक्त्व के विषय में प्रमाद मत करना।''

''जैसे नगर-प्रवेश का उपाय उसका द्वार होता है, जैसे नेत्र मुख की शोभा प्रदान करते हैं, तथा जैसे जड़ वृक्ष की स्थिति में कारण होती है, वैसे ही सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र, वीर्य व तप में प्रवेश का द्वार है, वही सम्यक्त्व ज्ञानादि को शोभित करता है तथा वही ज्ञानादि की स्थिति में निमित्त होता है।''

भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो व्वा।
धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्चं।।

एवं हे भव्य! सर्वसुखदं सम्यक्त्वरत्नं त्वया संप्रधार्य तदनु कर्मक्षयाय सम्यक्चारित्रमपि समनुष्ठेयमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

एवं 'सम्मद्दंसण सुद्धं' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'कामदुहिं कप्पतरुं' **इत्यादिकां गाथां यावत् त्रयोदशगाथात्मकः सम्यक्त्वमहत्त्वप्रतिपादकः सप्तदशोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

[इति श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरविरचितायां रत्नत्रयवर्धिनीटीकायां सप्तदशोऽधिकारः सम्पन्नः।।]

।। इति सप्तदशोऽधिकारः ।।

''इस जगत् में (लोग परपदार्थों में) भावानुरागी होते हैं, (स्नेही जनों में कुछ) प्रेमानुरागी हैं, कुछ मज्जानुरागी हैं, किन्तु तुम जिन-शासन में हमेशा धर्मानुरागी रहो।''

इस प्रकार, हे भव्य! समस्त सुख के दायक सम्यक्त्व रत्न को तुम धारण करो और तदनुरूप ही कर्म-क्षय हेतु सम्यक् चारित्र का भी अनुष्ठान (आचरण) करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'सम्मद्दंसण सुद्धं'** इत्यादि गाथा से लेकर **'कामदुहिं कप्पतरुं'** इत्यादि गाथा तक, तेरह गाथाओं वाला तथा सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने वाला —यह सत्रहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

[श्रीमद्गणाचार्य डॉ. विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' नामक टीका में सत्रहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।]

।। इति सप्तदशोऽधिकारः ।।

।। अट्ठारसमो अहियारो ।।

(अष्टादशोऽधिकारः)

सम्प्रति रयणसारग्रन्थमाहात्म्यनिरूपणप्रवणः अष्टादशोऽधिकारः प्रारभ्यते। अस्य पातनिका निर्दिश्यते। अत्र 'सम्म णाणं वेरग्ग' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १६६) **समारभ्य** 'इदि सज्जणपरिपुज्जं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १६८) **यावत् तिस्रो गाथाः सन्ति। तत्र प्रथमं** 'सम्म णाणं वेरग्ग' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६६) **वर्तते, यत्र ग्रन्थस्यास्य सम्यक्त्वादि-उत्पादकत्वं निरूपितम्। ततश्च** 'गंथमिण जिणदिट्ठं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६७) **वर्तते, यस्यां प्रतिपादितं यदस्य ग्रन्थस्य पठनमननादिकं यो न करोति, स मिथ्यादृष्टिरिति। अन्ते च,** 'इदि सज्जणपरिपुज्जं' **इत्यादिका गाथा** (सं. १६८) **वर्तते, यत्र प्रतिपादितं यदस्य ग्रन्थस्य पठनादिभिः शाश्वतं स्थानं प्राप्यते इति।**

सम्प्रति चपला-(गाहा)-**छन्दसा** 'रयणसार'-**ग्रन्थस्य माहात्म्यं निरूप्यते-**

।। अठारहवाँ अधिकार ।।

अब, चपला (गाहा) छन्द द्वारा 'रयणसार' ग्रन्थ के माहात्म्य को निरूपण करनेवाला अठारहवाँ अधिकार प्रारम्भ हो रहा है। इसकी पातनिका बताई जा रही है। इसमें **'सम्म णाणं वेरग्ग'** इत्यादि गाथा (सं. 166) से लेकर **'इदि सज्जणपरिपुज्जं'** इत्यादि गाथा (सं. 168) तक तीन गाथाएँ हैं। उनमें पहली **'सम्म णाणं वेरग्ग'** इत्यादि गाथा (सं. 166) है जिसमें इस ग्रन्थ को सम्यक्त्व आदि का उत्पादक बताया गया है। फिर, **'गंथमिणं जिणदिट्ठं'** इत्यादि गाथा (सं. 167) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि इस ग्रन्थ का पठन-मनन आदि जो नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। और अन्त में, **'इदि सज्जणपरिपुज्जं'** इत्यादि गाथा (सं. 168) है जिसमें यह कहा गया है कि इस ग्रन्थ के पठन आदि से शाश्वत स्थान की प्राप्ति होती है।

अब चपला (गाहा) छन्द द्वारा 'रयणसार' ग्रन्थ का माहात्म्य बताया जा रहा है—

सम्म णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं।
गुणसीलसहावं तह उप्पज्जदि रयणसारमिणं।।१६६।।

छाया— सम्यक्त्वं ज्ञानं वैराग्यतपोभावं निरीहवृत्तिचारित्रम्।
गुणशीलस्वभावं तथा उत्पादयति 'रयणसारः' (रत्नसारः) अयम्।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— इणं रयणसारं सम्म णाणं वेरग्गतवोभावं णिरीहवित्तिचारित्तं तह गुणसीलसहावं उप्पज्जदि —इति गाथान्वयः।

तच्च सम्यक्त्वरत्नं कस्मात् प्राप्तुं शक्यते? उच्यते— एतेन 'रयणसार'-**नामकेन ग्रन्थेन एतत्स्वाध्यायेन सम्यक्त्वरत्नस्य यथा तदनुवर्तिरत्नद्वयस्य च प्राप्तिः सम्भवति।**

तदेव गाथायामस्यां शास्त्रकारेण प्रतिपाद्यते— (रयणसारमिणं उप्पज्जदि) 'रयणसार' **नामकोऽयं ग्रन्थ उत्पादयति, प्रकटयति आविर्भावयति वेत्यर्थः। किं किमुत्पादयति? उच्यते—** (सम्म णाणं) **सम्यग्दर्शनम्, सम्यग्ज्ञानं च उत्पादयति, एतत्स्वाध्यायकर्ता सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्पन्नो जायते —इति भावः।**

गाथा-अर्थ— यह 'रयणसार' ग्रन्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, वैराग्य, तपोभाव, निरीह वृत्ति, चारित्र तथा गुण, शील व आत्म-स्वभाव को उत्पन्न करता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— अयं रयणसारः सम्यक्त्वं ज्ञानं वैराग्यतपोभावं निरीहवृत्तिचारित्रं तथा गुणशीलस्वभावम् उत्पादयति —यह गाथा का अन्वय है।

वह सम्यक्त्व रत्न किस से प्राप्त हो सकता है? बता रहे हैं— इस 'रयणसार' नामक ग्रन्थ से, तथा इसके स्वाध्याय से सम्यक्त्व रत्न तथा उसके अनुगामी दोनों (सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) रत्न की प्राप्ति सम्भव है।

इसी को इस गाथा में शास्त्रकार प्रतिपादन करने जा रहे हैं— **(रयणसारः अयम् उत्पादयति)** 'रयणसार' इस नाम का यह ग्रन्थ उत्पन्न करता है, यानी प्रकट करता है, अर्थात् आविर्भूत करता है। क्या-क्या उत्पन्न करता है? बता रहे हैं— **(सम्यक्त्वं ज्ञानम्)** सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसका स्वाध्याय करने वाला व्यक्ति सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है —यह भाव है।

तथा च (वेरग्गतवोभावं) **वैराग्यं तपोभावं च ग्रन्थोऽयं जनयति। अमुं ग्रन्थमधीत्य, संसार-विरक्तिभावेन, तपश्चर्यानुरागेण च जनः संयुज्यते, परमार्थेन संसारस्य निस्सारतामधिगम्य तपःसंयमानुष्ठानेषु च प्रवर्तते इत्याशयः। तथा** (णिरीहवित्ति-चारित्तं तह गुणसीलसहावं) **निरीहवृत्तिं निष्कामप्रवृत्तिं तत्सहितं च चारित्रमपि ग्रन्थोऽयं स्वाध्यायकर्तरि जनयति, तत्र निमित्तं भवतीत्यर्थः। तथैव गुणशीलस्वभावं च जनयति। गुणा मूलोत्तरगुणाः, शीलं ब्रह्मचर्यव्रतं, स्वभावश्च स्वभाव-स्थितिः, शुद्धात्मस्वरूपस्थितिर्वा ग्रन्थेनानेन भवतीति विज्ञेयम्। एतद्ग्रन्थाध्ययनेन सम्यग्ज्ञाने प्राप्ते सति गुण-शीलादीनामपि सम्यगनुष्ठानं सम्भवतीति दृष्ट्या ग्रन्थोऽयं गुणशीलादीनामुत्पादकः कथित इति विज्ञेयम्।**

अत्रेदं तात्पर्यम्— सम्यग्दृष्टिः जगत्कायस्वभावानुचिन्तनं करोति, अध्रुवाद्यनुप्रेक्षा भावयति, ततश्च वैराग्यं स्वत उत्पद्यते, तपश्चर्यायां तत्परताऽपि जायते।

तथा **(वैराग्य-तपोभावं)** वैराग्य व तपोभाव को भी यह ग्रन्थ उत्पन्न करता है। इस ग्रन्थ को पढ़कर-व्यक्ति सांसारिक विरक्ति से तथा तपश्चर्या सम्बन्धी अनुराग से जुड़ जाता है, परमार्थ से संसार की निस्सारता को समझकर तप, संयम (आदि) के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाता है —यह आशय है। तथा **(निरीहवृत्ति-चारित्रं तथा गुणशीलस्वभावम्)** निरीहवृत्ति यानी निष्काम प्रवृत्ति और उससे सहित चारित्र को भी यह ग्रन्थ स्वाध्याय करने वाले में उत्पन्न करता है, उस (उत्पत्ति) में निमित्त होता है —यह अर्थ है। इसी तरह, गुण, शील व स्वभाव को भी उत्पन्न करता है। गुण यानी मूल व उत्तरगुण, शील यानी ब्रह्मचर्य व्रत, और स्वभाव यानी स्वभाव-स्थिति या शुद्धात्म-स्वरूप में स्थिति (इस ग्रन्थ से) होती है —यह जानें। इस ग्रन्थ के अध्ययन से सम्यग्ज्ञान प्राप्त होकर गुणों व शील आदि का भी समीचीन रूप से अनुष्ठान सम्भव है— इस दृष्टि से इस ग्रन्थ को गुण व शील आदि का उत्पादक कहा गया है —यह ज्ञातव्य है।

यहाँ यह तात्पर्य है— सम्यग्दृष्टि संसार व शरीर के स्वभाव का अनुचिन्तन करता है, अध्रुव आदि अनुप्रेक्षाओं की भावना करता है, परिणामस्वरूप स्वतः वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और तपश्चर्या में तत्परता भी हो जाती है।

संसारशरीरभोगाकांक्षारहितत्वात् निरीहवृत्तिः निःस्पृहवृत्तिर्वा तद्युक्ते च चारित्रे समुद्यतोऽपि सम्यग्दृष्टिर्भवति। यद्वा निरीहवृत्त्या शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजशुद्धात्मस्वरूपे स्थितिः निश्चयध्यानं वा तस्य सिद्ध्यति। उक्तं च बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थे (गाथा-५५)—

जं किंचि वि चिंतंतो णिरीहवित्ती हवे जदा साहू।
लद्धूण य एयत्तं तदाहु तं तस्स णिच्छयं झाणं।।

सम्यग्दृष्टेरेव मूलोत्तरगुणानुष्ठानं समीचीनं भवति। सम्यक्त्वाभावे तेषां निरर्थकत्वमेव। तच्च सम्यक्त्वं तदनुसृतं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च सम्यग्ज्ञातुमनुष्ठातुं च ग्रन्थस्यास्य अध्येता प्रभवति, एवं 'रत्नत्रय'-**प्राप्त्यै ग्रन्थोऽयं महदुपयोगितां वहतीत्यस्योपादेयता गाथयाऽनया सूचिता भवति।**

एवं हे भव्य! सम्यक्त्वादिरत्नत्रयसमृद्धिहेतोः ग्रन्थस्यास्य स्वाध्यायः कर्तव्य इति गाथा-यास्तात्पर्यम्।

सम्यग्दृष्टि चूँकि संसार व शरीर सम्बन्धी भोग की आकांक्षा से रहित होता है, इसलिए वह निरीहवृत्ति यानी निःस्पृह वृत्तिवाला होकर उस वृत्ति से युक्त चारित्र में उद्यत भी हो जाता है। अथवा, निरीहवृत्ति होने से, शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाले निज शुद्धात्मा के स्वरूप में उसकी स्थिति या निश्चय ध्यान की स्थिति भी सम्भव होती है। बृ. द्रव्यसंग्रह ग्रन्थ (गाथा-55) में कहा भी गया है—

"निरीह वृत्तिवाला साधु जब ध्येय में एकत्व प्राप्त करके किसी भी पदार्थ का ध्यान करता है, तब वह ध्यान 'निश्चय ध्यान' कहलाता है।"

सम्यग्दृष्टि के ही मूलगुण व उत्तरगुणों का अनुष्ठान समीचीन होता है, सम्यक्त्व के अभाव में उनकी निरर्थकता ही होती है। वह सम्यक्त्व, और उसका अनुगामी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का भी अनुष्ठान करने में इस ग्रन्थ का अध्येता समर्थ होता है। इस प्रकार, रत्नत्रय की प्राप्ति हेतु इस ग्रन्थ की महती उपयोगिता है और इसीलिए इसकी उपादेयता है —यह इस गाथा से सूचित होता है।

इस प्रकार, हे भव्य! सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय की समृद्धि के लिए इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करणीय है —यह गाथा का तात्पर्य है।

सम्प्रति, पुनरपि चपला(गाहा)**छन्दसा ग्रन्थप्रशस्तिर्विधीयते—**

गंथमिणं जिणदिट्ठं ण हु, मण्णदि ण हु सुणेदि ण हु पढदि।
ण हु चिंददि ण हु भावदि सो चेव हवेदि कुद्दिट्ठी।।१६७।।

छाया— ग्रन्थमिमं जिनदिष्टं न हि मन्यते, न हि श्रृणोति, न हि पठति।
न हि चिन्तयति, न हि भावयति, स चैव भवति कुदृष्टिः।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। (सो चेव हवेदि कुद्दिट्ठी) **स एव जनः कुदृष्टिः, मिथ्यादृष्टिर्वा भवति। कः सः? उच्यते—** (गंथमिणं जिणदिट्ठं ण हु मण्णदि) **अयं ग्रन्थो जिनदिष्टः, जिनोद्दिष्टः, जिनोपदिष्टो वा, जिनोपदेशमाधृत्य गणधरैर्ग्रथित आगमः, परवर्ति-आचार्यपरम्परया स आगतः भगवता श्रीकुन्दकुन्दस्वामिभिः च तमात्मसात्कृत्य रचितोऽयं ग्रन्थः —इत्येवं जिनागमानुसार्येव ग्रन्थोऽयं यद्वा जिनागमसारभूत एव, न स्वमतिकल्पितः, तथापि यो जनो ग्रन्थममुं न हि मन्यते, नाद्रियते, महत्त्वं नास्य स्वीकरोति, इत्यर्थः।**

अब, पुनः चपला (गाहा) छन्द द्वारा ग्रन्थ की प्रशस्ति की जा रही है—

गाथा-अर्थ— जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट (कथित) इस ग्रन्थ के अर्थ को जो नहीं मानता, नहीं सुनता, नहीं पढ़ता, नहीं चिन्तन करता और न ही भावना करता है, वह व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। **(स चैव भवति कुदृष्टिः)** वही व्यक्ति कुदृष्टि या मिथ्यादृष्टि होता है। वह कौन होता है? बता रहे हैं— **(ग्रन्थमिमं जिनदिष्टं न हि मन्यते)** यह ग्रन्थ जिनेन्द्र द्वारा दिष्ट यानी उद्दिष्ट या उपदिष्ट है। जिनोपदेश के ही आधार पर गणधरों ने आगमों का ग्रथन (निर्माण) किया, परवर्ती आचार्य-परम्परा के माध्यम से वह 'आगत' यानी प्राप्त (उपलब्ध) हुआ, भगवान् श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने उसे ही आत्मसात् कर इस ग्रन्थ (रयणसार) की रचना की है। इस प्रकार यह ग्रन्थ जिनागम का अनुसरण करता है या जिनागम का सारभूत ही है, किन्तु स्वमति से कल्पित नहीं है, फिर भी जो व्यक्ति इस ग्रन्थ को मानता नहीं, अर्थात् इसका आदर नहीं करता अर्थात् इसकी महत्ता नहीं स्वीकारता।

तथैव (ण हु सुणेदि, ण हु पढदि, ण हु चिंददि, ण हु भावदि) **न च ग्रन्थममुं शृणोति, न च पठति, स्वाध्यायादिकं न करोति, न च चिन्तयति, न च मननादिकं करोति, न च भावयति, एतादृशो जनो नूनं मिथ्यादृष्टिरेवेत्याशयः।**

उक्तं च प्राकृतपञ्चसंग्रहग्रन्थे (गाथा-१/८)— मिच्छादिट्ठी उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।

एवं हे भव्य! 'रयणसार'-**कृतिमिमां श्रद्दधानः सन् सम्यगधीष्व, तदर्थमपि चिन्तय, भावयेति गाथायास्तात्पर्यम्।**

सम्प्रति चपला-(गाहा)-छन्दसा ग्रन्थोऽयमुपसंह्रियते—

इदि सज्जणपरिपुज्जं रयणसारगंथं णिरालसो णिच्चं।
जो पढदि सुणदि भावदि सो पावदि सासदं ठाणं।।१६८।।

छाया— इति सज्जनपरिपूज्यं रयणसारग्रन्थं निरालसो नित्यम्।
यः पठति शृणोति भावयति, स प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम्।।

इसी तरह, **(न हि शृणोति, न हि पठति, न हि चिन्तयति, न हि भावयति**) न तो इस ग्रन्थ को सुनता है, न ही पढ़ता है अर्थात् स्वाध्याय आदि नहीं करता, न ही चिन्तन करता है अर्थात् मनन आदि भी नहीं करता, न ही भावना करता है (बार-बार अभ्यास करता है) —ऐसा व्यक्ति निश्चय ही मिथ्यादृष्टि है —यह आशय है।

प्राकृत पञ्चसंग्रह (1/8) में कहा भी गया है— ''मिथ्यादृष्टि (जिनेन्द्र द्वारा) उपदिष्ट प्रवचन पर श्रद्धा नहीं करता।''

इस प्रकार, हे भव्य! इस 'रयणसार' कृति पर श्रद्धा रखते हुए, अच्छी तरह इसका अध्ययन करो, उसमें निहित अर्थ का चिन्तन व उसकी भावना करो —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, चपला (गाहा) छन्द के द्वारा ग्रन्थ का उपसंहार किया जा रहा है—

गाथा-अर्थ— जो व्यक्ति सज्जनों के द्वारा आदरणीय इस 'रयणसार' ग्रन्थ को आलस्यहीन (प्रमादरहित) होकर नित्य पढ़ता है, सुनता है, मनन-चिन्तन करता है, वह शाश्वत (मोक्ष) स्थान को प्राप्त करता है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— इदि सज्जणपरिपुज्जं रयणसारगंथं जो णिच्चं णिरालसो पढदि सुणादि भावदि सो सासदं ठाणं पावदि —इति गाथान्वयः।

(इदि सो पावदि सासदं ठाणं) **यतोऽयं ग्रन्थो जिनोपदिष्टः इत्यस्मात् हेतोः प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम्, स एव दुस्तरसंसारार्णवं तीर्त्त्वा अविनाशिमोक्षस्थानं प्राप्तुं शक्नोति। कः सः ? उच्यते—** (रयणसारगंथं जो पढदि सुणदि भावदि) **रयणसारसंज्ञकं ग्रन्थं यः पठति, श्रृणोति तथा भावयति, स शाश्वतं मोक्षं प्राप्नोतीत्यन्वयः। कया रीत्या, कदा च पठनादिकं करोति ? उच्यते—** (णिरालसो णिच्चं) **निरालसः नित्यं पठति, श्रृणोति भावयति च। कथम्भूतोऽयं ग्रन्थः ? उच्यते—** (सज्जणपरिपुज्जं) **सज्जनैः परिपूज्योऽयं ग्रन्थः। सज्जनाः, गुणग्राहिणः, ईर्ष्यामदादिरहिताः भद्रपरिणामिनो वा, तैः पूजितः, प्रशंसितः, समादृतः, बहुमानितो वा वर्तते, एतादृशं जिनोद्दिष्टं ग्रन्थं ये पठन्ति, श्रृण्वन्ति, तदर्थचिन्तनमननादिकं च कुर्वन्ति, तेषां शाश्वतमोक्षस्थानप्राप्तिः सुकरा भवतीति भावः।**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— इति सज्जनपरिपूज्यं रयणसारग्रन्थं यः नित्यं निरालसः पठति, श्रृणोति, भावयति, स शाश्वतं स्थानं प्राप्नोति —यह गाथा का अन्वय है।

(इति स प्राप्नोति शाश्वतं स्थानम्) (चूंकि यह ग्रन्थ जिनोपदिष्ट है, अतः इसके स्वाध्याय से) इस कारण से वह शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है, अर्थात् वही व्यक्ति दुर्धर संसार-सागर को पारकर अविनश्वर मोक्ष रूपी स्थान को प्राप्त कर सकता है। वह (व्यक्ति) कौन है ? **(रयणसारग्रन्थं यः पठति, श्रृणोति, भावयति)** 'रयाणसार' नाम के इस ग्रन्थ को जो पढ़ता है, सुनता है तथा (इसकी) भावना करता है, वह शाश्वत मोक्ष को प्राप्त करता है —यह अन्वय है। किस रीति से एवं कब पठन आदि करता है ? बता रहे हैं— **(निरालसः नित्यम्)** आलस्यहीन, उत्साहयुक्त होकर, नित्य पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना (बार-बार अभ्यास) करता है। यह ग्रन्थ कैसा है ? बता रहे हैं— **(सज्जनपरिपूज्यम्)** सज्जनों द्वारा यह ग्रन्थ परिपूज्य है। सज्जन गुणग्राही तथा ईर्ष्या व मद आदि से रहित एवं भद्र परिणाम वाले होते हैं, उनके द्वारा पूजित, यानी प्रशंसित, समादृत या बहुमान्य है। ऐसे जिन-उपदिष्ट ग्रन्थ को जो पढ़ते हैं, सुनते हैं, उसके अर्थ पर चिन्तन व मनन आदि करते हैं, उन्हें शाश्वत मोक्ष स्थान की प्राप्ति सुकर होती है —यह भाव है।

इत्येवं ग्रन्थराजस्यास्य हे भव्य! सततं स्वाध्याये प्रयतस्व, येन शाश्वतमोक्षस्थानप्राप्तिः सुकरा स्यादिति तात्पर्यम्।

एवं 'सम्म णाणं वेरग्ग' **इत्यादि गाथां** (सं. १६६) **आरभ्य** 'इदि सज्जण परिपुज्जं' **इत्यादिकां गाथां** (सं. १६८) **यावत् गाथात्रयात्मकः रयणसारग्रन्थमाहात्म्यप्रतिपादकः अष्टादशोऽधिकारः सम्पन्नतां गतः।**

एवंप्रकारेण श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितस्य जिनोपदिष्टसागारानगारधर्मव्याख्यानरूपस्य ग्रन्थराजस्य अष्टषष्ट्यधिकशतगाथाभिः समन्विताः अष्टादशाधिकाराः, तत्र प्रथमाधिकारे मङ्गलाचरणरूपेण 'णमिदूण वड्ढमाणं' **इत्यादिका प्रथमगाथा भवति, तदनन्तरं** 'पुव्वं जिणेहि भणिदं' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'दाणं पूया सीलं' **इत्यादिपर्यन्तं नवगाथात्मकः सम्यग्दृष्टिचारित्रप्रतिपादनपरो द्वितीयाधिकारः। ततश्च,** 'दाणं पूया मुक्खं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'जिणपूया मुणिदाणं' **इत्यादिगाथां यावद् श्रावककर्तव्यनिरूपणप्रमुखो गाथात्रयात्मकस्तृतीयाधिकारः।**

इस प्रकार, हे भव्य! इस ग्रन्थराज के निरन्तर स्वाध्याय में प्रयत्नशील रहो ताकि शाश्वत मोक्ष स्थान की प्राप्ति सुकर (सरल) हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस प्रकार, **'सम्मणाण वेरग्ग'** इत्यादि गाथा (गाथा-166) से लेकर **'इदि सज्जण परिपुज्जं'** इत्यादि गाथा (गाथा-168) तक, तीन गाथाओं वाला तथा रयणसार ग्रन्थ के माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाला —यह अठारहवाँ अधिकार सम्पन्न हुआ।

इस प्रकार, आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा विरचित, तथा जिनोपदिष्ट सागार-अनगार धर्म का व्याख्यान रूप, इस ग्रन्थराज (रयणसार) के 168 गाथाओं वाले अठारह अधिकार हैं। उनमें प्रथमाधिकार मङ्गलाचरण रूप है, उसमें **'णमिदूण वड्ढमाणं'** इत्यादि प्रथम गाथा है। उसके बाद **'पुव्वं जिणेहि भणिदं'** (सं. 2) इत्यादि गाथा से लेकर **'दाणं पूया सीलं'** इत्यादि गाथा (सं. 10) तक नौ गाथाओं वाला दूसरा अधिकार है, जिसमें सम्यग्दृष्टि के चारित्र का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर, **'दाणं पूया मुक्खं'** इत्यादि गाथा (सं. 11) से लेकर **'जिणपूया मुणिदाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 13) तक तीन गाथाओं वाला तीसरा अधिकार है, जिसमें श्रावकों के कर्तव्यों का प्रमुखता से निरूपण किया गया है।

पश्चात् 'पूयफलेण तिलोक्के' **इत्यादिकां गाथामादिं कृत्वा** 'पत्त विणा दाणं य' **इत्यादिगाथां यावद् अष्टादशगाथात्मको देयवस्तुसत्पात्रदानफलादिनिरूपकः चतुर्थाधिकारः सम्पद्यते। ततश्च** 'जिण्णुद्धारपदिट्ठा' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'णरइ-तिरियाइदुगदी' **इत्यादिकां गाथां यावद् षड्गाथात्मको धर्मद्रव्योपभोग-निर्माल्यद्रव्यसेवनकुफलप्रतिपादनपरः पञ्चमोऽधिकारः। ततश्च,** 'सम्मविसोही-तव-गुण'-**इत्यादिगाथात आरभ्य** 'पुव्वं जो पंचिंदिय' **इत्यादिगाथा-पर्यन्तमेकोनचत्वारिंशद्गाथात्मकः सम्यक्त्वमाहात्म्यादिप्रतिपादनपरः षष्ठोऽधिकारः, तदनन्तरं** 'पतिभत्तिविहीण सदी' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'सम्मत्त विणा रुई' **इत्यादिकां गाथां यावद् गुरुभक्ति-माहात्म्यप्रकटनपरो गाथाचतुष्टयात्मकः सप्तमाधिकारः। ततश्च,** 'हीणादाणवियारविहीणादो' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि'-**इत्यादिकां गाथां यावद् द्वादशगाथात्मकः, आत्मज्ञानमहत्त्वप्रकटनपरोऽष्टमोऽधिकारः सम्पद्यते। तदनन्तरं** 'तच्चवियारणसीलो'-**इत्यादिगाथात आरभ्य** 'ण सहंति इदरदप्पं'—**इत्यादिगाथापर्यन्तं त्रयोदशगाथात्मको मुनिस्वरूपनिरूपणप्रवणो नवमाधिकारः।**

इसके बाद, **'पूयफलेण तिलोक्के'** इत्यादि गाथा (सं. 14) से लेकर **'पत्त विणा दाणं य'** इत्यादि गाथा (सं. 31) तक अठारह गाथाओं का चतुर्थ अधिकार है, जिसमें देय वस्तु, सत्पात्र-दान का फल आदि का निरूपण किया गया है। इसके बाद, **'जिण्णुद्धारपदिट्ठा'** इत्यादि गाथा (सं. 32) से लेकर **'णरइ-तिरियाइ दुगदी'** इत्यादि गाथा (सं. 37) तक छः गाथाओं वाला पञ्चम अधिकार है, जिसमें धर्मद्रव्य के उपभोग एवं निर्माल्य द्रव्य के सेवन के कुफल का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर, **'सम्मविसोही-तव-गुण'** इत्यादि गाथा (सं. 38) से लेकर **'पुव्वं जो पंचिंदिय'** इत्यादि गाथा (सं. 76) तक उनतालीस (39) गाथाओं वाला, और सम्यक्त्व के माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाला छठा अधिकार है। इसके बाद, **'पतिभत्तिविहीण सदी'** इत्यादि गाथा (सं. 77) से लेकर **'सम्मत्त विणा रुई'** इत्यादि गाथा (सं. 80) तक चार गाथाओं वाला सातवां अधिकार है, जिसमें गुरु-भक्ति के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर, **'हीणादाणवियारविहीणादो'** इत्यादि गाथा (सं. 81) से लेकर **'सुदणाणब्भासं जो ण कुणदि'** इत्यादि गाथा (सं. 92) तक बारह गाथाओं वाला अष्टम अधिकार है, जिसमें आत्मज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद, **'तच्चवियारणसीलो'** इत्यादि गाथा (सं. 93) से लेकर **'ण सहंति इदरदप्पं'** इत्यादि गाथा (सं. 105) तक तेरह गाथाओं वाला, मुनि-स्वरूप का निरूपण करने वाला नवम अधिकार है।

ततश्च, 'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो' **इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'दिव्वुत्तरणसरिच्छं' **इत्यादिगाथापर्यन्तं मुनिचर्यानिरूपणपरोऽष्टगाथात्मको दशमोऽधिकारो भवति। पश्चात्** 'अविरददेसमहव्वय'-**इत्यादिगाथां समारभ्य** 'सम्मादिगुणविसेसं'-**इत्यादिकां यावत् पञ्चगाथात्मको दानपात्रविवेचनपर एकादशोऽधिकारः, ततश्च,** 'णिच्छयववहारसरूवं'-**इत्यादिकां गाथामारभ्य** 'विसयविरत्तो मुच्चदि'-**इत्यादिकगाथापर्यन्तं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः सम्यक्त्वस्य मुख्यतायाः प्रतिपादकः सप्तगाथात्मको द्वादशोऽधिकारो भवति। तदनन्तरं** 'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण' **—इत्यादिगाथात आरभ्य** 'पूयसूयरसाणाणं'-**इत्यादिगाथापर्यन्तं बहिरात्मस्वरूपनिरूपणपरः सप्तगाथात्मकस्त्रयोदशोऽधिकारो भवति। तदनन्तरं** 'सिविणे वि ण भुंजदि'-**इत्यादिगाथामारभ्य** 'दव्वगुणपज्जएहिं'-**इत्यादिगाथां यावत् सप्तगाथात्मकः, अन्तरात्मस्वरूपतत्प्राप्त्युपायनिरूपणपरः चतुर्दशाधिकारो भवति। पश्चात्,** 'बहिरन्तरप्पभेदं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा' **—इत्यादिगाथापर्यन्तं गाथाद्वयात्मकः स्वपरसमयादिप्ररूपकः पञ्चदशोऽधिकारः सम्पद्यते।**

इसके बाद, **'चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो'** इत्यादि गाथा (सं. 106) से लेकर **'दिव्वुत्तरण सरिच्छं'** इत्यादि गाथा (सं. 113) तक आठ गाथाओं वाला दसवाँ अधिकार है, जिसमें मुनि-चर्या का निरूपण किया गया है। इसके बाद, **'अविरददेसमहव्वय'** इत्यादि गाथा (सं. 114) से लेकर **'सम्मादिगुणविसेसं'** इत्यादि गाथा (सं. 118) तक पाँच गाथाओं वाला ग्यारहवाँ अधिकार है, जिसमें दान के पात्र या अपात्र का विवेचन किया गया है। तदनन्तर, **'णिच्छयववहारसरूवं'** इत्यादि गाथा (सं. 119) से लेकर **'विसयविरत्तो मुच्चदि'** इत्यादि गाथा (सं. 125) तक सात गाथाओं वाला बारहवाँ अधिकार है, जिसमें मुख्यतया सम्यक्त्व का प्रतिपादन है। उसके बाद, **'णिय-अप्पणाणझाणज्झयण'** इत्यादि गाथा (सं. 126) से लेकर **'पूयसूयरसाणाणं'** इत्यादि गाथा (सं. 132) तक सात गाथाओं वाला तेरहवाँ अधिकार है, जिसमें बहिरात्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है। इसके अनन्तर, **'सिविणे वि ण भुंजदि'** इत्यादि गाथा (सं. 133) से लेकर **'दव्वगुणपज्जएहिं'** इत्यादि गाथा (सं. 139) तक सात गाथाओं वाला चौदहवाँ अधिकार है, जिसमें अन्तरात्मा के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय का निरूपण किया गया है। इसके बाद, **'बहिरंतरप्पभेदं'** इत्यादि गाथा (सं. 140) से लेकर **'मिस्सो त्ति बाहिरप्पा'** इत्यादि गाथा (सं. 141) तक दो गाथाओं वाला पन्द्रहवाँ अधिकार है, जिसमें स्वपरसमय की प्ररूपणा की गई है।

ततश्च, '**मूढत्तय-सल्लत्तय**' **इत्यादिगाथामादिं कृत्वा** 'कालमणंतं जीवो' **इत्यादिगाथां यावद् आत्मविशुद्धिकारणप्ररूपणात्मक एकादशगाथात्मकः षोडशोऽधिकारो भवति। ततश्च,** 'सम्मद्दंसण सुद्धं' **इत्यादिगाथात आरभ्य** 'कामदुहिं कप्पतरुं' **इत्यादिगाथां यावत् त्रयोदशगाथात्मकः सम्यक्त्वमहत्त्वनिरूपणपरः सप्तदशोऽधिकारः, ततश्च** 'सम्म णाणं वेरग्ग' **इत्यादिगाथामारभ्य** 'इदि सज्जणपरिपुज्जं' **इत्यादिकां गाथां यावद् गाथात्रयात्मको रयणसारग्रन्थमाहात्म्यनिरूपकोऽष्टादशोऽधिकारः सम्पद्यते। इत्येवं रयणसारग्रन्थराजस्य सम्पन्नता प्रतिपद्यते।**

(टीकाकर्तृ-निवेदनम्)

दिगम्बरमुनीनां यो मूलसंघः प्रसिद्धिभाक्।
तत्र श्रीसेनगच्छीये बलात्कारगणे तथा।। १।।

आचार्यः कुन्दकुन्दार्यः, तपस्वी प्रथितोऽभवत्।
श्रीमहावीरकीर्त्याख्यः, आचार्योऽभूत्तदन्वये।। २।।

(अनुष्टुप्)

तदनन्तर, '**मूढत्तय-सल्लत्तय**' इत्यादि गाथा (सं. 142) से लेकर '**कालमणंतं जीवो**' इत्यादि गाथा (सं. 152) तक ग्यारह गाथाओं वाला सोलहवाँ अधिकार है, जिसमें आत्मविशुद्धि के कारणों का निरूपण किया गया है। इसके बाद, '**सम्मद्दंसण सुद्धं**' इत्यादि गाथा (सं. 153) से लेकर '**कामदुहिं कप्पतरुं**' इत्यादि गाथा (सं. 165) तक तेरह गाथाओं वाला सोलहवाँ अधिकार है, जिसमें सम्यक्त्व के महत्त्व का निरूपण किया गया है। तदनन्तर, '**सम्म णाणं वेरग्ग**' इत्यादि गाथा (सं. 166) से लेकर '**इदि सज्जणपरिपुज्जं**' इत्यादि गाथा (सं. 168) तक तीन गाथाओं वाला अठारहवाँ अधिकार है, जिसमें रयणसार ग्रन्थ के माहात्म्य का निरूपण किया गया है। इस प्रकार, रयणसार ग्रन्थ की सम्पन्नता हो जाती है।

(टीकाकार का निवेदन)

दिगम्बर मुनिराजों का प्रसिद्ध जो मूल संघ है, उसमें श्री सेनगच्छ के बलात्कार गण में तपस्वी आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी प्रसिद्ध हुए हैं। उन्हीं की परम्परा में (आचार्य आदिसागर जी (अंकलीकर) हुए तथा उनके पट्टशिष्य) आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी म. हुए। (1-2)

यदीयशिष्यो विमलश्च सूरिः, तदीयशिष्योऽस्मि विरागसिन्धुः।
जिनेन्द्रवाण्याः समुपासनायां, समुद्यतो भक्तिभरेण नित्यम्।। ३।।

(उपेन्द्रवज्रा)

श्रीकुन्दकुन्दमुनिराजवरप्रणीतः, ग्रन्थोत्तमो रयणसार-सुसंज्ञकोऽयम्।
रत्नत्रयात्मगुणवृद्धिनिमित्तभूतः, विद्वद्वरेषु हि सदैव समादृतोऽस्ति।। ४।।

(वसन्ततिलका)

तद्ग्रन्थटीका सुरवाचि काचित्, न केनचित् संरचिताद्य यावत्।
अतो मया भक्तियुतेन टीका, कृताऽस्ति रत्नत्रयवर्धिनीयम्।। ५।।

(उपजातिः)

जम्बूद्वीपे सुविख्याते, भरतक्षेत्रनामके।
आर्यखण्डस्थिते देशो भारताख्योऽस्ति पुण्यभाक्।। ६।।

प्रान्तोऽत्र गुर्जराख्योऽस्ति, सुरम्यः सज्जनाश्रितः।
पुराऽप्यत्र समृद्धाऽऽसीत् जैनधर्मपरम्परा।। ७।।

इन (आचार्यश्री महावीर कीर्ति जी) के शिष्य आचार्यश्री विमलसागर जी म. हुए, उन्हीं का शिष्य मैं विरागसागर मुनि (गणाचार्य) हूँ और भक्तिपूर्वक नित्य जिन-वाणी की समुपासना में तत्पर हूँ। (3)

आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा 'रयणसार' नामक उत्तम ग्रन्थ विरचित है, जो रत्नत्रय रूपी गुण की वृद्धि करने में निमित्त है और श्रेष्ठ विद्वानों में सदैव समादृत है। (4)

उस ग्रन्थ पर आज तक किसी ने संस्कृत भाषा में कोई टीका नहीं लिखी है, इसलिए भक्तिपूर्ण मैंने यह 'रत्नत्रयवर्धिनी' टीका की है। (5)

सुविख्यात जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में आर्यखण्ड में भारत नाम का पुण्यवन्त देश है। (6)

यहाँ गुजरात नाम का सुरम्य प्रान्त है, जहाँ सज्जनों का निवास है। यहाँ प्राचीन काल से जैन धर्म की परम्परा समृद्ध रही है। (7)

तत्रापि नगरः ख्यातः, अंकलेश्वरनामकः।
अत्रैव पूर्वं संजाता, षट्खण्डागमपूर्णता।। ८।।

माघकृष्ण-तृतीयायां तिथौ मङ्गलवासरे।
पार्श्वनाथजिनेन्द्रस्य मन्दिरे भक्तिपूर्वकम्।। ९।।

पञ्चत्रिपञ्चयुग्माब्दे वीरनिर्वाणसंज्ञके।
रयणसारटीकाऽत्र, प्रारब्धा संस्कृते मया।। १०।।

षट्त्रिपञ्चद्विसंख्ये च, वीरनिर्वाणवत्सरे।
प्रथिते नगरे चापि गान्धीनगरसंज्ञके।। ११।।

चातुर्मासप्रवासे मे, कार्तिकामावसीदिने।
शुभे रवौ सुटीकेयं सम्पन्ना वीरमन्दिरे।। १२।।

(अनुष्टुप्)

श्रीसद्गुरूणां कृपया प्रपूर्णा, टीका हि रत्नत्रयवर्धिनीयम्।
क्वचित् प्रमादस्खलनं भवेच्चेत्, सुधीजनास्तत् परिशोधयन्तु।। १३।।

(उपजातिः)

इस गुजरात प्रान्त में भी, अंकलेश्वर नाम का प्रसिद्ध नगर है। यहीं प्राचीन काल में 'षट्खण्डागम' शास्त्रराज की रचना पूर्ण हुई थी। (8)

यहीं (अंकलेश्वर में) भगवान् पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के मन्दिर में वीर निर्वाण संवत्सर 2535 की माघ कृष्णा तृतीया, मंगलवार के दिन भक्तिपूर्वक मैंने इस 'रयणसार' ग्रन्थ की संस्कृत में टीका लिखनी प्रारम्भ की थी। (9-10)

वीर निर्वाण संवत्सर 2536 में गान्धीनगर में चातुर्मास के दौरान कार्तिक अमावस (वीरनिर्वाण दिवस), रविवार को भगवान् श्री महावीर जी के मन्दिर में यह टीका पूर्णता को प्राप्त हुई। (11-12)

सद्गुरुओं के कृपा-प्रसाद से यह 'रत्नत्रयवर्धिनी' टीका पूर्ण हो पाई है। प्रमाद से कहीं कोई स्खलना (चूक) हो गई हो तो सुधीजन उसे संशोधित कर लें। (13)

[पाठान्तरयुक्ता: स्वतन्त्रा वा क्षेपकगाथा:]

रयणसारग्रन्थस्य विविधसंस्करणानि मुद्रितानि सन्ति। तत्र पाठान्तरसहिता:, स्वतन्त्ररूपेण वा 'क्षेपक'-रूपेण काश्चिद् गाथा: सन्ति, तासु विशेषरूपेण चतस्रो गाथा: सन्ति, तासां पृथगत्र व्याख्यानं विधीयते—

अथ यतीश्वराणामाहार-ग्रहणे याचनादैन्य-राग-क्रोधादि-भावानां निन्दनीयतां ग्रन्थकारा: सूत्रयन्ति—

ण लहइ जायणसीले, ण संकिलेस्सेण रुद्देण।
रागेण य रोसेण य, भुंजइ किं तवेंतरो भिक्खू।।

छाया— न लभते याचनाशील:, न संक्लेशेन रौद्रेण।
रागेण च रोषेण च, भुंक्ते किं ते व्यन्तरो भिक्षो।।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— भिक्खू! तवेंतरो (ते वेंतरो) किं जायणसीले (आहारं) ण लहइ? (किं) संकिलेस्सेण, रुद्देण, रागेण य रोसेण य ण भुंजइ? -इतिगाथापदानामन्वय:।

(पाठान्तरसहित या स्वतन्त्र क्षेपक गाथाएँ)

रयणसार ग्रन्थ के विविध संस्करण मुद्रित हुए हैं। उनमें पाठान्तर वाली या स्वतन्त्र रूप से प्राप्त कुछ गाथाएँ हैं, जिनमें चार गाथाएँ विशेष हैं, इनका पृथक् रूप से यहाँ व्याख्यान किया जा रहा है—

अब, यतीश्वरों द्वारा आहार-ग्रहण में याचना-दीनता-राग-क्रोध आदि भावों का होना निन्दनीय है— इसका ग्रन्थकार निर्देश कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— हे भिक्षु! याचनाशील होकर आहार ग्रहण करते हो, और संक्लेश (मायालोभादि परिणाम), रौद्र भाव, राग भाव या रोष भाव के साथ जो आहार ग्रहण करते हो —ऐसा करना तुम्हारा क्या व्यन्तर जैसा नहीं है?

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— भिक्षो! तव व्यन्तर: किं याचनाशील: (आहारं) न लभते? (किं) संक्लेशेन, रौद्रेण, रागेण च रोषेण च न भुंक्ते? —यह गाथा के पदों का अन्वय है।

अस्मिन्नेव संस्करणे एतत्समानार्थिका गाथा शब्दान्तरेण पूर्वं ११२ संख्यान्तर्गते व्याख्याता—

कोहेण य कलहेण य जायणसीलेण संकिलिसेण।
रुद्देण य रोसेण य भुंजदि किं वितरो भिक्खू।।

(भिक्खू) **भिक्षते इति भिक्षुः। स एव सम्बोधितोऽत्र। मुनिः पाचनारम्भक्रियानिवृत्तः, भिक्षाचर्यया प्राप्तेनाहारेणैव सन्तुष्टो भवति-इत्यतस्तस्य भिक्षुता सार्थका भवति। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-८२१, ९३९)—

पयणारंभणियत्ता संतुट्ठा भिक्खमेत्तेण।।

जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते।
अण्णे य पुण्णे जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया।।

इसी संस्करण में उस गाथा की समानार्थक गाथा-112 संख्या के अन्तर्गत शब्दों की भिन्नता के साथ, इस प्रकार प्राप्त होती है—

क्रोधेन च कलहेन च याचनाशीलेन संक्लेशेन।
रौद्रेण च रोषेण च भुक्ते किं व्यन्तरो भिक्षुः।।

(भिक्षो!) जो भिक्षा लेता है, वह भिक्षु होता है। उसे ही यहाँ संबोधित किया गया है। भोजन पकाने की आरम्भ (हिंसापूर्ण) क्रिया से मुनि निवृत्त होता है और भिक्षाचर्या द्वारा प्राप्त आहार से ही सन्तुष्ट रहता है— इसलिए उसका भिक्षुपना सार्थक होता है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-821, 939) में कहा भी गया है—

''मुनि (या भिक्षु) पकाने की आरम्भ-क्रिया (सावद्य क्रिया) से निवृत्त होते हैं, और भिक्षा मात्र से ही सन्तुष्ट रहते हैं।।''

''आगम में योगों में मूलयोग भिक्षाचर्या ही कही गई है, किन्तु इससे अन्य योगों को विज्ञानहीन मुनियों ने ही प्रस्तुत-निर्मित किया है।''

(किं तवेंतरो) **व्यन्तरो हीनजातीयो देवः। भूतपिशाचा अपि व्यन्तरजातीया देवा एव। एते मनुष्यशरीरे प्रविश्य विविधा अनुचितक्रियाः कारयन्ति। व्यन्तरावेशितो जन आगमविरुद्धा अज्ञानजनिताः वा क्रियाः विदधाति। उक्तं च स्याद्वादमञ्जरी-ग्रन्थे** (कारिका-११)— ''यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भक-विभङ्गज्ञानि-व्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम्''

किंच, अज्ञानजनित-कर्तृकर्मभावस्पष्टीकरणे समयसारग्रन्थस्य (गाथा-९६) **आत्मख्याति-तात्पर्यवृत्तिटीकयोः भूताविष्टव्यक्तिदृष्टान्त उपन्यस्तः, तेनापि प्रोक्ततथ्यस्य समर्थनं भवति। एवं शास्त्रोक्तभिक्षाचर्याविरुद्धाचरणं कुर्वतो मुनेः शरीरे व्यन्तरदेवस्य प्रवेशं प्रभावं वा सम्भावयन्तो ग्रन्थकाराः कथयन्ति—** (किं ते वेंतरो)। **किं तव व्यन्तरः इति। हे भिक्षो! त्वच्छरीरस्थः किं व्यन्तरो वर्तते? व्यन्तरोचिताः काः क्रिया मुनिना विहिताः? उच्यते-** (जायणसीलो ण लहइ?) **त्वं दैन्यपूर्णां याचनां कुर्वन् व्यन्तराविष्टो मुनिः भिक्षाचर्यया आहारं न लभसे किम्? अर्थात् स्वदीनतां प्रकटयन्नेव लभसे। अतः त्वयि व्यन्तरदेवः स्थितः, स त्वन्माध्यमेन याचनादिकं शास्त्रविरुद्धं कार्यं कारयति —इति सुनिश्चितमिति भावः।**

(किं ते व्यन्तरः) व्यन्तर हीन जाति के देव होते हैं। भूत-पिशाच भी व्यन्तर-जाति के ही देव होते हैं। ये मनुष्य-शरीर में प्रविष्ट होकर विविध अनुचित क्रियाओं को कराते हैं। व्यन्तर देव के आवेश से ग्रस्त व्यक्ति आगमविरुद्ध या अज्ञानजनित क्रियाएँ करता है। स्याद्वादमञ्जरी ग्रन्थ में (कारिका-11 पर) कहा भी गया है— ''जो भी गया-श्राद्ध आदि हेतु कथन करते हैं, वह सब उन जैसे ठगने वाले विभंगज्ञानी व्यन्तर देवों द्वारा ही कराया जाता है —यह निश्चित जानना चाहिए।''

और, अज्ञान (मोह) से जनित कर्तृ-कर्म भाव को स्पष्ट करते हुए समयसार ग्रन्थ (गाथा-96) की आत्मख्याति व तात्पर्यवृत्ति टीकाओं में भी भूताविष्ट व्यक्ति का दृष्टान्त दिया गया है, उससे भी उपर्युक्त तथ्य का समर्थन होता है। इस प्रकार, शास्त्रोक्त भिचाचार्य से विरुद्ध आचरण करनेवाले मुनि के शरीर में व्यन्तरदेव के प्रवेश या प्रभाव की सम्भावना करते हुए ग्रन्थकार कह रहे हैं— (किं तव व्यन्तरः)। हे भिक्षु! क्या तुम्हारे शरीर में व्यन्तरदेव अवस्थित है? आखिर मुनि द्वारा व्यन्तर-जैसी कौन-सी क्रिया की गई है? बता रहे हैं— **(याचनशीलो न लभते ?)** उस व्यन्तराविष्ट मुनि की तरह क्या दैन्यपूर्ण याचना करते हुए तुम भिक्षाचर्या से आहार प्राप्त नहीं करते हो? अर्थात् अपनी दीनता प्रकट करके ही वह (आहार) प्राप्त करते हो। इसलिए व्यन्तर देव तुम में अवस्थित है, वह तुम्हारे माध्यम से याचना आदि शास्त्रविरुद्ध कार्य करवाता है—यह निश्चित ही है, यह भाव है।

याचना कथं शास्त्रविरुद्धा? उच्यते— यथा लोके दीननिर्धनभिक्षुको दैन्यभावेन 'देहि, देहि' **इत्याद्युक्त्वा भोजनं याचते, न तथा यथार्थो मुनिः। मुनिस्तु दैन्यभावरहितो मौनभावेन नवधाभक्तिपूर्वकप्रदत्ताहारमेव स्वीकरोति। याचना प्रायो दैन्यभावपूर्विका भवतीत्यतः सा मुनीनां कृते शास्त्रेषु निषिद्धा। समर्थितमेतत् मूलाचारग्रन्थे** (गाथा ८१९-८२०)।

(संकिलेस्सेण) **प्रोक्तनिन्दितो मुनिः किं संक्लेशेन युक्तो न भुंक्ते? भुंक्ते एवेत्यर्थः। स संक्लिष्टो मुनिः व्यन्तरदेवप्रभावित इव सम्भाव्यते, अन्यथा यथार्थो मुनिस्तु भिक्षाया लाभे अलाभे वा सर्वदा अनाकुलः, मध्यस्थ एव तिष्ठति। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे** (गाथा-८१८)—

लद्धेण होंति तुट्ठा णवि य अलद्धेण दुम्मणा हुंति।
दुक्खे सुहे य मुणिणो मज्झत्थमणाउला हुंति।।

भिक्षाचर्यायां शास्त्रज्ञो मुनिः कदाचिदपि मान-माया-लोभादिवशीभूतः संक्लिष्टो वा न भवति, यदि स संक्लेशेन युक्त आहारं गृह्णाति, तर्हि शास्त्रविरुद्धाचरणयुक्तो व्यन्तरग्रस्त इव स प्रत्येतव्य इति ग्रन्थकाराशयः।

याचना करना शास्त्रविरुद्ध कैसे है? बता रहे हैं— जिस प्रकार लोक में कोई दीन-हीन-निर्धन भिखारी दीनता के साथ 'दीजिए, दीजिए' इत्यादि कथन कर भोजन की याचना करता है, वैसा यथार्थ मुनि नहीं करता। मुनि तो दीनता के भाव से रहित होकर मौन रहते हुए, नवधा भक्तिपूर्वक प्रदत्त आहार को ही स्वीकार करता है। याचना प्रायः दीनता-पूर्वक होती है, इसलिए वह मुनियों के लिए शास्त्रों में निषिद्ध की गई है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा 819-820) में इसका समर्थन भी प्राप्त होता है।

(संक्लेशेन) मुनि क्या संक्लेशयुक्त होकर आहार नहीं ग्रहण करता? अर्थात् करता ही है। उस संक्लिष्ट मुनि का व्यन्तर देव से प्रभावित होना सम्भावित है, अन्यथा यथार्थ मुनि तो, भिक्षा के लाभ में या अलाभ की स्थिति में सर्वदा आकुलता-रहित व मध्यस्थ ही रहता है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-818) में कहा भी गया है—

"मुनि आहार के मिलने पर संतुष्ट (हर्षित) नहीं होते ओर न मिलने पर उन्मनस्क नहीं होते। वे तो दुःख और सुख में आकुलतारहित एवं मध्यस्थ (समभावी) रहते हैं।"

मुनि शास्त्रज्ञ हो तो वह भिक्षाचर्या में कभी भी मान-माया-लोभ आदि के वशीभूत या संक्लिष्ट नहीं होता। यदि वह संक्लेश से युक्त होकर आहार ग्रहण करता है तो शास्त्रविरुद्ध आचरण से युक्त उस मुनि को व्यन्तर-ग्रस्त जैसा मानना चाहिए —यह ग्रन्थकार का आशय है।

किञ्च, संक्लिष्टभावना देवदुर्गतिप्रापिका शास्त्रे प्रोक्ता। भगवती आराधनाग्रन्थे (गाथा-१८१, १८५, १८७) **च प्रोक्तम्—**

कन्दप्पदेवखिब्भिस अभिओगा आसुरी य सम्मोहा।
एसा हु संकिलिट्ठा पंचविहा भावणा भणिदा।।

अणुबद्धरोसविग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी।
णिक्किव-णिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि।।

एताहिं भावणाहिं य विराधओ देवदुग्गदिं लहइ।
तत्तो चुदो समाणो भमिहिदि भवसागरमणंतं।।

संक्लिष्टस्य मुनेः व्यन्तरादिनिकृष्टदेवायुर्बन्धः स्यादेव, अतो भाविप्रज्ञापननयेन द्रव्यव्यन्तर एव स मुनिर्भवति, ततः स व्यन्तरसंज्ञयाऽपि अत्र निर्दिष्ट इति च व्याख्यातुं शक्यम्।

और, शास्त्र में संक्लिष्टभावना को देवदुर्गति प्राप्त कराने वाली कहा गया है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-181, 185, 187) में भी कहा गया है—

''कन्दर्प देव गति, किल्विष देव गति, आभियोग्य देव गति, असुर देव गति और सम्मोहदेव गति के कारणभूत आत्म-परिणाम —ये निश्चय से पाँच प्रकार की संक्लिष्ट भावनाएँ कही गई हैं।''

''अनुबद्ध क्रोध कलह से जिसका तप संयुक्त है, जो ज्योतिष आदि से जीविका चलाता है, निर्दय है, दूसरे को कष्ट देकर भी पश्चात्ताप नहीं करता, वह आसुरी भावना को करता है।''

''रत्नत्रय से च्युत हुआ व्यक्ति इन भावनाओं से देवों की दुष्ट गति को प्राप्त करता है। उस देवदुर्गति से च्युत होकर अन्तरहित संसार-समुद्र में भ्रमण करता है।''

संक्लिष्ट मुनि के व्यन्तरादि निकृष्ट देवायु का बन्ध होगा ही, इसलिए 'भावी प्रज्ञापन नय' से वह मुनि द्रव्यव्यन्तर ही होता है, इसलिए वह 'व्यन्तर' संज्ञा से भी यहाँ निर्दिष्ट हुआ है —इस प्रकार भी व्याख्या की जा सकती है।

(रुद्देण, रागेण य रोसेण य भुंजइ) **तथाविधो यो मुनिः रौद्रेण, रागेण, रोषेण च भुंक्ते, सोऽपि व्यन्तराविष्ट इव, साक्षात् मूर्तिमान् व्यन्तर एव वा किं न भवति? भवत्येव इत्यर्थ। रोदयति इति रुद्रः, क्रूर इत्यर्थः। रौद्रं च क्रूरकर्म।** 'हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्' **-इति तत्त्वार्थसूत्रानुसारं** (९/३५) **दुर्ध्यानरूपं रौद्रम्। भिक्षाचर्यायां प्रतिकूलपरिस्थितौ रौद्ररूपं ध्रियते यदि मुनिना, तदा शास्त्रविरुद्धां समताच्युतिं समाश्रितः, यथार्थभिक्षुस्वरूपात् भ्रष्टो भवति। एषा चर्या व्यन्तरचेष्टावदेव निन्दनीया भवति।**

(रायेण य लोहेण य) **सुखे दुःखे, लाभे अलाभे वा सम एव यथार्थभिक्षुः। रागद्वेषौ तस्य समत्वं विनाशयत एव। अत्र रागः अभीष्टविषयप्रसक्तिरूपो बोध्यः। मायालोभादयोऽपि रागे एवान्तर्भूताः। रागिणां द्वेषिणां च मुनीनां भिक्षाचर्या कीदृशी भवति? उच्यते -रागी मुनिः चिन्तयति- कुत्र मदीयाभीष्टसुरुचिभोज्यपदार्थप्राप्तिः भविष्यति, अथवा स मत्परमभक्तः सम्पन्नश्च, तद्गृहे अभीष्टाहारप्राप्तिः सम्भवति, अतस्तत्र गन्तव्यमिति, अथवा अहमभीष्टस्वादिष्टभोज्यपदार्थानेव गृह्णामि, नेतरान् इत्यादि। एवं तस्य रागाविष्टस्य भिक्षाचर्या निन्दनीया मन्तव्या।**

(रौद्रेण, रागेण च रोषेण च भुंक्ते) वैसा (पूर्वोक्त) जो मुनि रौद्र (क्रूर भाव) से, राग से या रोष से आहार करता है, तो वह भी व्यन्तर-आवेशित की तरह, या साक्षात् मूर्तिमान् व्यन्तर जैसा ही क्या नहीं हो जाता है? जो रुलाए, वह रुद्र अर्थात् क्रूर होता है। रुद्र का कार्य 'रौद्र' है। हिंसा, असत्य, चौरी और विषय-संरक्षण के लिए सतत चिन्तन करना रौद्र (ध्यान) है —इस तत्त्वार्थसूत्र (9/35) के अनुसार 'रौद्र' —एक दुर्ध्यान है। भिक्षाचर्या में प्रतिकूल परिस्थिति में मुनि द्वारा रौद्र रूप धारण किया जाता है तो वह शास्त्रविरुद्ध समता-च्युति वाला होता हुआ यथार्थ भिक्षु के स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, (उसकी) यह चर्या व्यन्तर-चेष्टा की तरह ही निन्दनीय होती है।

(रागेण च लोभेन च) सुख या दुःख में, लाभ या अलाभ में यथार्थ भिक्षु 'सम' ही रहता है। राग व द्वेष —ये दोनों उसकी समता को नष्ट करते ही हैं। यहाँ राग को अभीष्ट विषय के प्रति आसक्ति रूप समझना चाहिए। माया व लोभ आदि भी राग में भी अन्तर्भूत हैं। रागी-द्वेषी मुनियों की भिक्षाचर्या कैसी होती है? बात रहे हैं— रागी मुनि सोचता है— 'मुझे अभीष्ट, सुरुचिपूर्ण भोज्य पदार्थों की प्राप्ति कहाँ होगी', अथवा 'वह (अमुक) व्यक्ति मेरा परम भक्त है और समृद्ध भी है, इसलिए उसके घर में अभीष्ट आहार की प्राप्ति हो सकती है, अतः उसी के यहाँ जाना चाहिए', अथवा 'मैं अभीष्ट, स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों को ही लूँ, अन्य को नहीं', इत्यादि। इस प्रकार, उस रागाविष्ट (मुनि) की भिक्षाचर्या को निन्दनीय जानना चाहिए।

एवमेव, क्रोधितस्य तीव्रपरिणामो रोषो भवति। भिक्षाचर्यायां मुनिः इच्छितवस्तुनोऽलाभेन रुष्टः सन् क्रोधपूर्णाकृतिं दधाति, तदनुरूपां शारीरिकविकृतिं प्रकटयति, हुंकारं करोति, येन दातार उद्विग्ना भवन्ति। तथा च स चिन्तयति-अमुस्मिन् दातृगृहे दुर्दैवेन आगतः, यतोऽत्र आहारयोग्याभीष्टवस्तु-सद्भावो नास्ति, एवमनभीष्टवस्तु-आहारं लभमानो रोषं व्यनक्ति, तर्हि रागद्वेषात्मकनिन्दनीयकृत्येन, व्यन्तरोचितक्रियया वा, स मुनिः व्यन्तरवदेव प्रतीयते -इति गाथाशयः।

वस्तुतो यथार्थभिक्षाविषये राजवार्तिकग्रन्थे (९/६/१६) **सम्यगुक्तम्—** ''सा लाभालाभयोः सारसविरसयोश्च समसन्तोषाद् भिक्षेति भाष्यते..........येन केनचिह् प्रकारेण स्वाभ्रपूरणवद् उदरगर्तमनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते।''

मूलाचार-ग्रन्थे (गाथा-८१२) **च भणितम्—** जमणट्ठं भुंजंति य, णवि य पयामं रसट्ठाए।

इसी प्रकार, क्रोधित व्यक्ति का तीव्र (क्रोध) परिणाम 'रोष' होता है। मुनि को भिक्षाचर्या में इच्छित वस्तु का लाभ न हो, उससे रुष्ट होकर वह क्रोध भरी आकृति बनाता है, तदनुरूप शारीरिक विकार को प्रकट करता है, हुंकार भरता है, उससे दाता उद्विग्न हो जाते हैं। और वह (रुष्ट) मुनि यह चिन्तन करता है— इस दाता के घर में दुर्भाग्यवश आ गया हूँ, क्योंकि यहाँ आहारयोग्य अभीष्ट वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हैं, इस प्रकार अनिच्छित वस्तु आहार रूप में प्राप्त करते हुए रोष प्रकट करता है, तो राग-द्वेषमय निन्दनीय चर्या से या व्यन्तरोचित क्रिया से, वह मुनि व्यन्तर जैसा ही प्रतीत होता है —यह गाथा का आशय है।

वस्तुतः यथार्थ भिक्षा के विषय में राजवार्तिक ग्रन्थ (9/6/16) में समीचीन रूप से इस प्रकार कहा गया है— ''यह लाभ या अलाभ में तथा सरस या नीरस (आहार) में समान सन्तोष वाली 'भिक्षा' कही जाती है......जिस किसी भी प्रकार से गड्ढा भरने की तरह, मुनि स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट अन्न द्वारा पेट रूप गड्ढे को भरता है, अतः इसे 'स्वभ्रपूरण' भी कहा जाता है।''

मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-812) में भी कहा गया है— ''मुनि संयम की साधना के लिए आहार लेते हैं, प्रचुर रस के लिए नहीं (आहार लेते)।''

अत्रायं विशेषः— भिक्षाचर्यासम्बन्धिविशुद्धौ सत्यामेव व्रत-शीलादिसार्थकता सम्भवति। उक्तं मूलाचार-ग्रन्थे (गाथा १००५)—

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खाचरिया विसुद्धिए ठंति।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्ज।।

एवं हे भव्य! आगमविरुद्धसदोषभिक्षाचर्यायाः पूर्णतो विरतो भव, यथार्थविशुद्ध-निर्दोषभिक्षाचर्यया आहार-ग्रहणे प्रयतस्वेति गाथातात्पर्यम्।

अथ आचार्याः बहिरात्मस्वरूपं विशदयन्ति—

अप्पा-णाणज्झाणं, पण सुहामिय-रसायणं पाणं।
मोत्तूणक्खाणि सुहं, जो भुंजइ सो बहुरप्पा।।

छाया- आत्मज्ञानध्यानं पुनः सुखामृत-रसायनं पानम्।
मुक्त्वा अक्ष्णां सुखं यो भुंक्ते स बहिरात्मा।।

यहाँ यह विशेष (ज्ञातव्य) है— भिक्षाचर्या-सम्बन्धी विशुद्धि होने पर ही व्रत, शील आदि की सार्थकता सम्भव है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1005) में कहा भी है—

"भिक्षाचर्या की विशुद्धि होने पर (ही) व्रत, शील और गुण ठहरते हैं, इसलिए साधु भिक्षाचर्या का शोधन करके हमेशा विहार करे।"

इस प्रकार, हे भव्य! आगमविरूद्ध सदोष भिक्षाचार्य से पूर्णतया विरत हो जाओ और यथार्थ विशुद्ध निर्दोष भिक्षाचार्य से आहार ग्रहण करने हेतु प्रयत्नशील होओ —यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, आचार्य बहिरात्मा के स्वरूप पर प्रकाश डाल रहे हैं—

गाथा-अर्थ— आत्म-ज्ञान व (आत्म) ध्यान रूपी सुखामृत व रसायन के पान को छोड़ कर, जो इन्द्रियों के सुख को भोगता है, वह बहिरात्मा है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथान्वयः सुगमः। कस्मिंश्चित्संस्करणे गाथेयं शब्दान्तरेण पठिता दृश्यते–

णिय–अप्पणाण–झाणज्झयण–सुहामियरसायणप्पाणं।
मोत्तूणक्खाण सुहं जो भुंजइ से हु बहिरप्पा।।

तात्पर्यदृष्ट्या उभयोर्गाथयोः समानता वर्तते।

(पुण) **पुनः, तथा च,** (सो बहुरप्पा) **स बहिरात्मा वर्तते, कः ?** (जो अक्खाण सुहं भुंजइ)**यः कश्चिदपि आत्मज्ञानादिरहितः, मुनिः श्रमणो वा, अक्ष्णाम् इन्द्रियाणां सुखं भुंक्ते, इन्द्रियविषयभोगोपभोगजनितसांसारिकसुखं समनुभवति, स बहिरात्मैव मन्तव्यः, अर्थात् अज्ञानी, मूढदृष्टिर्वा प्रत्येतव्यः। किं कृत्वा तत्सुखं भुंक्ते ?** (मोत्तूण) **मुक्त्वा, त्यक्त्वा, किं त्यक्त्वा ?** (सुहामियरसायणं पाणं) **सुखमेव अमृतम्, तद्वदेव रसायनं तस्य पानं मुक्त्वा। सुखप्रदं तथा अमृतवत् फलप्रदं रसायनात्मकं पानं मुक्त्वा। तत् पानं किम् ?** (अप्पा–णाणज्झाणओ) **आत्मज्ञानध्यानम्, तदेव सुखामृतरूपरसायनपानमिव अत्र निर्दिष्टम्।**

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— गाथा का अन्वय सुगम है। किसी (अन्य) संस्करण में यह गाथा कुछ शब्द–भिन्नता के साथ इस प्रकार प्राप्त होती है—

निजात्मज्ञानध्यानाध्ययन–सुखामृतरसायनपानम्।
मुक्त्वा अक्ष्णां सुखं यो भुंक्ते स खलु बहिरात्मा।।

तात्पर्य की दृष्टि से दोनों गाथाएँ समानता रखती हैं।

(पुनः) और, **(स बहिरात्मा)** वह बहिरात्मा है। कौन ? **(यः अक्ष्णां सुखं भुंक्ते)** आत्मज्ञान आदि से रहित जो कोई भी मुनि या श्रमण इन्द्रियों के सुख को भोगता है, अर्थात् इन्द्रिय–विषयों के भोगोपभोग से जनित सांसारिक सुख का अनुभव करता है, उसे बहिरात्मा ही जानना चाहिए, अर्थात् उसे अज्ञानी या मूढ़दृष्टि समझना चाहिए। क्या करके उस सुख को भोगता है ? (मुक्त्वा) छोड़कर। क्या छोड़कर ? (सुखामृत–रसायनं पानम्) सुख ही अमृत है, उस अमृतोपम रसायन के पान को छोड़कर। इस तरह का पान क्या है ? (आत्म–ज्ञान–ध्यानम्) वह है आत्मा का ज्ञान व ध्यान। उस (ज्ञान–ध्यान) को ही सुखामृत–रसायन के पान जैसा यहाँ बताया गया है।

आत्मज्ञानं स्वपरविवेकजनितं भेदविज्ञानम्, तस्यैवात्मनो निश्चयनयेन परमात्मरूपस्य परमशुद्धस्य ध्यानं च, तदुभयं मुक्त्वा, परिणामे दुःखप्रदे पञ्चेन्द्रियविषयभोगजनितसुखे यस्याभिलाषो भवेत्, स बहिरात्मा एवास्तीति निश्चेतव्यः इति गाथार्थः। वस्तुत इन्द्रियविषयभोगाः परिणामे दुःखप्रदा एव भवन्ति, विनश्वराश्च भवन्ति, विघ्नबहुलाश्च भवन्ति, किन्तु मूढोजनोऽज्ञानवशेन बहिरात्मा तत्रैव सुखं मत्वा रमते, अतस्तस्य मूढात्मता निर्विवादैव। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५५)—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमंकरमात्मनः।
तथापि रमते बालः, तत्रैवाज्ञानभावनात्।।

अत्रेदं विज्ञेयम्— ग्रन्थकारेण ग्रन्थेऽस्मिम् एकादशगाथायां परामृष्टम्— झाणज्झयणं मुक्खं जदिधम्मो तं विणा तहा सोवि। **अर्थात् ध्यान-स्वाध्यायेत्युभयं यतिधर्मस्य मुख्याचरणं वर्तते, तद्विना यतिधर्मस्य अयथार्थता एवेति। किन्तु तत्परामर्शमपेक्ष्य यतित्वविधातके इन्द्रियसुखोपभोगे यस्य कस्यचिद् अभिलाषः स्यात्, तर्हि तस्य बहिरात्मता स्पष्टैव।**

आत्मज्ञान का अर्थ है— स्वपरविवेक से होने वाला भेदविज्ञान। और जो निश्चय नय से परमशुद्ध परमात्मा रूप है, उसी आत्मा का ध्यान। इन दोनों को छोड़कर परिणाम में जो दुःखप्रद है, ऐसे पञ्चेन्द्रिय-विषय-भोगजनित सुख में जिसकी अभिलाषा हो, वह बहिरात्मा ही है— ऐसा निश्चित है, यह गाथा का अर्थ है। वस्तुतः इन्द्रिय-विषयों के भोग परिणाम में दुःखप्रद ही होते हैं, वे नश्वर भी होते हैं और विघ्नों से भरे भी होते हैं, किन्तु मूढ़ व्यक्ति अज्ञान-वश बहिरात्मा होकर वहीं सुख मानकर रमण करता है, इसलिए उसकी मूढ़ात्मता निर्विवाद ही है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-55) में कहा भी है—

''इन्द्रिय-विषयों में ऐसा कुछ भी नहीं होता है जो आत्मा के लिए कल्याणकारी हो, फिर भी बाल (अज्ञानी) अज्ञान भाव के कारण वहीं रमण करता है।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में ग्यारहवीं गाथा में परामर्श दिया है— 'झाणज्झयणं मुक्खं' —इत्यादि। अर्थात् ध्यान व अध्ययन —ये दोनों यति-धर्म के मुख्य आचरण होते हैं, उसके बिना यति-धर्म यथार्थ ही नहीं होता है। किन्तु उस परामर्श की उपेक्षा कर यतित्व के नाशक इन्द्रिय-सुख सम्बन्धी उपभोग में जिस किसी की अभिलाषा है, तो उसका बहिरात्मपना स्पष्ट ही है।

वस्तुतः अन्तरात्मतत्त्वं विहाय बहिर्भूतेषु इन्द्रियभोग्यपदार्थेषु प्रवृत्तिरेवास्य बहिरात्मतां मूढदृष्टित्वं च प्रमाणयति। समाधिशतके (श्लोक-६०) **च भणितम्—** बहिस्तुष्यति मूढात्मा। **मोक्षप्राभृतग्रन्थे** (गाथा-८, १५) **च समर्थितमेतत्—**

बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।।

जो पुण परदव्वरदो मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।।

सम्प्रति, गाथानिर्दिष्ट-आत्मज्ञानध्यानादिविषये किञ्चित् प्रासङ्गिकरूपेण विशदीक्रियते— अतति गच्छति सातत्येन इति आत्मा। गच्छति इत्यस्य जानाति —इत्यप्यर्थः, सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः -इतिनियमात्। अतो यो ज्ञानादिगुणेषु समन्तात् अतति वर्तते, स आत्मा भवति, अथवा शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैः यथासम्भवं तीव्रमन्दादिरूपेण आ समन्ताद् अतति, वर्तते यः स आत्मा -इति च द्रव्यसंग्रहस्य (गाथा-57) **टीकायां निर्दिष्टम्।**

वस्तुतः अन्तर-आत्मा रूपी तत्त्व को छोड़कर, बाह्य इन्द्रिय-भोग्य पदार्थों में होने वाली प्रवृत्ति ही, उस (मुनि) के बहिरात्मपने व मूढ़दृष्टि होने को प्रमाणित करती है। समाधिशतक (श्लोक-60) में कहा भी गया है— ''मूढ़ आत्मा बाहर (के पदार्थों में) सन्तुष्ट होता है।'' मोक्षप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-8, 15) में भी इसका समर्थन इस प्रकार प्राप्त होता है—

''बाह्य पदार्थों में जिसका मन स्फुरित (उत्साहयुक्त) हो रहा है, तथा जो इन्द्रिय रूप द्वार के द्वारा निजस्वरूप से च्युत हो गया है, ऐसा मूढ़दृष्टि-बहिरात्मा पुरुष अपने शरीर को ही आत्मा मानता है।''

'' जो साधु पर पर-द्रव्य में रत है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।''

अब, प्रस्तुत गाथा में निर्दिष्ट आत्म-ज्ञान-ध्यान आदि के विषय में प्रासंगिक रूप से कुछ स्पष्टीकरण किया जा रहा है— जो सतत अतन यानी गमन करता है, वह 'आत्मा' है। 'गमन करता है' इसका 'जानता है' यह अर्थ भी है, क्योंकि यह नियम है कि जो-जो धातुएं गमनार्थक हैं, वे ज्ञानार्थक भी होती हैं। इसलिए जो ज्ञानादि गुणों में 'आ' यानी सभी प्रकार से अतन यानी वर्तन करता है, वह आत्मा होता है, अथवा, शुभ-अशुभ मन-वचन-काय की क्रिया द्वारा यथासम्भव तीव्र-मन्दादि रूप से जो 'आ' यानी सभी प्रकार से अतन यानी वर्तन करता है, वह आत्मा है— यह द्रव्यसंग्रह (गाथा-57) की (ब्रह्मदेव-कृत) टीका में कहा गया है।

अथवा दर्शनज्ञानचारित्राणि अतति —इत्यात्मा, इति च अथवा शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मेति च द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य (गाथा-१४) **टीकायां भणितम्।**

(अप्पा-णाणज्झाणं) **व्युत्पत्ति-आधारितं स्वरूपमात्मनः पूर्वमुक्तम्। तस्यैव आत्मनो ज्ञानं, तस्यैव ध्यानं च। अत्र आत्मानात्मविवेकः, स्वपरात्मबोधो वा, स्वकीयशुद्धस्वरूपबोधो वा आत्मज्ञानम्, तच्च भेदविज्ञानगर्भितं भवत्येव। आत्मा अन्यः, पुद्गलादिकाश्चान्ये, शरीरकर्मादयोऽपि अन्ये —इति पार्थक्यबोध एव भेदविज्ञानम्। एवं सर्वं तत्त्वविज्ञानं सम्यग्ज्ञानं वा आत्मज्ञाने एव पर्यवसितं बोद्धव्यम्।**

उक्तं च इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-५०)—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः।।

अथवा, दर्शन, ज्ञान व चारित्र में जो वर्तता है, वह आत्मा है— यह व्युत्पत्ति भी की जाती है। अथवा, 'शुद्ध चैतन्य' जिसका लक्षण है, वह आत्मा है— यह भी द्रव्यसंग्रह (गाथा-14) की टीका में कहा गया है।

(आत्म-ज्ञान-ध्यानम्) व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मा के स्वरूप का निरूपण किया गया है, उसी आत्मा का ज्ञान और उसी आत्मा का ध्यान। यहाँ आत्मज्ञान का अर्थ है— आत्मा व अनात्मा का विवेक होना, स्व व पर के स्वरूप का बोध होना, या निज-शुद्ध स्वरूप का बोध होना। इस (आत्मज्ञान) में भेदविज्ञान अन्तर्हित ही होता है। आत्मा अन्य है, पुद्गल आदि पदार्थ उससे अन्य हैं, शरीर, कर्म आदि भी उससे अन्य (पृथक्) हैं —इस प्रकार परस्पर-पार्थक्य का ज्ञान होना ही भेदविज्ञान है। इस तरह, समस्त तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान का पर्यवसान आत्मज्ञान में ही होता है— ऐसा समझना चाहिए।

इष्टोपदेश (श्लोक-50) में भी कहा गया है—

"जीव अन्य है, पुद्गल (आदि) भी अन्य है —यह (इतना ही) तत्त्वसंग्रह (सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान) है। और इससे अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है, वह (बस) उसी कथन का विस्तार (विस्तृत निरूपण) है।"

मोक्षसाधकस्य कृते एतदात्मज्ञानमेव प्रमुखं कार्यं भवति, यतस्तदधीनैव सर्वार्थसिद्धिः। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-५०)—

आत्मज्ञानात् परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।

आत्मज्ञानं विना निर्वाणप्राप्तिरलभ्यैव। भणितं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक ३३-३४)—

यो न वेत्ति परं देहाद्, एवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं, तप्त्वापि परमं तपः।।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते।।

निर्वाणप्राप्तिं यावद् भेदविज्ञानात्मकमात्मज्ञानमेव सर्वदा भावनीयम्। उक्तं च समयसारकलशे (सं. १३०)—

मोक्षसाधक के लिए यह आत्म-ज्ञान ही प्रमुख कार्य होता है, क्योंकि इसी (आत्मज्ञान) के ही अधीन सर्वार्थसिद्धि (समस्त प्रयोजनों की सिद्धि) होती है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-50) में कहा भी गया है—

"आत्म-ज्ञान के अलावा किसी अन्य कार्य को (साधक) बुद्धि में चिरकाल तक धारण (चिन्तनादि) न करे।"

आत्मज्ञान के बिना निर्वाण की प्राप्ति अलभ्य ही है। समाधिशतक (श्लोक 33-34) में कहा भी गया है—

"जो देह से भिन्न रूप में इस अविनाशी आत्मा को जानता-समझता नहीं, वह भले ही परम तप कर ले, निर्वाण नहीं प्राप्त करता।"

"आत्मा व देह की भिन्नता के ज्ञान से होने वाले आह्लाद से जो परमसुखी है, वह दुष्कर घोर तप (से कठोर अनुभूति का अनुभव) करते हुए भी (कभी) खिन्न नहीं होता।"

निर्वाण-प्राप्ति तक भेदविज्ञान रूप आत्मज्ञान की ही भावना सर्वदा करणीय है। समयसारकलश (सं. 130) मे कहा गया है—

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद् यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते।।

आत्मज्ञानी यच्चिन्तयति, अनुभवति, विचारयति, तत् प्रवचनसारग्रन्थे (२/६८) **निर्दिष्टम्—**

णाहं देहो ण मणो, ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण, ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं।।

समयसारग्रन्थे (गाथा १८१-१८३) **चैतद् विशदीकृतम्—**

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि को वि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो।।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि।।

एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा।।

''इस भेदविज्ञान की निरन्तर अविच्छिन्न धाराप्रवाह रूप से तब तक भावना भानी चाहिए, जब तक ज्ञान परभावों से छूट कर ज्ञान (अपने स्वरूप) में प्रतिष्ठित न हो जाय।''

आत्मज्ञानी जो चिन्तन करता है, अनुभव करता है या विचार करता है, वह प्रवचनसार ग्रन्थ (2/68) में इस प्रकार निर्दिष्ट है—

''मैं शरीर रूप नहीं हूँ, मैं मनोयोग रूप भी नहीं हूँ, निश्चय से वचनयोग रूप भी नहीं हूँ, और न ही उस (काय-वचन-मन) का उपादान रूप कारण हूँ, न ही उन (तीनों योगों) का कर्ता, कराने वाला या अनुमोदना करने वाला हूँ।''

समयसार ग्रन्थ (गाथा 181-183) में इसे ही इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

''उपयोग (ज्ञान-दर्शन) में उपयोग है, क्रोधादिक में कोई उपयोग नहीं है। क्रोध में क्रोध ही है, निश्चय से क्रोध में उपयोग नहीं है। आठ प्रकार के कर्म में, नोकर्म में उपयोग नहीं है तथा उपयोग में कर्म व नोकर्म नहीं हैं। जिस समय जीव के यह अविपरीत ज्ञान होता है, उस समय वह उपयोग से शुद्धात्मा होता हुआ उपयोग के बिना अन्य कुछ भी भाव नहीं करता है।''

ज्ञानमेकाग्रतां प्राप्नुवानं ध्यानसंज्ञयाभिधीयते। आत्मध्यानेन परमात्मतत्त्वसाक्षात्कारो भवति। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-३०)—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य, स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति, तत्तत्त्वं परमात्मनः।।

इष्टोपदेशग्रन्थे (श्लोक-२२) **च समर्थितमेतत्—**

संयम्य करणग्रामम्, एकाग्रत्वेन चेतसः।
आत्मानमात्मवान् ध्यायेद्, आत्मनैवात्मनि स्थितम्।।

निरन्तरं ध्यानाभ्यासेन आत्मैव परमात्मा जायते। उक्तं च समाधिशतकग्रन्थे (श्लोक-९८)—

उपास्यात्मानमेवात्मा, जायते परमोऽथवा।
मथित्वात्मानमात्मैव, जायतेऽग्निर्यथा तरुः।।

ज्ञान ही एकाग्रता प्राप्त कर 'ध्यान' संज्ञा से अभिहित होता है। आत्मध्यान से परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-30) में कहा भी गया है—

''समस्त इन्द्रियों को संयमित कर, स्थिर मन (अन्तरात्मा) से जिस क्षण, अनुभव में जो स्वरूप भासित होता है, वह परमात्म-तत्त्व होता है।''

इष्टोपदेश ग्रन्थ (श्लोक-22) में भी इसी का समर्थन इस प्रकार किया गया है—

''इन्द्रिय-समूह को संयमित कर, चित्त की एकाग्रता के साथ आत्मनिष्ठ साधक आत्मा में स्थित आत्मा को आत्मा द्वारा ध्यान करे।''

निरन्तर ध्यान के अभ्यास से आत्मा ही परमात्मा हो जाती है। समाधिशतक ग्रन्थ (श्लोक-98) में कहा भी गया है—

''जिस प्रकार, वृक्ष अपने को स्वयं घर्षित कर स्वयं अग्नि रूप हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा ही आत्मा की उपासना (ध्यान) कर परमात्मा बन जाता है।''

केवलज्ञानप्राप्त्यै, निर्वाणप्राप्त्यै च प्रशस्तध्यानं, विशेषतः शुक्लध्यानं प्रमुखं कारणं मन्यते। उक्तं च ज्ञानार्णव-ग्रन्थे (३/१३)—

मोक्षः कर्मक्षयदेव, स सम्यग्ज्ञानजः स्मृतः।
ध्यानबीजं मतं तद्धि, तस्मात्तद्धि तमात्मनः।।

अत एव मूलाचारग्रन्थे (गाथा-१००२) **ध्यानस्थः श्रमणः सर्वगुणसमृद्धो वर्णितः—**

एगागी ज्झाणरदो सव्वगुणड्ढो हवे समणो।

स्वयं ग्रन्थकारा आचार्या अस्मिन्नेव ग्रन्थे (गाथा-१५०) **आत्मज्ञानध्यानयोरुपादेयतां निरूपितवन्तः—**

णाणेण झाणसिद्धी, झाणादो सव्वकम्मणिज्जरणं।
णिज्जरणफलं मोक्खं, णाणब्भासं तदो कुज्जा।।

केवलज्ञान की प्राप्ति हो या निर्वाण की प्राप्ति, उसके लिए प्रशस्त ध्यान, विशेषतः शुक्ल ध्यान (ही) प्रमुख कारण माना जाता है। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (3/13) में कहा भी गया है—

''मोक्ष कर्मक्षय से होता है, वह कर्मक्षय सम्यग्ज्ञान से होता है। उस सम्यग्ज्ञान का बीज ध्यान है, इसलिए आत्मा का हितकारी वह 'ध्यान' है।''

इसीलिए मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-1002) में ध्यानस्थ श्रमण को समस्त गुणों से समृद्ध बताते हुए कहा गया है—

''एकाकी ध्यानरत श्रमण सर्वगुणों से समृद्ध होता है।''

स्वयं ग्रन्थकार आचार्य ने इसी (रयणसार) ग्रन्थ (गाथा-150) में आत्मा के ज्ञान व ध्यान की उपादेयता का निरूपण इस प्रकार किया है—

''ज्ञान से ध्यान की सिद्धि होती है, और ध्यान से समस्त कर्मों की निर्जरा होती है। निर्जरा का फल मोक्ष है, इसलिए ज्ञान का अभ्यास करना चाहिए।''

'सुहामियरसायणं पाणं' **—इत्यनेन आत्मज्ञानध्यानयोः परमसुखात्मकत्वं निरूपितमाचार्येण। वस्तुतो बाह्येन्द्रियविषयभोगपराङ्मुखः, आत्मध्यानरतः, अध्यात्मसाधकः परममलौकिकसुखं समनुभवति।**

उक्तं च प्रशमरति-प्रकरणग्रन्थे (श्लोक-१२८-१२९)—

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यवहाररहितस्य।।

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः।
जितरोषलोभमदनं सुखमास्ते निर्ज्वरः साधुः।।

ज्ञानार्णवग्रन्थे (१८/१३७) **च कथितम्—**

अध्यात्मजं तदत्यक्षं स्वसंवेद्यमनश्वरम्।
आत्माधीनं निराबाधमनन्तं योगिनां सुखम्।।

'सुखामृतरसायन पान' इस कथन के द्वारा आचार्य ने आत्मा के ज्ञान व ध्यान की परमसुखरूपता का निरूपण किया है। वस्तुस्थिति यह है कि बाह्य इन्द्रिय-विषयभोगों से पराङ्मुख होकर, आत्मध्यानस्थ अध्यात्मसाधक परम अलौकिक सुख का अनुभव करता है।

प्रशमरतिप्रकरण (श्लोक-128-129) में भी कहा गया है—

"सांसारिक झंझटों से निवृत्त साधु को इसी जन्म में जो सुख मिलता है, वह सुख न तो चक्रवर्ती व अर्धचक्री को सुलभ है और न ही देवराज इन्द्र को सुलभ होता है।"

"स्वजन व परजन की चिन्ता को छोड़कर, आत्मा के ज्ञान के चिन्तन में लीन हुआ और राग-द्वेष-काम को जीतने वाला, अतएव नीरोग हुआ साधु आनन्द में ही रहता है।"

ज्ञानार्णव ग्रन्थ (श्लोक-18/137) में भी कहा गया है—

"योगियों को जो आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है, वह इन्द्रियातीत, स्वसंवेदन-गम्य, अविनश्वर, निजात्मा-अधीन, निराबाध व अनन्त होता है।"

एवं परमसुखनिधानं निजात्मध्यानं विमुच्य, विषयसुखेषु प्रवृत्तिः मूढस्यैव भवति, न ज्ञानिनः। बृ. द्रव्यसंग्रहग्रन्थस्य (गाथा-१४) **टीकायां च समर्थितमेतत्—** ''स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात् प्रतिपक्षभूतेन इन्द्रियसुखेन आसक्तो बहिरात्मा।''

वस्तुतः सांसारिकविषयसुखं परिणामे दुःखप्रदत्वात् सुखाभासमेव मन्तव्यम्। तत्र प्रवृत्तिः मूढात्मनामेव सम्भवति, न ज्ञानिनाम्। उक्तं च ज्ञानार्णवग्रन्थे (१८/११९, १२४)—

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसम्पादकं यतः।।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम्।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते, न विद्मः केन हेतुना।।

अत एवं प्रशमरतिप्रकरणग्रन्थे (श्लोक-१२२) **परामृष्टम्—**

इस तरह, परम सुख के निधान (आवास) निजात्मध्यान को छोड़कर, विषय-सुखों में प्रवृत्ति मूढ़ की ही होती है, ज्ञानी की नहीं। बृ. द्रव्यसंग्रह (गाथा-14) की टीका में भी इसका समर्थन इस प्रकार प्राप्त होता है— ''स्वशुद्धात्मसंवित्ति से उत्पन्न वास्तविक सुख से प्रतिपक्षभूत इन्द्रिय-सुख में आसक्त (जीव) बहिरात्मा है।''

वस्तुतः सांसारिक विषय-सुख परिणाम में दुःख को देनेवाला ही होता है, इसलिए उसे सुखाभास (नकली सुख) मानना चाहिए। उसमें मूढ़ व्यक्तियों की ही प्रवृत्ति होती है, ज्ञानियों की नहीं। ज्ञानार्णव ग्रन्थ (18/119, 124) में कहा भी गया है—

''इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न होने वाला सुख वस्तुतः दुःख ही है, वह सुख नहीं है। कारण यह है कि वह विषय-सुख अनन्त संसार की परम्परा के क्लेश को उत्पन्न करता ही है।''

''अज्ञान रूपी सर्प के द्वारा स्नेहपूर्वक पालित-सेवित इन्द्रियजन्य सुख वास्तव में दुःख ही है, ऐसी स्थिति में, हम नहीं समझ पाते कि मूर्खजन किस कारण से उसी में अनुरक्त होते हैं।''

इसीलिए, प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ (श्लोक-122) में यह परामर्श दिया गया है—

भोगसुखैः किमनित्यैः, भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम्।।

अस्मिन्ननादिसंसारसागरे पर्यटन् जीवो निजशुद्धात्मानुभूतिसुखामृतमलभमानः सन् इन्द्रियसुखमेव निजात्मसुखं मन्यते, तेन स मूढदृष्टिर्भण्यते। अतो हे भव्यात्मन्! विषयसुखपराङ्मुखेन त्वया शुद्धात्मानुभूतिमुपादेयां मत्त्वा सर्वदा प्रयतितव्यमिति गाथायास्तात्पर्यम्।

अथ आचार्या राज्यपिण्डस्य भिक्षोः कृतेऽग्राह्यतां प्रदर्शयन्ति-

भुंत्ते अयोगुलोदइ तत्तो अग्गिसिखोपमो रज्जे।
भुंजइ य दुस्सीलो रट्ठपिंडं असंयतो।।

छाया- भुंक्ते अयोगोल उदकं तप्तः अग्निशिखोपमो राज्ये।
भुंक्ते च दुश्शीलः राष्ट्रपिण्डम् असंयतः।।

"सांसारिक भोगों के सुख अनित्य हैं, भय से पूर्ण हैं, और पराधीन हैं, उनकी वांछा से क्या लाभ? (समता रूपी) प्रशम-सुख नित्य है, भयरहित और और अपनी आत्मा के अधीन है। अतः उसी में प्रयत्न करना चाहिए।"

इस अनादि संसार-सागर में भ्रमण करता हुआ जीव निज शुद्धात्मानुभूति रूपी सुखामृत को प्राप्त नहीं करता है, और इन्द्रिय-सुख को ही निजात्मा का सुख मानता है, इस कारण से वह मूढ़दृष्टि कहा जाता है। इसलिए हे भव्य आत्मा! विषय-पराङ्मुख होकर, शुद्धात्मानुभूति को उपादेय मान कर, सर्वदा उसी के लिए तुम्हें प्रयत्नशील होना चाहिए, यह गाथा का तात्पर्य है।

अब, आचार्य भिक्षु के लिए राज्यपिण्ड की अग्राह्यता का निरूपण कर रहे हैं—

गाथा-अर्थ— जिस प्रकार तपाया एवं आग की शिखा के समान अयोगोलक (लोहे का गोला) जल को (हठात् अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार जो) दुःशील (साधु) राजकीय पिण्ड (आहार) को ग्रहण करता है, (वह) असंयत (संयमी कहलाने के योग्य नहीं)

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (जहा) तत्तो अग्गिसिखोपमो अयोगुलोदइ (अयोगुलो उदयं) भुंत्ते, (तहा) दुस्सीलो य रट्ठपिडं भुंजइ, (सो) असंयतो —इति गाथान्वयः।

आहारग्रहणेन असंयतत्वं निर्दिशन्ती एषा गाथा कस्मिंश्चित् संस्करणे प्राप्यते-

भुत्तो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोवमो यज्जे।
भुंजइ जे दुस्सीला रत्तपिंडं असंजतो।।

अत्र राष्ट्रपिण्डस्थाने यज्ञीयरक्तपिण्डाहारस्य निर्देशः कृतः। रक्तपिण्डरूपेणात्र यज्ञनिहत-पशुमांसाहारोऽभिहितः। तदाहारकर्ता असंयत उक्तः। एवं व्याख्या तत्र कृता।

(असंयतो) **असंयतो भवति। असंयतत्वे का हानिः? उच्यते— संयमो मुनीनां पूजास्थानम्, तेन रहितत्वादपूज्यतां याति, निजात्मकल्याणेन च स रहितो भवति, तथैव अशुभकर्मबन्धनं कृत्वा दुर्गतिं प्राप्नोति।**

है।

रत्नत्रयवर्धिनी टीका— (यथा) तप्तः अग्निशिखोपमः अयोगोल उदकं भुंक्ते, (तहा) दुःशीलश्च राष्ट्रपिण्डं भुंक्ते, (सः) असंयतः —यह गाथा का अन्वय है।

आहार-ग्रहण से असंयतपने को बताने वाली यह गाथा किसी (मुद्रित) संस्करण में इस प्रकार प्राप्त होती है—

भुत्तो अयोगुलोसइयो तत्तो अग्गिसिखोवमो यज्जे।
भुंजइ जे दुस्सीला रत्तपिंडं असंजतो।।

इस (गाथा) में राजकीय पिण्ड के स्थान पर यज्ञ के रक्तपिण्ड के आहार का निर्देश किया गया है। यज्ञ में मारे गये पशु के मांस का आहार —यह रक्तपिण्ड का अर्थ है। उसे खाने वाले को असंयत कहा गया है— ऐसी व्याख्या की गई है।

(असंयतः) असंयत होता है। असंयत होने में हानि क्या है? बता रहे हैं— संयम मुनियों के पूजित होने में कारण होता है, इस (संयम) से रहित होने से व्यक्ति की अपूज्यता हो जाती है, निजात्मकल्याण हो नहीं पाता, साथ ही साथ वह अशुभ कर्मों का बन्ध करते हुए दुर्गति प्राप्त करता है।

उक्तं च तत्त्वार्थराजवार्तिके (९/६/२७)— ''संयमो ह्यात्महितः। तमनुतिष्ठन् इहैव पूज्यते, परत्र किमस्ति वाच्यम्। असंयतः प्राणिवधविषयरागेषु नित्यप्रवृत्तः कर्माशुभं संचिनुते।''

अन्यच्च, असंयतस्य संयमाभावे तपश्चरणादिकं सर्वं निरर्थकं भवति। एवं तस्य सर्वा मुनिचर्या विफलेति निर्विवादमेव। उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा ५-६)—

संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं।
संजमसहिदो य तवो थोवो वि महाफलो होदि।

कः असंयतो भवति ? उच्यते— (रज्जे रट्ठपिंडं भुंजइ) **राज्ये राष्ट्रपिण्डं, राजकीय-आहारं भुंक्ते, स मुनिरसंयतो बोद्धव्य इत्यर्थः। राजकीयपिण्डग्रहणस्य वर्ज्यता शास्त्रे कुत्रोक्ता ? उच्यते— राजपिण्डत्यागः मुनिजनोचित-दशविधकल्पेषु अन्यतमः।**

तत्त्वार्थराजवार्तिक (9/6/27) में कहा भी गया है— ''संयम आत्महितकारी है। संयम का अनुष्ठान करते हुए व्यक्ति इस लोक में और परलोक में पूजित होता है —यह कहने की जरूरत नहीं। असंयमी प्राणिवध, व विषय-राग में नित्य प्रवृत्त होता हुआ अशुभ कर्म का चयन (बन्ध) करता है।''

और संयम के अभाव में, असंयत व्यक्ति की समस्त तपश्चर्या आदि निरर्थक हो जाती है। इस तरह, समस्त मुनिचर्या की विफलता निर्विवाद है। शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा 5-6) में कहा भी गया है—

''संयमहीन यदि तप करता है तो भी वह सारा निरर्थक ही है। संयमयुक्त का थोड़ा-भी तप महान् फल प्रदान करने वाला होता है।''

असंयत कौन होता है ? बता रहे हैं— **(राज्ये राष्ट्रपिण्डं भुंक्ते)** राज्य में राष्ट्रपिण्ड यानी राजकीय आहार का ग्रहण करता है, उस मुनि को असंयत समझना चाहिए —यह अर्थ है। राजकीय पिण्ड के ग्रहण को वर्जनीय कहाँ बताया गया है ? बता रहे हैं— राजपिण्ड का त्याग —यह मुनिजनोचित दस प्रकार के कल्पों में से एक है।

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थे (गाथा-४२३)—

आचेलक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरिकम्मे।
वदजेट्ठपडिक्कमणे मासं पज्जोसवणकप्पो।।

अत्रेदं बोध्यम्— प्रख्यातराजकुलोत्पन्नः, राजा, प्रजापालकः, शासकः, राजसदृशो महर्द्धिकः, तत्परिवारश्च —इत्यादीनां स्वामित्वे यः कश्चिदाहारो दीयते, तत्सर्वं राष्ट्रपिण्डरूपेणात्र ग्राह्यम्। किञ्च, पिण्डपदेन न केवल आहारः, अपितु तृणफलकवस्त्रपात्रादीनामपि ग्रहणं न्याय्यम्।

उक्तं च भगवती-आराधनाग्रन्थस्य (गाथा-४२३) **टीकायाम्—** ''राजशब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाताः। राजते प्रकृतिं रञ्जयति इति वा राजा, राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। तस्य पिण्डः, तत्स्वामिको राजपिण्डः। स त्रिविधो भवति-आहारः, अनाहारः, उपधिरिति। तत्र आहारश्चतुर्विधः अशनादिभेदेन। तृणफलकपीठादिः अनाहारः, उपधिर्नाम प्रतिलेखनं, वस्त्रं पात्रं वा।''

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-423) में कहा भी गया है—

''अचेलकता, औद्देशिक आहार का त्याग, शय्यागृह का त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मास व पर्युषणा —ये (मुनियों के) दस कल्प होते हैं।''

यहाँ यह ज्ञातव्य है— प्रख्यात राजकुल में उत्पन्न, राजा, प्रजापालक, शासक, राजा जैसा महर्द्धिक (वैभवशाली), उसका परिवार— इत्यादि के स्वामित्व में जो कुछ आहार रूप से दिया जाता है, उस सब को 'राष्ट्रपिण्ड' रूप से यहाँ ग्रहण करना चाहिए। और, 'पिण्ड' पद से न केवल आहार (भोज्य पदार्थ) का, अपितु घास-फूस की चटाई, वस्त्र या पात्र आदि का भी ग्रहण करना उचित है।

भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-423) की (विजयोदया) टीका में कहा भी गया है— ''राज शब्द से इक्ष्वाकु आदि कुल में उत्पन्न का ग्रहण किया जाता है। जो रंजित-शोभित होता है या जनता का रंजन (पालनादि) करता है, वह राजा है। राजा के समान वैभवशाली भी राजा कहलाता है। उसका पिण्ड अर्थात् जिस पिण्ड का वह (राजा) स्वामी है, वह राजपिण्ड है। उसके तीन भेद हैं— आहार, अनाहार व उपधि। अशन आदि भेद से आहार चार प्रकार का होता है। तृण-फलक, आसन आदि अनाहार हैं। प्रतिलेखन, वस्त्र या पात्र —ये उपधि कहलाते हैं।''

किञ्च, राजपिण्ड-ग्रहणे पिण्डशुद्धिरुपेक्षिता भवति, ततश्च मुनिस्वरूपस्य विघात एव। उक्तं च मूलाचारग्रन्थे (गाथा-९१८)—

पिंडोवधिसेज्जाओ अविसोधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो भुवणेसु हवे समणपोल्लो।।

केन प्रकारेण मुनिः अकल्प्य-राजपिण्डग्रहणे प्रवृत्तो भवति? उच्यते— (दुस्सीलो) **दूषितं शीलं यस्य इति दुःशीलः। शीलं च महाव्रतादिरक्षकाचरणमेव। उक्तं च सर्वार्थसिद्धिग्रन्थे** (७/२४)— व्रतपरिरक्षणार्थं शीलम्।

एवं दूषितव्रताः दुःशीला भण्यन्ते। व्रतदूषणादौ चारित्रमोहस्य तीव्रविपाकोदयो हेतुः। दुःशीलानां श्रुतपारगत्वेऽपि तुच्छत्वं शास्त्रेषु प्रतिपादितम्। यथा शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-१७)—

सुदपारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए।

और, राजपिण्ड के ग्रहण में ''पिण्डशुद्धि'' की उपेक्षा होती है, जिससे मुनि-स्वरूप का (ही) घात हो जाता है। मूलाचार ग्रन्थ (गाथा-918) में कहा भी गया है—

''जो श्रमण आहार, उपकरण, वसतिका (आवास) को बिना शोधन किये हुए ग्रहण करते हैं, वे मूलस्थान प्रायश्चित्त को प्राप्त (अर्थात् गृहस्थ) हो जाते हैं और संसार में मुनित्व से हीन (सारहीन श्रमण) हो जाते हैं।''

मुनि की अकल्प्य (अकार्य) राजपिण्ड-ग्रहण में प्रवृत्ति किस प्रकार हो जाती है? बता रहे हैं— (दुःशीलः)। जिसका शील दूषित हो, वह दुःशील होता है। महाव्रत आदि की रक्षा हेतु किये जाना वाला आचरण ही 'शील' होता है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ (7/24) में कहा भी है— ''व्रतों की रक्षा के लिए शील होता है।''

इस प्रकार, दूषित व्रत वालों को दुःशील कहा जाता है। व्रत-दूषण आदि में हेतु होता है— चारित्रमोह का तीव्रविपाकोदय।

दुःशील (मुनि) श्रुतपारंगत भी हो, तो भी वह तुच्छ है— ऐसा शास्त्रों में प्रतिपादित है। जैसे, शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-17) में कहा है— ''जो दुःशील (शीलगुण-रहिता) हैं, वे श्रुत के पारगामी होकर भी तुच्छ (अनादरणीय) होते हैं।''

दुःशीलानां सम्यग्ज्ञानमपि इन्द्रियविषयसन्निधौ दुष्प्रभावितं जायते, येन ते कार्याकार्य-विवेकभ्रष्टा भवन्ति। उक्तं च शीलप्राभृतग्रन्थे (गाथा-२)— सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति।

राजपिण्डग्रहणे कानि कानि दूषणानि सम्भवन्ति, येन शास्त्रेषु तदग्राह्यता निरूपिता? समाधीयते— राजपिण्डग्रहणे कतिचिद् आत्मकृताः, कतिचिद् परकृताश्च भवन्ति, येषां विशदीकरणं भगवती-आराधनाग्रन्थस्य (गाथा-४२३) **टीकायां कृतमस्ति—** राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोषः इति चेत् अत्रोच्यते-द्विविधा दोषा आत्मसमुत्थाः परकृताश्चेति। द्विविधा परसमुत्थाः मनुजतिर्यक्कृतविकल्पेनेति। तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात्। ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति। हयाः, गजाः, गावो, महिषा, मेण्ढ्राः, श्वानश्च ग्राम्याः दुष्टाः। दुष्टेभ्यः संयतोपघातः। भद्राः पलायमानाः स्वयं दुःखिताः पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावनोल्लङ्घनादिपराः प्राणिनः। आरण्यकास्तु व्याघ्रक्रव्यादद्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्राश्चेत्तत्पलायने पूर्वदोषः।

दुःशीलों का सम्यग्ज्ञान भी, इन्द्रिय-विषयों की सन्निधि में, दुष्प्रभावित हो जाता है, जिससे उनका कार्य-अकार्य का विवेक नष्ट हो जाता है। शीलप्राभृत ग्रन्थ (गाथा-2) में कहा भी गया है— ''शील के बिना (अभाव में) इन्द्रिय-विषय ज्ञान को नष्ट कर देते हैं।''

राजपिण्ड के ग्रहण में कौन-कौन से दोष सम्भव हैं— जिसके कारण शास्त्रों में उसे अग्राह्य बताया गया है? उत्तर इस प्रकार है— राजपिण्ड के ग्रहण में कुछ आत्मकृत दोष होते हैं तो कुछ परकृत भी, जिनका स्पष्टीकरण भगवती-आराधना ग्रन्थ (गाथा-423) में इस प्रकार किया गया है— **शङ्का—** इस प्रकार के राजपिण्ड के लेने में क्या दोष है? समाधान— दो प्रकार के दोष हैं —एक आत्मसमुत्थ-स्वयंकृत, और दूसरा परसमुत्थ। पर-समुत्थ के दो भेद हैं— एक मनुष्यकृत और एक तिर्यञ्चकृत। तिर्यञ्चकृत के दो भेद हैं— एक ग्रामीण पशु के द्वारा किया गया और एक जंगली पशु के द्वारा किया गया। इन दोनों प्रकारों के भी दो भेद है— दुष्ट के द्वारा और भद्र के द्वारा किया गया। गाँव के घोड़े, हाथी, गाय, भैंस, मेढ़े, कुत्ते दुष्ट होते हैं। दुष्टों से संयमियों का उपघात होता है। भद्र हुए तो संयमी को देखकर भागने पर गिरकर या चोट खाकर स्वयं दुःखी होते हैं अथवा दौड़ते हुए व्रतियों को मारते हैं। जंगल के रहने वाले व्याघ्र, सिंह, बन्दर यदि राजा के आँगन में खुले घूमते हों और क्षुद्र हों तो उनसे अपने पर विपत्ति आ सकती है। यदि भद्र हुए तो यति को देखकर दौड़ने पर स्वयं चोट खा सकते हैं या यतियों को चोट पहुँचा सकते हैं।

मानुषास्तु ईश्वराः तलवरा म्लेच्छाः, भटाः, प्रेष्याः, दासाः दास्यः, इत्यादिकाः। तैराकुलत्वात् दुःप्रवेशनं राजगृहं प्रविशन्तं मत्ताः, प्रमत्ताः, प्रमुदिताश्च दासादयः उपहसन्ति, आक्रोशन्ति वारयन्ति उल्लङ्घयन्ति वा। अवरुद्धा याः स्त्रियो मैथुनसंज्ञया बाध्यमानाः पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृहं प्रवेशयन्ति भोगार्थम्। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता आयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति।

राजा विश्वस्तः श्रमणेषु इति श्रमणरूपं गृहीत्वागत्य दुष्टाः खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविवेकिनः दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति। वा एते परसमुद्भवा दोषाः। आत्मसमुद्भवास्तूच्यन्ते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृतं च गृह्णाति। विकृति-सेवनादिंगालदोषः, मन्दभाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिकं गृह्णीयाद्वामलोचना वा सुरूपाः समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत्। तां विभूतिं, अन्तःपुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदानं कुर्यात्। इति दोषसंभवः।

मनुष्यों में स्वामी, कोतवाल, म्लेच्छ, योद्धा, सेवक, दास, दासी आदि अनेक हैं। राजा का महल इन सबसे भरा होने से उसमें प्रवेश करना कठिन है। मत्त, प्रमत्त, और हर्ष से उत्फुल्ल दास आदि यति को देखकर हँसते हैं, चिल्लाते हैं, रोकते हैं, अवज्ञा करते हैं। काम से पीड़ित स्त्रियाँ अथवा पुत्र-प्राप्ति की इच्छुक स्त्रियाँ बलपूर्वक भोग के लिए साधु को अपने घर में ले जाती हैं। राजगृह में पड़े हुए रत्न-सुवर्ण आदि को दूसरे ग्रहण करके यह दोष लगा सकते हैं कि यहाँ साधु आये थे।

राजा का श्रमणों पर विश्वास है— ऐसा जानकर दुष्ट लोग श्रमण का रूप रखकर दुष्ट काम कर सकते हैं। तब रुष्ट होकर अविवेकी पुरुष श्रमणों को दोष देते हैं, उन्हें मारते और बाँधते हैं। ये परसे उत्पन्न हुए दोष हैं। अब आत्मा से हुए दोष कहते हैं— राजकुल में आहार का शोध नहीं होता, बिना देखा और छीना हुआ आहार ग्रहण करना होता है। सदोष आहार लेने से इंगाल दोष होता है। कोई अभागा साधु बहुमूल्य रत्नादि देखकर उठा सकता है अथवा सुन्दर स्त्रियों को देखकर उन पर अनुरक्त हो सकता है। उस विभूति, अन्तःपुर और बाजारू स्त्रियों को देखकर निदान कर सकता है कि मुझे भी ये वस्तुएँ प्राप्त हों। इस प्रकार के दोष जहाँ संभव हैं।

अत्र दृष्टान्तः प्रस्तूयते— (तत्तो अग्गिसिखोवमो अयोगुलोदइ भुंत्ते)। (यथा) **तप्तः, अग्निशिखोपमः अयोगोलः उदकं भुंक्ते, तीव्राग्निसंतप्तवात् समीपस्थजलबिन्दून् निर्बाधतया गृह्णाति, तथैव दूषिताचरणतया दुःशीलो मुनिः निर्विवेकतया, सम्भावितदोषानपि उपेक्ष्य राजपिण्डग्रहणेऽपि प्रवर्तते —इतिभावः।**

एवं हे भव्य! सम्यक्-संयमादिसिद्ध्यर्थं निर्दोषरत्नत्रयसिद्ध्यै च, व्यवहारेण राजपिण्डादि-ग्रहणं परिवर्ज्य पिण्डशुद्धिसहितायां निर्दोषभिक्षाचर्यायां, निश्चयेन शुद्धात्मसंवित्तिजनितपरमाह्लाद-रसास्वादप्राप्त्यर्थं च समुद्यतो भवेति गाथातात्पर्यम्।

जिणलिंगहरो जोई विरायसम्मत्तसंजुदो णाणी।
परमोविक्खाइरिओ सिवगईपहणायगो होइ।।

एषा गाथा अस्मिन्संस्करणे १४४ संख्यान्तर्गता, व्याख्याता च। कुत्रचित् प्रतौ तृतीयचरणे 'परमोविक्खारहिओ' (=परमोपेक्षाभावेन रहितः) **इति पाठ उपलभ्यते, स सूत्रविरुद्धत्वाद् उपेक्षणीयः।**

अब दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा रहा है— (तप्तः अग्निशिखोपमः अयोगोलः उदकं भुंक्ते) (जैसे) गर्म, अग्नि-शिखा के समान लोहे का गोला जल ग्रहण करता है, (अर्थात्) तीव्र अग्नि से संतप्त होने से (लोहे का गोला) समीपवर्ती जल-बिन्दुओं को निर्बाध रूप से ग्रहण करता है, उसी तरह दूषित आचरण के कारण दुःशील मुनि, विवेकहीनता से सम्भावित दोषों की भी उपेक्षा करते हुए, राजपिण्ड के ग्रहण में भी प्रवृत्त हो जाता है —यह भाव है।

इस प्रकार हे भव्य! सम्यक्-संयम की सिद्धि के लिए तथा निर्दोष रत्नत्रय की सिद्धि के लिए, व्यवहार नय से राजपिण्ड आदि के ग्रहण को छोड़कर पिण्ड-शुद्धि-सहित निर्दोष भिक्षाचर्या में, एवं निश्चय नय से शुद्धात्मसंवित्ति से जनित परमाह्लाद-रस की प्राप्ति हेतु समुद्यत हो —यह गाथा का तात्पर्य है।

इस गाथा को हमने इस संस्करण में 144 संख्या के अन्तर्गत ले लिया है और व्याख्या भी की है। कुछ प्रतियों में तृतीयचरण में 'परमोविक्खारहिओ' (=परमोपेक्षा से रहित) यह पाठ है, वह सूत्रविरुद्ध होने से उपेक्षणीय (अग्राह्य) है।

अथवा 'परमोविक्खारहिओ' **इत्यस्य** 'परमोपेक्षारहित:' **इतिसंस्कृतछायां त्यक्त्वा,** 'परमोपेक्षा-आराधक:' **इतिकर्तुं शक्यते।**

'परमोविक्खइरिओ' **इत्यस्मत्स्वीकृते पाठेऽपि अस्माभि:** 'परमोपेक्षामीरित:, प्राप्त:' **इति व्याख्यानं कृतम्, अन्यैस्तु** 'परमोपेक्षा-आचार्य:' **इत्यर्थ: कृत:। विद्वद्भिर्यथामति निर्णेतव्यम्।**

[इतिश्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागररचिता 'रत्नत्रयवर्धिनी'-नाम्नी टीका सम्पन्नतां गता।]

अथवा 'परमोविक्खारहिओ' इस पद का 'परमोपेक्षारहित' यह संस्कृत-छाया छोड़कर, 'परमोपेक्षा-आराधक:' (परमोपेक्षा, यानी वीतराग भाव का आराधक) यह (संस्कृत-छाया) की जा सकती है।

'परमोपेक्षामीरिता:' अर्थात् 'परमोपेक्षा भाव को ईरित यानी प्राप्त' यह व्याख्यान हमने किया है। 'परमोविक्खाइरिओ' —ऐसा जो पाठ हमने स्वीकृत किया है, वहाँ अन्य ने उसकी संस्कृत छाया 'परमोपेक्षा-आचार्य' स्वीकार कर 'परमोपेक्षासंयम का आचरण करता है, वह' ऐसा अर्थ किया है। विद्वानों को यथामति निर्णय कर लेना चाहिए।

[श्रीमद्गणाचार्यडॉ.विरागसागरकृत 'रत्नत्रयवर्धिनी' टीका सम्पन्न हुई।]

टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

अनाद्यनन्तावसर्पिण्युत्सर्पिणिकालक्रमे तीर्थंकराणामनन्तचतुर्विंशत्यां गतायाम्, वर्तमानावसर्पिणीकालसम्बन्धिचतुर्विंशत्यां वृषभादिवीरान्तचतुर्विंशतितीर्थंकराः संजाताः, तेषु अन्तिमतीर्थंकराः वर्द्धमानवीरातिवीरसन्मतिमहावीरेतिपञ्चनामधारकाः बालब्रह्मचारिणोऽभवन्, त्रिंशद्वर्षपर्यन्तं केवलज्ञानेन दृष्टलोकालोकाः, सर्वजगतो हितङ्कराः समग्रभारतवर्षे मोक्षमार्गोपदेशं विधाय मोक्षं गताः, तदनन्तरं निर्ग्रन्थदिगम्बरमुद्राधराः इन्द्रभूतिगौतमगणधराः केवलज्ञानिनो द्वादशवर्षपर्यन्तं सर्वहितोपदेशं विधाय गुणावा-नगरोद्याने मोक्षं गताः, तद्दिवसान्ते यथाजातमुद्राधराः सुधर्माचार्यवराः केवज्ज्ञानिनो जाताः, ते च दिग्वासोधरा द्वादशवर्षपर्यन्तम-खण्डधर्मोपदेशं विधाय मोक्षं गताः,

---

(टीकाकार की प्रशस्ति)

अनादि-अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल-क्रम में, तीर्थंकरों की अनन्त चौबीसियाँ उनके व्यतीत होने पर, वर्तमान काल के अवसर्पिणी-काल के चौबीस तीर्थंकरों में भगवान् आदिनाथ से लेकर भगवान् महावीर तक चौबीस तीर्थंकर हुए, उनमें वर्द्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति व महावीर —इन पाँच नामों के धारक बालब्रह्मचारी अन्तिम तीर्थंकर हुए। 'केवलज्ञान' से लोक-अलोक के द्रष्टा-ज्ञाता, समस्त जगत् के कल्याणकारी भगवान् महावीर तीस वर्षों तक मोक्षमार्ग का उपदेश करते हुए मोक्ष में गए। उसके बाद, निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा के धारक इन्द्रभूति गौतम गणधर केवलज्ञानी होकर बारह वर्षों तक सर्वहितकारी उपदेश देते हुए गुणावा नगर के उद्यान में मोक्ष को गए। उसी दिन के अन्त में यथाजात (दिगम्बर) मुद्रा के धारक आचार्य सुधर्मा केवलज्ञानी हुए, वे भी दिगम्बर मुद्रा में बारह वर्षों तक अखण्ड रूप से धर्मोपदेश करते हुए मोक्ष को प्राप्त हुए।

तद्दिवसान्ते मुनीन्द्रजम्बूकुमाराणां केवलज्ञानभास्करोदयः संजातः, ते च अष्टात्रिंशद्वर्ष-पर्यन्तं धर्मोपदेशं विधाय मथुरानगरोद्यानात् मोक्षं गताः। एवं समुदिता द्वाषष्टिवर्षपर्यन्तम् अनुबद्धकेवलिनः परम्परया जाताः। यद्यपि तदनन्तरमन्ये अनेके केवलिनो बभूवुः, तथापि तेषामनुबद्धताक्रमो न विद्यते, तेन कारणेन केवलिजम्बूकुमाराणामनन्तरं विष्णु-नन्दिमित्र-अपराजित-गोवर्धन-भद्रबाहुसंज्ञकाः पञ्च दिगम्बर-श्रमणाचार्याः पूर्णश्रुतज्ञानधराः श्रुतकेवलिसंज्ञया प्रसिद्धाः। ते श्रुतकेवलिनः क्रमेण चतुर्दश-षोडश-द्वाविंशति-एकोनविंशति-एकोनत्रिंशद्वर्षाणि, समुदितानि शतवर्षाणि यावत् सदुपदेशे प्रवृत्ता बभूवुः। तदनन्तरं च विशाख-प्रौष्ठिल-क्षत्रिय-जय-नाग-सिद्धार्थ-धृतिसेन-विजय-बुद्धिल-गंगदेव-धर्मसेनेति-दशपूर्वधराः निर्ग्रन्थवीतरागश्रमणमुद्राधारका एकादशाचार्याः संजाताः। तेषां श्रुतज्ञानकालः क्रमेण दश-एकोनविंशति-सप्तदश-एकविंशति-अष्टादश-सप्तदश-अष्टादश-त्रयोदश-विंशति-चतुर्दश-षोडशवर्षात्मकः, समुदितरूपेण त्र्यशीतिसमधिकं शतं वर्षाणि यावत् प्रसिद्धिं प्राप्तः।

उसी दिन के अन्त में, जम्बूकुमार मुनिराज के केवलज्ञान रूपी सूर्य का उदय हुआ। वे भी अड़तीस वर्षों तक धर्मोपदेश देते हुए मथुरा नगरी के उद्यान से मोक्ष गए। इस प्रकार, कुल मिला कर बासठ वर्षों तक अनुबद्ध केवलियों की परम्परा रही। यद्यपि उसके बाद अनेक केवली हुए थे, तथापि उनमें अनुबद्धता-क्रम नहीं रहा। इस कारण से केवली जम्बूकुमार के बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन व भद्रबाहु —ये पाँच दिगम्बर श्रमणाचार्य हुए, जो पूर्वश्रुतज्ञान के धारक और श्रुतकेवली नाम से प्रसिद्ध थे। वे (पाँच) श्रुतकेवली क्रमशः चौदह, सोलह, बाईस, उन्नीस व उनतीस वर्षों तक, कुल मिलाकर सौ वर्षों तक सदुपदेश में प्रवृत्त रहे। उसके बाद, विशाख, प्रौष्ठिल, क्षत्रिय, जयसेन, नागसेन, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव, धर्मसेन —ये ग्यारह आचार्य दसपूर्व के धारक हुए। उनके श्रुतज्ञान का काल क्रमशः दस, उन्नीस, सत्रह, इक्कीस, अठारह, सत्रह, अठारह, तेरह, बीस, चौदह व सोलह वर्षों तक रहा और कुल मिलाकर वे एक सौ तिरासी (183) वर्षों तक प्रसिद्धि को प्राप्त हुए।

तदनन्तरं नक्षत्र-जयपाल-पाण्डु-ध्रुवसेन-कंस-सुभद्रसंज्ञकाः एकादशाङ्गधराः दिगम्बराचार्याः जाताः, तेषां क्रमेण श्रुतज्ञानकालः अष्टादश-विंशति-एकोनचत्वारिंशत्-चतुर्दश-द्वात्रिंशद्-षड्वर्षात्मकः प्रसिद्धः। तदनन्तरं दिगम्बरश्रमणाचार्याः दशाङ्गधरा यशोभद्राचार्याः संजाताः, तेषा श्रुतज्ञानकालः अष्टादशवर्षात्मकः। ततश्च नवाङ्गश्रुतधारिणः श्रीभद्रबाहु-(द्वितीय)**-दिगम्बराचार्याः संजाताः, तेषां श्रुतज्ञानकालः त्रयोविंशतिवर्षात्मकः समभवत्। तदनन्तरमष्टाङ्गश्रुतज्ञानधराः दिगम्बरमुद्राधारिणो लोहाचार्याः संजाताः, तेषां श्रुतज्ञानकालः समुदितरूपेण विंशतिवर्षात्मकः समभवत्। तदनन्तरमेकाङ्गांशधरा अर्हद्बली-माघनन्दि-धरसेन-पुष्पदन्त-भूतबलीसंज्ञकाः पञ्च दिगम्बराचार्याः जाताः, तेषां श्रुतज्ञानकालः क्रमेण अष्टाविंशति-एकविंशति-एकोनविंशति-त्रिंशत्-विंशतिवर्षप्रमितः, समुदितरूपेण अष्टादशाधिकं शतं वर्षाणि कालः। तदनन्तरमनेकदिगम्बराचार्यानन्तरम् अध्यात्मयोगिनः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्याः जाताः, तेषां श्रुतज्ञानकालः पञ्चाशद्वर्षात्मको जातः।**

इसके अनन्तर, नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन, कंस, सुभद्र —ये छः दिगम्बर आचार्य हुए, जो ग्यारह अङ्गों के धारक थे, उनका श्रुतज्ञान-काल क्रमशः अठारह, बीस, उनतालीस, चौदह, बत्तीस, छः वर्षों का प्रसिद्ध रहा। इसके बाद, दस अंगों के धारक दिगम्बर श्रमणाचार्य यशोभद्र हुए, उनके श्रुतज्ञान का काल अठारह वर्षों का था। तदनन्तर, भद्रबाहु (द्वितीय) दिगम्बराचार्य हुए, जो अङ्गों के धारक थे। उनके श्रुतज्ञान का काल तेईस वर्षों का रहा। इसके बाद, आठ अंग-श्रुत के धारक दिगम्बरमुद्राधारी लोहाचार्य हुए, उनके श्रुतज्ञान का काल कुल मिलाकर बीस वर्षों का रहा। तदनन्तर, अर्हद्बली, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबली –ये पाँच दिगम्बर आचार्य हुए, जो एक अंग-अंश के धारक थे। इनके श्रुतज्ञान का काल क्रमशः अठाईस, इक्कीस, उन्नीस, तीस, बीस वर्षों का, इस तरह सब मिलाकर एक सौ अठारह (118) वर्षों का रहा। इसके पश्चात्, अनेक दिगम्बर आचार्यों के बाद, अध्यात्मयोगी आचार्यश्री कुन्दकुन्द स्वामी हुए, उनका श्रुतज्ञान-काल पचास वर्षों का था।

तैश्च अनेके पाहुडप्रभृतिग्रन्था रचिताः, तेषु 'रयणसार'नामकग्रन्थोऽस्ति, तस्योपरि, चरमतीर्थंकरनिर्वाणात् द्विसहस्त्रवर्षेषु व्यतीतेष्वपि, सम्प्रति काचिदपि संस्कृतटीका दृष्टिगोचरा नास्ति, एतत् समीक्ष्य अनेकाचार्य-विद्वत्समूहेन सविनयं रयणसारग्रन्थस्योपरि टीकाया लेखनार्थमहं प्रार्थितः। ममान्तःकरणेऽपीहा जाता, तदनुसारं प्रसन्नतापूर्वकं मया टीकाकार्यं प्रारब्धम्।

अथ श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यवरस्य परम्परायां दिगम्बराचार्याः आदिसागर-अंकलीकरेतिविश्रुतनामानो जाताः, तच्छिष्याचार्यमहावीरकीर्तिसंज्ञका जाताः, तच्छिष्याचार्य-विमलसागरसंज्ञकाः अभवन्, तच्छिष्यगणाचार्यविरागसागराभिधोऽहं तत्प्रार्थनाप्रेरणया रयणसारग्रन्थस्योपरि रत्नत्रयवर्धिनीटीकां रचयितुं प्रयतोऽभवम्। जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रार्यखण्डे प्रथमतीर्थंकर श्रीवृषभनाथ-ज्येष्ठपुत्रभरतचक्रवर्ति-सनाथत्वात् प्रसिद्धिं प्राप्ते भारतवर्षे, तदन्तर्गते गुजरातप्रान्ते षट्खण्डागमश्रुततीर्थे अंकलेश्वरनाम्नि नगरे।

उन्होंने अनेक पाहुड (प्राभृत) आदि ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'रयणसार' नामक ग्रन्थ भी है। उस पर, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण को प्राप्त हुए 2000 वर्ष व्यतीत होने पर भी, वर्तमान में कोई भी संस्कृत टीका दृष्टिगोचर नहीं थी- ऐसा देखकर अनेक आचार्य व विद्वानों के समूह ने रयणसार-ग्रन्थ पर टीका लिखने के लिए सविनय मुझसे प्रार्थना की। मेरे अन्तःकरण में भी वैसी इच्छा हुई और तदनुरूप मैंने प्रसन्नतापूर्वक टीका कार्य प्रारम्भ किया।

आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी की परम्परा में पूज्य आचार्य श्री आदिसागर अंकलीकर जी म. के नाम से प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य हुए, उनके शिष्य आचार्य श्री महावीरकीर्ति हुए, उनके शिष्य आचार्य श्री विमलसागर हुए, उनके शिष्य के रूप में मैं गणाचार्य विरागसागर, उन (विद्वानों आदि) की प्रार्थना से प्रेरित होकर रयणसार ग्रन्थ पर 'रत्नत्रयवर्धिनी' टीका लिखने के लिए प्रयत्नशील हुआ। जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभनाथ के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती की सनाथता (आधिपत्य) के कारण, यह देश 'भारतवर्ष' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। इसके अन्तर्गत, गुजरात प्रान्त में अंकलेश्वर नाम का नगर है, जो 'षट्खण्डागम श्रुततीर्थ' कहा जाता है।

तत्र पञ्चत्रिंशदधिकपञ्चविंशतिशतमिते वीरनिर्वाणाब्दे माघमासे कृष्णपक्षे तृतीयातिथौ मङ्गलवासरे मध्याह्नवेलायां श्रीमत्स्वामिपार्श्वनाथजिनालये देवाधिदेवचरणसान्निध्ये शुभमुहूर्ते चतुर्विधसंघस्य, तथैव जनसमूहस्य समुपस्थितौ द्विसहस्रवर्षप्राचीनतमस्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीतस्य रयणसारग्रन्थस्य उपरि रत्नत्रयवर्धिनीटीकाया अमुष्याः शुभारम्भः कृतः।

श्रीसिद्धक्षेत्र-ऊर्जयन्तगिरियात्रायां ततश्च, गुजरातप्रान्तराजधानीभूतस्य गान्धीनगरस्य वर्षाकाले श्रीभगवन्महावीरजिनालये जिनपादमूले निरन्तरं टीकालेखनकार्यं कुर्वतो मासोत्तममासे कार्तिकमासे कृष्णपक्षे अमावस्यातिथौ रविवासरे वीरनिर्वाणसंवत्सरे षट्त्रिंशदधिकपञ्चविंशति-शतप्रमिते अन्तिमतीर्थंकर-श्रीवर्द्धमाननिर्वाणदिवसे पूर्वाह्नवेलायां छत्रचामरघण्टामङ्गलध्वनौ निनादिते रत्नत्रयवर्धिनी टीकेयं सम्पन्नतां गता। तदन्तिके च श्रावकसमूहेन ग्रन्थस्यास्य अष्टविधार्चनामहोत्सवो विहितः। एतद्ग्रन्थस्य सम्पादनानुवादकार्यं विद्वत्प्रवरेण डॉ. दामोदरशास्त्रिणा विनयभक्त्या विहितम्।

वहाँ, वीर निर्वाण संवत् 2535 के माघ मास के कृष्णपक्ष की तृतीया तिथि एवं मङ्गलवार के दिन, मध्याह्न वेला व शुभ मुहूर्त में भगवान् पार्श्वनाथ-जिनालय में, देवाधिदेव के चरणों के सानिध्य में, चतुर्विध संघ एवं जनसमूह की समुपस्थिति में आचार्यकुन्दकुन्द स्वामी द्वारा विरचित 2000 वर्ष प्राचीनतम रयणसार ग्रन्थ पर इस रत्नत्रयवर्धिनी टीका का प्रारम्भ किया गया।

श्री सिद्धक्षेत्र ऊर्जयन्त गिरि की यात्रा में और फिर गुजरात प्रान्त की राजधानी गान्धीनगर में वर्षा-प्रवास के समय भगवान् महावीर के जिनालय में जिनेन्द्र-पादमूल में निरन्तर टीका-लेखन का कार्य करता रहा, और वीरनिर्वाण संवत् 2536 में उत्तम मास कार्तिक के कृष्ण पक्ष की अमावस्या, रविवार के दिन, जिस दिन अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण दिवस मनाया जाता है, पूर्वाह्न वेला में, छत्र-चामर-घण्टा आदि की मांगलिक ध्वनि के साथ यह रत्नत्रयवर्धिनी टीका सम्पन्न हुई। उसी समय, श्रावकों के समूह द्वारा इस ग्रन्थराज का अष्टविध अर्चना-महोत्सव मनाया गया। इस ग्रन्थ के सम्पादन व हिन्दी अनुवाद का कार्य विद्वद्वर डॉ. दामोदर शास्त्री ने विनय-भक्तिपूर्वक सम्पन्न किया है।

नमः श्रीमज्जिनेन्द्राय, नमो विमलसिन्धवे।
श्रीसन्मतितपःपूत-गुरुपद्भ्यो नमो नमः।।

यावन्नभसि चन्द्रार्कौ, अचला च सुदर्शनम्।
तावज्जयतु टीकेयं श्रीरत्नत्रयवर्धिनी।।

इति सर्वेषां रत्नत्रयं भवतु, तस्य समृद्धिर्भवतु, मोक्षाराधना सफला भवत्विति—

वर्द्धतां जिनशासनम्। मङ्गलं भूयात् सर्वजनानाम्।।

श्रीमान् जिनेन्द्र देव को मेरा नमस्कार हो। पूज्य आचार्यश्री विमलसागर जी म. को तथा पूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी म. के तपःपूत गुरु-चरणों में मेरा बार-बार नमस्कार है।

जब तक आकाश में चन्द्र-सूर्य हैं, जब तक यह पृथ्वी है और तब तक यह सुदर्शन मेरु है, तब तक यह श्रीरत्नत्रयवर्धिनी टीका जयवन्त हो।

सभी को रत्नत्रय प्राप्त हो, उसकी सम्यक् वृद्धि हो तथा मोक्ष-आराधना सफल हो-

जिनशासन की वृद्धि हो। समस्त प्राणियों का मङ्गल हो।

—0—

परिशिष्ट

उत्तरार्द्ध

उत्तरार्द्धे (गाथा 77-168)

गाहाणुक्कमणिका

(मूलगाथानुक्रमणिका)

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
अ		
अज्झयणमेव झाणं	90	677
अदिसोहणजोएण	164	1136
अप्पाणं पि ण पेच्छदि	84	641
अप्पा णाणज्झणओ	क्षेपक	1167
अवियप्पो णिद्दंदो	96	703
अविरददेसमहव्वय	114	836
आ		
आरंभे धणधण्णे	101	750
इ		
इदि सज्जण परिपुज्जं	168	1152
इंदियविसयसुहादिसु	129	941
उ		
उदरग्गियसमणमक्ख	108	799
उवसम्मइ सम्मत्तं	148	1055
उवसमणिरीहझाणु	115	857
क		
कतकफलभरिय	161	1121
कम्म ण खवेदि पर	83	636
कम्मादविहावसहाव	123	913
कामदुहि कंप्पतरुं	165	1142
कायकिलेसुववासं	82	629
कालमणंतं जीवो	152	1085
किं जाणिदूण सयलं	120	895

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
किंपायफलं पक्कं	127	934
किं बहुणा वयणेण दु	154	1091
किं बहुणा हो तजि	136	979
किं बहुणा हो देविंदा	147	1052
कुसलस्स तवो णिवुणस्स	151	1081
कोहेण य कलहेण य	112	821
ख		
खाई-पूया-लाहं	122	905
ग		
गंथमिणं जिणदिट्ठं	167	1151
गुणवयतवसमपडिमा	149	1062
गुरुभत्तिविहीणाणं	78	604
च		
चउगदिसंसारगमण	137	985
चम्मट्ठिमंसलवलुद्धो	106	792
ज		
जं जादिजरामरणं	146	1047
जं जं अक्खाण सुहं	130	941

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
जाव ण जाणदि अप्पा	85	647
जिणलिंगहरो जोई	144	1185
जे पावारंभरदा	104	775
जेसिं अमेज्झमज्झे	131	949
जोइसवेज्जामंतो	103	765
ण		
ण लहइ जायणसीले	क्षेपक	1160
ण वि जाणदि जिणसिद्धसरूवं	116	864
ण सहंति इदरदप्पं	105	784
णाणब्भासविहीणो	89	671
णाणेण झाणसिद्धी	150	1078
णिक्खेवणयपमाणं	155	1091
णिच्छयववहारसरूवं	119	878
णिय अप्पणाणझाण	126	934
णियतच्चुवलद्धि विणा	86	652
णिंदावंचणदूरो	95	703
त		
तच्चवियारणसीलो	93	694

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
तिव्वं कायकिलेसं	97	721
द		
दव्वगुणपज्जएहिं	139	994
दंडत्तय सल्लत्तय	99	736
दंसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो	117	871
दिव्वुत्तरणसरिच्छं	113	830
देह कलत्तं पुत्तं	128	941
देहादिसु अणुरत्ता	100	742
ध		
धम्मज्झाणब्भासं	163	1133
प		
पदिभत्तिविहीण सदी	77	594
पवयणसारब्भासं	162	1127
पावारंभणिवित्ती	91	681
पिच्छे संथरणे इच्छासु	157	1098
पूयसूयरसाणाणं	132	949
ब		
बहिरब्भंतरगंथ	145	1011

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
बहिरंतरप्पभेदं	140	1000
बहुदुक्खभायणं	110	808
भ		
भुञ्जेदि जहालाहं	107	799
भुंत्ते अयोगुलोदइ	क्षेपक	1178
म		
मक्खी सिलिम्मि पडिदो	88	663
मलमुत्तघडव्व चिरं	134	970
मिच्छंधयाररहिदं	160	1117
मिस्सो त्ति बाहिरप्पा	141	1005
मिहिरो महंधयारं	159	1110
मूढत्तय – सल्लत्तय	142	1010
मूलुत्तरुत्तरुत्तर	124	920
मोक्खगदिगमणकारण	138	991
र		
रज्जं पहाणहीणं	79	610
रयणत्तय–करणत्तय	143	1011
रयणत्तयमेव गणं	158	1106

गाथा	क्रमांक	पृ. सं.
रसरुहिरमंससमेद	109	808
रायादिमलजुदाणं	98	727
व		
वयगुणसीलपरीसह	121	900
वसदि-पडिमोवयरणे	156	1098
विकहादिविप्पमुक्को	94	703
विसयविरत्तो मुच्चदि	125	927
स		
संघविरोहकुसीला	102	750
संजमतवझाणज्झयण	111	821
सम्म णाणं वेरग्ग तवो	166	1148
सम्मद्दंसण सुद्धं	153	1090
सम्मत्त विणा रुई	80	610
सम्मादिगुणविसेसं	118	871
सम्मादिट्ठी णाणी	135	974
सालविहीणो राओ	87	657
सिविणे वि ण भुंजदि	133	962
सुदणाणब्भासं जो	92	686
ह		
हीणादाण-वियार	81	623

—0—

रत्नत्रयवर्धिनी टीका में उद्धृत ग्रन्थ

प्राकृत ग्रन्थ

(1) आराधनासार (आचार्य देवसेन)
(2) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (स्वामी कुमार)
(3) गोम्मटसार (आचार्य नेमिचन्द्र)
(4) चारित्रप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)
(5) चारित्रसार (चामुण्डराय)
(6) जम्बूद्वीवपण्णत्ति संगह (आचार्य पद्‌मनन्दि)
(7) तत्त्वसार (आचार्य देवसेन)
(8) तिलोयपण्णत्ति (आचार्य यतिवृषभ)
(9) त्रिलोकसार (आचार्य नेमिचन्द्र)
(10) दर्शनप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)
(11) दर्शनसार (आचार्य देवसेन)
(12) द्रव्यसंग्रह (बृहद्) (आ. नेमिचन्द्र)
(13) नयचक्र (लघु) (देवसेनाचार्य)
(14) नयचक्रवृत्ति (नयचक्र पर टीका)
(15) नियमसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(16) पद्मनन्दिपंचविंशतिका (आचार्य पद्मनन्दि)
(17) परमात्मप्रकाश (आचार्य योगीन्दु)
(18) प्रा. पंचसंग्रह
(19) पंचास्तिकाय (आचार्य योगीन्दु)
(20) प्रवचनसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(21) बारस अणुवेक्खा (आ. कुन्दकुन्द)
(22) बोधप्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)
(23) भगवती-आराधना (आचार्य शिवार्य)
(24) भावप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)
(25) भावसंग्रह (आचार्य देवसेन)
(26) मूलाचार (आचार्य वट्टकेर)
(27) मोक्षप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)
(28) योगसार (आचार्य योगीन्दु)
(29) रयणसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(30) वसुनन्दिश्रावकाचार (आचार्य वसुनन्दि)
(31) षट्खण्डागम (आचार्य पुष्पदन्त व आचार्य भूतबली)
(32) समयसार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(33) सूत्रप्राभृत (आ. कुन्दकुन्द)
(34) शीलप्राभृत (आचार्य कुन्दकुन्द)

संस्कृत ग्रन्थ

(1) अकलंक संहिता
(2) अनगारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(3) अमितगति-श्रावकाचार (आ. अमितगति)
(4) अष्टाङ्गहृदय (वाग्भट)
(5) अथर्ववेद
(6) आत्मानुशासन (आचार्य गुणभद्र)
(7) आदिपुराण (आचार्य जिनसेन)
(8) आलापपद्धति (आचार्य देवसेन)
(9) आप्तपरीक्षा (आचार्य समन्तभद्र)
(10) आचार्यभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(11) आचारवृत्ति-टीका
(12) आत्मख्याति-टीका (आचार्य अमृतचन्द्र)
(13) इन्द्रप्रतिष्ठाविधान
(14) इष्टोपदेश (आचार्य पूज्यपाद)
(15) उत्तरपुराण (आचार्य गुणभद्र)
(16) उपासकाध्ययन (सोमदेव सूरि)
(17) कल्याणमन्दिर स्तोत्र (आचार्य कुमुदचन्द्र)
(18) कुरलकाव्य (तिरुवल्लुवर)
(19) क्रियाकोश
(20) क्षत्रचूडामणि (वादीभसिंह सूरि)
(21) गोम्मटसार टीका (संस्कृत)
(22) ज्ञानार्णव (आ. शुभचन्द्र) (शोलापुर संस्क.)
(23) ज्ञानसार (मुनि पद्मसिंह)

(24) चन्द्रप्रभचरित
(25) जैन शिलालेख संग्रह
(26) तत्त्वानुशासन (आचार्य रामसेन)
(27) तत्त्वार्थसूत्र (आचार्य उमास्वामी)
(28) तत्त्वार्थसूत्र भाष्य (स्वोपज्ञ)
(29) तत्त्वार्थराजवार्तिक (आचार्य अकलंक)
(30) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (आ. विद्यानन्दि)
(31) तत्त्वप्रदीपिका टीका (आचार्य अमृतचन्द्र)
(32) तात्पर्यवृत्ति टीका (आचार्य जयसेन)
(33) त्रैवर्णिकाचार
(34) दानशासन
(35) धवला टीका (आचार्य वीरसेन)
(36) धर्मसंग्रहश्रावकाचार
(37) न्यायदीपिका (आचार्य धर्मभूषण)
(38) नीतिशतक (भर्तृहरि)
(39) पद्मपुराण (आचार्य रविषेण)
(40) पञ्चाध्यायी (पं. राजमल्ल)
(41) परमात्मप्रकाश-टीका (ब्रह्मदेवसूरि)
(42) पुण्यास्रवकथा कोश
(43) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (आचार्य अमृतचन्द्र)
(44) प्रतिष्ठापाठ (पं. नाथूरामजी)
(45) प्रतिष्ठाविधि दर्पण
(46) प्रतिष्ठासार (पं. आशाधर)
(47) प्रशमरतिप्रकरण (आचार्य कुमारस्वामी)
(48) प्रश्नोत्तरश्रावकाचार (आचार्य सकलकीर्ति)
(49) प्रश्नोत्तर उपासकाचार
(50) बृ. द्रव्यसंग्रह-टीका (ब्रह्मदेव-वृत्ति)
(51) बृ. स्वयम्भूस्तोत्र (आचार्य समन्तभद्र)
(52) बृ. कथाकोष
(53) बृ. चाणक्यनीति
(54) भक्तामर स्तोत्र (आचार्य मानतुंग)
(55) भद्रबाहुसंहिता/चरित
(56) महाभारत (वेदव्यास)
(57) मनुस्मृति (मनु)
(58) मूलाचार (आचार्य कुन्दकुन्द)
(59) योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र)
(60) योगसारप्राभृत (आचार्य अमितगति)
(61) रिट्ठणेमि चरिउ
(62) रत्नकरण्डश्रावकाचार (आ. समन्तभद्र)
(63) लाटी संहिता (श्रावकाचारसंग्रह में प्रकाशित)
(64) विदुरनीति (वेदव्यास)
(65) विषापहार स्तोत्र (पं. धनञ्जय कवि)
(66) शांति भक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(67) शुक्रनीति (शुक्राचार्य)
(68) शुद्धोपयोग (गणाचार्य विरागसागर)
(69) समाधिभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(70) सर्वार्थसिद्धि (आचार्य पूज्यपाद)
(71) समयसारकलश (आचार्य अमृतचन्द्र)
(72) सम्यग्दर्शन (गणाचार्य विरागसागर)
(73) सागारधर्मामृत (पं. आशाधर)
(74) सिद्धभक्ति (आचार्य पूज्यपाद)
(75) सिद्धिविनिश्चय
(76) सुभाषितरत्नभाण्डागार
(77) सुभाषितसंग्रह
(78) सुभाषितरत्नावली (भट्टारक सकलकीर्ति)
(79) स्याद्वादमंजरी (आचार्य मल्लिषेण)
(80) हरिवंश पुराण (आचार्य जिनसेन)
(81) हितोपदेश (कवि नारायण)
(82) श्रावकधर्म पीयूष
(83) षड्दर्शन समुच्चय (आचार्य हरिभद्र)

रत्नत्रयवर्धिनी टीका में
उद्धृत गाथा, पद्य, सूत्र आदि की अनुक्रमणिका

[उद्धृत गाथा आदि की वर्णक्रमानुरूप संयोजना में टीका-ग्रन्थ के पृष्ठ/गाथा संख्या के अनुक्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है। अत: उद्धरणों का स्वकीय वर्णक्रम बाधित भी हुआ है। इसी तरह, एक ही वर्ण से प्रारम्भ होने वाले उद्धरणों में आदि वर्ण का अनुक्रम ठीक होने पर भी परवर्ती वर्णों के अनुक्रम को गौण कर दिया गया है। यदि कोई उद्धरण कई पृष्ठों में आया है तो पृष्ठानुसार उसकी पुनरावृत्ति भी हुई है। —सम्पा.]

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अध्यात्मयोगरसिकं	2	रयणसार (रत्नत्रय. व.ही.)	4
अयमात्मा स्वयं साक्षात्	13/1	ज्ञानार्णव	19/7
अनेकभवगहनविषय	14/1	पञ्चास्तिकाय	1
अलं तदिति तं भक्त्या	14/1	उत्तरपुराण	74/276
अपहृतसंयमस्य प्रति	16/1	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16
अनाद्यविद्यानुस्यूतां	20/1	सागारधर्मामृत	1/3
अनाद्यविद्यादोषोत्थ	20/1	सागारधर्मामृत	1/2
अणंतत्थगब्भबीज	29/2	कसायपाहुड	1/1, 1, प्रकरण 96 पृ. 126
अरिहंतभासियत्थं	30/2	सूत्रप्राभृत	1
अभूत इति भूतम्	31/2	धवला	13/5, 5, सू. 50
अवगयत्थविवरीय	41/3	धवला	7/2, 1, सू. 44
अहो सति जगत्पूज्ये	44/3	ज्ञानार्णव	1/25
असच्छास्त्रप्रणेतार:	44/3	ज्ञानार्णव	1/26
अधीतैर्वा श्रुतैर्ज्ञातै:	45/3	ज्ञानार्णव	1/28
अश्रेयश्च मिथ्यात्व	45/3	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	34
अलंकरिष्णु रोचिष्णु	50/4	आदिपुराण	9/133
अप्पा-दंसणि जिणवरहं	70/6	परमात्मप्रकाश	1/118

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अन्तरात्मा जीवः	95/9	रयणसार	133
अव्वाबाहं जं सुहं	95/9	भगवती आराधना	2143
अनुग्रहार्थं स्वस्याति	106/10	तत्त्वार्थसूत्र	7/38
अभयाहारभैषज्य	107/10	उपासकाध्ययन	43/771
अनवधृतकाल	118/10	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/19/2
अज्झयणमेव	128/11	रयणसार	90
अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन्	129/11	अनगारधर्मामृत	7/92
अत्रेदानीं निषेधन्ति	141/11	तत्त्वानुशासन	83
अज्ज वि तिरयणसुद्धा	142/11	मोक्षप्राभृत	77
अभिन्नमाद्यमन्यत्तु	147/11	तत्त्वानुशासन	97
अह ढिंकुलिया झाणं	150/11	भावसंग्रह	386
अग्निजलरुधिरदीपे	159/11	धवला	102
अष्टम्यामध्ययनं	161/11	धवला	9/4, 1 सू. 54 पद्य (107)
अतितीव्रदुःखितानां	162/11	धवला	9/4, 1 सू. 54 पद्य (110)
अण्णाणतिमिरहरणं	168/11	धवला	1/1, 1 सू. 1 गा. 51
अज्झयणमेव झाणं	169/11	रयणसार	90
अणवरयं जो संचदि	171/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	15
अत्यल्पे धनजम्बाले	179/12	ज्ञानार्णव	16/28
अनिगूहितवीर्यस्य	183/13	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/24/7
अविरयसम्मादिट्ठी	184/13	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	197
अक्खय-वराडओ वा	187/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	384
अट्ठविहमंगलाणि य	188/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	442
अहवा आगम-णो आगमाइ	190/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	451
अहिसेयफलेण णरो	208/14	वसुनन्दि श्रावकाचार	491
अवाप्यते चक्रधरादि	207/14	अमितगति श्रावकाचार	11/122
अच्छरसयमज्झगया	208/14	वसुनन्दि श्रावकाचार	266
अण्णे उ सुदेवत्तं सुमाणु	208/14, 219/16	वसुनन्दि श्रावकाचार	269
अइबुड्ढ-बाल-मूयंध	214/15	वसुनन्दि श्रावकाचार	235
अपात्राय धनं दत्तं	226/17	अमितगति श्रावकाचार	11/89

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अपात्रदानतः किञ्चित्	226/17	अमितगति श्रावकाचार	11/90
अपात्राय धनं दत्ते यो	226/17	अमितगति श्रावकाचार	11/97
अन्यायोपार्जितं वित्तं	233/18	सागारधर्मामृत	1/11
अकिंचनोऽहमित्या	235/18	आत्मानुशासन	110
अर्थागतो नित्यमरोगिता	239/19	महाभारत	33/92
अवलिप्तेषु मूर्खेषु	241/19	विदुरनीति	39/50
अनुव्रतः पितुः पुत्रः	242/19	अथर्ववेद	3/2
अद्धाणतेण सावय	269/25	भगवती आराधना	308
अनादिनिधनाश्चैते	277/26	आदिपुराण	9/50
अशनं पानकं खाद्यं	280/26	आदिपुराण	9/46
अचिन्त्यं हि तपो	303/28	गोम्मटसार	184
अम्बु निम्बद्रुमे रौद्रं	315/31	हरिवंश पुराण	7/118
अक्ष्णोर्निमीलनं यावत्	325/32	हरिवंश पुराण	4/367
अजगजमहिषतुरंग	327/32	तिलोयपण्णत्ती	2/34
अवितीर्णस्य ग्रहणं	340/34	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	4/102
अन्यायेनान्यवित्तस्य	341/34	उत्तरपुराण	59/178
अन्धादयं महानन्धो	342/34	आत्मानुशासन	35
अनेकरागानुगतो	351/36	अष्टाङ्गहृदय	5/1
अतिश्लक्ष्णखरस्पर्श	355/36	अष्टाङ्गहृदय	14/11
अनिष्टाऽदृष्टपाकेन	360/36	अष्टाङ्गहृदय	28/2
अपक्वं पिटिकामाहुः	360/36	अष्टाङ्गहृदय	28/6
अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः	361/36	अष्टाङ्गहृदय	12/36-40
अक्ष्णोर्निमीलनं यावत्	365/37	हरिवंशपुराण	4/67
अस्मिन् श्रुतज्ञानप्रकरणे	367/37	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	315
अपुण्यमव्रतैः पुण्यं	389/40-41	समाधिशतक	83
अव्रतानि परित्यज्य	389/40-41	समाधिशतक	84
असत्यमपि तत्सत्यं	395/40-41	ज्ञानार्णव	9/3, 6
अनारतं यो निष्करुण	411/44	ज्ञानार्णव	24/5
अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं	438/48	रत्नकरण्डश्रावकाचार	34

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
असुहादो विणिवित्ती	443/49	बृ. द्रव्यसंग्रह	45
अण्णाणमया भावा	449/50	समयसार	129
अण्णाणी पुण रत्तो	450/50	समयसार	229
अन्तर्मुहूर्तकालेन	455/52	अमितगति श्रावकाचार	2/41
अलौकिकमहो वृत्तं	462/53	ज्ञानार्णव	29/38
असत्यकल्पनाजाल	466/54	ज्ञानार्णव	24/14
असत्यसामर्थ्यवशा	467/54	ज्ञानार्णव	24/18
अनुनयानभ्युपगम	472/54	राजवार्तिक	4/22/10
अक्रमकथनेन यत:	481/55	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	19
अत्रेदानीं निषेधन्ति	483/56	तत्त्वानुशासन	83
अज्ज वि तिरयण	484/56	मोक्षप्राभृत	77
अद्धुव असरण भणिया	512/60–60	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	2
अप्रतिपत्तिसम्यग्दर्शनानां	518/62	तत्त्वार्थराजवार्तिक	4/25/3
अष्टगुणपुष्टतुष्टा	519/62	रत्नकरण्डश्रावकाचार	37
अमरासुरनरपतिभिर्यम	519/62	रत्नकरण्डश्रावकाचार	39
अतो मोहरागद्वेषभेदात्	524/63	प्रवचनसार (त.प्र.टी.)	1/84
अट्ठे अजधागहणं करुणा	525/63	प्रवचनसार	1/85
असुहसुहं विय कम्मं	525/63	नयचक्र	299
अच्चेलक्कं लोचो दोसट्ठ	529/64	मूलाचार	910
अजिताक्ष: कषायाग्निं	542/67	ज्ञानार्णव	18/115
अत्थेसु जो ण मुज्झदि	567/72	प्रवचनसार	3/44
अविद्याक्रान्तचित्तेन	573/73	ज्ञानार्णव	33/34
अयत्नेनापि जायन्ते	577/74	ज्ञानार्णव	18/152
अयसाण भायणेण	591/76	भावप्राभृत	69
अक्षरस्यापि चैकस्य	601/77	हरिवंशपुराण	21/156
अभिमतफलसिद्धे	607/78	तत्त्वार्थश्लोक वा.	प्रारम्भ पृ. 2
अण्णाणी पुण रत्तो	609/78	समयसार	219
अत्यन्तरसिकानादौ	616/79, 80	आदिपुराण	36/76
अप्पाणं झायंतो	635/82	समयसार टी.	189

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अप्पाणमयाणंतो	637/83, 896/120	समयसार टी.	202
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्	642/84	समाधिशतक	12
अज्ञापितं न जानन्ति	643/84	समाधिशतक	58
अज्ञानमेव बन्धहेतु:	649/85	समयसार टी.	153
अमूनि हि जीवादीनि	654/86	समयसार	13
अंधो णिवडइ कूवे	670/88	तिलोयपण्णत्ती	4/615
अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य	674/89	ज्ञानार्णव	23/1198
असुहादो विणिवित्ती	683/91	बृहद् द्रव्यसंग्रह	45
अभ्यस्यतान्तरदृशं	689/92	पद्मनंदि पंचविंशति	1/50
अस्तरागो मुनिर्यत्र	696/93	ज्ञानार्णव	23/16
अभवच्चित्तविक्षेप:	697/93	इष्टोपदेश	36
अगच्छंस्तद्विशेषाणा	697/93	इष्टोपदेश	44
अर्थिनो धनमप्राप्य	703/93	आत्मानुशासन	65
अकिञ्चनोहमित्यास्स्व	716/94, 95, 96	आत्मानुशासन	110
अपास्य कल्पनाजालं	717/94-96, 892/119	ज्ञानार्णव	18/32/919
अत: शुद्धनयायत्तं	719/94, 95, 96	समयसारकलश	7
अणुभागपदेसाइं	720/94, 95, 96	तिलोयपण्णत्ति	1/12
अब्भंतर दव्वमलं	720/94, 95, 96	तिलोयपण्णत्ति	1/13
अण्णाणं मिच्छत्तं	727/97	चारित्रप्राभृत	15
अस्ति ज्ञानाविनाभूतो	734/98	पञ्चाध्यायी	2/906
अस्त्युक्तलक्षणो रागश्	734/98	पञ्चाध्यायी	2/907
अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्म:	734/98	पञ्चाध्यायी	2/908
अप्पपसंसणकरणं	740/99	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	92
अप्यनात्मीयभावेषु	742/100	पञ्चाध्यायी	2/1047
अस्मिंस्त्रिभुवने कृत्स्ने	753/101, 102	पद्मपुराण	4/35
अच्चेलकुद्देसियसेज्जा	764/101, 102	मूलाचार	911
अत्थस्स संपओगो	764/101, 102	मूलाचार	1031
अणुबद्धरोसविग्गह	768/103	भगवती आराधना	185
अपरिग्गहा अणिच्छा	779/104	मूलाचार	785

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अप्पपसंसणकरणं	786/105	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	92
अप्पपसंसं परिहरह	786/105	भगवती आराधना	361
अविकत्थंतो अगुणो	787/105	भगवती आराधना	366
अमराण वंदियाणं	794/106	दर्शन-प्राभृत	25
अनवरतमहिंसायां शिव	796/106	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	29
असणं जदि बा पाणं	804/107,108	मूलाचार	822
अक्खोमक्खणमेत्त	807/107-108	मूलाचार	816
अस्पष्टं दृष्टमङ्गं हि	815/109-110	क्षत्रचूडामणि	11/51
असृग्मांसवसापूर्णं	816/105-110	मूलाचार	847
अजिनपटलगूढं पञ्जरं	818/109-110	ज्ञानार्णव	118
अमी प्ररूढवैराग्या:	824/111-112	आत्मानुशासन	116
अस्थिस्थूलतुलाकलाप	827/111-112	आत्मानुशासन	59
असादबंधजोग्गपरिणामो	829/111-112	धवला	6/1, 9-7, सू. 2 पृ. 180
असादअथिरअसुह	829/111-112	धवला	11/4,4,2,6 सू. 51 पृ. 208
असणं जदि वा पाणं	831/113	मूलाचार	822
अन्यदा सुव्रताख्यायै	841/114	उत्तरपुराण	62/498
अङ्गाङ्गबाध्यसद्भाव	852/114	उत्तरपुराण	74/448
अह पुण अप्पा णिच्छदि	898/120	सूत्रप्राभृत	15
अप्पाणं पि ण पेच्छदि	997/139	भावप्राभृत	84
अण्णणिरावेक्खो जो	919/123	नियमसार	28
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	925/124	समयसार	187
अप्पाणं झायंतो दंसण	925/124	समयसार	189
अन्धादयं महानन्धो	952/125	आत्मानुशासन	35
अनाशितं भवानेतान्	958/126-127	आदिपुराण	11/194
अत्यन्तरसिकानादौ	940/126-127	आदिपुराण	36/76
अहमेदं एदमहं हं	944/128, 129, 130	समयसार	20
अण्णाणमोहिदमदी	944/128, 129, 130	समयसार	23
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्	944/128, 129, 130	समाधिशतक	12
अल्पफलबहुविघातात्	956/131-132	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	85

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
अनन्तकाया: सर्वेऽपि	957/131-32	सागारधर्मामृत	17
अविरयसम्मादिट्ठी	964/133	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	197
अंतरबाहिरजप्पे	968/133	नियमसार	150
अपरिग्गहो अणिच्छो	975/135	समयसार	210
अप्पा तिविहु मुणेवि	981/136	परमात्मप्रकाश	1/12
अत्र बहिरात्मा हेय:	981/136	बृ. द्रव्यसंग्रह (टी.)	14
अप्पा णाऊण णरा	990/137	मोक्षप्राभृत	67
अपाकृत्येति बाह्यात्मा	1002/140	ज्ञानार्णव	29/36
अपास्य बहिरात्मान	1003/140	ज्ञानार्णव	29/10
अतीन्द्रियमनिर्देश्य	1003/140	ज्ञानार्णव	99
अवरोधविनिर्मुक्तो	1007/141	ज्ञानार्णव	55
अथ त्रिधा आत्मानं	1007/141	बृ. द्रव्यसंग्रह (टी.)	14
अप्पडिलेहं दुप्पडिलेह	1118/142-145	मूलाचार	417
अपहृतसंयमिनां संयम	1119/142-145	नियमसार (टी.)	64
अथवोपेक्षासंयमापहृत	1119/142-145	परमात्मप्रकाश (टी.)	2 दोहा
अज्झयणे परियट्टे	1026/142-45	मूलाचार	189
अविकारवत्थवेसा	1026/142-45	मूलाचार	190
अस्मादेवार्षात्	1032/14-2-45	धवला	1/1 पृ. 335
अनंतज्ञानादिशुद्धात्म	1050/146	धवला	1/1,1 सू. 1 गा. 33
अर्कालोकेन विना	1075/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	133
अस्ति तत्र कुलाचार:	1074/149	लाटी संहिता	1/45
अणंत णाणदंसण	1050/146	धवला	8/3, सू. 41
अरिहंति णमोक्कारं	1052/147	मूलाचार	505
अरिहंति वंदणणमंसणाणि	1053/147	मूलाचार	564
अत्थि कसाया बलिया	1057/148	आराधनासार	36
अकसायं तु चरित्तं	1057/148	मूलाचार	984
अजिताक्ष: कषायाग्निं	1059/148	ज्ञानार्णव	18/115
अयं मोहवशाज्जन्तु:	1060/148	ज्ञानार्णव	29
असावेव भवोद्भूत	1060/148	ज्ञानार्णव	31

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
अन्यथा दोष एव	1069/149	लाटीसंहिता	2/24
अहिंसाव्रतरक्षार्थं	1071/149	सागारधर्मामृत	4/24
अप्पसरूवालंबण	1080/150	नियमसार	119
अपारसंसारसमुद्र	1096/152-155	अमितगति श्रावकाचार	83
अट्टं झायदि झाणं	157/156-157	लिङ्गप्राभृत	8
अप्पा णियमणि णिम्मलउ	1109/158	परमात्मप्रकाश	1/98
अणउदयादो छण्हं सजाइ	1116/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	309
अखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि	1128/162	समयसार (ता.पृ.)	15
अथ धर्म्यमतिक्रान्त:	1138/163	ज्ञानार्णव	39/3
अतुलसुखनिधानं सर्व	1145/165	ज्ञानार्णव	6/58
अर्घं प्रदेयमिति	844/114	श्रावकधर्मप्रदीप	277 टी.
अर्घ: पूजायोग्यं	844/114	चन्द्रप्रभचरित	8/77-78
आचार्यकुन्दकुन्दै:	2	रयणसार (रत्नत्रय टी.)	5
आराध्यन्ते जिनेन्द्रा	2/1	पद्मनन्दिपंचविंशति	1/13
आदौ दर्शनमुन्नतं	22/1	पद्मनन्दिपंचविंशति	1/14
आद्ये परोक्षम्	38/3	तत्त्वार्थसूत्र	1/11
आगमस्तद्वचोऽशेष	44/3	आदिपुराण	24/126
आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं	46/3	योगसार आ. अमितगति	7/43
आप्तागमपदार्थानां	49/4	आदिपुराण	9/121
आपगासागरस्नान	78/7	रत्नकरण्डश्रावकाचार	22
आहारोसहसत्था	106/10	वसुनंदि श्रावकाचार	234
आहारौषधयोरप्यु	107/10	रत्नकरण्डश्रावकाचार	117
आष्टाह्निको मह:सार्व	110/10	आदिपुराण	38/32
आर्तरौद्रविकल्पेन	135/11	ज्ञानार्णव	23/18
आणाणिद्देसपमाण	136/11	मूलाचार	684
आगम उवदेसाणा	153/11	धवला	13 सू. 5/4/26 गा. 54
आधिव्याधिविपर्या	154/11	उपासकाध्ययन	39/635
आसाढ़े दुपदा छाया	160/11	मूलाचार	272

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
आराहणणिज्जुत्ती	164/11	मूलाचार	279
आयापायविदण्हू	165/11	भगवती आराधना	105
आगमहीणो समणो	166/11	प्रवचनसार	3/33
आगमचक्खू साहू	166/11	प्रवचनसार	3/34
आगमपुव्वा दिट्ठी	166/11	प्रवचनसार	3/35
आहारे य विहारे देसं	182/13	प्रवचसार	3/31
आष्टान्हिको महः सार्व	186/13	आदिपुराण	38/26
आगरसुद्धिं च करेज्ज	189/13	वसुनंदिश्रावकाचार	445
आमपात्रे यथा क्षिप्तं	225/17	आदिपुराण	20/143
आणा संजम साखिल्लदा	269/25	भगवती आराधना	312
आमासयम्मि पक्का	272/25	भगवती आराधना	1006
आशागर्तः प्रतिप्राणि	342/34	आत्मानुशासन	36
आयुः श्रीवपुरादिकं	344/35	आत्मानुशासन	37
आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यम्	370/37	रत्नकरण्डश्रावकाचार	9
आहारनिद्राभय	380/39	हितोपदेश	25
आत्मज्ञानात् परं कार्यं	386/40-41	समाधिशतक	50
आरम्भसङ्गसाहस	407/43	रत्नकरण्डश्रावकाचार	79
आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं	446/49	योगसार	7/43
आलस्य-विज्ञानहानि	473/54	तत्त्वार्थराजवार्तिक	4/22/10
आगम उवदेसाणा	485/56	धवला	13/5 4, सू. 26/54
आराधनाय लोकानां	528/64	योगसार	8/20
आकरः सर्वदोषाणां	580/75	हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र	4/18
आचार्यो ब्रह्मणो	608/78	मनुस्मृति	2/226
आपातमात्ररसिका	616/79-80	आदिपुराण	11/174
आयासमात्रमत्राज्ञः	624/81	आदिपुराण	11/185
आयंबिलणिब्बियणी	632/82	वसुनन्दि श्रावकाचार	351
आत्मविभ्रमजं दुःख	638/83	समाधिशतक	41
आत्मज्ञानात् परं	639/83	समाधिशतक	50
आत्मदेहान्तरज्ञान	646/84	समाधिशतक	34

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
आनन्दो निर्दहत्युद्धं	646/84	इष्टोपदेश	48
आकुलोत्पादकत्वाद्	650/85	समयसार (आत्मख्याति टी.)	72
आहारमिष्टमिह षड्	664/88	हरिवंश पुराण	16/40
आगमहीणो समणो	676/89	प्रवचनसार	3/33
आत्मज्ञानात्परं कार्यं	698/93	समाधिशतक	50
आक्खेवणी कहा सा	701/93	भगवती आराधना	655
आक्खेवणी य संवेगणी	702/93	भगवती आराधना	654
आत्मदेहान्तरज्ञान	703/93	समाधिशतक	34
आदपरसमुद्धारो	708/94-96	भगवती आराधना	110
आयासवेरभयदुक्ख	711/94-96	भगवती आराधना	372
आदसहावादण्णं	746/100	मोक्षप्राभृत	17
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	750/100	इष्टोपदेश	47
आत्मा प्रभावनीय:	754/101-102	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	30
आयरियकुलं मुच्चा	763/101-102	मूलाचार	961
आदपरसमुद्धारो	781/104	भगवती आराधना	110
आदहिदमयाणंतो मुज्झदि	782/104	भगवती आराधना	101
आदहिदं कादव्वं जइ	783/104	भगवती आराधना	156
आदट्ठमेव चिंतेदुमुट्ठिदा	783/104	भगवती आराधना	485
आत्मन्येवात्मधीरन्यां	811/109-110	समाधिशतक	77
आयुधीयैरतिस्निधै:	819/109-110	क्षत्रचूड़ामणि	11/34
आगमो ह्याप्तवचनमाप्त	848/114	धवला	पु. 3, श्लो.10, पृ.12-13
आप्तवाक्यनिबन्धन	848/114	न्यायदीपिका	3/73
आप्तेन हि क्षीणदोषेण	848/114	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/12/7
आज्ञामार्गोपदेशसूत्र	849/114	तत्त्वार्थराजवार्तिक	3/36/2
आज्ञामार्गोपदेशार्थ	849/114	अनगारधर्मामृत	2/6
आज्ञामार्गसमुद्भव	850/114	आत्मानुशासन	11
आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं	850/114	आत्मानुशासन	12
आकर्ण्याचारसूत्रं	850/114	आत्मानुशासन	13
आज्ञामार्गोपदेशोत्थं	851/114	उत्तरपुराण	74/439

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
आगमचक्खू साहू	853/114	प्रवचनसार	3/34
आगमपुव्वा दिट्ठी	854/114	प्रवचनसार	3/36
आत्मविभ्रमजं दु:खम्	867/116	समाधिशतक	41
आत्मज्ञानात् परं कार्यं	870/116	समाधिशतक	50
आत्मध्यानरतिर्ज्ञेयं	899/120	भावप्राभृत	86
आयु:श्रीवपुरादिकं	910/122	आत्मानुशासन	37
आगमहीणो समणो	916/123	प्रवचनसार	3/33
आशागर्त: प्रतिप्राणि	932/125	आत्मानुशासन	36
आरम्भे तापकान्प्राप्तान्	937/126-127	इष्टोपदेश	17
आपातरमणीयानि	939/126-127	पद्मपुराण	29/77
आसि मम पुव्वमेदं	944/128-130	समयसार	21
आनन्दामृतनित्यभोजि	954/131-132	समयसार कलश	163
आमगोरससंपृक्तं	957/131-132	सागारधर्मामृत	5/18
आमेन पक्वेन च	957/131-132	त्रिवर्णाचार	अ. 6
आदसहावे सुरदो	968/133	मोक्षप्राभृत	12
आवासं जइ इच्छसि	968/133	नियमसार	147
आवासएण जुत्तो	968/133	नियमसार	149
आरुहवि अंतरप्पा	982/136	मोक्षप्राभृत	7
आपातरमणीयानि	1058/148	पद्मपुराण	29/77
आज्ञा सर्वविद:	1075/149	लाटी सहिता	1/49
आत्मायत्तं विषयविरतं	1080/150	ज्ञानार्णव	5/28
आगमहीणो समणो	1128/162	प्रवचनसार	3/33
आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य	1130/162	इष्टोपदेश	47
आत्मज्ञानात् परं कार्यं	1131/162	समाधिशतक	50
आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा	1131/162	समाधिशतक	79
इह परलोयत्ताणं	57/5	मूलाचार	53
इदमत्यन्तनिर्वेद	64/6	ज्ञानार्णव	38/13
इत्तिरियं जावजीवं	117/10	मूलाचार	347

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
इच्छुरस-सप्पि-दहि	190/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	454
इत्थं चिन्तयतां तेषां	206/14	अमितगति श्रावकाचार	11/109
इति सप्तगुणोपेतो दाता	281/26	आदिपुराण	20/85
इत्यपारमिदं दु:खं	331/32	आदिपुराण	10/84
इत्यनुध्यायतां तेषां	332/32	आदिपुराण	10/85
इट्ठत्थसमागमो	338/34	धवला	13/5, 5 सू. 63
इंदियकसायदोस	417/45	भगवती आराधना	1338
इंदियकसायगुरुगत्तणेण	434/47	भगवती आराधना	1301
इत्थिकहा अत्थकहा	502/58-59	मूलाचार	858
इह परलोयसुहाणं	534/65	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	400
इदमक्षकुलं धत्ते	543/67	ज्ञानार्णव	117
इति भूयोऽपि तेनैव	669/88	आदिपुराण	11/210
इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च	670/90	तत्त्वानुशासन	76
इतरेषु च संयम-ज्ञान	757/101-102	मूलाचार	9
इत्थीसंसग्गी पणिद	764/101-102	मूलाचार	1030
इंदियकसायवसिया	770/103	भगवती आराधना	1308
इत्यादिविक्रियाकर्म	774/103	ज्ञानार्णव	4/53
इय जाणिऊण जोई	780/104	मोक्षप्राभृत	32
इह लोगणिरावेक्खो	780/104	प्रवचनसार	3/26
इह परलोगसुहाणं	913/123	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	400
इतीदं भावयेन्नित्यम्	984/136	समाधिशतक	99
इय मिच्छत्तवासे कुणय	990/137	भावप्राभृत	140
इय जाणिऊण जोई	1013/142-145	मोक्षप्राभृत	32
इत्थीसु ण पव्वया	1024/142-5	सूत्रपाहुड	23
इति श्रुत्वार्यिका	1042/142-5	हरिवंश पुराण	64/132
इदमक्षकुलं धत्ते	1059/148	ज्ञानार्णव	18/117
इतीदं भावयेन्नित्यम्	1132/162	समाधिशतक	99
ईसरबंभाविण्हू अज्जा	77/7	मूलाचार	260

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
उपात्तानुपात्त	38/3	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/11/6
उत्तमाङ्गमिवाङ्गेषु	50/4	आदिपुराण	9/139
उत्तमगुणगहणरओ	68/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	315
उववासं कुव्वंतो आरंभं	119/10	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	378
उत्तमसंहननस्य एकाग्र	140/11	तत्त्वार्थसूत्र	9/27
उच्चारिऊण णामं	187/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	382
उत्पद्योत्पादशय्यायां	205/14	अमितगति श्रावकाचार	103
उत्तमपत्तं भणिदं	214/15	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	20
उदधी व रदणभणिदे	253/21	शीलप्राभृत	28
उत्तमगुणाण धामं	391/40-41	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	204
उपदेशो हि मूर्खाणां	406/43	हितोपदेश	विग्रह/4
उत्तं कालविजुत्तं णादव्वा	510/60-61	बृहद्द्रव्य संग्रह	23
उवसमदयादमा	539/66	भगवती आराधना	1830
उपास्या गुरवो	602/77	सागारधर्मामृत	11/45
उत्साहान्निश्चयाद्	686/91	ज्ञानार्णव	20/1/1071
उज्जोयणमुज्जवणं	699/93	भगवती आराधना	2
उग्गम उत्पाद एसणा	709/94-96	भगवती आराधना	232
उवयरणं जिणमग्गे	759/101-102	प्रवचनसार	3/25
उद्धर्तुं धरिणीं शक्ता:	819/109-110	पद्मपुराण	5/273
उपायकोटिदूरक्षे स्वतस्तत	822/111-112	आत्मानुशासन	69
उवसमखमदमजुत्ता	861/115	बोधप्राभृत	51
उपास्यात्मानमेवात्मा	868/116	समाधिशतक	98
उत्तरोत्तरभेदैश्च	921/124	पञ्चाध्यायी	2/1000
उदयविवागो विविहो	924/124	समयसार	198
उभयोर्युगपत्-प्रवृत्ते:	975/135	राजवार्तिक	1/1/30
उवभोगमिंदिएहिं दव्वा	978/135	समयसार	193
उपास्यात्मानमेवात्मा	984/136	समाधिशतक	98
उवयोगो जदि हि सुहो	993/138	प्रवचनसार	2/64
उपास्यात्मानमेवात्मा	1004/140	समाधिशतक	98

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
उपकरणादिकं व्यवस्थाप्य	1019/142-145	मूलाचार (आ.वृ.टी.)	416-417
उत्तममज्झिमगेहे	1021/142-145	बोधप्राभृत	47
उवसमखमदमजुत्ता	1021/142-145	बोधप्राभृत	51
उवसग्गपरिसहसहा	1022/142-145	बोधप्राभृत	55
उग्गतवतवियगत्तो	1051/146	भावसंग्रह	379
उक्तेषु वक्ष्यमाणेसु	1076/149	लाठीसंहिता	1/50
उवसप्पिणि-अवसप्पिणि	1087/152-155	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	69
उदयति न नयश्रीरस्तमेति	1129/162	समयसार कलश	9
उपास्यात्मानमेवात्मा	1132/162	समाधिशतक	98
उदयमागदाणमइदहर	1139/164	धवला	6/2 1 सू. 63, पृ. 108
ऊसरखेते बीयं सुक्खे	225/17	भावसंग्रह	532
ऊसरक्षेत्रनिक्षिप्त	314/31	हरिवंशपुराण	7/117
ऊर्ध्वार्काद्ययनैः	632/82	अनगारधर्मामृत	7/32
ऋते भवमथार्तं स्यात्	469/54, 971/134	ज्ञानार्णव	23/21
एवं जिणपण्णत्तं दंसण	35/2, 52/4	दर्शनप्राभृत	21
एवं जो णिच्छयदो	67/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	323
एतावता विनाप्येष	88/8	पञ्चाध्यायी	2/725
एया वि सा समत्था	92/8	भगवती आराधना	745
एतेषु विधयः कार्या	121/10	हरिवंशपुराण	34/130
एकाग्रचिन्तानिरोधो	132/11	तत्त्वार्थसूत्र	9/27
एयग्गगदो समणो एयग्गं	166/11	प्रवचनसार	3/32
एनः केन धनप्रसक्त	180/12	ज्ञानार्णव	16/40
एसा छव्विहा पूजा	185/13	वसुनन्दि-श्रावकाचार	478
एवं चलपडिमाए ठवणा	188/13	वसुनन्दि-श्रावकाचार	443
एवं चिरंतणाणं वि	189/13	वसुनन्दि-श्रावकाचार	446
एया वि सा समत्था	202/14	भगवती आराधना	745
एवं जो जाणित्ता विहलिय	213/15	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	20

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
एवं विहिणा जुत्तं देयं	225/17	भावसंग्रह	529
एते सत्पुरुषाः परार्थ	276/26	नीतिशतक	75
एगो मे सस्सदो अप्पा	394/40-41	नियमसार	102
एते सत्पुरुषाः परार्थ	410/44	नीतिशतक	75
एवं जिणपण्णत्तं दंसण	425/46	दर्शनप्राभृत	21
एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं	448/50, 924/124	समयसार	200
एतद् विनापि यत्नेन	471/54	ज्ञानार्णव	23/39
एते धर्मादयः पञ्च	509/60-61	तत्त्वार्थसार	3/3
एदे कालागासा धम्मा	509/60-61	पञ्चास्तिकाय	102
एवं छब्भेयमिदं जीवा	509/60-61	बृहद् द्रव्यसंग्रह	23
एदे छद्दव्वाणि य कालं	510/60-61	नियमसार	34
एक्कं जिणस्स रूवं	530/64	दर्शनप्राभृत	18
एनः केन धनप्रसक्त	573/73	ज्ञानार्णव	16/40
एक एव मनोरोधः	578/74	ज्ञानार्णव	20/11
एवं हि जीवराया	596/77	समयसार	18
एवमेव विना राज्ञा	613/79-80	महाभारत	68/13
एकोऽहं निर्ममः शुद्धः	650/85, 976/135	इष्टोपदेश	27
एकः शतं योधयति	658/87	मनुस्मृति	7/74
एवं कसायजुद्धंमि	672/89	भगवती आराधना	1886
एयग्गगदो समणो	676/89	प्रवचनसार	3/32
एवं जिणेहि कहियं	682/91	मोक्षप्राभृत	85
एवं णाणी सुद्धो ण	732/98	समयसार	279
एक्कं चयदि सरीरं	737/99	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	32
एवं जं संसरणं णाणा	736/99	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	33
एवं सुट्टु असारे	737/99	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	62
एवं अणाइकाले पंच	737/99, 1087/152-155, 1111/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	72
एदाहि भावणाहिं य	769/103	भगवती आराधना	187
एएहिं य संबंधो	810/109-110	समयसार	57

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
एयग्गगदो समणो	854/114	प्रवचनसार	3/32
एवं सुद्दु असारे संसारे	865/116	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	62
एवं अणाइकाले पंच	865/116, 1111/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	72
एयरसरूवगंधं दो	919/123	नियमसार	27
एयन्तु असंभूदं आद	944/128-130	समयसार	22
एवं जाणइ णाणी	945/128-130	समयसार	185
एक्कं खलु तं भत्तं	954/131-132	प्रवचनसार	3/29
एवं पराणि दव्वाणि	987/137	समयसार	96
एकदेशेन निरावरणत्वेन	993/138	बृ. द्रव्यसंग्रह (टी.)	34
एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता	1023/142-145	बोधप्राभृत	58
एवं जिणपण्णत्तं दंसण	1054/147	दर्शनप्राभृत	21
एकबिन्दूद्भवा जीवाः	1067/149	व्रतविधानसंग्रह	31
एतदुक्तं भवति ज्ञानमेव	1078/150	सर्वार्थसिद्धि	9/27
ओजस्तेजोविद्यावीर्य	519/62	रत्नकरण्डश्रावकाचार	36
कम्मकलङ्कविमुक्को	12/1	मोक्षप्राभृत	5
कनकं हीरकं नीलं	47/4	अज्ञातकर्तृक	
कलहं वादं जूया णिच्चं	134/11	लिङ्गप्राभृत	6
कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैः	142/11	परमात्मप्रकाश टीका	2/144
कहियाणि दिट्ठिवाए	149/11	भावसंग्रह	383
कलहादि धूमकेदू	161/11	मूलाचार	275
कषायवेदनीयस्य	177/12	तत्त्वार्थराजवार्तिक	2/6/2
कर्म बध्नाति यज्जीवो	180/12	ज्ञानार्णव	16/31
कललगदं दसरत्तं अच्छदि	271/25	भगवती आराधना	1001
कक्खकवच्छुरीदो	327/32	तिलोयपण्णत्ती	2/35
कष्टं यैरेव जीवोऽयं	350/35	पद्मपुराण	5/229
कलहं वादं वा णिच्चं	414/44	लिङ्गप्राभृत	6
कलुसीकदंपि उदगं अच्छं	403/42	भगवती आराधना	1067

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
करीन्द्रभारनिर्भुग्	478/55	आदिपुराण	41/66
कषायैरिन्द्रियैर्दुष्टैः	490/56	परमात्मप्रकाश टीका	2/144
कहियाणि दिट्ठिवाए	491/56	भावसंग्रह	383
कज्जं पडि जह पुरिसो	526/63	नयचक्र	310
कषायवैरिव्रजनिर्जयं	543/67	ज्ञानार्णव	18/118
कषायदहनोद्दीप्तं	543/67	ज्ञानार्णव	2/122
कसायसंजुत्ता विसया	557/70	रयणसार	100
कक्खकवच्छुरीदो	327/32	तिलोयपण्णत्ति	2/35
क्लेदेन यत्स्पृशत्यङ्गं	358/36	अष्टाङ्गहृदय	37/58
कारावगिंदपडिमा पइट्ठ	188/13	वसुनन्दिश्रावकाचार	386
काऊणाणंतचउट्ठयाइ	191/13	वसुनन्दिश्रावकाचार	456
कामोद्दीपनसाधर्म्यात्	278/26	आदिपुराण	9/38
कामं गिलन्धवलदीधिति	340/34	आत्मानुशासन	222
कालत्रये बहिरवस्थिति	430/47	पद्मनंदिपंचविंशति	1/67
कासश्वासारुचियुतं	362/36	अष्टाङ्गहृदय	12/39
कालेनोपेक्षितं यस्मात्	355/36	अष्टाङ्गहृदय	14/4
कासश्वासभगन्दरो	470/54	ज्ञानार्णव	23/30
किं लोके लोष्ट	47/4	क्षत्रचूडामणि	2/50
किमट्ठं एसो कीरदे ?	118/10	धवला	13/5, 4 सू. 26
किं जं सो गिहवंतो	149/11	भावसंग्रह	384
किं जंविएण बहुणा	204/14	वसुनंदिश्रावकाचार	492
किमिदं दृश्यते स्थानं	205/14	अमितगति श्रावकाचार	107
किमकारि मया पुण्यं	206/14	आदिपुराण	20/141
किमत्र बहुनोक्तेन	332/32	आदिपुराण	10/83
कुसुमेहिं कुसेसयवयणु	203/14	वसुनंदि श्रावकाचार	485
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च	224/17	आदिपुराण	20/141
कुमानुषत्वमाप्नोति	224/17	आदिपुराण	20/142
कुच्छियपत्ते किंचिवि	226/17	भावसंग्रह	533
कुशलः सर्वविद्यासु	318/31	शुक्रनीति	3/253

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
कुष्ठानि सप्तधा दोषैः	353/36	अष्टाङ्गहृदय	14/6
कुसुममगंधमवि जहा	402/42	भगवती आराधना	353
कुर्वन्ति यतयोऽप्यत्र	412/44	ज्ञानार्णव	18/44
कृष्णचतुर्दश्यां	162/11	धवला	9/4, 1, सू. 54 (108)
केवलज्ञानतो ज्ञानं	193/13	अमितगतिश्रावकाचार	11/25
केचिद् भव्याः संख्येयेन	396/40-41	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/3/9
कोडिल्लमासुरक्खा	78/7	मूलाचार	257
क्रोधादिपरिणामः	177/12	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/4/2
कोप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि	312/30	पद्मनंदिपंचविंशति	1/189
कोहं खमाए माणं	539/66	भगवती आराधना	262
कलहं वादं जूवा णिच्चं	645/84, 761/101-102, 826/111-112	लिङ्गप्राभृत	6
कन्दर्पदर्पदलनो	709/94-96	चारित्रसार	4
कम्मणिमित्तं जीवो	737/99, 813/109-110	बारस-अणुवेक्खा	37
कम्मासवेण जीवो बूडदि	738/99	बारस-अणुवेक्खा	57
करोतु न चिरं घोरं	748/100	आत्मानुशासन	212
कथयतु महिमानं	756/101-102	लिङ्गप्राभृत	6
कलेवरमिदं न स्याद्यदि	817/109-110	ज्ञानार्णव	2/112
कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृग	818/109-110	ज्ञानार्णव	2/117
कर्मार्पितं क्रमगतिः	820/109-110	यशस्तिलक	2/115
कषायविपाकोद्रेक	829/111-112	समयसार (आ.ख्या.टी.)	53-54
कंडणी पीसणी चुल्ली	832/113	मूलाचार	928
कल्लाणपरंपरया	846/114,1053/147	दर्शनप्राभृत	33
कर्त्तव्योऽध्यवसायः	854/114	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	35
कम्मत्तणपाओग्गा	915/123	प्रवचनसार	2/77
कम्मत्तणेण एक्कं	922/124	गोम्मटसार, कर्म-काण्ड	6
कंदप्पाइय वट्टइ	769/103	लिङ्गप्राभृत	12
कंदं मूलं बीयं पुप्फं	958/131-132	भावप्राभृत	103
कम्मं ण खवेदि जो	997/139	समयसार	83

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
कडुगम्मि अणिव्वलिदम्मि	1061/148	भगवती आराधना	295
कायव्वमकायव्वयत्ति	684/91	भगवती आराधना	9
काले पूर्वाह्णके	1076/149	लाटी संहिता	5/234
किच्चा परस्स णिंदं	788/105	भगवती आराधना	373
किमट्ठमेसो कीरदे	630/82	धवला	13/5, 4 सू. 26 पृ. 58
क्लिष्टोऽसौ मुहुरार्तः	668/88	आदिपुराण	11/209
किं मज्झ णिरुच्छाहा	763/101-102	भगवती आराधना	1952
किमर्थं सर्वकालं	781/104	धवला	13/5, सू. 50
किं जाणिदूण सयलं	988/137	मोक्षप्राभृत	120
किह ते ण कित्त	1053/147	मूलाचार	565
कुलगामणयररज्जं	966/133	भगवती आराधना	295
कुन्ती च द्रौपदी	1040/142-145	हरिवंश पुराण	64/144
कृत्वा धर्मविघातं	660/87	आत्मानुशासन	24
कृमिकुलचितं लाला	793/106	नीतिशतक	9
कृमिजालशताकीर्ण	816/109-110	ज्ञानार्णव	2/109
कृत्वा परमकारुण्य	1033/142-145	पद्मपुराण	113/39
कोहमदमायलोहेहि	777/104, 1046/142-145	मूलाचार	1001
कोमारतणुतिगिंछा	772/103	मूलाचार	452
कोधो माणो माया लोभो	777/104, 1057/148	मूलाचार	637
को संकिलेसो णाम	828/111-112	कषायप्राभृत	4/3-22 सू. 30
केवलावगमालोकिता	852/114	उत्तरपुराण	74/449
केचित्तु स्वकरविकीर्ण	1124/161	समयसार (आत्मख्याति)	11
क्षायोपशमिकं भावं	144/11	आदिपुराण	21/157
क्षारोष्णतीव्रसद्भाव	325/32	हरिवंशपुराण	4/366
क्षितिगतमिव वटबीजं	223/17	रत्नकरण्डश्रावकाचार	116
क्षीणे रागादिसन्ताने	137/11	ज्ञानार्णव	3/31
क्षेत्रं संशोध्य पुनः	163/11	धवला	9/4, 1 सू. 54 पद्य 103
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं	582/75	दर्शनप्राभृत	14

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
क्षायोपशमिकं ज्ञानं	733/98	पंचाध्यायी	2/903
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्याः	696/93	समाधिशतक	25
क्षीणे रागादिसन्ताने	730/98	ज्ञानार्णव	3/31/277
क्षुद्रध्यानपरप्रपंच	774/103	ज्ञानार्णव	37/10
क्षुत्पिपासाशीतोष्ण	713/94-96	तत्त्वार्थसूत्र	9/9
क्षुदादयो वेदनाविशेषा	801/107-108	सर्वार्थसिद्धि	9/9
खेत्तविसेसे काले ववविद	326/32	रयणसार	17
खेत्तजणिदं असादं	403/42	त्रिलोकसार	197
खोभेदि पत्थरो जह	210/15	भगवती आराधना	1066
खणमित्ते विसयसुहे	670/88	तिलोयपण्णत्ति	4/614
खपुष्पमथवा शृङ्ग		ज्ञानार्णव	4/17
खवगो य खीणमोहो	1114/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	308
खयउवसमिय विसोही	1139/164	धवला	6/1, सू.9-8 गा. 1 पृ.205
खेत्त वत्थु धण	873/117-118	मूलाचार	408
गब्भावयार-जम्माहिसेय	190/13	वसुनंदि-श्रावकाचार	53
गब्भावयारकाले	236/18	जम्बूद्दीवपण्णत्ति	13/93
ग्रासस्तदर्धमपि	234/18	पद्मनंदि-पंचविशंति	2/32
गिण्हदि अदत्तदाणं	415/44	लिङ्गप्राभृत	14
गुणगणविभूसियंगो	130/4	मोक्षप्राभृत	102
गुणपरिणामो सड्ढा	269/25	भगवती आराधना	311
गुणस्तोकं समुल्लंघ्य	436/47	बृ. स्वयम्भूस्तोत्र	86
गुणाधिकतया मन्ये	458/52	ज्ञानार्णव	18/113
गृहस्यो मोक्षमार्गस्थो	265/24	रत्नकरण्डश्रावकाचार	33
गृहाङ्गासौधमुत्तुङ्गं	279/26	आदिपुराण	9/44
गंथ अणियत्ततण्हा	756/101-102	भगवती आराधना	1948
गहिऊण य सम्मत्तं	824/111-112	मोक्षप्राभृत	83
गयणमिव णिरुवलेवा	863/115	आचार्यभक्ति	6

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
गाढा हि स्वामिभक्ति:	596/77	क्षत्रचूडामणि	1/45
गिहगंथमोहमुक्का	747/100, 1020/142-145	बोधप्राभृत	44
गिण्हदि अदत्तादाणं	759/101-102	लिङ्गप्राभृत	14
गुरुभक्तो भवाद्	599/77	क्षत्रचूडामणि	2/31
गुरुभक्ति: सती	599/77	क्षत्रचूडामणि	2/32
गुरुद्रुहां गुण:को	600/77	क्षत्रचूडामणि	2/33
गुरुद्रोही न हि क्वापि	600/77	क्षत्रचूडामणि	2/34
गुरूणां यदि संसर्गो	605/78	आदिपुराण	9/173
गुरुशुश्रूषया त्वेवं	608/78	मनुस्मृति	2/233
गुणनैतेन शिष्टानां	615/79-80	आदिपुराण	42/202
गुरोरेव प्रसादेन	619/79-80	पद्मनंदि-पंचविंशति	6/18
गुणगणमणिमालाए	761/101-02, 860/115	भावप्राभृत	159
गुणगणविहूसियंगो	862/115	मोक्ष-प्राभृत	102
गुरुभक्तो भवाद् भीतो	1103/156-157	सुभाषित संग्रह	420
गुरूपदेशादभ्यासात्	1130/162	इष्टोपदेश	33
गूथकृमेर्यथा गूथरस	665/88	आदिपुराण	11/183
गेहं गुहा: परिदधासि	827/111-112	आत्मानुशासन	151
घरवावारा केई करणीया	149/11, 492/56	भावसंग्रह	385
घंटाहिं घंट सद्दाउ	203/14	वसुनन्दि श्रावकाचार	489
घोडगलिं समाणस्स	691/82	भगवती आराधना	1341
चइऊण अट्टरुद्दे मण	15/1	वसुनंदि श्रावकाचार	229
चतुराहारविसर्जन	115/10	रत्नकरण्डश्रावकाचार	109
चन्द्रोदयोऽन्वयाम्भोधे:	316/31	उत्तरपुराण	10/41
चरणज्ञानयोर्बीजं	424/46	ज्ञानार्णव	6/53
चंडो चवलो मंदो तह	378/42	मूलाचार	957
चंडो ण मुयदि वेरं	472/54	गोम्मटसार (जी.का.)	509
चारित्तं खलु धम्मो	392/40-41	प्रवचनसार	1/7

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
चाओ य होइ दुविहो	400/42	मूलाचार	1008
चित्तपडिलेव पडिमाए	188/13	वसुनंदिश्रावकाचार	444
चीनपट्टदुकूलानि	280/26	आदिपुराण	9/48
चैत्यचैत्यालयादीनां	110/10, 185/13	आदिपुराण	38/28
चोदयन्त्यसुराश्चैनान्	330/32	आदिपुराण	10/41
चौर्योपदेशबाहुल्यं	467/54	ज्ञानार्णव	24/22
चरिएहिं कत्थमाणो	788/105	भगवती आराधना	370
चक्रवर्त्यादिदिव्या	1094/153-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/79
चदुगदिभव्वो सण्णी	1114/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	307
चतुर्विधधर्मध्यानं	1135/163	नयचक्र (चू.)	338
चशब्दः पूर्वध्यान	1135/163	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/37/2
चारित्तसमारूढो	651/85	चारित्रप्राभृत	43
चारित्तं परिहारो	683/91	मोक्षप्राभृत	38
चारित्रमोहविशेषोदयात्	730/98	राजवार्तिक	2/6/2
चादुव्वण्णे संघे च दुगादि	795/106	मूलाचार	263
चारित्रसमारूढो अप्पासु	862/115	चारित्रप्राभृत	43
चिरं सुषुप्तास्तमसि	946/128-130	समाधिशतक	56
जदि सक्कदि कादुं	36/2	नियमसार	154
जदि पढदि बहुसुदाणि	46/3	मोक्षप्राभृत	100
जयति सुखनिधानं	52/4	पद्मनन्दिपंचविंशति	1/77
जलपानं निषिद्धं स्यात्	120/10	लाटी संहिता	5/200
जम्भाजृम्भाक्षुतोद्	152/11	हरिवंश पुराण	37
जह वा घणसंघाया	155/11	धवला	13/5, 4 सू. 26
जह-जह सुदमोग्गाहदि	165/11	भगवती आराधना	107
जह लोहणासणट्ठं	174/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	341
जह इंधणेहिं अग्गी	179/12	भगवती आराधना	1907
जह पत्थरो पडंतो	179/12	भगवती आराधना	1908
जदि सक्कदि कादुं	183/13	नियमसार	154

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जस्स ण तवो ण	225/17	भावसंग्रह	231
जलधाराणिक्खेवेण	202/14	वसुनंदि श्रावकाचार	483
जन्मोच्चैः कुल एव	238/19	पद्मनंदिपंचविंशति	1/184
जइ देवा वि य रक्खदि	303/28	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	25
जह ऊसरम्मि खित्ते	314/31	वसुनंदि श्रावकाचार	242
जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो	401/42	समाधिशतक	72
जहदि य णिययं दोसं	402/42	भगवती आराधना	352
जह मूलम्मि विणट्ठे	422/46	दर्शनप्राभृत	10
जह मूलाओ खंधो	422/46	दर्शनप्राभृत	11
जयति सुखनिधानं मोक्ष	423/46	पद्मनंदि-पंचविंशति	1/77
जह मज्जं पिवमाणो	463/53	समयसार	196
जम्भाजृम्भाक्षुतोद्	487/56	हरिवंश पुराण	56/37
जह वा घणसंघाया	488/56	धवला	13/5, 4 सू. 26
जं सक्कइ तं कीरइ	36/2, 184/13	दर्शनप्राभृत	22
जं च कामसुहं लोए	96/9	मूलाचार	1144
जं किंचि वि चिंतंतो	148/11, 489/56	बृहद् द्रव्यसंग्रह	55
जं अण्णाणी कम्मं	158/11	भगवती आराधना	107
जं रयणत्तयरहियं	254/18	भावसंग्रह	530
जं किंपि वि अप्पाणं	394/40-41	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	4
जं सवणं सत्थाणं	414/44	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	348
जं पुणु वि णिरालंबं	491/56	भावसंग्रह	381
जाणइ सयलु विणिच्चु	95/9	परमात्मप्रकाश	1/18
जायइ अक्खयणिहि	202/14	वसुनंदिश्रावकाचार	484
जायइ णिविज्जदाणेण	203/14	वसुनंदिश्रावकाचार	486
जायइ कुपत्तदाणेण	207/14	वसुनंदिश्रावकाचार	248
जा मज्झिमम्मि पत्तम्मि	216/16	वसुनंदिश्रावकाचार	246
जातिर्यातु रसातलं	334/33	नीतिशतक	39
जाणंतस्सादहिदं अहिद	387/40-41	भगवती आराधना	22
जाणहि भावं पढमं	431/47	भावप्राभृत	6

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जाव ण गंथं छंडइ	493/56	आराधनासार	32
जियकोहमाणमाया	14/1	मूलाचार	563
जिणसत्थादो अट्ठे	36/2	प्रवचनसार	1/86
जिणवरचरणंबुरुहं	91/8	भावप्राभृत	152
जिनानिव यजन् सिद्धान्	101/9	सागारधर्मामृत	2/42
जिणसाहुगुणक्कित्तण	153/11	धवला	13, सू. 5/426 गा. 55
जियमोहिंधणजलणो	167/11	धवला	1/1, 1 सू. 1 गा. 50
जिणवयणमोसहमिणं	168/11	दर्शनप्राभृत	17
जिणजम्मणणिक्खमणे	190/13	वसुनंदिश्रावकाचार	452
जिनवचनस्य असत्यत्व	221/16	धवला	5/5, 13 पृ. 389
जिनबिम्बं जिनागारो	234/18	अज्ञात	
जिनस्याग्रे धृतं येन	339/34	सुभाषितरत्नावली	
जिणवयणमोसह	584/75	दर्शनप्राभृत	17
जीवो बंभा जीवम्मि	113/10	भगवती आराधना	872
जीवदया दम सच्चं	253/21	शीलप्राभृत	19
जीवाजीवविचित्रवस्तु	310/30	पद्मनंदिपंचविंशति	1/147
जीवितात्तु पराधीनाद्	345/35	क्षत्रचूडामणि	40/1
जीवोऽन्य: पुद्गलश्चान्य:	390/40-41	इष्टोपदेश	50
जीवाजीवविहत्ती जोई	390/40-41	मोक्षप्राभृत	41
जीवो परिणमदि जदा	508/60-61	प्रवचनसार	1/9
जीवो पोग्गल दव्वा	508/60-61	नियमसार	9
जीवाजीव तहासवबंधो	511/60-61	वृहन्नयचक्र	149
जीवोऽजीवास्रवौ बंध:	511/60-61	तत्त्वार्थसार	1/6
जीवाई सत्ततच्चं पण्णत्तं	511/60-61	बृहन्नयचक्र	159
जीवाजीवो भावो पुण्णं	512/60-61	पंचास्तिकाय	108
जीवाजीवविभत्ती	568/72	चारित्रप्राभृत	39
जृम्भाऽङ्गमर्दनिष्ठीव	352/36	अष्टाङ्गहृदय	5/16
जे णिय-दंसण अहि	299/27	परमात्मप्रकाश	2/59
जो ण विजाणदि तच्चं	34/2	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	324

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जो ण कुणदि परतत्तिं	66/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	424
जो ण य कुव्वदि गव्वं	66/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	313
जो भणइ को वि एवं	149/11	भावसंग्रह	382
जो मुणिभुत्तवसेसं	170/12	रयणसार	22
जो पुण लच्छिं संचदि	170/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	13
जो पुण परदव्वरओ	172/12	मोक्षप्राभृत	15
जो चयदि मिट्ठभोज्जं	173/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	401
जो लोहं णिहणित्ता	174/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	339
जो परिमाणं कुव्वदि	174/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	340
जो वड्ढमाणलच्छिं	213/15	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	19
जो पुण जहण्णपत्तम्मि	216/16	वसुनंदिश्रावकाचार	247
जो उवयरदि जदीणं	263/25	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	459
जोणिपाहुडे भणिदमंत	303/28	धवला	13/5 सू. 82
जो जाणदि पच्चक्खं	368/37	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	302
जो जारिसीय मेत्ती	401/42	भगवती आराधना	345
जो ण वि जाणदि	446/49	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	466
जो रायसंगजुत्ता जिण	530/64	भावप्राभृत	72
जो अहिलसेदि पुण्णं	534/65	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	411
जो सग्गसुहणिमित्तं	536/66	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	416
जो भणइ कोवि एवं	491/56	भावसंग्रह	382
जह णाम को वि पुरिसो	626/81	समयसार	35
जह णाम को वि	596/77	समयसार	17
जदि पढदि बहुसुदाणि	639/83	मोक्षप्राभृत	100
जन्म प्राप्य नरेषु	661/87	पद्मनंदि पंचविंशति	1/169
जलबुब्बुदसक्कधणु	722/97	बारस अणुवेक्खा	5
जह फलिहमणो सुद्धो	732/98	समयसार	278
जइ जिणमयं पवज्जह	754/101-102	समयसार (आत्मख्याति)	12
जत्थ कसायुप्पत्ति	778/104	मूलाचार	951
जस्स परिग्गह गहणं	779/104, 1046/142-45	सूत्रप्राभृत	19

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जह पउमराय रयणं	810/109-110	पंचास्तिकाय	33
जह वोसरित्तु कत्तिं विसं	832/113	मूलाचार	927
जदि पढदि बहुसुदाणि	898/120	मोक्षप्राभृत	100
जइ णिम्मलु अप्पा	903/121	योगसार	37
जइया इमेण जीवेण	923/124	समयसार	71
जह जीवो कुणइ रइं	936/126	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	427
जह गहिदवेयणो वि	953/131-132	भगवती आराधना	1470
जम्हा दु अत्तभावं पुग्गल	987/137	समयसार	86
जइ बीहउ चउगइ गमणा	1001/140	योगसार	5
जह जायरूवसरिसो	1020/142-145, 1045/142-145	सूत्रप्राभृत	18
जह जायरूव सरिसा	1021/142-145	बोधप्राभृत	50
जइ दंसणेण सुद्धा	1029/142-145	सूत्रप्राभृत	23
जह मूलाओ खंधो	1049/146	दर्शनप्राभृत	11
जह-जह सुदमोग्गाहदि	1085/151	भगवती आराधना	104
जह मूलम्मि विणट्ठे	1122/161	दर्शनप्राभृत	10
जह कंचणं विसुद्धं	1126/161	शीलप्राभृत	9
जं होज्ज अविव्वण्णं	831/113	मूलाचार	823
जं सुद्धमसंसत्तं खज्जं	832/113	मूलाचार	826
जं सुत्तं जिणउत्तं	886/119	सूत्रप्राभृत	6
जं पुणं सगयं तच्चं	894/119	परमात्मप्रकाश	2/14
जं सिव-दंसणि परम	967/133	परमात्मप्रकाश	1/116
जं जं अक्खाण सुहं	989/137	रयणसार	130
जं सक्कइ तं कीरइ	1054/147	दर्शनप्राभृत	22
जं च दिसावेरमणं	1065/149	भगवती आराधना	2075
जं अण्णाणी कम्मं खवेइ	1113/159	प्रवचनसार	3/38
जा णिसि सयलहं	1100	परमात्मप्रकाश	47
जाणंतस्सादहिदं	1104	भगवती आराधना	102
जाव ण भावइ तच्चं	857/115, 917/123	भावप्राभृत	115

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जाव ण जाणदि अप्पा	988/137	रयणसार	85
जातिर्मूर्तिश्च तत्रस्थं	1028/142-145	महापुराण	39/163
जात्यादिकानिमान्	1028/142-145	महापुराण	39/166
जाम ण हवइ कसाए	1058/148	आराधनासार	87
जायते पुण्यपाकेन नाक	1093/152-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/77
जिणसत्थादो	690/92	प्रवचनसार	1/86
जिणवरमएण जोई	906/122	मोक्षप्राभृत	20
जिनदत्तार्यिकोपान्ते	1040/142-145	उतरपुराण	71/395
जिणमग्गे पव्वज्जा छह	1022/142-145	बोधप्राभृत	53
जीवणिबद्धं देहं खीरोदय	820/109-110	बारस अणुवेक्खा	6
जीवादि सद्दहणं	890/119	समयसार	155
जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं	904/121	दर्शनप्राभृत	20
जीवकृतं परिणामं	916/122	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	12
जीवाजीवविभत्ती जो	916/123	चारित्रप्राभृत	39
जीवो ववगदमोहो	929/125	प्रवचनसार	1/81
जीवस्स बहुपयारं	943/128-130	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	208
जीवो चरित्तदंसण	996/139	समयसार	2
जीवादि बहित्तच्चं हेय	1001/140	नियमसार	38
जुत्ताहारविहारो रहिद	953/131-132	प्रवचनसार	3/26
जे पुण विसय विरत्ता	651/85	शीलप्राभृत	8
जेसिं विसयेसु रदी	666/88	प्रवचनसार	1/64
जेण रागा विरज्जेज्ज	685/91, 1049/146	मूलाचार	268
जे पंचचेलसत्ता	707/94-96	मोक्षप्राभृत	79
जेसिं विसएसु रदी	723/97	प्रवचनसार	1/64
जे पुण विसयविरत्ता	870/116	मोक्षप्राभृत	68
जीवोऽप्रविश्य	893/119	आराधनासार	7
जे जिणवयणे कुसला	963/133	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	194
जेसिं अमेज्झमज्झे	989/137	रयणसार	131
जेसिं विसएसु रदी तेसिं	990/137	प्रवचनसार	1/64

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
जो णवि जाणदि	638/83	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	466
जो ण वियाणदि एवं	744/100	प्रवचनसार	2/91
जो पुण परदव्वरओ	746/100	मोक्षप्राभृत	15
जो सुत्तो ववहारे	749/100	मोक्षप्राभृत	31
जो संजमेसु सहिओ	779/104	सूत्रप्राभृत	11
जो ण य कुव्वदि गव्वं	785/105, 908/122	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	313
जो परदोसं गोवदि	785/105	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	419
जो धम्मिएसु भत्तो	795/106	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	421
जो कुणदि वच्छलत्तं	796/106	समयसार	235
जो जिणसत्थं सेवदि	798/106	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	463
जो भुंजदि आधाकम्मं	832/113	मूलाचार	929
जो जाणदि अरहंत	868/116, 996/139, 929/125	प्रवचनसार	1/80
जो पुण लच्छिं संचदि	/117-118	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	13
जो चरदि णादि	891/119	पंचास्तिकाय	162
जो ण पमाणणयेहिं	881/119	तिलोयपण्णत्ति	1/82
जो णयदिट्ठिविहीणा	889/119	बृ. नयचक्र	181
जो ण विजाणदि अप्पं	897/120	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	466
जो देहे णिरवेक्खो	905/122	मोक्षप्राभृत	12
जो अहिलसेदि पुण्णं	911/122	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	411
जो एवं जाणित्ता	925/124	प्रवचनसार	102
जो सव्वसंगमुक्को	925/124	समयसार	188
जो पस्सदि अप्पाणं	926/124	समयसार	14
जो धम्मसुक्कझाणम्हि	969/133	नियमसार	151
जो वेददि वेदिज्जदि	975/135	समयसार	216
जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ	1017/142-145	मोक्षप्राभृत	43
जो णिसि भुत्तिं	1077/149	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	383
जो पस्सदि अप्पाणं	1128/162	समयसार	15

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
ज्ञानं पूजां कुलं जातिं	74/7	रत्नकरण्डश्रावकाचार	25
ज्ञानध्यानतपोरक्त:	130/11	रत्नकरण्डश्रावकाचार	10
ज्ञानभावनालस्य	156/11	सर्वार्थसिद्धि	9/20
ज्ञानेन तेन विज्ञाय	206/14	अमितगति श्रावकाचार	11/110
ज्ञानी करोति न, न	462/53	समयसार कलश	198
ज्ञानी विषयसंगेऽपि	462/53	योगसार	4/19
ज्ञानाद् विवेचकतया	625/81	समयसार कलश	59
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो:	626/81	समयसार कलश	60
ज्ञानध्यानतपोरक्त:	676/89	रत्नकरण्डश्रावकाचार	10
ज्ञानवैराग्यसम्पन्न:	685/91	ज्ञानार्णव	25/3/1269
ज्ञानपूर्वमनुष्ठानं	707/94-96	ज्ञानार्णव	7/20
ज्ञानं यत्र पुर:सरं सहचरी	823/111-112	आत्मानुशासन	125
ज्ञानाराधनमिष्टं	855/114	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	33
झाणादो सव्वकम्म	132/11	रयणसार	150
झाणाणं संताणं अहवा	150/11	भावसंग्रह	387
ण मुणइ वत्थुसहावं	40/3	बृहन्नयचक्र	238
ण मुयइ पयडिमभव्वो	43/3	समयसार	317
ण परीसहेहि संताविदो	136/11	भगवती आराधना	1695
णवकम्माणादाणं	155/11	धवला	13/5, 4 सू. 26
णवसत्तपंचगाहा परिमाणं	160/11	मूलाचार	273
ण वि देहो वंदिज्जइ	254/21	दर्शनप्राभृत	27
ण रमंति जदो णिच्चं	365/37	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	147
ण च एसा (अरहंत भत्ति)	381/39	धवला	8/3 सू. 41
णच्चदि गायदि तावं	414/44	लिङ्गप्राभृत	4
णगरस्स जह दुवारं	423/46	भगवती आराधना	735
णग्गो पावइ दुक्खं	431/47	भावप्राभृत	68
ण मुयइ पयडिमभव्वो	433/47	समयसार	317

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
णवकम्माणादाणं	488/56	धवला	13/5, 4 सू. 26
णवि परिणमदि ण	497/57	समयसार	76
णवि परिणमदि ण गिण्हदि	498/57	समयसार	77
ण य पत्तियइ परं	475/55	गोम्मटसार	513
णडभडमल्लकहाओ	503/58-59	मूलाचार	857
ण दु होदि मोक्ख	529/64	समयसार	409
ण वि एस मोक्खमग्गो	529/64	समयसार	410
ण वि सिज्झइ वत्थधरो	532/64	सूत्रप्राभृत	23
ण हि आगमेण	546/68	प्रवचनसार	3/37
णग्गत्तणं अकज्जं	591/76	भावप्राभृत	55
णासदि विग्घं भेददि	8/ टीका मंगला.	तिलोयपण्णत्ति	1/30
णाणमया भावाओ	361/53	समयसार	128
णाणी रागप्पजहो	463/53	समयसार	218
णाणगुणेहिं विहीणा	569/72	चारित्रप्राभृत	39
णाणगुणेण विहीणा	569/72	समयसार	205
णाणं चरित्तसुद्धं	569/72	शीलप्राभृत	6
णाणं चरित्तहीणं	569/72	शीलप्राभृत	5
णिस्सेसदोसरहिओ	12/1, 369/37	नियमसार	7
णिट्ठुरकक्कसवयणाइ	15/1, 282/26	वसुनन्दिश्रावकाचार	230
णिस्संकिद-णिक्कंखिद	60/5	मूलाचार	201
णिस्संका-पहुदिगुणा	61/5	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	425
णियदेहसरिस्सं पिच्छि	65/6	मोक्षप्राभृत	9
णिज्जियदोसं देवं	70/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	317
णिव्वेगतियं भावदि	173/12	बारसअणुवेक्खा	78
णिद्दिट्ठो जिणसमए	214/15	बारसअणुवेक्खा	18
णिच्चेल पाणिपत्तं	264/24	सूत्रप्राभृत	10
णिस्सेसदोसरहिओ	369/37	नियमसार	7
णिच्छिदसुत्तत्थपदो	399/42	प्रवचनसार	3/68
णिग्गंथं पव्वइयो वट्टदि	400/42	प्रवचनसार	3/69

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
णिद्दावंचणबहुलो	473/54	गोम्मटसार (जी.का.)	511
णिज्जियदोसं देवं	516/62	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	317
णिव्वेगतियं भावइ	562/71	बारसअणुवेक्खा	78
णवणिहिचउदहरयणं	722/97	बारसअणुवेक्खा	10
ण वि दुक्खं णवि सुक्खं	724/97	नियमसार	178
णवि इंदिय उवसग्गा	724/97	नियमसार	179
ण वि कम्मं णोकम्मं	724/97	नियमसार	180
ण य जायंति असंता	787/105	भगवती आराधना	364
णवकोडी परिसुद्धं	803/107-108	मूलाचार	813
ण वि ते अभित्थुणंति	803/107-108	मूलाचार	819
ण बलाउसाउअट्ठं	805/107-108	मूलाचार	481
ण वि ते अभित्थुणंति	803/107-108, 828/111-112,	मूलाचार	819
ण हु तस्स इमो लोओ	832/113	मूलाचार	931
णवकोडीपडिसुद्धं	833/113	मूलाचार	946
ण हि आगमेण सिज्झदि	854/114	प्रवचनसार	3/37
णत्थि णएण विहूणं	881/119	धवला	1/1,1,1, गा. 68
ण मुणइ वत्थुसहावं	889/119	बृ. नयचक्र	240
णरणारयतिरियसुरा	918/123	नियमसार	15
ण वि जाणदि कज्ज	986/137	रयणसार	40
ण वि जाणदि जिणसिद्ध	987/137	रयणसार	116
णवि सिज्झइ वत्थधरो	1019/142-145	सूत्रप्राभृत	23
ण विणा वट्टदि	1031/142-145	प्रवचनसार	3/25
ण च दव्वित्थीणं	1032/142-145	धवला	पु. 11, पृ. 114-115
णगरस्स जहा दुवारं	1055/147, 1145/165	भगवती आराधना	735
ण य रायदोसमोहं	1112/159	समयसार	280
णाणं णाऊण णरा	747/100, 1083/151	शीलप्राभृत	7
णाणं पयासओ तओ	825/111-112	मूलाचार	901
णाणाधम्मजुदं	883/119	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	264

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
णादूण आसवाणं असुचित्तं	923/124	समयसार	72
णाहं होमि परेसिं	924/124	प्रवचनसार	2/99
णाणब्भासविहीणो सपरं	997/139	रयणसार	89
णाणं णरस्स सारो	1049/146	दर्शनप्राभृत	31
णाणं झाणं जोगो	1054/147	शीलप्राभृत	37
णाणम्मि दंसणम्मि	1053/147	दर्शनप्राभृत	32
णिज्जियसासो	709/94-96	बृ. नयचक्र	389
णिद्दंडो णिद्दंदो णिम्ममो	718/94-96	नियमसार	43
णिग्गंथो नीरागो	718/94-96	नियमसार	44
णिग्गंथमोहमुक्का	776/104	मोक्षप्राभृत	80
णिस्संगो णिरारम्भो	777/104, 860/115	मूलाचार	1002
णिज्जावगो य णाणं	825/111-112	मूलाचार	900
णिट्ठुरकक्कसवयणा	840/114	वसुनंदि श्रावकाचार	230
णिच्छयववहारणया	885/119	आलापपद्धति	4, सू. 40
णिय अप्पणाणझाणज्झयण	986/137	रयणसार	126
णिरयगई तिरिक्खगई	1014/142-145	धवला	7/2 सू. 1, पृ. 520
णिण्गंथा णिस्संगा	1021/142-145	बोधप्राभृत	48
णिच्छयणयेण भणिदो	891/119	पञ्चास्तिकाय	161
णिण्णेहा णिल्लोहा	1021/142-145	बोधप्राभृत	48
णिच्छयदो इत्थीणं	1031/142-145	प्रवचनसार	3/25
णिव्वाणसाधए	1050/146	मूलाचार	512
णेऊण णिययगेह	840/114	वसुनंदि श्रावकाचार	227
णेरइयादिगदीणं	1087/152	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	70
णो ववहारेण विणा	893/119	बृ. नयचक्र	296
णोकम्मकम्महारो	952/131-32	नियमसार टी. (ता. वृ.)	63
तदुपरि काचिट्टीका	2	रयणसार (रत्नत्रय टी.)	6
तस्मात् सुरगिरि सर्वे	2	रयणसार (रत्नत्रय टी.)	7
तत्र भावशुद्धिकर्म	17/1	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयर्द्धि	30/2	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/13/2
तदिन्द्रियानिन्द्रिय	38/3	तत्त्वार्थसूत्र	1/14
तस्य नि:शंकितत्वा	49/4	आदिपुराण	9/124
तत्तो चेव सुहाइं सयलाइ	101/9	धवला	1/1, 1 सू. 1 गा. 49
तप:श्रुतोपयोगीनि	108/10	सागारधर्मामृत	2/69
तत्र नित्यमहो नाम	109/10	आदिपुराण	38/27
तपांसि रौद्राण्यनिशं	132/11	अमितगति श्रावकाचार	15/96
तदेतच्चतुर्विधं	137/11	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/28
तदप्रमत्ततालम्बं	143/11	आदिपुराण	21/155
तत्रानपेतं यद्धर्माद्	146/11	आदिपुराण	21/133
तम्हा सा सालंबं	150/11	भावसंग्रह	388
तपसि द्वादशसंख्ये	161/11	धवला	पु. 9, सू. 54, 105
तत्र नित्यमहो नाम	185/11	आदिपुराण	38/27
तह सिद्धचेदिए पवयणे	202/14	पद्मनंदिपंचविंशतिका	6/14
तत्थ वि बहुप्पयारं मणुय	208/14	वसुनंदि श्रावकाचार	267
तप:स्वाध्यायपरिवृद्धि	224/17	तत्त्वार्थराजवार्तिक	7/39/3
तत्तो मासं बुब्बुदभूदं	271/25	भगवती आराधना	1002
तन्नाम्ना भारतं वर्षं	302/28	आदिपुराण	15/159
ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये	302/28	आदिपुराण	17/76
तद्दंश: पैत्तिको दाह	358/36	अष्टाङ्गहृदय	37/48
तद्विभागं यथास्वं	359/36	अष्टाङ्गहृदय	37/51
तत्रादौ सम्यक्त्वं	384/40-41	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	21
तत्परिगृहीतं द्वादशाङ्ग	385/40-41	स्याद्वादमंजरी	23 (कारिका)
तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं	386/40-41	प्रशमरतिप्रकरण	147
तद् ब्रूयात् तत्परान्	386/40-41	समाधिशतक	53
तच्चग्गहणं च हवइ	367/40-41	मोक्षप्राभृत	38
तत्र जिनप्रणीतहेयो	394/40-41	नियमसार	51-55 (तात्पर्यवृत्ति)
तरुणो वि वुड्ढसीलो होदि	403/42	भगवती आराधना	1070
तरुणस्स वि वेरग्गं पण्हा	403/42	भगवती आराधना	1071

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तपःश्रुतयमाधारं	412/44	ज्ञानार्णव	18/41
तत्रादौ सम्यक्त्वं	426/46	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	21
तच्चारित्तं भणियं	443/49	मोक्षप्राभृत	37
तह णाणी वि हु जइया	448/50	समयसार	223
तस्य प्रपद्यते पश्चात्	455/52	अमितगति श्रावकाचार	2/43
तदियचदुपंचमेसुं कालेसुं	476/55	तिलोयपण्णत्ती	4/1621
तइमे कालपर्यन्ते	477/55	आदिपुराण	41/50
तम्हा सो सालंबं झायउ	492/56	भावसंग्रह	388
तम्हा हु कसायग्गी	539/66	भगवती आराधना	269
तवरहियं जं णाणं	349/68	मोक्षप्राभृत	59
तत्र भावशुद्धिः	550/69	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16
तत्थ जे कम्मक्खवणम्हि	564/72	धवला	1/1, 1 सू. 27
त्वन्नाममन्त्रमनिशं	585/75	भक्तामर स्तोत्र	46
तं पढिदमसज्झाये णो	164/11	मूलाचार	278
तं वत्थुं मोत्तव्वं	539/66	भगवती आराधना	264
तावन्मात्रे स्थावरकाय	158/11	धवला	पु. 9, पद्य 97
ता भुंजिंजउ लच्छी	170/12	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	12
तानीन्द्रियाण्यविकलानि	334/33	नीतिशतक	40
तापहान्यरुचिपूर्व	363/36	अष्टाङ्गहृदय	12/39
तानेवार्थान् द्विषतः	540/66	प्रशमरतिप्रकरण	52
ताव ण जाणदि णाणं	568/72	शीलप्राभृत	4
तिलपललपृथुकलाजा	157/11	धवला	पु. 9, पद्य-93
तिविहा दव्वे पूजा	189/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	449
तिर्यक्स्थे पार्श्वरुग्दोषे	352/36	अष्टाङ्गहृदय	5/14
तिरियंति कुडिलभावं	366/37	धवला	1/1, 1 सू. 24 गा. 129
तिविहं दु भावसल्लं दंसण	595/58-59	भगवती आराधना	541
तीर्थेशपार्श्वनाथाय	टीका मंगला.	रयणसार (रत्नत्रय टी.)	1
तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्ति	255/18	भक्तामरस्तोत्र	26
तुलाकोटिककेयूर	279/26	आदिपुराण	9/41

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तृष्णा भवति या तेषु	330/32	ज्ञानार्णव	33/75
तेलोक्केण वि चित्त	178/12	भगवती आराधना	1386
तेसिं च सरीराणं दव्व	189/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	450
ते सव्वे वरजुगला	217/16	तिलोयपण्णत्ति	4/386
तेषामुपद्रवान् विद्यात्	352/36	अष्टाङ्गहृदय	5/15
तेणिक्कमोससारक्ख	465/57	भगवती आराधना	1698
ते लोक्केण वि चित्तस्स	572/73	भगवती आराधना	1386
तो सत्तमम्मि मासे	273/25	भगवती आराधना	1011
ततो महान्वयोत्पन्न	614/79-80	आदिपुराण	42/16
तपस्यतु चिरं तीव्रं	618/79-80	अनगारधर्मामृत	4/8
तत् किमर्थम् ? देह	630/82	सर्वार्थसिद्धि	9/11
तवरहियं जं णाणं	662/87	मोक्षप्राभृत	59
तथैव च जिव्हेन्द्रिय	664/88	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/7/7
ततस्तद्रागतद्द्वेष	669/88	आदिपुराण	11/207
तस्माद् विषयजामेनां	669/88	आदिपुराण	11/211
तपांसि रौद्राण्यनिशं	672/89	अमितगति श्रावकाचार	15/96
तप:श्रुतयमज्ञान	680/90	ज्ञानार्णव	20/27/1099
तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशय	687/92	राजवार्तिक	6/13/2
तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं	705/94-96	प्रशमरतिप्रकरण	695/147
तम्हा कम्मासवकारणानि	777/104	मूलाचार	740
ततश्च फलविशेष:	837/114	तत्त्वार्थराजवार्तिक	7/39/6
तस्स मुहग्गदवयणं	847/114	नियमसार	8
तवरहियं जं णाणं णाण	869/116	मोक्षप्राभृत	59
तम्हा अहिगयसुत्तेण	882/119	धवला	1/1, 1, 1 गा. 69
तत: स्वाभाविकं कर्म	938/126-127	आदिपुराण	11/186
तद्वियोगे पुनर्दु:खमपारं	938/126-127	आदिपुराण	11/193
तम्हा णिव्वुदिकामो	973/134	पंचास्तिकाय	172
तववयगुणेहिं सुद्धा	1023/142-145	बोधप्राभृत	57
तत्र सूत्रपदान्याहु:	1027/142-145	आदिपुराण	39/162

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तपोवगममाहात्म्याद्	1038/142-145	उत्तरपुराण	75/69
तह मिच्छत्ते कडुगिदे	1061/148	भगवती आराधना	733
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ	1064/149	पञ्चाध्यायी	2/723
तत्त्वश्रद्धानतो जीवा:	1097/152-153	प्रश्नोत्तरश्रावकाचार	2/84
तमेवानुभवंश्चायम्	1130/162	तत्त्वानुशासन	170
तद्ब्रूयात्तत्परान्	1131/162	समाधिशतक	53
तत्तो अभव्वलोग्गं	1141/164	लब्धिसार	33
तं ओद्दावण-विद्दावण	705/94-96	धवला	13/5, 4, सू. 22 पृ. 46
तं पुण अट्ठविहं वा	921/124	गोम्मटसार (कर्म.)	7
त्वक्त्वैवं बहिरात्मानम्	929/125, 717/94-96, 983/136,	समाधिशतक	27
ताव ण जाणदि णाणं	747/100	शीलप्राभृत	4
तान्यात्मनि समारोप्य	949/131-132	समाधिशतक	104
तासिं कह होइ	1025/142-145	सूत्रप्राभृत	24
तासां स्त्रीणां कथं	1030/142-145	सूत्रप्राभृत टी.	24
ताभ्यां पुन: कषाया:	1105/156-157	तत्त्वानुशासन	17
तापप्रकाशवत् युगपदुत्पत्ते:	1119/160	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/3/4
तिविहं तु भावसल्लं	739/99	भगवती आराधना	541
तिपयारो सो अप्पा	982/136	मोक्षप्राभृत	4
तिपयारी अप्पा मुणहि	1002/140	योगसार	6
तिण्हं सुहसंजोगो जोगो	1016/142-145	मूलाचार	1020
तिहि तिण्णि धरवि	1017/142-145	मोक्षप्राभृत	44
तिलतुसमत्तणिमित्तं	1022/142-145	बोधप्राभृत	54
तुष्यत्यन्त: प्रबुद्धात्मा	965/133	समाधिशतक	60
ते विय भणामि हं जे	761/101-102, 860/115	भावप्राभृत	154
ते सव्वसंगमुक्का	778/104	मूलाचार	483
ते णिम्ममा सरीरे	779/104	मूलाचार	786
ते होंति णिव्वियारा	785/105	मूलाचार	861
ते सावेक्खा सुणया	884/119	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	266
तेच्चिय भणामिहं जे	860/115	भाव प्राभृत	153

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
तेभ्य: कर्माणि बध्यन्ते	1105/156-157	तत्त्वानुशासन	17
तैरेव फलमेतस्य	817/109-110	ज्ञानार्णव	114
त्र्यंशेन मोक्षमार्गेण	545/68	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/1/38
त्रिष्वेकद्वयविश्लेषाद्	43/3	आदिपुराण	24/123
त्रसहतिपरिहरणार्थं	956/131-132	रत्नकरण्डश्रावकाचार	84
थेरा वा तरुणा वा	403/42	भगवती आराधना	1064
दर्शनेन जिनेन्द्राणां	100/9	धवला	6/1/9.9 सू. 22
दर्शनं निश्चय: पुंसि	103/9	पद्मनंदिपंचविंशतिका	4/14
दत्वा किमिच्छकं दानं	110/10	आदिपुराण	38/31
दवीय: कुरुते स्थानं	121/10	अमितगति श्रावकाचार	2/27
दव्वत्थिकायछप्पण	144/11	रयणसार	60
दशधाऽऽध्यात्मिकं	152/11	हरिवंशपुराण	56/38
दव्वादिवदिक्कमणं	163/11	धवला	पु. 9/4, गाथा-115
दव्वेण य दव्वस्स	189/13	वसुनन्दि श्रावकाचार	448
दर्शनं ज्ञानचारित्रात्	424/46	रत्नकरण्डश्रावकाचार	31
दहत्येव क्षणार्द्धेन	468/54	ज्ञानार्णव	24/38
दव्वादिएसु मूढो भावो	525/63	प्रवचनसार	1/83
द्रव्यलिङ्गं समासाद्य	532/64	भावप्राभृत (टीका)	2
द्रव्यलिङ्गमिदं ज्ञेयं	532/64	भावप्राभृत (टीका)	2
दव्वेण सयलणग्गा	591/76	भावप्राभृत (टीका)	67
दंसणणाणचरित्ते	135/11	लिङ्गप्राभृत	8
दंसेइ मोक्खमग्गं	212/15	बोधप्राभृत	13
दंतेहिं चव्विदं वीलणं	272/25	भगवती आराधना	1009
द्यूतमांससुरावेश्या	57/5	पद्मनंदिपंचविशंतिका	1/16
दानं भोगो नाश:	175/12	नीतिशतक	34
दिसदाह उक्कपडणं	160/11	मूलाचार	274

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
दिवोऽवतीर्योर्जितचित्त	206/14	अमितगतिश्रावकाचार	11/121
दीवेहिं दीविया सेस	203/14	वसुनंदिश्रावकाचार	487
दुविहं संजमचरणं	21/1	चारित्रप्राभृत	21
दुविहं पि मोक्खहेऊं	138/11	बृहद्‌द्रव्यसंग्रह	47
दुर्दृशामपि न ध्यान	143/11	ज्ञानार्णव	4/18
दुविहं पि गंथचायं	212/15	दर्शनप्राभृत	14
दुस्सहा निष्प्रतीकारा	330/32	ज्ञानार्णव	33/20
दुज्जणसंसग्गीए	401/42	भगवती आराधना	346
दुक्खयरविसयजोए	469/54	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	473
दुर्दृशामपि न ध्यान	487/56	ज्ञानार्णव	4/18
दूरादभीष्टमभिगच्छति	311/30	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	1/188
दूरेण साधु सत्थं छंडिय	434/47	भगवती आराधना	1306
देहमिलियं पि जीवं	66/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	316
देवो ववगयमोहो उदय	77/7	बोधप्राभृत	24
देवपूजा गुरूपास्तिः	92/8, 513/60	पद्मनन्दिपंचविंशति	6/7
द्वेषानुरागबुद्धिर्गुण	311/20	आत्मानुशासन	181
देवस्वस्यं विनाशेन	325/92	हरिवंश पुराण	18/102
देवशास्त्रगुरूणां भोः	339/34	सुभाषितरत्नावली	
देहौषधक्षयकृतेः	352/36	अष्टाङ्गहृदय	5/3
दोषो रागादिसद्‌भावः	76/7, 441/49	पञ्चाध्यायी	2/603
दोससहियं पि देवं	99/9	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	318
दयामूलो भवेद् धर्मो	617/79-80	आदिपुराण	42/203
दयालोरव्रतस्यापि	618/79-80	अनगारधर्मामृत	4/7
दग्धव्रणे यथा यथा	623/79-80	आदिपुराण	11/175
दट्ठूण अण्णदोसं	711/94-96	भगवती आराधना	374
दर्शनेऽवस्थितौ	844/114	पद्मपुराण	102/3
द्रव्यकर्माणि जीवस्य	923/124	आप्तपरीक्षा	113
दर्शनेन विना पुंसां	1093/152-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/72
दंसणविहीणपुरिसो	726/97	मोक्षप्राभृत	39

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
दंसणभट्टस्स णत्थि	726/97	बारस अणुवेक्खा	19
दंभं परपरिवादं	755/101-102	मूलाचार	959
दंसणसुद्धिविशुद्धो	872/117-118	नयचक्र	330
दंसणमूलो धम्मो	1048/146	दर्शनप्राभृत	1
दंसणणाणसमग्गं	1049/146	बृहद् द्रव्यसंग्रह	54
दंसणवयसामाइयं	1067/149	बारस अणुवेक्खा	69
दंसणणाणुवदेसो	1101/156-157	प्रवचनसार	3/48
दंसणणाणचरित्ताणि	1107/158	समयसार	16
दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ	1123/161	गोम्मटसार (जी.)	650
दंसणमोहस्सुदए	1124/161	प्राकृत पंचसंग्रह	1/166
दानाय यस्य न धनं	660/87	पद्मनंदिपंचविंशति	2/21
द्वादशापि सदा चिन्त्या	710/94-96	पद्मनंदिपंचविंशति	6/42
दीनवृत्तिविगमा	802/107-108	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16
दृष्टिपूर्व मुनीनां च	1093/153-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/72
देवपूजा गुरूपास्तिः	602/77	पद्मनंदिपंचविंशति	6/7
देहेष्वात्मधिया जाताः	642/84	समाधिशतक	14
देहे स्वबुद्धिरात्मानं	649/85	समाधिशतक	13
देवगुरुम्मि य भत्तो	794/106	मोक्षप्राभृत	52
देहित्ति दीणकलुसं	803/107-108	मूलाचार	820
द्वे किल चक्षुषी	888/114	प्रवचनसार (त. प्र. टी.)	2/22
देहादिसंगरहितो	907/122	भावप्राभृत	56
देहेष्वात्मधिया जाताः	946/128-130	समाधिशतक	14
देहविभिण्णउ णाणमउ	969/133	परमात्मप्रकाश	1/14
देह कलत्तं पुत्तं मित्तादि	886/137	रयणसार	128
देहादिसु अणुरत्ता	989/137	रयणसार	100
देशकालविधानज्ञस्य	1018/142-145	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/15
द्वे सहस्रे नरेन्द्रास्ते	1041/142-145	हरिवंश पुराण	58/308
देशावकाशिकं वा सामायिकं	1066/149	रत्नकरण्डश्रावकाचार	91
दैव्यौ विमलमत्या	1040/142-145	उत्तरपुराण	63/124

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
देण्णि वियप्पा होतिं	718/94-96	तिलोयपण्णत्ति	1/10
दुष्प्रतिकारौ माता	606/78	प्रशमरतिप्रकरण	71
दुष्टा हिंसादिदोषेषु	615/79-80	आदिपुराण	42/203
दुष्टव्रणे यथा क्षार	624/81	आदिपुराण	11/176
दुस्सह उवसग्गजयी	631/82	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	450
दुग्गंधं बीभत्थं	662/88, 819/109-110	बारसाणुवेक्खा	44
दुविहं पि मोक्ख	715/94-96	बृ. द्रव्यसंग्रह	47
दु:संसारस्वभावज्ञा	1034/142-145	हरिवंशपुराण	12/51
धर्मो जीवदया गृहस्थ	124/11	पद्मनंदिपंचविंशतिका	1/7
धम्मं सुक्कं च दुवे	138/11	मूलाचार	394
धर्मध्यानं च शुक्लं	139/11	ज्ञानार्णव	38/25
धर्म उत्तमक्षमादि	146/11	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/36/11
धर्मो नीचै: पदादुच्चै:	392/40-41	पञ्चाध्यायी	2/715
धम्मेण होइ लिंगं	431/47	लिङ्गप्राभृत	2
धम्मस्स लक्खणं से	484/56	भगवती आराधना	1704
धर्माधर्मावथाकाशं	509/60-61	तत्त्वार्थसार	3/2
धम्मो वत्थुसहावो	514/60-61	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	478
धर्माय क्रियमाणा सा	528/64	योगसार प्राभृत	8/21
ध्यानमेवापवर्गस्य	132/11	ज्ञानार्णव	23/7
ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो	155/11, 486/56	तत्त्वानुशासन	218
ध्यानतन्त्रे निषिध्यन्ते	488/56	ज्ञानार्णव	4/29
धावदि पिंडणिमित्तं	415/44	ज्ञानार्णव	13
धुवसिद्धी तित्थयरो	444/49	मोक्षप्राभृत	60
धूवेण सिसिरयरधवल	203/14	वसुनंदि श्रावकाचार	488
धर्ममेव प्रपद्यन्ते	614/79-80	महाभारत	68/33
धम्मेण होइ लिंगं	640/83	लिङ्गप्राभृत	2
धन्वदुर्गं महीदुर्गम्	658/87	मनुस्मृति	7/70
धम्मं भोगणिमित्तं	667/88	समयसार	275

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
धर्मस्य तस्य लिङ्गानि	752/101-102	आदिपुराण	5/22
धर्मसाधनमाद्यं हि	809/109-110	हरिवंशपुराण	18/143
धम्मादीसद्दहणं	90/119	पञ्चास्तिकाय	160
धम्मु ण पढियइं होइ	898/120	योगसार	47
धम्मं ण मुणदि जीवो	936/126-27	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	426
धण्णा हु ते मणुस्सा	966/133	भगवती आराधना	301
धर्मध्यानं ध्यायति	969/133	ज्ञानसार	31
धणधण्णवत्थदाणं	1020/142-145	बोधप्राभृत	46
ध्यानमेव गुणग्राम	672/89	ज्ञानार्णव	19/8
ध्यानसिद्धिं मन:शुद्धि:	680/90	ज्ञानार्णव	20/14/1086
धादीदूदणिमित्ते आजीवं	770/103	मूलाचार	445
धावदि पिंडणिमित्तं	826/111-112	लिङ्गप्राभृत	13
धातुपाषाणे अग्निवत्	892/119	बृ. द्रव्यसंग्रह टी.	39
धात्री बालाऽसतीनाथ	978/135	अनगारधर्मामृत	8/2
धुवसिद्धी तित्थयरो	1083/151	मोक्षप्राभृत	60
नमो वृषभनाथाय	1/टी. मंगला.	रयणसार (रत्नत्रय टी.)	2
(ननु) अप्रमाणमिदानीन्तन	32/2	धवला	1/1,1 सू. 22
न परिमियन्ति भवन्ति	58/5	पद्मनंदिपंचविंशति	1/32
नरत्वेऽपि पशूयन्ते	106/10	सागारधर्मामृत	1/4
नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः सप्त	127/11	रत्नकरण्डश्रावकाचार	113
न पूजयार्थस्त्वयि	200/14	बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र	57
न तन्मित्रं यस्य	240/19	विदुरनीति	36/147
न वनस्पतयोऽप्येते	277/26	आदिपुराण	9/49
नष्टा मणीरिव चिरा	313/30	पद्मनंदिपंचविंशति	2/35
न कर्मणां विप्रणाशो	349/35	महाभारत	5/27/10
नक्षत्राणां द्विजानां च	351/36	अष्टाङ्गहृदय	5/2
न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्	388/40-41	रत्नकरण्डश्रावकाचार	34
नवनिधिसप्तद्वयरत्ना	519/62	रत्नकरण्डश्रावकाचार	38

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
नास्तिकत्वपरीहार:	9/टीका मंगला.	बृहद्रव्यसंग्रह टीका	मंगलाचरण
न हि सम्यग्व्यपदेशं	552/69	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	38
नयन्ति विफलं जन्म	572/73	ज्ञानार्णव	18/105
न्यायसम्पन्न	231/18	योगशास्त्र (हेमचन्द्र)	1/47
नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं	61/5	रत्नकरण्डश्रावकाचार	21
नानागृहव्यतिकर	231/18	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	2/13
नास्ति मातृसमो गुरु:	240/19	महाभारत (अनुशासन पर्व)	7/96
नारका: भवप्रत्ययेना	331/32	सर्वार्थसिद्धि	3/4
नापि धर्म: क्रियामात्रं	429/47	पञ्चाध्यायी	2/444
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	557/70	समयसारकलश	135
निश्चयेन औदारिक	13/1	नियमसार ता. वृ. टीका	43
निश्चयाद् व्यवहाराच्च	147/11	तत्त्वानुशासन	96
निधानमेष कान्तीनां	194/13	अमितगतिश्रावकाचार	11/38
निषण्णैस्तत्र शय्यायां	205/14	अमितगतिश्रावकाचार	11/104
निषेव्य लक्ष्मीमिति	207/14	अमितगतिश्रावकाचार	11/123
निन्द्यते पितृभिस्तसै:	317/31	सुभाषितरत्नभाण्डागार	पृ. 89
निशीथं वासरस्येव	455/52	अमितगतिश्रावकाचार	2/42
निर्ध्यानादजयूथस्य	478/55	आदिपुराण	41/68
न विना यानपात्रेण	601/77	आदिपुराण	9/175
न पूजयार्थस्त्वयि	603/77	बृहत्स्वयंभू स्तोत्र	57
न च हितोपदेशादपर:	605/78	स्याद्वादमंजरी	3
न भवति धर्म:	606/78	स्याद्वादमंजरी	3
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु	643/84, 936/126-27, 745/100	समाधिशतक	55
न जानन्ति शरीराणि	643/84	समाधिशतक	61
न मे मृत्यु: कुतो	650/85	इष्टोपदेश	27
न धर्मसदृश: कश्चित्	752/100	ज्ञानार्णव	2/163
न दु:ख बीजं शुभ दर्श	1092/153-55	अमितगति श्रावकाचार	69
न केवलं भूतार्थो निश्चय	1126/161	समयसार (टीका)	12

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
नापि धर्मः क्रियामात्रं	691/92	पञ्चाध्यायी	2/444
नवोपचारविधिना	842/114	दानशासन	पृ. 99
नवधा विधिना दानं	843/114	श्रमण संघ साहित्य	पृ. 240
न वाच्यं भोजयेदन्नं	1074/149	लाटी संहिता	1/44
निर्विघ्न संसृतेः शान्ति	1039/142-145	उत्तरपुराण	63/112
नालीसूरणकालिन्द	957/131-132	सागारधर्मामृत	5/16
निम्बद्रुमे यथोत्पन्नः	665/88	आदिपुराण	11/179
निशातं विद्धि निस्त्रिंशं	707/94-96	ज्ञानार्णव	7/15
निश्चयवात्सल्यं पुनः	797/106	बृ. द्रव्यसंग्रह	41
निसर्गमलिनं निन्द्य	816/109-110	ज्ञानार्णव	2/106
निर्मलः केवलः सिद्धः	867/116	समाधिशतक	6
निश्चयव्यवहाराभ्यां	892/119	तत्त्वार्थसार	9/2
निश्चयव्यवहारयोः	888/119	समयसार ता.टी.	113-115
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो	1002/140	ज्ञानार्णव	29/8
निरवद्यस्य क्रिया	1012/142-145	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/1/12
निर्ग्रन्थलिङ्गात् पृथक्त्वेन	1032/142-145	प्रवचनसार टी.	3/25 (प्रक्षिप्त)
नेत्थं यः पाक्षिकः	1075/149	लाटीसंहिता	1/47
नैवं वासरभुक्तेः भवति	1073/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	132
पगदीए अक्खलिओ	29/2	तिलोयपण्णत्ति	4/903
पण्णवणिज्जा भावा	31/2	गोम्मटसार, जीवकाण्ड	334
पंचानां पापानामलं	119/10	रत्नकरण्डश्रावकाचार	107
पव्वदिणे ण वयेसु	119/10	इंद्रनंदि संहिता	14
परमट्ठम्मि अट्ठिदो	121/10	समयसार	152
परिवारइड्ढि सक्कार	136/11	मूलाचार	683
पदस्थं मन्त्रवाक्य	152/11	बृ. द्रव्यसंग्रह	48
परियट्टणाय वायण	156/11	मूलाचार	393
पर्वसु नन्दीश्वरवर	161/11	धवला	9/4, 1 सू. 54/106
पवयणसारब्भासं	168/11	रयणसार	161

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
परदव्वरओ बज्झइ	172/12	मोक्षप्राभृत	13
पडिबुद्धिऊण चइऊण	208/14, 219/16	वसुनंदि श्रावकाचार	268
पद्माकरं दिनकरो	276/26	नीतिशतक	63
पटहान् मर्दलास्तालं	279/26	आदिपुराण	9/40
पत्तं णियघरदारे	282/26	वसुनंदिश्रावकाचार	226
पढिएण किं कीरइ	318/31	भावप्राभृत	66
पढमादिविति चउक्के	328/32	तिलोयपण्णत्ति	2/29
परदव्वहरणमेदं	341/34	भगवती आराधना	859
परायत्ताद् सुखाद्	345/35	आत्मानुशासन	66
पंचमहाव्रतकलितो	369/37	ज्ञानसार	5
परदोसाण विगहणं	407/43	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	344
परमट्ठम्हि अट्ठिदो जो	429/47	समयसार	152
पठतु सकलशास्त्रं	460/53	आराधनासार	54
परविसयहरणसीलो	468/54	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	476
परवंचणप्पसत्तो	474/54	तिलोयपण्णत्ती	2/298
पज्जयरत्तउ जीवऽउ	521/62	परमात्मप्रकाश	1/77
परमट्ठम्मि दु अट्ठिदो	536/65	समयसार	152
परमट्ठबाहिरा जे तो	536/65	समयसार	154
परमाणु पमाणं वा मुच्छा	567/72	प्रवचनसार	3/39
परवित्तामिषासक्त:	574/73	ज्ञानार्णव	33/35
पयडहिं जिणवर	591/76	भावप्राभृत	70
पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं	21/1	चारित्रप्राभृत	23
पंचणमोक्कारपएहिं	191/13	वसुनंदिश्रावकाचार	457
पंचमिखिदिए तुरिमे	329/32	तिलोयपण्णत्ति	2/30
पंचवि इंदियमुंडा	589/76	मूलाचार	121
प्रणमाम्यहमाचार्यान्	3/टीका मंगला	रयणसार	8
प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या	100/9	पद्मनन्दिपंचविंशतिका	6/14
प्रज्ञोत्कर्षजुष: श्रुतस्थिति	131/11	अनगारधर्मामृत	7/89
प्रसन्नचित्तता धर्म	153/11	आदिपुराण	21/159

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
प्रमोदभरतः प्रेमनिर्भरा	301/28	आदिपुराण	15/158
प्रच्छन्नकर्म मम कोऽपि	340/34	आत्मानुशासन	222
प्रवृत्तस्नेहपानादेः	361/36	अष्टाङ्गहृदय	12/36
पावोपहदिभावो	134/11	लिङ्गप्राभृत	7
पापाशयवशान्मोहात्	136/11	ज्ञानार्णव	3/30
पादोसियवेरत्तियगो	159/11	मूलाचार	270
पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यः	194/13	अमितगतिश्रावकाचार	11/62
पात्राय विधिना दत्वा	205/14	अमितगति श्रावकाचार	11/102
प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः	466/34	आदिपुराण	21/42
पात्रेभ्यो यः प्रकृष्टेभ्यो	216/16	अमितगति श्रावकाचार	11/62
पात्रे दत्तं भवेदन्नं	227/17	उपासकाध्ययन	800
पापान्निवारयति	240/19	नीतिशतक	73
पाओदयं पवित्तं सिरम्मि	282/26	वसुनन्दि श्रावकाचार	228
पायोर्व्रणोऽन्तर्बाह्यो	360/36	अष्टाङ्गहृदय	28/3
पापाशयवशान्मोहात्	446/43	ज्ञानार्णव	3/30
पावंति भावसवणा	432/47	भावप्राभृत	100
पाखंडी लिङ्गाणि य	530/64	समयसार	408
प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरण	424/46	ज्ञानार्णव	6/57
पिंडत्थं च पयत्थं	191/13	वसुनंदि श्रावकाचार	448
प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः	158/11	आदिपुराण	21/42
प्राणाः पाणिगृहीतीनां	597/77	क्षत्रचूडामणि	7/3
पुव्वं आइरिएहिं	8/टीका मंगला.	तिलोयपण्णत्ति	1/16
परे मोक्षहेतू	671/89	तत्त्वार्थ सूत्र	9/29
पश्येन्निरन्तरं देह	696/93	समाधिशतक	57
पदमक्खरं च एक्कं	725/97	भगवती आराधना	38
परदव्वरओ बज्झइ	746/100, 990/137	मोक्षप्राभृत	13
परदव्वादो दुगई	746/100	मोक्षप्राभृत	16
परमाणुपमाणं वा	757/101-102	प्रवचनसार	3/39
परोपकृतिमुत्सृज्य	782/104	इष्टोपदेश	32

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
पयणं व पायणं वा	804/107-108, 831/113	मूलाचार	821
पश्येन्निरन्तरं देहं	811/109-110	समाधिशतक	57
पत्तं णियघरदारे दट्ठू	821/111-112	वसुनन्दिश्रावकाचार	226
परां कोटिं समारूढ़ौ	823/111-112	आत्मानुशासन	164
पयणं वा पायणं वा	832/113	मूलाचार	130
पयणं पायणमणुमणणं	833/113	मूलाचार	934
पञ्चमहाव्रतधरा: त्रिगुप्ति	859/115	धवला	1/1, 1, 1 सू. 5
पित्रोराज्ञां पालयति	317/31	शुक्रनीति	3/252
पीनसश्वासकासांस	352/36	अष्टाङ्गहृदय	5/13
पीतोन्मत्तकस्येव	524/63	प्रवचनसार ता. टी.	1/83
पुण्याशयवशाज्जातं	137/11	ज्ञानार्णव	3/29,
पुण्णेण होइ विहओ	299/27	तिलोयपण्णत्ति	9/52
पुप्फंजलिं खिवित्ता	282/26	वसुनन्दिश्रावकाचार	229
पुत्तं कलत्तणिमित्तं	127/11	वारसाणुवेक्खा	30
पुण्यकर्मविपाकाच्च	337/34	तत्त्वार्थसार	8/49
पुण्यास्रव: सुखानां	344/35	हरिवंश पुराण	58/191
पुंसां स्त्रीणां च चारित्र	478/55	आदिपुराण	41/79
पुण्णासाए ण पुण्णं जदो	535/65	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	412
पुण्णं पि जो समिच्छदि	535/65	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	410
पूर्वं सम्यग्दर्शनलाभे	264/24	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/1/74
प्रोक्ता पूजाऽर्हता	109/10, 185/13	आदिपुराण	38/26
परमप्पा वि य दुविहा	868/116	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	192
पश्यैते विषया: स्वप्न	938/126-127	आदिपुराण	11/191
पलमधुमद्यवदखिल	956/131-132	सागारधर्मामृत	5/15
पलाण्डुकेतकीनिम्ब	959/131-132	उपासकाध्ययन	41/762
परमप्पय झायंतो	1003/142-145	उपासकाध्ययन	48
पसुमहिलसंढसंगं	861/115, 1022/142-145	बोधप्राभृत	56
परमपय विमग्गया	1050/146	धवला	1/1/,1 सू. 1 गा. 33
परिणमदि सण्णिजीवो	1087/152	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	71

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
परमगुणविचित्ते:	1097/152	प्रश्नोत्तरश्रावकाचार	2/85
पव्वज्जहीणगहिणं	1104/156-157	लिङ्गप्राभृत	18
पढमकसाय चउण्हं	1113/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	107
पडिसमयणंतगुणहीण	1140/164	धवला	6/1, 9-8 सू. 3, पृ. 204
प्रतिग्रहणमत्युच्चै	839/114	आदिपुराण	20/86
पडिगहमुच्चट्ठाणं	839/114	वसुनंदिश्रावकाचार	225
पत्तं णियघरदारे	839/114	वसुनंदिश्रावकाचार	226
प्रमाणनयनिक्षेपाद्युपायै	852/114	उत्तरपुराण	74/746
प्रमाणनयनिक्षपैर्यो	882/119	तत्त्वानुशासन	26
प्रयासै: फल्गुभिर्मूढै:	972/134	ज्ञानार्णव	21/9
पंचविहे संसारे जाइ	812/109-110	बारस अणुवेक्खा	24
पंचमहव्वयजुत्ता पंचिंदिय	861/115	बोधप्राभृत	43
पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु	862/115	मोक्षप्राभृत	33
पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे	963/133	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	195
प्रशाम्यति विरागस्य	733/98	ज्ञानार्णव	21/19/1126
प्रत्यर्थं परिणामित्वम्	734/98	पञ्चाध्यायी	2/904
प्रस्रवन्नवभिर्द्वारै:	816/109-110	ज्ञानार्णव	2/108
प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थं	881/119	धवला	1/1, 1, 1 गा. 10
पापकूपे निमग्नेभ्य:	600/77	हरिवंश पुराण	21/155
पावयणं पवयणीयं	688/92	षट्खण्डागम	13/5, 5 सू. 50 पृ. 280
पावं मलंति भण्णइ	720/94-96	तिलोयपण्णत्ति	17
प्रथितां बन्धुमत्या	1033/142-145	पद्मपुराण	113/40
प्रमादो नैव कर्तव्यो	1069/149	धर्मोपदेशपीयूषवर्षश्रावकाचार	4/88
पाओदयं पवित्तं	840/114	वसुनंदिश्रावकाचार	228
पुप्फंजलिं खिवित्ता	840/114	वसुनंदिश्रावकाचार	229
पात्रं त्रिभेदमुक्तं	842/114	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	171
पापाशयवशान्मोहात्	729/98	ज्ञानार्णव	3/30/276
पाण्डवा: संयमं प्रापन्	1041/142-145	उत्तरपुराण	72/264
पाणवधमुसावादा	1065/149	भगवती आराधना	2074

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
प्राणाः पाणिगृहीतानां	597/77	क्षत्रचूडामणि	7/3
प्राणिप्राणवियोजनम्	755/101-102	धवला	13/5,4 सू. 22
प्रादुर्भूता रुचिस्तज्ज्ञैः	852/114	उत्तरपुराण	74/444
प्रापितैतत्पुरं वीरं	1038/142-145	उत्तरपुराण	75/68
पियधम्मो दिढधम्मो	1043/142-145	मूलाचार	183
प्राणातिपातवितथ	1065/149	रत्नकरण्डश्रावकाचार	52
पुव्वी पच्छा संथुदि	770/103	मूलाचार	446
पुरक्षोभेन्द्रजालं च	773/103	ज्ञानार्णव	4/51
पुण्णासाए ण पुण्णं	911/122	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	412
पुण्याशया पुण्यवाञ्छया	911/122	कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका	412
पुग्गलकम्मं रागो	914/124	समयसार	199
पुव्वं जो पंचिंदिय	997/139	रयणसार	76
पुव्वत्तसयलभावा	1001/140	नियमसार	50
पुढविदगतेउवाऊ	1018/142-145	मूलाचार	416
पुव्वसंचिदकम्ममल	1139/164	धवला	6/1, 9-8 सू. 3 पृ. 204
पूर्वं कृतोपकारस्य	601/77	हरिवंशपुराण	21/157
पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य	698/93	समाधिशतक	30
पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो	847/114	धवला	3/1, 2, 2 श्लोक 9-11
पैशून्यदैन्यदम्भस्तेया	910/122	आत्मानुशासन	30
पेछच्इ जाणइ अणुचरइ	891/119	परमात्मप्रकाश	2/13
पिबन्ति गालितं तोयं	1069/149	धर्मोपदेशपीयूषवर्ष श्रावका.	4/89
बलिस्नपनमित्यन्यः	111/110	आदिपुराण	38/33
बलवीरियमासेज्ज	182/13	मूलाचार	669
बहुनात्र किमुक्तेन	194/13	अमितगतिश्रावकाचार	11/31
बद्धाउगा सुदिट्ठी	207/14	वसुनन्दि श्रावकाचार	249
बह्वारम्भपरिग्रहेषु	467/54	ज्ञानार्णव	24/27
बहुशः समस्तविरतिं	481/55	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	17
बहु परिसाडनमुज्झिय	258/22	मूलाचार	475

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
बाह्याध्यात्मिक	146/11	हरिवंशपुराण	56/35
बारसविहम्मि य	156/11	भगवती आराधना	106
बालो वा बुड्ढो वा सम	182/13	प्रवचनसार	3/30
बाहिरसंगच्चाओ	318/31	भावप्राभृत	89
बाह्यं च लिङ्गमङ्गानां	485/56	आदिपुराण	21/161
बाहिरलिङ्गेण जुदो	531/64	मोक्षप्राभृत	61
बाहिरसंगच्चाओ	562/71	भावप्राभृत	89
बुभुक्षा जायतेत्यन्तं	329/32	ज्ञानार्णव	74
बन्धवो गुरवश्चेति	601/77	आदिपुराण	9/177
बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः	649/85, 811/109–110	समाधिशतक	7
बहुमानेन समन्वित	855/114	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	36
वह्निरिवैन्धनैःसिन्धोः	938/126–127	आदिपुराण	11/195
बहिर्भावानतिक्राम्य	964/133	ज्ञानार्णव	29/7
बहिरन्तः परश्चेति	981/136	समाधिशतक	4
बंधहेतुषु सर्वेषु	744/100	तत्त्वानुशासन	12
बंधुवभोगणिमित्ते	976/135	समयसार	217
बंधदि मुंचदि जीवो	1086/152	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	67
बाह्याभ्यन्तररत्नत्रय	796/106	द्रव्यसंग्रह टी.	41
बाहिरसयणत्तावण	862/115	भावप्राभृत	111
बाहिरसंगा खेत्तं वत्थुं	874/117–118	भगवती आराधना	1113
बाह्याभ्यन्तरतपो	802/107–108	सर्वार्थसिद्धि	9/9
बाह्यात्मानमपास्यैवान्तरा	1003/140	ज्ञानार्णव	29/24
बारसविहम्मि य तवे	1085/151	भगवती आराधना	106
ब्राह्मी च सुन्दरी	1034/142–145	हरिवंश पुराण	9/217
बालग्गकोडिमत्तं	1045/142–145	सूत्रप्राभृत	17
बीजजासौ पदार्थानां	852/114	उत्तरपुराण	74/445
ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते	697/93	समाधिशतक	41
बोध एव दृढः पाशः	627/81, 707/94–96	ज्ञानार्णव	7/14
विषयैर्विप्रलब्धोऽयम्	668/88	आदिपुराण	11/205
विषयानीहते दुःखी	669/89	आदिपुराण	11/209

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
भत्तपइण्णा इंगिणि	117/10	मूलाचार	349
भरहे दुस्समकाले	141/11	मोक्षप्राभृत	76
भवन्त्येतानि लिङ्गानि	153/11, 485/56	आदिपुराण	21/160
भवन्ति नम्रास्तरव:	276/26	नीतिशतक	61
भक्षयेत् श्वित्रमस्माच्च	355/36	अष्टाङ्गहृदय	14/6
भगन्दर: स सर्वश्च	360/36	अष्टाङ्गहृदय	28/4
भगन्दरकरीं विद्यात्	360/36	अष्टाङ्गहृदय	28/7
भक्ति: पुन: सम्यक्त्वं	381/39	समयसार (तात्पर्यवृत्ति)	173-176
भविया सिद्धी जेसिं	396/40-41	प्राकृत पंचसंग्रह	156
भयाशास्नेहलोभाच्च	396/40-41	रत्नकरण्डश्रावकाचार	30
भरहे दुस्समकाले	483/56	मोक्षप्राभृत	76
भावियसिद्धंताणं	167/11	धवला	1/1, 1 सू. 1 गा. 47
भागी वच्छल्लपहावणा	188/13	वसुनन्दिश्रावकाचार	387
भावरहिओ ण	200/14	भावप्राभृत	4
भावविमुत्तो मुत्तो	200/14	भावप्राभृत	43
भावहि अणुवेक्खाओ	319/31	भावप्राभृत	96
भावसहिदो य मुणिणो	319/31	भावप्राभृत	99
भावो वि दिव्वसिवसुक्ख	431/47	भावप्राभृत	74
भावेण होइ वग्गो	591/76	भावप्राभृत	73
भुक्तिमात्रप्रदानेन	213/15	सागारधर्मामृत	818
भृत्यो भ्राताऽपि वा	241/19	शुक्रनीति	3/77
भृशोष्मा रक्त	359/36	अष्टाङ्गहृदय	37/49
भोयणदाणे दिण्णे	193/13	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	363
भोयणबलेण साहू सत्थं	193/13	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	364
भोजनाङ्गा वराहारान्	280/26	आदिपुराण	9/45
भोगसुखै: किमनित्यै:	393/40-41	प्रशमरतिप्रकरण	122
भोगा भोगीन्द्रसेव्या	470/54	ज्ञानार्णव	23/32
भवोद्भवानि दु:खानि	818/109-110	ज्ञानार्णव	116
भव्वजणबोहणत्थं	869/116, 916/122	चारित्रप्राभृत	37

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
भयवसणमलविवज्जिद	872/117-118	रयणसार	5
भरतस्यानुजा ब्राह्मी	1037/142-145	आदिपुराण	24/175
भावहि पढमं तच्चं	856/114	भावप्राभृत	114
भावेह भावसुद्धं अप्पा	991/137	भावप्राभृत	60
भिक्खं चर वस रण्णे	830/113	मूलाचार	897
भावकर्माणि चैतन्य	923/124	आप्तपरीक्षा	114
भिक्खं सरीरजोग्गं	833/113	मूलाचार	945
भिन्नात्मानमुपास्यात्मा	984/136, 1004/140, 1132/162	समाधिशतक	97
भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहात्	966/133	इष्टोपदेश	30
भूयत्थेणाभिगदा	653/86	समयसार	13
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	650/85	समयसारकलश	131
भोगेष्वत्युत्सुकः प्रायो	936/126-127	आदिपुराण	36/85
भोगाणं परिसंखा	1066/119	भगवती आराधना	2076
मंगलणिमित्तहेउं	7	धवला टीका मंगलाचरण	1/1, 1 सू. पृ. 8
मणसा गुणपरिणामो	18/1	भगवती आराधना	753
मयरायदोसमोहो कोहो	81/7	बोधप्राभृत	5
मद्यमांसमधुत्यागैः	86/8	रत्नकरण्डश्रावकाचार	66
मद्यं मांसं क्षौद्रं	87/8	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	61
मद्यपलमधुनिशासन	87/8	सागारधर्मामृत	2/18
मण्णंति जदो णिच्चं	97/9	धवला	1/1, 1, 24 पृ. 204
मणु मिलियउ परमेसरहं	109/9	परमात्मप्रकाश	1/123
मणुवगईओ वि तओ	96/9	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	299
महामुकुटबद्धैश्च	110/10	आदिपुराण	38/30
मज्झिम जहणुक्कस्सा	142/11	बृहन्नयचक्र	344
मध्यान्हे जिनरूपं	162/11	धवला	9/11, 1 सू. 54
मणु मिलियउं परमेसरहं	192/13	परमात्मप्रकाश	1/123
मद्यातोद्यविभूषा	278/26	आदिपुराण	9/35

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
मद्याङ्गा मधुमैरेय	278/26	आदिपुराण	9/37
मदस्य करणं मद्यं	279/26	आदिपुराण	9/39
मणिप्रदीपैराभान्ति	279/26	आदिपुराण	9/43
महापापकृतां पापं	349/35	उत्तरपुराण	68/267
मण्डलाख्यं विचर्ची च	354/36	अष्टाङ्गहृदय	14/8
मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञान	436/47	तत्त्वार्थराजवार्तिक	7/23/1
मणहर विसय	469/54	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	474
मरणं पत्थेइ रणे	475/54	गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	510
मज्झिमजहणुक्कस्सा	484/56	बृहन्नयचक्र	344
मन्त्रेण संस्क्रियमाणं	584/75	तत्त्वार्थराजवार्तिक	8/1/24
मंत्रषित् मन्त्रकृत्	586/75	आदिपुराण	25/129
मण्णंति जदो णिच्चं	97/9	धवला	1/1, 1, 24 पृ. 204
मंदो बुद्धिविहीणो	473/54	गोम्मटसार (जी.का.)	510
मा चिट्ठह मा जंपह	148/11, 489/56	ज्ञानार्णव	6/4
माता न पालयेद् बाल्ये	239/19	शुक्रनीति	3/48
माता शत्रुः पिता वैरी	240/19	नीतिकार	
मासेण पंच पुलगा	272/25	भगवती आराधना	1003
मासम्मि सत्तमे	272/25	भगवती आराधना	1004
माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा	566/72	तत्त्वानुशासन	139
मिच्छंत्तं वेदंतो जीवो	40/3	पञ्चसंग्रह	1/6
मिथ्यादर्शनोदयापादित	42/3	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/7/11
मिथ्यासमवेतज्ञानस्यैव	42/3	धवला	1/1, 1 सू. 15
मिथ्यादृशां विसदृशां	46/3	पद्मनन्दिपंचविंशति	1/34
मिच्छत्तपरिणदप्पा	176/12, 554/70	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	193
मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेषु	227/17	उपासकाध्ययन	43/801
मिथ्याऽहारविहारेण	353/36	अष्टाङ्गहृदय	14/1
मिच्छत्तं परिणदो उण	421/46	मोक्षप्राभृत	15
मिच्छादिट्ठी उवइट्ठं	449/50	प्राकृत पंचसंग्रह	1/8
मिथ्यात्वेनानुविद्धस्य	479/55	अमितगति श्रावकाचार	2/23

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
मिच्छादंसणसल्लं	505/58-59	भगवती आराधना	540
मिच्छादो सद्दिट्ठी	556/70	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	106
मुक्तात्मा शिवः	95/9	परमात्मप्रकाश टीका	2/4
मूलोत्तरगुणनिष्ठाम्	125/11	सागारधर्मामृत	1/15
मुक्खं धम्मज्झाणं	492/56	भावसंग्रह	371
मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ	58/4	ज्ञानार्णव	6/8 (उद्धृत)
मूर्तमिव मोक्षमार्गम्	211/15	सर्वार्थसिद्धि	(प्रारम्भ)
मूलोत्तरगुणेष्वात्त	478/55	आदिपुराण	41/67
मेरुव्व णिक्कंपं णट्ठ	101/9	धवला	1/1,1 सू. गा. 48
मेरुसमलोहपिंडं	329/32	तिलोयपण्णत्ति	2/32
मोहक्खोहविहीणो	442/49	भावप्राभृत	83
मोहतिमिरापहरणे	552/69	रत्नकरण्डश्रावकाचार	47
मौनमेव हितं पुंसां	395/40-41	ज्ञानार्णव	9/6
मध्यस्थवृत्तिरेवं	615/79-80	आदिपुराण	42/201
मनोदयानुविद्धं	618/79-80	आदिपुराण	5/9
महासत्त्वः परित्यक्त	675/89	तत्त्वानुशासन	45
मणुआसुरामरिंदा	723/97	प्रवचनसार	1/63
ममाहंकारनामानौ	744/100	तत्त्वानुशासन	13
मंताभिओग कोदुग	768/103	भगवती आराधना	184
मन्त्रवैद्यकज्योतिष्को	769/103	चारित्रसार	144
मनोनिर्वृतिमेवेह	937/126-127	आदिपुराण	11/172
महाव्रतपवित्राङ्गा	1037/142-145	पद्मपुराण	105/80
मयतण्हियाओ उदयत्ति	1061/148	भगवती आराधना	724
मद्यमांसमधुत्यागैः	1063/149	रत्नकरण्डश्रावकाचार	66
मद्यं मांसं क्षौद्रं	1064/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	61
मद्यपलमधुनिशा	1064/149, 1072/149	सागारधर्मामृत	2/18
मलैर्युक्तं भवेच्छुद्धं	1096/153-155	धर्मसंग्रहश्रावकाचार	53
ममत्तिं परिवज्जामि	1107/158	भावप्राभृत	57
माणुसमंसपसत्तो	665/87	भगवती आराधना	1351

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
मानमालम्ब्य मूढात्मा	740/99	ज्ञानार्णव	18/91
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं	1051/146	पञ्चाध्यायी	2/667
मा कासि तं पमादं	1055/147, 1145/165	भगवती आराधना	734
मांसमात्रपरित्यागाद्	1076/149	लाटी संहिता	1/46
मानुष्यं किल दुर्लभं	1084/151	पद्मनंदिपंचविंशति	1/97
मिच्छंतं वेदंतो जीवो	726/97	भगवती आराधना	40
मिच्छद्दंसणमग्गे	727/97	चारित्रप्राभृत	17
मिच्छादंसणसल्लं	739/99	भगवती आराधना	540
मिच्छाणाणेसु रओ	743/100	मोक्षप्राभृत	11
मिच्छत्तवेदरागा	873/117-118	मूलाचार	407
मिच्छत्तवेदरागा	874/117-118	भगवती आराधना	1112
मिच्छत्तपरिणदप्पा	943/128-130	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	193
मिच्छाणाणेसु रओ	987/137	मोक्षप्राभृत	11
मिच्छादंसणमोहियउ	988/137	योगसार	7
मिच्छादिट्ठि जो सो	989/137	मोक्षप्राभृत	95
मिच्छत्तं अण्णाणं पावं	1003/142-145	मोक्षप्राभृत	28
मिथ्याज्ञानान्वितान्मोहान्	1105/156-157	तत्त्वानुशासन	16
मितं ददाति पिता मितं	597/77	महाभारत	12/148/6
मिच्छादो सद्दिट्ठी	1113/159	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	106
मिच्छादिट्ठी उवइट्ठं	1119/160, 1152/167	प्राकृत पञ्चसंग्रह	1/8
मुक्तलोकद्वयापेक्षः	675/89	तत्त्वानुशासन	44
मुज्झदि वा रज्जदि वा	757/101-102	प्रवचनसार	3/43
मुक्तिरेव मुनेस्तस्य	1003/140	ज्ञानार्णव	19/76
मुहूर्ताद् गलितं तोयं	1070/149	रत्नमाला	31
मुहूर्तयुग्मोर्ध्वगालनं	1070/149	सागारधर्मामृत	3/16
मुहूर्तेऽन्त्ये तथा	1077/149	सागारधर्मामृत	3/15
मुक्तिमनुपगच्छतां कथं	1121/161,	धवला (टी.)	1/1, 1 सू. 141, पृ. 395-396
मूलं संसारदुःखस्य	648/85	समाधिशतक	15

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
मेध्यानामपि वस्तूनां	811/109–110	क्षत्रचूडामणि	11/50
मोहबीजाद् रतिद्वेषौ	692/92	आत्मानुशासन	182
मोहोदएण जीवो	725/97	भगवती आराधना	39
मोहेन संवृतं ज्ञानं	745/100	इष्टोपदेश	7
मोक्षमार्ग इति श्रुत्वा	85/114	उत्तरपुराण	74/442
मोक्षकार्यं प्रति सर्वेषा	880/119	तत्त्वार्थराजवार्तिक	5–6
मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि	1107/158	समयसार	412
मोहणीयस्स उवसमो	1136/163	धवला	13/5, सू. 26
यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः	71/6, 96/9	ज्ञानार्णव	19/3
यदा सा क्रियते पूजा न	120/10	लाटी संहिता	5/201
यत्पुनर्वज्रकायस्य	141/11	तत्त्वानुशासन	84
यमपटहरवश्रवणे	157/11	धवला	9/4, 1 सू. 54 पद्य 92
यस्मात् क्रियाः प्रति	200/14	कल्याणमंदिर स्तोत्र	38
यत्र रत्नत्रयं नास्ति	227/17	उपासकाध्ययन	43/799
यस्य पुत्रो न	242/20	वृद्धचाणक्यनीति	7/137
यत्र कल्पद्रुमा रम्या	278/26	आदिपुराण	9/48
यदि पुत्रः कुपुत्रः स्यात्	317/31	सुभाषित संग्रह	–
यस्यास्ति वित्तं स नरः	335/33	नीतिशतक	41
यथाजागोमहिष्यादि	348/35	हरिवंश पुराण	58/211
यथा धेनुसहस्रेषु	349/35	महाभारत	12/181/16
यच्च ते स्वप्न	377/38	आदिपुराण	41/58
यद् यत्स्वस्यानिष्टं	385/40–41	ज्ञानार्णव	9/168/221
यज्जीवस्योपकाराय	393/40–41	इष्टोपदेश	19
यथा उन्मत्तो दोषोदयाद्	353/51	तत्त्वार्थराजवार्तिक	1/32/1
यत्र यत्र प्रसूयन्ते तव	358/52	ज्ञानार्णव	18/110
यदि क्रोधादयः क्षीणा	358/52, 544/67	ज्ञानार्णव	18/113
यतस्त्रयाणामपि	545/68	राजवार्तिक	1/1/34
यथा धातोर्मलैः	550/69	ज्ञानार्णव	6/22

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
यत् स्थित: प्राक्चिरं	574/73	ज्ञानार्णव	33/36
यदक्षविषयोद्भूतं	574/73	ज्ञानार्णव	18/119
यथा यथा हृषीकाणि	377/74	ज्ञानार्णव	18/125
या च पूजा मुनीन्द्राणां	110/10, 186/13	आदिपुराण	38/29
यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य	233/18	सागारधर्मामृत, टीका	1/11
यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्	399/42	चार्वाक मत	
या पुनरज्ञानिनां	419/45	बृ. द्रव्यसंग्रह	36
यावत्परिग्रहासक्ति:	583/75	पद्मपुराण	2/181
ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति	100/9, 381/39	पद्मनंदिपंचविशंतिका	6/15
ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या	101/9	सागारधर्मामृत	2/44
येषां न विद्या न तपो	380/39	नीतिशतक	13
येन येन निवार्यन्ते	458/52	ज्ञानार्णव	18/111
ये केचित् सिद्धान्ते	672/73	ज्ञानार्णव	18/108
योजनमण्डलमात्रे	158/11	धवला	9/4, पद्य-94
यो यतिधर्ममकथयन्	481/55	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	18
य: परात्मा स एवाहं	192/13	समाधिशतक	31
य: प्रीणयेत् सुचरितै:	242/19	वृद्धचाणक्यनीति	7/137
य: पुत्रवदनाम्भोजं	316/31	उत्तरपुराण	54/46
य: कल्पयेत् किमपि सर्व	525/63	पद्मनंदिपंचविशंति	1/25
यथा कथंचिद् भजतां	602/77	सागरधर्मामृत	11/11
यत्प्रसादान्न जातु	603/77	सागरधर्मामृत	11/13
यथा ह्यनुदये राजन्	613/79-80	महाभारत	68/11
यथा ह्यनुदये मत्स्या	613/79-80	महाभारत	68/10
यस्य जीवदया नास्ति	618/79-80	अनगारधर्मामृत	4/6
यस्मात् क्रिया: प्रति	619/79-80	कल्याणमंदिर स्तोत्र	38
यत्र बालश्चरत्यस्मिन्	628/81	ज्ञानार्णव	7/21
यत्रैवाहितधी: पुंस:	634/82	समाधिशतक	95
यथा दुर्गाश्रितानेतान्	658/86	मनुस्मृति	7/78
यथा यथा समायाति	697/93	इष्टोपदेश	37

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस	701/93	आदिपुराण	1/120
यत्र राग: पदं धत्ते	729/97	ज्ञानार्णव	21/25/1133
यथा यथा न रोचन्ते	733/98	इष्टोपदेश	38
यद्यत्स्वस्यानिष्टं तत्तद्	752/100	ज्ञानार्णव	2/168
यक्षिणी मंत्रपाताल	774/103	ज्ञानार्णव	4/52
यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिम	797/106	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/24/13
यथा सलीलसालङ्कार	806/107-108	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16
यथा शकटं	807/107-108	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/16
यन्नोपयुज्यते यस्य	809/109-110	हरिवंशपुराण	18/146
यज्जीवस्योपकाराय	814/109-110	इष्टोपदेश	19
यद्यद्वस्तु शरीरेऽत्र	817/109-110	ज्ञानार्णव	2/110
यदीदं शोध्यते दैवाच्छरीरं	817/109-110	ज्ञानार्णव	111
यत्प्राग्जन्मनि संचितं	912/122	आत्मानुशासन	262
यद्यपि निषेव्यमाणा	940/126-127	प्रशमरतिप्रकरण	107
यदन्त:शुषिरप्रायं	959/131-132	उपासकाध्ययन	26/329
यस्य खलु रागरेणु	973/134	पञ्चास्तिकाय (टी.)	167
यस्मात् तद्भवे मोक्षो	1033/142-145	प्रवचनसार टी.	3/25
यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण	1079/150	तत्त्वार्थपंचाध्यायी	2/839
यस्य पुण्योदयो जात:	1094/153-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/80
यत्किञ्चिद् दुर्लभं	1094/153-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/81
यदि मोक्षो नास्ति	1036/142-145	प्रवचनसार टी.	3/25
यतोस्य पक्षग्राहित्व	1075/149	लाटी संहिता	1/48
यथा द्राक्षाकर्पूरश्री	1108/158	परमात्मप्रकाश (टी.)	1/96
यथा कोऽपि ग्राम्यजन:	1124/161	समयसार (आख्या.)	11
यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे	1131/162	समाधिशतक	51
यद्येवं तर्हि दिवा	1072/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	131
यात्र बालश्चरत्यस्मिन्	948/128-130	ज्ञानार्णव	7/21
यानि तु पुनर्भवेयु:	958/131-132	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	73
याऽन्तरावस्था सा मिथ्यात्व	993/138	प्रवचनसार (टी.)	2/38

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
याममध्ये न भोक्तव्यं	1076/149	लाटी संहिता	5/235
युजे: समाधिवचनस्य	1012/142-145	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/1/12
ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या	603/77	सागारधर्मामृत	11/44
ये गुरुं नैव मन्यन्ते	620/79-80	पद्मनंदिपंचविंशतिका	6/19
येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या	1108/158	रत्नकरण्डश्रावकाचार	149
ये खलु पर्यन्तपाकोत्तीर्ण	1126/161	समयसार (आ.ख्या.)	12
योनिरुदुम्बरयुग्मं	958/131-132	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	72
योग: समाधि: सम्यक्	1012/142-145	सर्वार्थसिद्धि	6/12
योऽनन्तेनापि कालेन	1122/161	तत्त्वार्थराजवार्तिक	2/7/9
योग्योपादानयोगेन	1138/164	इष्टोपदेश	2
य: श्रुत्वा द्वादशाङ्गीं	85/114	आत्मानुशासन	14
रयणाण महारयणं	51/4	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	325
रत्तवडचरगतावस	79/7	मूलाचार	259
रयणत्तयसरूवे	144/11	रयणसार	61
रम्या रामा ममेमा:	205/14	अमितगतिश्रावकाचार	106
रयणाण महारयणं	425/46	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	325
रत्नत्रयमनासाद्य	492/56	ज्ञानार्णव	6/4
रत्तो बंधदि कम्मं	567/72	समयसार	150
रक्तेक्षणं समद	585/75	भक्तामरस्तोत्र	41
रागादिगहने खिन्नं	102/9	ज्ञानार्णव	21/32
रागादिक्षयतारतम्य	126/11	सागारधर्मामृत	1/16
रागद्वेषासंयममददु:ख	265/24	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	170
रागद्वेषकृताभ्यां जन्तो:	311/30	आत्मानुशासन	180
रागद्वेषादिकल्लोलै:	391/40-41	समाधिशतक	35
रागादीपरिहरणं	443/49	समयसार	155
राज्यैश्वर्यकलत्रबान्धव	470/54	ज्ञानार्णव	23/27
रागद्वेषोपहतस्य	540/66	प्रशमरतिप्रकरण	53
रुहिरादिपूयमंसं	159/11	मूलाचार	276

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
रूसइ णिंदइ अण्णे	474/54	गोम्मटसार	512
रयणत्तयजुत्ताणं	599/77	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	458
रसोपविद्धः सन्	601/77	आदिपुराण	9/174
रसरुहिरमंसमेद	662/87	बारसाणुवेक्खा	45
रयणत्तयसंजुत्तो	676/90	मोक्षप्राभृत	33
रम्येषु वस्तुवनितादिषु	758/101-102	आत्मानुशासन	228
रयणत्तयं ण वट्टइ	891/119	बृ. द्रव्यसंग्रह	40
रत्तो बंधदि कम्मं	930/125	प्रवचनसार	2/87
रत्तो बंधदि कम्मं	931/25, 1105/156-157	समयसार	150
रत्नत्रयभावनया स्वात्मान	1051/146	प्रवचनसार टी.	3/52
रयणत्तये वि लद्धे	1058/148	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	296
राजा चेन्न भवेल्लोके	613/79-80	महाभारत	67/16
रागद्वेषकृताभ्यां	628/81	आत्मानुशासन	180
रागद्वेषद्वयीदीर्घ	730/98	इष्टोपदेश	11
रागाद्यभिहतं चेतः	931/98	ज्ञानार्णव	21/14/1121
रागादिभिरविश्रान्तैः	731/98, 931/125	ज्ञानार्णव	21/15/1122
रागद्वेषादिकल्लोलै	644/84, 720/96, 731/98	समाधिशतक	35
रागादिपङ्कविश्लेषात्	731/98	ज्ञानार्णव	21/17/1124
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यात्	752/98	आत्मानुशासन	237
रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा	848/114	धवला	3/1, 22 श्लोक 9-11 पृ. १२-१३
रायरोस वे परिहरिवि	898/120	योगसार	48
राओ हं भिच्चो हं	943/126-127	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	187
रागो दोसो मोहो य	979/135	समयसार (आ.टी.)	177
रागद्वेषविषोद्यानं	1060/148	ज्ञानार्णव	30
रागादिगहने खिन्नं	1060/148	ज्ञानार्णव	21/32
रागजीववधापाय	1068/149	सागारधर्मामृत	2/14
रागो दोसो मोहो हास्सा	1102/156-157	बारसअणुवेक्खा	52
रागो दोसो मोहो आसवा	1112/159	समयसार	177

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
रुक्खमूलब्भोका	631/82	धवला	13/5, 4 सू. 26, पृ. 58
रे दुरात्मन्! आत्मपंसन्	955/131-132	समयसार (आ. टी.)	23-25
रात्रौ भुञ्जानानां	1072/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	129
रागाद्युदयपरत्वा	1072/149	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	130
लक्षणं द्विविधं तस्य	152/11, 487/56	हरिवंशपुराण	56/36
लवणे अडयालीसा	226/17	भावसंग्रह	534
लद्धूण य सम्मत्तं मुहुत्त	518/62	भगवती आराधना	52
लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं	531/64	समाधिशतक	87
लूतादंशश्च सर्वोऽपि	357/36	अष्टाङ्गहृदय	37/55
लूता नाभेर्दशत्यू	358/36	अष्टाङ्गहृदय	37/59
लोभमूलानि पापानि	172/12	अनगारधर्मामृत	6/24
लोभेणासाधत्तो	178/12	भगवती आराधना	1383
लोभोदयसामान्यस्य	581/75	धवला	2/1, 1, 1 पृ. 416
लद्धूण होंति तुट्ठा	803/107-108	मूलाचार	818
लद्धूण य सम्मत्तं	903/121	दर्शनप्राभृत	34
लद्धूण य मणुयत्तं	1123/161	दर्शनप्राभृत	34
लघुपञ्चाक्षरोच्चार	1007/141	ज्ञानार्णव	39/54
लिंगम्मि इत्थीणं	1029/142-145	सूत्रप्राभृत	24
लुप्यते मानिन: सश्वद्	740/93	ज्ञानार्णव	18/88
लोयववहारविरदो	695/93	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	402
लिंगं इत्थीणं	1031/142-145	सूत्रप्राभृत	22
वर्द्धमानो जिन: श्रीमान्	15/1	उत्तरपुराण	74/1
वरोपलिप्सयाशावान्	77/7	रत्नकरण्डश्रावकाचार	23
वस्तुधर्मानुयायित्वात्	145/11	आदिपुराण	21/158
वज्जियसयलवियप्पो	148/11, 489/56	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	482
वमिगं अमेज्झसरिसं	275/25	भगवती आराधना	1010
वय णियदंसण अहिमुहउ	299/27	परमात्मप्रकाश	2/58

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
वर्धते न चिरं लोके	316/31	सुभाषितरत्नभण्डार	पृ. 89
वज्ज-घणभित्ति भागा	326/32	त्रिलोकसार	177
वर्धयेतां तदेवाम्बु	361/36	अष्टाङ्गहृदय	12/38
वड्ढदि बोही संसग्गेण	340/42	मूलाचार	956
वधबंधच्छेदादे:	406/43	रत्नकरण्डश्रावकाचार	78
वदसमिदी गुत्तीओ	450/50	समयसार	273
वदणियमाणि धरंतां	536/65	समयसार	153
वरं विषं यदेकस्मिन्	581/75	आदिपुराण	36/74
विमथ्यातिक्रमेरंश्च	613/79-80	महाभारत	68/12
व्रणानामधिकं शूलं	355/36	अष्टाङ्गहृदय	14/112
व्यन्तरभेरीताडन	159/11	धवला	पु. 9/4, पद्य-101
व्यापत्तिव्यपनोद:	268/25	रत्नकरण्डश्रावकाचार	112
वायणपरियट्टण पुच्छ	162/11	भगवती आराधना	2046
वासीदिं लक्खाणं उण्ह	329/32	तिलोयपण्णत्ति	2/31
वातश्लेष्मोद्भवा:	354/36	अष्टाङ्गहृदय	14/9
विदिताशेषशास्त्रोऽपि	46/3, 446/49	समाधिशतक	94
विद्यावृत्तस्य संभूति	51/4, 423/46	रत्नकरण्डश्रावकाचार	32
विसयासत्तो वि सया	66/6	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	314
विरज्य कामभोगेषु	102/9	ज्ञानार्णव	22/3
विसयकसायविणिग्गह	130/11	बारस-अणुवेक्खा	77
विसयकसाएहि जुदो	135/11	मोक्षप्राभृत	46
विश्वव्यापारनिर्मुक्तं	144/11	ज्ञानार्णव	2/123
विगतार्थागमने वा स्वशरीरे	158/11	धवला	पु. 9/4, पद्य-98
विजयपडाएहिं णरो	204/14	वसुनंदि श्रावकाचार	492
विधाय सप्ताष्टभवेषु	220/16	अमितगति श्रावकाचार	11/124
विज्ञानं स्यात् क्रमज्ञत्वं	281/26	आदिपुराण	20/84
विच्छियसहस्सवेयण	306/32	त्रिलोकसार	191
विसर्पवांश्छोफ	358/36	अष्टाङ्गहृदय	37/57
विसजंतकूडपंजर	452/51	प्राकृत पंचसंग्रह	1/118

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
विरलो अज्जदि पुण्णं	457/52	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	48
विस्फुलिंगनिभे नेत्रे	468/54	ज्ञानार्णव	24/36
विसयासत्तो विमदी	474/54	तिलोयपण्णत्ति	2/297
विना कालेन शेषाणि	510/60-61	तत्त्वार्थसार	3/4
विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे	517/62	समयसार ता.वृ. टीका	2
विषयाशाभिभूतस्य	542/67	ज्ञानार्णव	18/116
विगलितदर्शनमोहैः	552/69	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	37
विसयारत्तो वि सया	555/70	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	314
विरागस्योपभोगो	557/70	समयसार टी.	193
विषयेषु यथा चित्तं	577/70	ज्ञानार्णव	18/126
विषापहारं मणिमौषधानि	585/75	विषापहार स्तोत्र	14
वीतरागं सरागं च	54/4	अमितगति श्रावकाचार	2/65
वीतरागसहजपरमानंद	93/9	समयसार टी.	373-382
वृणोति वीतसंरम्भो	94/9	ज्ञानार्णव	21/24
वेरग्गपरो साहू परदव्व	63/6	मोक्षप्राभृत	101
वेढेइ विसयहेदुं कलत्त	111/10	भगवती आराधना	913
वेदालगिरिभीमा	328/32	त्रिलोकसार	186
वेज्जावच्चविहूणं	401/42	मूलाचार	958
वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं	154/11, 490/36	बृ. द्रव्यसंग्रह	57
वैराग्यं ज्ञानसम्पत्तिः	154/11, 490/36	उपासकाध्ययन	39/634
वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्	673/89	ज्ञानार्णव	4/21
वपुर्गृहं धनं दाराः	743/100	इष्टोपदेश	8
वश्याकर्षणविद्वेषं	773/103	ज्ञानार्णव	4/50
ववहारणयो भासदि	810/109-110	समयसार	27
वदमुवहम्मदि तीहिं	874/117-118	भगवती आराधना	1208
वत्थूणं जे सहावं	882/119	बृ. नयचक्र	326
वस्त्वेकदेशपरीक्षा	883/119	-	-
वउ तव संजमु सीलु	897/120	योगसार	31
वय तव संजम मूल	903/121	योगसार	29

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
वउ तउ संजमु सील	903/121	योगसार	33
वरं विषं यदेकस्मिन्	940/126-127, 1059/148	आदिपुराण	36/74
वय गुण सील परीसह	988/137	रयणसार	121
वसुदेवस्त्रियो	1034/142-145	हरिवंशपुराण	61/10
वस्त्रमात्रं समादाय	1043/142-145	सुदर्शनचरित्र	5/88
वस्त्रपूतं जलं पेयं	1068/149	रत्नमाला	20
व्रतत्राणाय कर्तव्यं	1072/149	आचारसार	5/7071
वरवयतवेहि सग्गो	1083/151	मोक्षप्राभृत	25
वार्तामूलो ह्ययं	614/79-80	महाभारत	68/35
वासनामात्रमेवैतत्	724/97	इष्टोपदेश	6
वावारविप्पमुक्का	787/103, 906/122	नियमसार	75
वायाए अकहेतां	788/105	भगवती आराधना	368
वाग्विस्तरपरित्यागा	852/114	उत्तरपुराण	74/447
विणएण विप्पहूणस्स	609/78	भगवती आराधना	130
विणओ मोक्खद्दारं	609/78	भगवती आराधना	131
विदिताशेषशास्त्रोऽपि	637/83	समाधिशतक	34
विषयैर्विप्रलब्धोऽयम्	668/88	आदिपुराण	11/205
विषयानीहते दु:खी	669/88	आदिपुराण	11/9
विद्धयति कषायाग्नि:	710/94-96	ज्ञानार्णव	2/192/245
विषयाशावशातीतो	715/94-96	रत्नकरण्डश्रावकाचार	10
विषयसुखनिरभिलाष:	716/94-96, 906/122	प्रशमरतिप्रकरण	242
विहाय सर्वसंकल्पान्	717/94/96	ज्ञानार्णव	18/15/902
विधिद्रव्यदातृपात्र	637/114	तत्त्वार्थसूत्र	7/39
विषयानुभवे सौख्यं	937/126-127	आदिपुराण	11/173
विषयानर्जयन्नेव	938/126-127	आदिपुराण	11/192
विषयेषु यदायत्तं	948/128-130	पद्मपुराण	29/76
विहितहितमिताशी	954/131-132	आत्मानुशासन	225
विस्सासकरं रूवं	954/131-132	भगवती आराधना	83
विशुद्धज्ञानदर्शन	996/139	समयसार टी.	125

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
विसयविरत्तो मुंचदि	998/139	समयसार टी.	125
विवरीयमभिणिवेसं	1012/142-145	नियमसार	139
विवरीयमूढभावा	1022/142-145	बोधप्राभृत	52
विषये पुण्डरीकिण्या	1040//142-145	उत्तरपुराण	71/394
विषयाशाभिभूतस्य	1059/148	ज्ञानार्णव	18/116
विरम विरम संगान्	1062/148	ज्ञानार्णव	15/41
विनीता सुगुणग्राही	1103/156-157	सुभाषितसंग्रह	421
वीतरागसर्वज्ञ	889/119	बृ. द्रव्यसंग्रह टी.	14
वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादे	700/93	बारसाणुवेक्खा	1/98
वृक्षच्छेदस्तदानयनम्	706/94-96	भगवती आराधना टी.	232
व्यवहारे सुषुप्तो यः	749/100	समाधिशतक	78
व्यञ्जनमशक	770/103	मूलाचार	449
वेयणवेज्जावच्चे	805/107-108	मूलाचार	479
वेरग्गपरो साहू	907/122, 1082/151	मोक्षप्राभृत	101
वैराग्यवासितं चित्तं	1093/152-155	प्रश्नोतरोपासकाचार	2/67
शङ्काकांक्षा विचिकित्सा	84/7	तत्त्वार्थसूत्र	7/23
शर्वरी दीपकश्चन्द्रः	242/19	वृद्ध चाणक्यनीति	7/138
शतह्रदोन्मेषचलं	338/34	वृ. स्वयम्भूस्तोत्र	3
शयानं चानुशेते तिष्ठन्तं	349/35	महाभारत	11/2/32
शयनासनसंवाहन	418/45	प्रशमरतिप्रकरण	45
शमाम्बुभिः क्रोध	457/52	ज्ञानार्णव	18/109
शरीरमात्मनो भिन्नं	530/64	योगसार	5/59
शस्त्रप्रहारदीप्ताग्नि	581/75	आदिपुराण	36/77
श्वमार्जारखरोष्ट्रादि	327/32	आदिपुराण	10/100
श्वासदंष्ट्रशकृन्मूत्र	358/36	अष्टाङ्गहृदय	37/58
शास्त्रदायी सतां पूज्यः	194/13	अमितगति श्रावकाचार	50
शरीरं मानसं दुःखम्	325/32	हरिवंशपुराण	4/365
शिवं परमसौख्यं परम	94/9	समाधिशतक टी.	2

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
शिवं परमकल्याणं	94/9	बृ. द्रव्यसंग्रह टीका	14
शीतस्तम्भस्वेद	363/36	अष्टाङ्गहृदय	2/26
शुद्धात्मादितत्त्वभाव	42/3	समयसार टी.	88
शुभाशुभविपाकानां	348/35	उत्तरपुराण	68/435
शश्वदनात्मीयेषु	744/100	तत्त्वानुशासन	14
शरीरमपि पुष्णन्ति	813/109-110	आत्मानुशासन	196
शरीरमेतदादाय त्वया	818/109-110	ज्ञानार्णव	115
शरीरकञ्चुकेनात्मा	643/84, 866/116, 946/128	समाधिशतक	68
शस्त्रप्रहारदीप्ताग्नि	940/127	आदिपुराण	36/77
शुभं शरीरं दिव्यांश्च	748/83, 948/128-130	समाधिशतक	42
शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं	976/135	समयसार टी.	184-185
शुभेन संयोग:	1016/142-145	मूलाचार टी.	1020
शुभोदयेन जायन्ते	1094/153-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/78
शुक्ले चाद्ये पूर्वविद:	1135/163	तत्त्वार्थसूत्र	9/37
शतवर्षदीक्षिताया	1035/142-145	प्रवचनसार	3/25
श्रद्धा शक्तिश्च भक्तिश्च	281/26	आदिपुराण	20/82
श्रद्धास्तिक्यमतास्तिक्ये	281/26	आदिपुराण	20/83
श्रुतैर्दृष्टै: स्मृतं	469/54	ज्ञानार्णव	23/25
श्रममविचिन्त्यात्म	607/78	स्याद्वादमंजरी	3
श्रद्धा सद्य:समुत्पन्ना	852/114	उत्तरपुराण	74/443
श्रावकानार्यिकासंघं	608/78	आदिपुराण	38/169
श्रीमत्यो भवतो	1033/142-45	पद्मपुराण	113/41
श्री कुन्दकुन्दमुनिराज	प्रशस्ति	रयणसार टी.	1
श्री सद्‌गुरूणां कृपया	प्रशस्ति	रयणसार टी.	2
श्रुतार्थिभ्य: श्रुतं	608/78	आदिपुराण	38/170
श्रेयोऽर्थिना हि जिन	781/104	भगवती आराधना टीका	1/13
श्रेष्ठिनी जिनमत्या	1043/142-145	सुदर्शनचरित	5/87
श्रेण्यारोहात् प्राग्	1134/163	सर्वार्थसिद्धि	9/36

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
ससरीरा अरहंता केवल	13/1	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	198
सव्वत्थ संपुडंगस्स	16/1	वसुनंदि श्रावकाचार	230
समणोत्ति संजदो	22/1	मूलाचार	888
सम्म वा मिच्छाविय	23/1	बृहन्नयचक्र	332
सम्मत्तचरणसुद्धा	27/2	चारित्रप्राभृत	9
सम्मत्तचरणभट्ठा	28/2	चारित्रप्राभृत	10
सद्दहदि ण सो समणो	36/2	प्रवचनसार	1/91
सदसतोरविशेषाद्	42/3	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/7/11
सम्यग्दर्शनसद्रत्नं	50/4	आदिपुराण	9/134
सद्दर्शनमहारत्न	51/4, 425/46	ज्ञानार्णव	6/52
सद्दव्वरओ समणो	63/5	मोक्षप्राभृत	14
सम्मत्तं सण्णाणं सच्चरित्तं	63/6	मोक्षप्राभृत	105
सग्रन्थारम्भहिंसानां	79/7	रत्नकरण्डश्रावकाचार	26
सम्यग्दर्शनशुद्धः	86/8	रत्नकरण्डश्रावकाचार	137
सर्वज्ञः सकलः शिवः	94/9	ज्ञानार्णव	28/17
सयलजिणणमोक्कारो	100/9	धवला	9/4.1 सू. 1
सम्पूर्णदेशभेदाभ्यां	125/11, 480/55	पद्मनंदिपंचविंशति	6/4
स एव पुनश्चारित्रमोह	125/11, 564/72	सर्वार्थसिद्धि	9/45
सज्झायझाणजुत्ता	130/11	बोधप्राभृत	56
सम्मूहदि रक्खेदि य	134/11	लिङ्गप्राभृत	5
सद्दृष्टिषु यथाम्नायं	143/11	आदिपुराण	21/156
सप्तदिनान्यध्ययनं	158/11	धवला	पु. 9/4, पद्य-95
सज्झाये पट्ठवणे	160/11	मूलाचार	271
सज्झायं कुव्वंतो	165/11	भगवती आराधना	103
सव्वे आगमसिद्धा	166/11	प्रवचनसार	3/35
सव्वे वि गंथदोसा	178/12, 573/73, 582/75	भगवती आराधना	1387
सन्यस्तसर्वसंगेभ्यो	179/12	ज्ञानार्णव	16/29
समणो आउत्तो तं	183/13	प्रवचनसार	3/28
समस्तामपि आत्मशक्तिं	183/13	प्रवचनसार टीका	3/28

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सब्भावा सब्भावा	187/13	वसुनंदिश्रावकाचार	383
सयलो एस य लोओ	201/14	तिलोयपण्णत्ति	1/163
सण्ण-गारव-पेसुण्ण	233/18	भगवती आराधना	1120
सव्वासु अवत्थासु वि	272/25	भगवती आराधना	1005
सर्पो हारलता भवत्यसिलता	312/30	पद्मनंदिपंचविंशति	191
सर्वः प्रेप्सति सत्सु	337/34	आत्मानुशासन	9
सुखे वा यदि दुःखं	348/35	हरिवंशपुराण	62/51
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु	354/36	अष्टाङ्गहृदय	14/7
सर्वैः स्यात्काकणं	354/36	अष्टाङ्गहृदय	14/10
सस्वेदक्लेदसङ्घोथान्	355/36	अष्टाङ्गहृदय	14/5
सम्मत्तरयणभट्ठा	385/40-41, 547/68, 433/47	दर्शनप्राभृत	4
सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु	386/40-41	प्रशमरतिप्रकरण	148
सम्मत्तादो णाणं णाणादो	387/40-41, 422/46	दर्शनप्राभृत	15
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य	391/40-41	समाधिशतक	30
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	392/40-41, 442/49	रत्नकरण्डश्रावकाचार	3
सम्मत्तगुणपहाणो	425/46	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	326
सम्मत्तविरहियाणं	429/47	दर्शनप्राभृत	5
सयलंगेक्कंगेक्कं	436/47	गोम्मटसार (कर्म)	88
सद्दहदि य पत्तियदि	450/50, 521/62	समयसार	275
सम्मादिट्ठी कालं	454/51	रयणसार	53
सम्यग्दृष्टिर्भवति नियतं	461/53	समयसार कलश	136
सव्वोसप्पिणीहिंतो	476/55	धवला	3/1, 2 सू. 14
सत्कारलाभसंवृद्ध	477/55	आदिपुराण	41/49
सकलं विकलं चरणं	480/55	रत्नकरण्डश्रावकाचार	50
समदा थवो य चरणं	513/60-61	मूलाचार	22
सम्यग्दर्शनशुद्धाः	517/62	रत्नकरण्डश्रावकाचार	35
सम्यग्दर्शनज्ञान	545/68	तत्त्वार्थसूत्र	1/1
सर्वाङ्गीणं विषं यद्वत्	584/75	आदिपुराण	21/214

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	**टीका पृष्ठ/गाथा सं.**	**शास्त्र/प्रकरण नाम**	**उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल**
संखित्तसद्दरयण	30/2	धवला	9/4.1 सू. 44
संवेगप्रशमास्तिक्य	54/4	अमितगति श्रावकाचार	2/66
संवेओ णिव्वेओ णिंदा	60/5	वसुनंदि श्रावकाचार	49
संगपङ्कात् समुत्तीर्णः	71/6	ज्ञानार्णव	16/33
संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य	232/10	आत्मानुशासन	22
संगत्यागः कषायाणां	155/11, 486/56	तत्त्वानुशासन	75
संगणिमित्तं कुद्धो	233/18	भगवती आराधना	1147
संविग्गो वि य संविग्गयरो	403/42	भगवती आराधना	355
संसग्गी सम्मूढो मेहुण	404/42	भगवती आराधना	1087
संसारः पुत्रदारादिः	433/47	योगसार	7/44
संगच्चाएण फुडं	493/56	आराधनासार	31
संयोगे विप्रयोगे	495/57	ज्ञानार्णव	2/87
संवृणोत्यक्षसैन्यं	577/74	ज्ञानार्णव	18/151
संसाराग्निशिखाच्छेदः	588/76	उपासकाध्ययन	44/875
स्वतत्त्वविमुखैर्मूढैः	44/3	ज्ञानार्णव	1/27
स्थिरं धर्मतरोर्मूलं	50/4	आदिपुराण	9/132
स्वपरान्तविज्ञान	70/6	ज्ञानार्णव	29/48
स्मयेन योन्यानत्येति	75/7	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	26
स्त्रीरागकथाश्रवण	113/10	तत्त्वार्थसूत्र	7/7
स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्म	114/10	अनगारधर्मामृत	7/12
स्वाध्यायः परमस्तावत्	129/11	तत्त्वानुशासन	80
स्यातां तत्रार्तरौद्रे	134/11	ज्ञानार्णव	23/19
स्वप्नेऽपि कौतुकेनापि	135/11	ज्ञानार्णव	37/6
स्मर भोगीन्द्र वल्मीकं	179/12	ज्ञानार्णव	16/27
स्तुवानां मां स्तवैः	205/14	अमितगति श्रावकाचार	11/105
स्वाम्यमात्यसुहृत्कोष	245/20	शुक्रनीति	1/61
स्थालानि चषकान्	280/26	आदिपुराण	9/47
स्त्रियः संसारवल्लर्यः	316/31	उत्तरपुराण	54/45
स्युस्तेषामशुभतराः	326/32	हरिवंशपुराण	4/368

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
स्त्रीभिर्जित ऋणी	335/33	शुक्रनीति	3/128
स्वं दातुं सुमहच्छक्यं	345/35	जैनशिलालेखसंग्रह	पृ. 18 भा. 2
स्वदत्तां परदत्तां वा	346/35	जैनशिलालेखसंग्रह	शक सं 722
स्वदत्तां द्विगुणं पुण्यं	347/35	जैनशिलालेखसंग्रह	शक सं 722
स्वदत्ता पुत्रिका धात्री	347/35	जैनशिलालेखसंग्रह	1/363
स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वाद्	441/49	इष्टोपदेश	34
स्वरूपे चरणं चारित्र	444/49	प्रवचनसार टी.	7
स्वयं कृतं कर्म यदात्मना	496/57	भावनाद्वाविंशति	30
स्वामिगुरुबन्धु	572/73	ज्ञानार्णव	18/107
स्रजो नानाविधा:कर्ण	279/26	आदिपुराण	9/42
सामायिकं संस्कारं	115/10	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	151
सामान्यं लक्षणं कार्श्यं	356/36	अष्टाङ्गहृदय	8/21
सामायिके सारम्भा:	490/56	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	102
साम्यं स्वास्थ्यं	566/72	पद्मनन्दि पञ्चविंशति	4/64
सिद्धिप्रसादसोपानं	49/4	आदिपुराण	9/13
सुत्तं गणहरगधिदं	32/2	भगवती आराधना	33
सुत्तत्थं जिणभणियं	34/2, 395/40-41	सूत्रप्राभृत	5
सुवर्णं रजतं मुक्ता	48/4	सूक्ति	अज्ञात
सुत्तं गणहरकहिदं	164/11	मूलाचार	277
सुत्तम्मि जाणमाणो	168/11	सूत्रप्राभृत	3
सुतस्वजनभूपाल	180/12	ज्ञानार्णव	16/30
सुतप्तारसपायन	330/32	सर्वार्थसिद्धि	3/5
सुखं वा यदि वा दु:खं	348/35	हरिवंशपुराण	62/51
सुहपरिणामो पुण्णं	388/40-41	प्रवचनसार	2/89
सुजणो वि होइ लहुओ	402/42	भगवती आराधना	347
सुह असुहाण णिवित्ती	444/49	बृहन्नयचक्र	379
सूरिउवज्झायसाहू	211/15	तिलोयपण्णत्ति	1/20
सेसेसु समएसु	29/2	तिलोयपण्णत्ति	1/904
सेज्जागासणिसेज्जा	268/25	भगवती आराधना	305

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सेयासेय विदण्हू	422/46	दर्शनप्राभृत	16
सेवहि चउविहलिंगं	432/47	भावप्राभृत	109
सेवंतो वि ण सेवइ	558/70	समयसार	197
सो देवो जो अत्थं	76/7	बोधप्राभृत	23
सोवण्णियं वि णियलं	389/40-41	समयसार	146
सौरूप्यमभयादाहु:	107/10	उपासकाध्ययन	43/772
सौभागीयसि कामिनी	238/19	पद्मनंदिपंचविंशति	1/186
सौभाग्यशौर्यसुख	255/21	पद्मनंदिपंचविंशति	2/44
समुत्तानयितुं शक्ता	598/77	उत्तरपुराण	68/190
सम्यग्ज्ञानदानं	605/78	तत्त्वार्थराजवार्तिक	6/24/6
सम्पूजकानां प्रतिपालकानां	612/79-80	शांतिभक्ति	
सद्धाभत्ती तुट्ठी	619/79-80	वसुनंदि श्रावकाचार	224
सर्वेन्द्रियाणि संयम्य	644/84	समाधिशतक	30
सम्मूहदि रक्खेदि	645/84, 668/88, 1104/156-157	लिंगप्राभृत	5
सम्मद्दंसणसुद्धं	648/85	रयणसार	153
सद्दव्वरओ सवणो	655/86	मोक्षप्राभृत	14
सम्मत्तादो णाणं	656/86, 684/91, 111/159, 1144/165	दर्शनप्राभृत	15
सरन् सरसि	664/87	आदिपुराण	11/199
सम्यग्निर्णीत	675/89	तत्त्वानुशासन	43
सज्झायं कुव्वंतो	675/89	मूलाचार	410
सव्वण्हुमुहुविणिग्गय	687/92	जम्बूद्वीवपण्णत्ति संगह	13/82
सम्मत्तं सण्णाणं	700/93	बारसाणुवेक्खा	13
समदा तह मज्झत्थं	700/93	बृ. नयचक्र	35
सगणे परगणे वा	711/94-96	भगवती आराधना	371
सन्त्येव कौतुकशतानि	748/100	आत्मानुशासन	168
स धर्मो विनिपातेभ्यो	752/101-102	आदिपुराण	2/37
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि	753/101-102	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	3

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सव्वारंभणियत्ता	778/104	मूलाचार	784
सव्वे कसायमुत्तं	780/104	मोक्षप्राभृत	27
सगुणम्मि जणे	788/105	भगवती आराधना	369
समसंतोसजलेणं	789/105	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	397
सहजुप्पण्णं रूवं	794/106	दर्शनप्राभृत	24
सव्वत्थ अत्थि जीवो	812/109-10	पञ्चास्तिकाय	34
सयलकुहियाण पिंडं	815/109-110	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	83
सर्वदैव रुजाक्रान्तं	817/109-110	ज्ञानार्णव	113
सग्रन्थारंभहिंसानां	845/114	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	24
सर्वज्ञाज्ञानिमित्तेन	851/114	उत्तरपुराण	74/441
सव्वे आगमसिद्धा	854/114	प्रवचनसार	34
सव्वविरओ वि	856/114	भावप्राभृत	97
सत्तूमित्ते य समा	861/115, 1020/142-144	बोधप्राभृत	46
सज्झायझाणजुत्ता	861/115,	बोधप्राभृत	56
सम्मं विदिदपदत्था	863/115, 1046/142-145	प्रवचनसार	3/73
सम्यग्दर्शनज्ञान	880/119	तत्त्वार्थसूत्र	1/1
सम्यक्त्वमाहात्म्येन	902/121	बृ. द्रव्यसंग्रह टी.	41
सम्मत्तविरहियाणं	903/121	दर्शनप्राभृत	34
सम्मजुदं मोक्खसुहं	904/121	दर्शनप्राभृत	10
सत्कार: पूजाप्रशंसा	908/122	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/9/25
सम्यक्त्वपूर्वक:	912/122	समयसार ता. टी.	3/55
सम्मत्ताओ चरणं	914/123	दर्शनप्राभृत	31
सव्वे वि य अरहंता	929/125	प्रवचनसार	1/38
सतृणाभ्यवहारित्वं	955/131-132	पञ्चाध्यायी	8/829
सच्चित्तभत्तपाणं	958/131-132	भावप्राभृत	102
सत्यन्धरमहादेव्या	1039/142-145	उत्तरपुराण	75/683
समीपे चन्दना	1039/142-145	उत्तरपुराण	75/684
स च मुक्तिहेतु	1079/150	तत्त्वानुशासन	33
सज्झायं कुव्वंतो	1084/151	भगवती आराधना	103

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सम्यक्त्वमेघ:	1092/153-155	अमितगति श्रावकाचार	2/70
सम्यक्त्वसमलं	1096/153-155	धर्मसंग्रह श्रावकाचार	54
सम्मत्तं सलिलपवाहो	1097/153-155, 1120/160	दर्शनप्राभृत	7
सव्वकम्माणमुक्क	1140/164	धवला	6/1, 9-8, पृ. 204 सू. 3
स्वामीच्छाप्रतिकूलत्वं	597/77	क्षत्रचूडामणि	10/2
स्वाभिजात्यमरोगत्वं	598/77	उत्तरपुराण	62/64
स्वदेहसदृशं	642/84, 945/128/30	समाधिशतक	10
स्वपरान्तरविज्ञान	646/84	ज्ञानार्णव	29/48
स्वाध्यायाद् ध्यान	674/89	तत्त्वानुशासन	81
स्वध्यानाच्छिवपाण्डु	714/94-96	अनगारधर्मामृत	6/111
स्त्रीपुंनपुंसकै	714/94-96	हरिवंश पुराण	10/42
स्वयूथ्यान् प्रति	793/106, 846/114	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	17
स्मयेन योऽन्यान्	798/106	रत्नकरण्ड श्रावकाचार	26
स्वपराध्यवसायेन	867/116, 945/128-130	समाधिशतक	11
स्वार्थैकदेशनिर्णीति	883/119	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	1/6
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां	965/133	समाधिशतक	49
स्वर्गापवर्गफलदं	1079/150	तत्त्वानुशासन	66
सामायिकं संस्कारं	633/82	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	151
सामग्गिंदियरूवं	722/97	बारस अणुवेक्खा	4
सापेक्षा नया: सिद्धा:	884/119	सिद्धिविनिश्चय	10
सावयगुणेहिं	964/133	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	196
साम्यमेव न	973/134	ज्ञानार्णव	23/3
साऽहं दु:खक्षया	1036/142-145	पद्मपुराण	105/75
सिद्धि: स्वात्मोपलब्धि:	625/99	सिद्धभक्ति	1
सिद्धे पढिदे मंते	773/103	मूलाचार	452
सिद्धि: स्वरूपोपलब्धि:	926/124	धवला	1/1, 1 सू. 24
सितपटादीनां	1024/142-145	सूत्रप्राभृत-टीका	23
सिंहासनोपधाने	1028/142-145	महापुराण	39/164
सीलं विसयविरागो	685/91	शीलप्राभृत	40

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
सीतारुक्मिणीकुन्ती	1035/142-145	प्रवचनसार टीका	3/25
सुत्तत्थं जिणभणियं	625/81	सूत्रप्राभृत	5
सुद्धं तु वियाणंतो	635/82, 925/124	समयसार	186
सुखार्थं चेष्टितं	753/101-102	पद्मपुराण	4/36
सुद्धस्स य सामण्णं	863/115	प्रवचनसार	3/74
सुद्धो जीवसहावो	887/119	वृ. नयचक्र	44
सुहपरिणामो पुण्णं	993/138	प्रवचनसार	2/89
सुप्रभा गणिनी	1038/142-145	उत्तरपुराण	62/508
सुविदिदपयत्थ	1048/142-145	प्रवचनसार	1/14
सुहअसुहवयण	1080/150	नियमसार	119-120
सुखं पुण्योद्भवं	1094/152-155	प्रश्नोत्तरोपासकाचार	2/82
सेयासेयविदण्हू	656/86, 1144/165	दर्शनप्राभृत	16
सेदमलरेणुकद्दम	720/94-96	तिलोयपण्णत्ति	1/11
सो वि परिसहविजओ	713/94-96	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	98
सो संसारो भण्णदि	741/99	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	33
सोऽहमित्यात्तसंस्कार:	926-124, 983/136, 1004/140	समाधिशतक	28
सो को वि णत्थि	1086/152	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	66
संचिन्तयन्ननुप्रेक्षा	678/90	तत्त्वानुशासन	79
संगत्याग: कषायाणां	679/90	तत्त्वानुशासन	75
संदेहतिमिरदलणं	687/92	जम्बूद्दीवपण्णत्तिसंगह	13/82
संत्यज्य लोकचिन्तां	696/93, 906/122	प्रशमरतिप्रकरण	129
संवेयणी पुण कहा	702/93	भगवती आराधना	656
संजोग विप्पजोगं	723/97	वारसाणुवेक्खा	36
संसारतरणहेऊ	751/101-102	भावप्राभृत	85
संता वि गुणा	786/105	भगवती आराधना	362
संतो वि गुणा	787/105	भगवती आराधना	363
संतं सगुणं कित्ति	787/105	भगवती आराधना	365
संक्षेपाद्विस्तृतेरर्था	851/114	उत्तरपुराण	74/440

उद्धृत गाथा/पद्य/गद्य/सूत्र आदि	टीका पृष्ठ/गाथा सं.	शास्त्र/प्रकरण नाम	उद्धृत ग्रन्थ की गाथा आदि सं./सन्दर्भस्थल
संसारमूलहेदुं	1061/148	भगवती आराधना	723
संयमो ह्यात्महित:	1084/151	तत्त्वार्थराजवार्तिक	9/6/27
संसारो पंचविहो	1086/152	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	66
संघो गुणसंघाओ	1100/156-157	भगवती आराधना	713
षट्त्रिंशदङ्गुलं वस्त्रं	1070/149	धर्मोपदेशपीयूष श्रावकाचार	4/87/14
हस्त्यश्वरथपादातं	249/20	आदिपुराण	29/6
हस्त्यश्वपृष्ठगमनं	359/36	अष्टाङ्गहृदय	28/1
हते निष्पीडिते ध्वस्ते	466/54	ज्ञानार्णव	24/4
हृदयसरसि याव	540/66	आत्मानुशासन	213
हिंसा सत्यस्तेयाद	87/8	चारित्रसार	30/4
हिंसाया: स्तेयस्य च	341/34	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	104
हिंसाकर्मणि कौशलं	411/44	ज्ञानार्णव	24/6
हिंसानृतचौर्येभ्य:	443/49	रत्नकरण्डश्रावकाचार	49
हिंसानृतस्तेयविषय	466/54	तत्त्वार्थसूत्र	9/38
हिंसाणंदेण जुदो	468/54	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	475
हिंसारहिदे धम्मे	516/62	मोक्षप्राभृत	90
हुंडासप्पिणीए विइया	155/11	धवला	13/5, 4 सू. 26
हे चेत: किमु जीव	310/30	पद्मनंदिपंचविंशति	1/145
होंति सुहासवसंवर	155/11, 472/56	धवला	13/5, 4 सूत्र 26
हरेयुर्बलवन्तोऽपि	613/79-80	महाभारत	68/14
हृषीकजमनातङ्कं दीर्घ	723/97	इष्टोपदेश	5
हिंसानृतचौर्येभ्यो	683/91	रत्नकरण्डश्रावकाचार	49
हेदू चदूवियप्पो	1112/159	समयसार	178

—o—

रत्नत्रयवर्धिनी टीका में प्रतिपाद्य विषयों का निरूपण

पूर्वार्द्ध

[गाथा 1-76, पृ. 1-592, अधिकार 1-6]

गाथा/पृष्ठ नं.	**स्वरूप/लक्षण**	**भेद/प्रभेद**	**विशेष**
पृ. [1-10]	मंगल, निमित्त, हेतु साक्षात् हेतु, परम्परा हेतु, परोक्ष हेतु	हेतु फल-2, प्रत्यक्ष हेतु-2	टीका लेखन उद्देश्य, ग्रंथ समुदाय पातनिका, ग्रंथ प्रारंभ के पूर्व 6 बातों का निरूपण, मंगलाचरण का उद्देश्य, प्रयोजन, 1 प्रत्यक्ष-परोक्ष, साक्षात्-परम्परा हेतुओं का व्याख्यान, द्रव्य-अर्थ परिमाण, नाम व कर्ता अधिकार

प्रथम अधिकार

[गाथा-1] [पृ. 11-24]

पृ. [11-24]	परमात्मा, सकल-निकल परमात्मा, जिन-2, मन शुद्धि वचन शुद्धि, काय शुद्धि, नमस्कार, द्रव्य-भाव नमस्कार, निश्चय, व्यवहार नमस्कार, द्वैत-अद्वैत नमस्कार,, सागार-अनगार	परमात्मा-2, शुद्धि-3, शुद्धि-8, नमस्कार-2, धार्मिक भव्य-2 संयमाचरण चारित्र-2 प्रतिमा-11	ग्रंथ-मंगलाचरण, परमात्मा-अपरमात्मा स्वरूप का निरूपण, वर्द्धमान नाम का अर्थ, इन्द्र के द्वारा वीर-वर्द्धमान नामकरण, एवं वर्द्धमान नाम की सार्थकता का कथन, नमस्कारवंदनादि में तीनों शुद्धियों की महत्ता का व्याख्यान, नमस्कार पद का अर्थ, ग्रंथ के अभिधेय-प्रयोजन का प्रतिपादन, सागार-अनगार में अन्तर, सागार संयमाचरण के अंग, कौन श्रावक आदरणीय एवं पूज्य है ? अनगारी के पर्यायवाची नाम, अनगार संयमाचरण के अंग, सागार-अनगार धर्म की श्रेष्ठता सम्यग्दर्शन होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। रयणसार ग्रंथ के उपदेश का संक्षिप्त सार।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

द्वितीय अधिकार (गाथा-2-10) (पृ. 25-122)

[पृ. 25-26]..			सम्यग्दृष्टि के चारित्र का प्रतिपादन अधिकार की पातनिका।
गा. 2 पृ. [27-37]	बीजपद, श्रुत, भविष्य, भूत-भव्यकाल, आगम, सूत्र, सम्यग्दृष्टि, अविरत सम्यग्दृष्टि	संयमाचरण-2	सम्यग्दृष्टि का स्वरूप-विवरण, सम्यक्त्वाचरणवान् व भ्रष्ट की दशा का कथन, सम्यग्दृष्टि के बाह्य लक्षण, सर्वज्ञ-वीतरागी-हितोपदेशी गुणयुक्त तीर्थंकर एव गणधरादि कथित उपदेश का श्रद्धानी होता है। दिव्यध्वनि की विशेषताओं का व्याख्यान, निबद्ध श्रुत का प्रमाण, तीर्थंकर ग्रंथ के मूलकर्ता क्यों? आगम अपौरुषेय है, पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह वर्तमान आचार्यों द्वारा आगम-व्याख्यान भी प्रमाण है? सम्यग्दर्शन मात्र उपलक्षण है, इसके साथ सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनों की संज्ञा 'रत्न' है। चारित्र की सामर्थ्यहीनता में श्रद्धान भी योग्य है। सम्यग्दृष्टि के शास्त्राध्ययन का फल, श्रद्धान बिना धर्माचरण सम्भव नहीं।
गा. 3 [37-47]	परोक्ष ज्ञान, मतिज्ञान, ज्ञान-मद, मिथ्यात्व, मिथ्याज्ञान-सम्यग्ज्ञान, अज्ञान, आगम-आगमाभास, बालश्रुत-बाल-चारित्र		धर्माराधकों के लिए सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता का वर्णन, मति-श्रुत ज्ञान की परोक्षता का हेतु, मिथ्यादृष्टि ही ज्ञानमद करता है, मिथ्यात्वग्रस्त को धर्म अरुचिकर होता है तथा शास्त्रीय ज्ञान भी अज्ञानरूप होता है, शंका-समाधान, मिथ्यादृष्टि द्वारा निरूपित शास्त्र भी आगमाभास है, 6 प्रकार के मिथ्यानयों से मोक्षमार्ग की कल्पना का निराकरण, मिथ्यादृष्टि आत्मतत्त्व से विमुख होने से ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्म का आस्रव करता है, आस्रव के कारण, मिथ्यादृष्टि को मोक्ष दुर्लभ है, विद्वत्ता का फल, मिथ्यादृष्टि की संगति का निषेध।
गा. 4 [47-56]	रत्न, सार, सराग-वीतराग सम्यक्त्व, निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन	रत्न-5, चक्रवर्ती के 14 रत्न, सम्यक्त्व-2, 2	सम्यक्त्व का भेदसहित निरूपण, सम्यक्त्व को रत्न कहने का हेतु, तीनों रत्नों में सम्यक्त्व की प्रधानता के आगमवाक्य, आगम-अध्यात्म शास्त्रों में सम्यक्त्व

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			के स्वरूप में अंतर, व्यवहार सम्यक्त्व साधन एवं निश्चय सम्यक्त्व साध्य है। चतुर्थादि गुणस्थानों में वीतरागचारित्र के अविनाभूत निश्चय सम्यक्त्व के अभाव का कथन, निश्चय सम्यक्त्व के स्वामी का स्वरूप,
गा. 5 [56-62]	व्यसन, संसार, गुरु सम्यक्त्वाचरण	भय-7, व्यसन-7, सम्यग्दर्शन के मल-25, मद-8, मूढ़ता-3, अनायतन-6, शंकादिदोष-8, सम्यग्दर्शन-अंग-8, गुण-8,	सम्यक्त्वाचरण चारित्र स्वरूप का निर्देश, संसार-शरीर-भोगों से विरक्त सम्यग्दृष्टि होता है, सम्यक्त्व के आठ अंगों की महत्ता का वर्णन, सम्यग्दृष्टि पंचगुरुभक्त होता है।
गा. 6 [62-71]	व्यवहार-निश्चय सम्यक्त्व, सराग सम्यग्दृष्टि, बहिरात्मा, मिथ्यादृष्टि, उत्कृष्ट सम्यग्दृष्टि	सम्यक्त्व-2	सम्यग्दृष्टि श्रमण के स्वरूप का स्पष्टीकरण, उसे शुद्धात्मा ही उपादेय होती है, अविरत सम्यग्दृष्टि भी भावना रूप शुद्धात्मा का अनुभव करता है, उसकी उपचार से निश्चय सम्यक्त्व संज्ञा का निरूपण, सम्यदृष्टि भेदविज्ञानी होता है, इस संदर्भ में आगमवाक्य, बहिरात्मा के उत्कृष्टादि गुणस्थानों का व्याख्यान, सम्यक्त्व बिना सम्यग्ज्ञान नहीं होता, आगम व अध्यात्म भाषा में ज्ञानी कौन ? विषय का प्रतिपादन, सम्यग्दृष्टि दु:खरहित होता है, उसका हेतु,
गा. 7 [72-84]	मद, ज्ञान, पूजा, जाति, कुल, बल, ऋद्धि, शरीर, रूप मद, देव, देवता-मूढ़ता, देवमूढ़, लोकमूढ़-लोकमूढ़ता, लौकिक मूढ़ता, पाखण्डीमूढ़ता, समयमूढ़, गुरुमूढ़ता, वेदमूढ़ता,	शंकादि दोष-8 भय-7, व्यसन-7 मद-8, मूढ़ता-3 अनायतन-6 अतिचार-5	सम्यक्त्व के 44 दोषों का वर्णन, दोषसहित सम्यक्त्व उत्तम-श्रेष्ठ नहीं हो सकता, मद स्वयं के भी आत्मीय गुणों का घातक है, सच्चे देव की सिद्धि में हेतु, पाखण्डी मूढ़ता ही समयमूढ़ता रूप है हेतु, मूढ़ व्यक्तियों द्वारा ही अनायतन पूज्य होते हैं।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
	आयतन, शंकादि दोष, गुणों के अलग-2 स्वरूप, अतिचार, अतिक्रम, अन्यदृष्टिप्रशंसा एवं संस्तव	निशंकतादि-8	
गा. 8 [85-93]	दार्शनिक श्रावक, गुणव्रत, दिग्व्रत, अनर्थदण्डविरतिव्रत, भोग, उपभोग, भोगोपभोग परिमाण व्रत, निश्चय-व्यवहार भक्ति,	मूलगुण-8, अणुव्रत-5 गुणव्रत-3, शिक्षाव्रत-4, अनर्थदण्ड-5, भावना-12, भक्ति-2, आवश्यक-6, भक्तियां-12	दार्शनिक श्रावक के 77 गुणों का वर्णन, मूलगुणों में किसी एक के भी अभाव में श्रावकपना नहीं होता, मूलगुणों तथा शिक्षाव्रतों के भिन्न-भिन्न भेद, सम्यग्दृष्टि पंचपरमेष्ठी की निर्विघ्न भक्ति वाला होता है, भक्ति के महत्त्व का निरूपण,
गा. 9 [93-104]	शिव, मनुष्य, गुरु, निश्चय व्यवहार-लौकिक गुरु, समय मिथ्यादृष्टि, निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्ग, सम्यक् चारित्र	रत्न-3, मोक्षमार्ग-2	सम्यग्दृष्टि को रत्नत्रय की आराधना से शिव-सुख की सिद्धि का प्रतिपादन, शिव शब्द मोक्ष का पर्यायवाची है, शिव के भिन्न-भिन्न अर्थ, अतीन्द्रिय व इन्द्रियजन्य सुख में अन्तर, मनुष्य ही शिवसुख पाते हैं— इसका हेतु, गुरु शब्द से कौन ग्राह्य-अग्राह्य है, समय के विभिन्न अर्थ, जिनभक्ति जन्मपरम्परा के नाश का कारण है, देव की तरह श्रुत व गुरु भी पूज्य है। श्रुताभ्यासी सम्यक्त्व प्राप्त कर मोक्षसिद्धि पाते हैं। विषयों से विरक्त ही सर्वज्ञ की विभूति को पाता है। व्यवहारमोक्षमार्ग परम्परा से तथा निश्चयमोक्षमार्ग साक्षात् मोक्ष का कारण है।
गा. 10 [104-122]	दान, द्रव्य-भावपूजा, व्यवहार-निश्चयपूजा, नित्यमह-चतुर्मुख	दान-4, दान-3, पूजा-2, पूजा-6, पूजा-4, अनशन-2,	सम्यक्त्व बिना चारित्र की क्रियाएं दीर्घ संसार का कारण है, चारों दानों के फलों का वर्णन, दान वैयावृत्त्य भी है, दान व पूजा श्रावक के मुख्य कर्तव्य है। पूजा के

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
	कल्पद्रुम-अष्टाह्निका पूजा, शील, स्वदारसंतोषव्रत, ब्रह्मचर्य प्रतिमा व महाव्रत, ब्रह्मचर्य व्रत, उपवास, निश्चय-व्यवहार उपवास, प्रोषधोपवास, प्रोषध, प्रोषधोपवास प्रतिमा, अर्धानशन-सर्वानशन, साकांक्ष-निराकांक्ष अनशन, अनावधृतकाल	मरण-3	पर्यायवाची, विषयासक्त जीव अब्रह्मसेवी कुशील होता है, शील व ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध, ब्रह्मचर्य-रक्षा की 5 भावनाएँ, प्रोषधोपवास की उपयोगिता, एकादि उपवासों की समयावधि, अनशन की उपयोगिता तथा हेतु, अतिचार, उपवास में कार्य-अकार्य विवेक, व्रतों के अनुष्ठान का फल, तप यथाशक्ति एवं सम्यक्त्वसहित ही सार्थक है।

तृतीय अधिकार
[गाथा-11-13] [पृ. 123-196]

[पृ. 123-124].. अधिकार पातनिका

गा. 11 [124-169]	श्रावक, दार्शनिक श्रावक दान, पूजा, स्वाध्याय, तप धर्म, दीक्षा, ध्यान, अप्रशस्त-प्रशस्त ध्यान, शुद्ध ध्यान, शुभ भाव, धर्मध्यान, धर्म, निश्चय-व्यवहार धर्मध्यान, उत्तम निश्चय-परमध्यान, आज्ञा-अपाय विपाक-संस्थान विचय धर्मध्यान, पिण्डस्थ पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीत संस्थान-विचय धर्मध्यान, स्वाध्याय, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावशुद्धि, सूत्र,	धर्म-2, दाता गुण-7 ध्यान-4, 2, प्रशस्त ध्यान-2, अप्रशस्त ध्यान-2, मोक्षमार्ग-2, शुक्लध्यान-4, धर्म-10, धर्म-2,2,2, धर्मध्यान-4, संस्थान विचय धर्मध्यान-4, धर्मध्यान-2,10, स्वाध्याय-5, शुद्धि-4,	श्रावक और मुनि के मुख्य धर्म का वर्णन, सागार धर्म ही श्रावक धर्म है, दान का महत्त्व, पूजा-दान बिना श्रावक नहीं होते, मुनि के पर्यायवाची नाम, ध्यान-अध्ययन यति के मुख्य धर्म हैं, दोनों के अपेक्षाकृत भेद व महत्त्व, स्वाध्याय की अपेक्षा ध्यान की विशिष्टता का वर्णन, ज्ञान-ध्यान बिना मुनिचर्या निरर्थक है। मोक्षसिद्धि का मुख्यहेतु ध्यान है, इसके हेतु, मुनिचर्या में प्रशस्त ध्यान ही ग्राह्य है, क्योंकि अप्रशस्त ध्यान दुःखदायक है, दुर्ध्यान की हेयता के हेतु, प्रशस्तध्यान ही मोक्षसिद्धि के हेतु, शुक्ल-ध्यान के स्वामी, काल, संहनन, वर्तमान में निश्चय धर्मध्यान होता है, श्रेणीयोग्य ध्यान का अभाव है। गृहस्थों के निर्विकल्पध्यान का निषेध व हेतु। निश्चय व्यवहार ध्यान के पर्यायवाची नाम, दोनों के अवलम्बन द्रव्य, गुणस्थानों की अपेक्षा स्वामीपने के हेतु। धर्मध्यान के बाह्य लक्षण, 5 कारण,

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			5 हेतु, अन्तरायों का वर्णन, सामग्री, सिद्धि के 4 कारण, फल। स्वाध्याय सर्वोत्तम तप है, स्वाध्याय-साधना में शुद्धि का महत्त्व, न करने पर हानि, प्रतिष्ठापन-निष्ठापन विधि, सूत्र ग्रंथों के अलावा शुद्धि अपेक्षित नहीं है, लाभ तथा महत्त्व का वर्णन। आगम-स्वाध्याय का महत्त्व, फल का विभिन्न आगमीय सदंर्भों द्वारा निरूपण। पंचमकाल में अध्ययन ही ध्यान है।
गा. 12 [169-180]	त्याग, व्यवहार-निश्चय त्याग, त्यागधर्म, उत्तम त्याग धर्म, बहिरात्मा, कषाय, लोभ		लोभी गृहस्थ की दान-पूजा से विमुखता से दुर्गति के कारण का वर्णन, वह गृहस्थ कर्तव्यच्युत है। धनसंचय करके दानादि न करने वाले गृहस्थ का मनुष्य-जीवन निष्फल है। लोभी न धर्माचरण, न त्याग करता है। परद्रव्यरत मुनि भी मिथ्यादृष्टि है। गृहस्थ लोभ-जय हेतु परिग्रहपरिमाणाणुव्रती होता है। लोभी धन का भोग भी नहीं करता। धन की 3 गति, बहिरात्मा की गति का वर्णन, लोभ के पर्यायवाची नाम, लोभ की हेयता का वर्णन, लोभ के दोष , लोभ कषाय के त्याग का उपदेश।
गा. 13 [161-196]	नित्यमह-सदार्चन-सर्वतोभद्र कल्पद्रुम-इन्द्रध्वज पूजा, नाम-स्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-काल-पूजा, भावपूजा, सद्भाव-असद्भाव स्थापना पूजा, कारापक, सचित्त-अचित्त-मिश्र-पूजा, निश्चय व्यवहार पूजा,	पूजा-4, पूजा-6, स्थापनापूजा-2 द्रव्यपूजा-3, दान-4, पात्र-3 सम्यक्चारित्र-5	श्रावक के मुख्य कर्तव्य पूजा व दान की उपादेयता का वर्णन, यथाशक्ति त्याग तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव का हेतु है, साधुओं को भी यथाशक्ति तप-त्याग का उपदेश, चतुर्थ-पंचमादि गुणस्थानवर्ती श्रावकों को भी पूजा करणीय है, सद्भावस्थापना के 5 अधिकार तथा कलिकाल में असद्भावस्थापना पूजा का निषेध, मुनिदान का फल, चारों दानों का फल, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के दान का फल-वर्णन। श्रावक धर्मवाला सम्यग्दृष्टि है, मोक्षमार्ग की स्थिति का वर्णन।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

चतुर्थ अधिकार

[गाथा-14-31] [पृ. 197-320]

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
[पृ. 197-199]			अधिकार-पातनिका,
गा. 14 [199-208]			देय वस्तु, सत्पात्रदान के फल का निरूपण, श्रावक के पूजा-दान के फलों का वर्णन, पूजा से चित्त की शुद्धि होती है, पूजा भावशून्य नहीं, भावसहित करनी चाहिए। जिनपूजा से श्रावक स्वयं त्रिलोकपूज्य हो जाता है। फलों का वर्णन, भिन्न आठ प्रकार की द्रव्यों से पूजा के फलों का वर्णन, दान से जीव तीनों लोकों में श्रेष्ठ सुखों का उपभोग करता है। स्वर्ग की दशा का वर्णन, दाता परम्परा से मोक्षसुख भी पाता है, कुपात्रदान तथा दान की अनुमोदना, बद्धायुष्क जीव तथा अबद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि के पात्रदान के फलों का निरूपण,
गा. 15 [209-215]	सद्दर्शन, दर्शन		श्रावक के द्वारा पात्र-अपात्र का विचार उचित नहीं, दान विधि, देय द्रव्य, पात्र आदि की विशेषता के अनुरूप फल प्राप्त होता है। मुनियों का दर्शन प्रशस्त क्यों होता है ? धन का उपयोग तीनों पात्रों को यथा-योग्य देकर, द्ररिद्र को भी करुणा से दान करना चाहिए।
गा. 16 [217-221]	कर्मभूमि	भूमि-2, कर्मभूमि-15 भोगभूमि-3	सुपात्रदान के फल का निरूपण, भोगभूमि के फलों का वर्णन, भोगभूमि में संयम के निषेध का हेतु, सम्यग्दृष्टि महर्द्धिक देव होता है, स्वर्ग के बाद मोक्षसुख पाता है। जिनेन्द्र-कथित दान के वचनों पर श्रद्धा का उपदेश।
गा. 17 [221-228]	उत्तम-मध्यम-जघन्य पात्र, अपात्र, कुपात्र	पात्र-3,	पात्र आदि विशेष को दिये गये दान के फल का वर्णन, बटबीज का तरह अल्प दान का फल भी प्रचुर होता है, देय वस्तु निर्दोष व संयम में सहायक व शुद्ध हो तो उत्तम लाभ होता है। द्रव्य की विशेषता तप व स्वाध्याय

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			की वृद्धि में साधन है, अपात्र-कुपात्र को दिये गये दान का फल, दान-विधि तथा दाता के गुणों का वर्णन।
गा. 18 [228-236]	दान, सुवित्त, कल्याणक,	दान-क्षेत्र-7, कल्याणक-5	सात विशेष क्षेत्रों में प्रदत्त दान के फल का निरूपण, वह दाता त्रिभुवन का राज्य तथा पंचकल्याणक के फलों का भोक्ता होता है, दाता का दान निज तथा सुवित्त होना चाहिए, परकीय द्रव्य दान से उत्पन्न दोष, व्रतादि की अपेक्षा गृहस्थ श्रावक को दान उत्तमफल प्रदाता होता है, सद्गृहस्थ न्यायोपार्जित धन अर्जित करता है, इसका हेतु, अन्याय से उपार्जित धन के दोष, श्रावकों को कमाये धन का चतुर्थ अंश के दान का उपदेश, तीर्थंकरों के कल्याणकों में हीनाधिकता का वर्णन,
गा. 19 [237-243]	सुपुत्र, मित्र,	लौकिक सुख-6, पुत्र-2,	सुपात्र दान से प्राप्त सांसारिक सुखों का विवरण, सम्यग्दृष्टि लौकिक वैभव पाकर मान नहीं करता, श्रेष्ठ माता-पिता का स्वरूप, अच्छे मित्र का लक्षण, अयोग्य मित्र संगति निषेध, कुपुत्र-सुपुत्र के लक्षण।
गा. 20 [243-250]	चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, मण्डलेश्वर, अर्धमण्डलेश्वर, महामाण्डलिक, अधिराज, राजा, भूपाल, 9 निधि, 14 रत्न	राजा-8, राज्यअंग-7 निधि-9, रत्न-14, सेनाअंग-6, सेनाकक्षा-7, रानियां-96 हजार	सुपात्र दान प्राप्त चक्रवर्ती के वैभव का वर्णन, निधियों के नामान्तर में आचार्यों के भिन्न क्रम, निधियों के स्वरूप, अधिपति, आकार, विस्तारादि का विस्तृत निरूपण, चौदह रत्नों के भिन्न-भिन्न कार्यों का प्रतिपादन एवं नाम, विशेष वैभव,
गा. 21 [250-256]	सुकुल, कुल, सत्कुल, सुरूपता, सुमति, सुशिक्षा, सुशील, चारित्र, निश्चय-व्यवहार चारित्र,	बुद्धि-4	सुपात्र-दान से उत्तम कुलादि प्राप्त सुखों का विश्लेषण, सुरूपता, सुलक्षण, सुमति सुशिक्षा, सुशील का विवरण, शील के परिवार, शीलवान की विशेषता, उत्तम स्वभाव, गुण ही पूज्य होते हैं, गुण से मूलगुण-उतरगुणों से युक्त होता है, उत्तरोत्तर दुर्लभ वस्तुओं का वर्णन, सौभाग्य, शूरतादि भी दाता को प्राप्त होते हैं।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 22 [256-258]	परित्यजन दोष, व्यक्तदोष		सत्पात्रों को आहार-दान के बाद अवशिष्ट आहार के सेवन की महत्ता का वर्णन, अवशिष्ट आहार व उच्छिष्ट आहार में अंतर, अवशिष्ट आहार से जुगुप्सा करने का त्याग तथा दुष्फल का उदाहरण,
गा. 23 [259-261]			सत्पात्रों को विवेकपूर्ण-पात्र-प्रकृति-अनुकूल निर्दोष आहार-दान का उपदेश, आहारदानयोग्य बातों का निरूपण, ऋतु-प्रकृति, संयम रक्षा, परिश्रम, व्याधि, स्थिति की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार आहारदान
गा. 24 [262-266]	हित, मित		मोक्षमार्गी को श्रावक द्वारा दानयोग्य पदार्थों के विषय में विवेक निरूपण, मुनिराज ही पूर्णरूप से मोक्षमार्गी हैं, निर्ग्रंथ ही मोक्षमार्ग है, देश-सर्व चारित्र के स्वामी का निरूपण, असंयत एवं देशसंयत उपचार से मोक्षमार्गी हैं। मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि श्रेष्ठ है, हितकारी दान का स्वरूप,
गा. 25 [267-273]	वैयावृत्त्य,		माता-पिता के द्वारा गर्भस्थ शिशु की तरह मुनियों की वैयावृत्य करने का उपदेश, वैयावृत्त्य कौन करें ? कब करें ? कैसे करें ? वैयावृत्त्य तप है, वैयावृत्त्य के अन्तर्गत कर्तव्यों का व्याख्यान, वैयावृत्त्य के प्रशस्त फल का निरूपण, वैयावृत्त्य विधि का दृष्टान्त, गर्भस्थ शिशु व मुनि की तुलना, गर्भस्थ शिशु की प्रक्रिया का वर्णन, गर्भ के भिन्न-भिन्न काल,
गा. 26 [274-296]	दस कल्पवृक्षों का, दाता के सातगुणों का, नवधाभक्तियों का, निरूपण	कल्पवृक्ष-10, आहार-4, रत्न-6, दातागुण-7 नवधाभक्ति-9, श्रावककर्म-6	सत्पुरुष तथा लोभी के दान की शोभा-अशोभा का प्रतिपादन, शोभायुक्त दान का कथन, दोनों दानों में अंतर, सत्पुरुष वृक्षवत् परोपकारी होते हैं, इसलिए कल्पवृक्षवत् विशिष्ट दानी होने का कथन, कल्पवृक्षों की उपकारिता का वर्णन, मध्यम-जघन्य पात्रों की

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
		आभरण-16	यथायोग्य नवधाभक्ति का उपदेश, भोजनशालादि 9 स्थानों में चंदोबा तानने का व्याख्यान एवं प्रमाण, आहारदाता को यज्ञोपवीत के धारण करने का उपदेश एवं प्रमाण, देवपूजा में भी यज्ञोपवीत की प्रामाणिकता, मूलगुणधारी दाता से ही आहार लेना उचित है, असंयमी से प्रदत्त आहार लेने वाले पात्र भी प्रायश्चित्त के अधिकारी हैं, प्रमाण,
गा. 27 [297-300]	यश:कीर्ति,	सुपात्र-3, पुण्य-2	लोभी सम्यक्त्व आदि सद्‌गुणों के पात्रों की विशेषता से शून्य होता है, लोभी का दान यशकीर्ति, पुण्यलाभ के लिए होता है, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि के पुण्य में अंतर,
गा. 28 [300-304]	मंत्र, यंत्र, तंत्र		यंत्र-मंत्र आदि के प्रदर्शन से उत्पन्न श्रद्धा के कारण दिया गया दान मोक्ष का कारण नहीं होता। दुषमा काल का समय, भरतक्षेत्र, भरत चक्रवर्ती के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मंत्रादि की शक्ति अचिन्त्य होकर भी जीव को मरण से नहीं बचा सकती। कुतीर्थ, मायावी आदि को दान देने का निषेध।
गा. 29 [305-306]			दानी के दरिद्रता तथा लोभी के धनाढ्य होने का हेतु पूर्वोपार्जित कर्मोदय है, पापप्रकृति का संक्रमण मंदोदय में ही होता है।
गा. 30 [307-313]			धन-धन्यादि सांसारिक सुख की तरह मुनियों को दान भी प्रचुर सुख प्राप्ति का हेतु है। शुभकार्यों की प्रचुरता ही पुण्योदय व सुख की प्रचुरता में कारण होती हैं। अशुभकार्यों की प्रचुरता, प्रचुर दु:खों का कारण है, पुण्य सुख का, पाप दु:ख का, तथा पुण्य-पाप रहित प्रवृत्ति मोक्ष का कारण है। इष्टानिष्ट वस्तुओं में रागद्वेष-त्याग का उपदेश, शुभकार्यों से उपार्जित पुण्य का महत्त्व, दान न करने वाला दुर्भाग्यवान् एवं मूर्ख है।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 31 [318-326]	दान,		सत्पात्र-बिना दान देना निरर्थक है, अपात्र-कुपात्र को दान देना ऊसर-बंजर भूमि की तरह निष्फल होता है, सत्पुत्र रूपी फल की प्राप्ति, व्यवहार जीवन की सार्थकता के आगम प्रमाण, कुपुत्र-सुपुत्र की व्याख्या, भावरहित क्रियायें प्रयोजन-सिद्धि में हेतु नहीं होतीं, भावसहित क्रिया का उपदेश एवं फल का वर्णन,

पंचम अधिकार
[गाथा-32-37] [पृ. 321-370]

[पृ. 321-322]..			अधिकार-पातनिका,
गा. 32 [322-332]	निर्माल्य सेवन के दोषों का वर्णन	असाता-4, नारकीदु:ख-5	निर्माल्यसेवन से नरक गति की प्राप्ति का वर्णन, धन को किन-किन शुभकार्यों में देना चाहिए इसका उपदेश, निर्माल्य सेवन से रुद्रदत्त सातवें नरक गया —इसका दृष्टांत, नरक के दु:खों का वर्णन विस्तार से।
गा. 33 [332-336]	पूजादानादिहरण,	शरीरअंग-8	निर्माल्यसेवन से विकलांग एवं नीचजाति वाला होता है, पारिवारिक दु:खों का वर्णन, दरिद्रता से उत्पन्न दु:ख का वर्णन, कौन जीवित भी मरे हुए के समान है ? अशुभ नाम कर्मोदय से विकलांग होते हैं, नीचजाति के दु:खों का व्याख्यान। निर्माल्यसेवन से अन्तराय एवं अशुभनामकर्म का आस्रव होता है।
गा. 34 [337-342]	सुख, देवद्रव्यहरण चोरी-कर्म,	सांसारिक-सुख-2 योगियों का सुख-2 चोरी	निर्माल्य सेवनवाला इच्छित फल भोग उपभोग निषेध, क्योंकि वह व्याधियों का घर होता है। इच्छित फल यानी सुख जो पुण्योदय से ही मिलता है। सांसारिक सुख अस्थायी होता है, देवनिर्माल्य समस्त दु:खों का कारण है, चोरी है, परद्रव्यग्रहण में प्रमाद होने से हिंसा भी है, विषयासक्त हेयोपादेय को नहीं जानता,

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 35 [342-350]	पूजा-दानादि द्रव्य-हरण,	कर्म-2	निर्माल्य सेवन से विकलांग होने के दु:खों का कथन, पुण्य कर्म सुखों का, पापकर्म दु:खों का हेतु है। विकलांग जीव कुरूप, सामर्थ्यहीन, सभी के द्वारा निन्दित होता है, पराधीनता के दु:खों का वर्णन, प्राचीन जैन शिलालेखों में प्राप्त निर्माल्यसेवन के विषय में व्याख्यान, सुख-दु:ख के नियामक स्वोपार्जित कर्म ही हैं। उनका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है, इसका वर्णन
गा. 36 [350-364]	क्षय-राजयक्ष्मा, क्षय, शोष, रोगराज, कुष्ठ, शूल, लूता, भगन्दर, जलोदर,	क्षय रूप-11 क्षय-उपद्रव-7, कुष्ठरोग-7, 18, 7, महाकुष्ठ-7, क्षुद्र कुष्ठ-11, मूलरोग-4, शूलरोग-3, लूतारोग-4, भगंदररोग-8	दानकार्य में विघ्न करने से मिलनेवाले दु:खों का निरूपण, क्षयादि रोगों की प्राप्ति होती है। क्षय, कोढ़ के विभिन्न रूपों व उपद्रवों का वर्णन, मूलरोग के कारण-लक्षण। शूलरोग के कारण तथा वेदना का कथन, लूता रोग के लक्षण व कारण, लूता के 8 विष, वमन स्थान आदि का स्वरूप, भगन्दर रोग का वर्णन, जलोदर रोग का वर्णन, विभिन्न ज्वरों के लक्षण। दानकार्य में विघ्नों की चर्चा
गा. 37 [364-370]	नरतगति, निरयगति, नारकी, नारक, नारत, तिर्यंच, अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान, देव, परमात्मा, गुरु, शास्त्र	दुर्गति-2, श्रुतज्ञान-2 दोष-18	देवादि वंदना में विघ्न डालने के दुष्फलों का प्रतिपादन, विघ्नकर्ता दुर्गति, दरिद्रता, विकलांगता आदि दु:ख प्राप्त करता है। शुभ कार्यों में विघ्न करने वाले के समान, उन्हें करानेवाला एवं अनुमोदना करने वाला भी दु:ख पाता है, देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का प्रतिपादन।

षष्ठ अधिकार

[गाथा-38-76] [पृ. 371-592]

[पृ. 371-374].. अधिकार-पातनिका,

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 38 [375-378]			पंचम काल में मनुष्यों के सम्यग्दर्शनादि गुणों में हीनता का निरूपण। भरतचक्रवर्ती के स्वप्नानुसार पंचम काल की विशेषताओं का वर्णन। इस काल में तप, मूलगुण, चारित्र सम्यग्ज्ञान व दान की प्रवृत्ति में भी हीनता का व्याख्यान। प्रभावित न होने का उपदेश।
गा. 39 [378-382]		पात्र-3	जो पूजादानादि नहीं करते, वे नारकी, खोटे मनुष्य-तिर्यंच होते हैं। धर्मरहित मनुष्य तिर्यंचसम है, जिनेन्द्र भक्ति से रहित का गृहस्थधर्म निष्फल होता है। सम्यक्त्व व भक्ति के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का निरूपण।
गा. 40-41 [382-396]	ज्ञान, पुण्य, पाप, तत्त्वज्ञ, सम्यग्ज्ञान, धर्म-अधर्म, सम्यग्दृष्टि, भव्य-अभव्य	व्यवहारज्ञान-2	सम्यक्त्वरहित व्यक्ति के तत्त्व-अतत्त्व के विवेक से रहितपने का व्याख्यान, मिथ्यादृष्टि सम्यग्ज्ञानविहीन होने से अज्ञानी है, सम्यक्त्वसहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है, शेष मिथ्या है, धर्म के प्रमुख चिह्न का कथन, कार्याकार्य विवेक, सम्यग्ज्ञानी ही श्रेय-अश्रेय का ज्ञाता है, पुण्य-पाप में अंतर का व्याख्यान, सम्यग्ज्ञानी तत्त्व-अतत्त्व का ज्ञाता हो आत्मतत्त्व को पाता है, आत्मतत्त्व प्राप्ति के उपाय, धर्म-अधर्म का कथन, सम्यग्ज्ञानी योग्यायोग्य विचारक होता है, नित्यानित्य पदार्थों का ज्ञाता तथा हेय-उपादेय में विवेकी, सत्यासत्य ज्ञाता होना सम्यग्ज्ञान का फल है, भव्याभव्य जीवों के विषय में निरूपण,
गा. 42 [397-404]	दुर्भाव, लौकिक, ऋतु,	त्याग-2	लौकिक संगति-त्याग का उपदेश, लौकिक संगति से जीव में मुखरता, कुटिलतादि दोषों का वर्णन, लौकिक संगति से युक्त श्रमण भी त्यागयोग्य है, श्रमणों को दोषोत्पादक संगति-त्याग का उपदेश, जनसंसर्ग से उत्पन्न दोषों का वर्णन, वृद्धसंगति का उपदेश, स्त्रीसंसर्ग वर्जनीय है, उत्पन्न दोषों का कथन,

गाथा/पृष्ठ नं.	**स्वरूप/लक्षण**	**भेद/प्रभेद**	**विशेष**
गा. 43 [405-409]	अपध्यान, दु:श्रुति, दुरालाप, पापोपदेश, अवर्णवाद, दुर्मद, मद	मद-8	सम्यक्त्वरहित व्यक्ति का स्वरूप, मिथ्यादृष्टि के दोषों का व्याख्यान, वह हितकारी पर भी क्रोधित होता है, अप्रशस्त ध्यान के कारण,
गा. 44 [409-415]	रौद्रध्यान, पिशुन, असूया भण्डन, अनर्थदण्ड		सम्यक्त्वरहित या भ्रष्ट व्यक्ति के स्वभाव का कथन, अधमप्रकृति व सज्जनप्रवृत्ति में अन्तर, रौद्रध्यानी व्यक्ति का स्वरूप, वह रुष्ट व चुगलखोरी के दोष से युक्त होता है, असूया, दोषपूर्णचारित्र वाला, श्वानवत् याचनाशील, दीन, कलहप्रेमी, भण्डनक्रियासहित होता है, श्रमणों को पूर्वोक्त सभी सम्यक्त्व-विरोधी क्रियाओं के त्याग का उपदेश।
गा. 45 [415-420]			जिनधर्म के विनाशक व्यक्तियों का स्वरूप, बन्दर, गधा, कुत्ता, हाथी, बाघ, शूकर, कछुआ, मक्खी तथा जौंक के स्वभावों का तुलनात्मक व्याख्यान।
गा. 46 [421-426]			सम्यग्दर्शन की उत्कृष्टता का वर्णन, सम्यक्त्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चरित्र नहीं होते, सम्यक्त्व मोक्ष रूपी वृक्ष का मूल, नगर-द्वार है, सम्यक्त्व गुण की श्रेष्ठता के आगम प्रमाण, सम्यक्त्व-प्राप्ति का उपदेश।
गा. 47 [426-436]	बालतप, बालव्रत, कुलिंगी, कुज्ञानी, कुव्रत, कुशील, संस्तव, स्तव, स्तुति, प्रशंसा,	कुशील मुनि-2	सम्यक्त्व-हानि के कारणों का निरूपण, मिथ्यातप, कुलिंगी, कुज्ञानी, कुव्रत, कुशील, कुदर्शन, कुशास्त्र, कुनिमित्त —इनकी संस्तव-स्तुति-प्रशंसा करने से हानि होती है। बालतप व बालव्रत संसार के कारण होते हैं, मुक्ति में कुलिंग नहीं, अपितु जिनलिंग कारण है। भावलिंगी मुनि के महत्त्व का वर्णन, कुज्ञान दुर्गति का हेतु है, कुव्रत, कुशील, कुदर्शन, कुशास्त्र, कुनिमित्त, का वर्णन, सम्यग्दृष्टियों के लिए उक्त लोगों की विनय का निषेध, इनके प्रशंसा-संस्तव सम्यक्त्व के अतिचार

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			में गर्भित है। स्तुति व स्तव में अंतर, प्रशंसा व संस्तव में अंतर,
गा. 48 [437-438]			मिथ्यात्व कुष्ठरोगी व्यक्ति की तरह कष्टप्रद है, कुष्ठरोगी के दु:खों का वर्णन, मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है।
गा. 49 [439-446]	देव, गुरु, धर्म, चारित्र तप	चारित्र-2 तप-2, 12 गति-4, 2	सम्यग्दृष्टि ही समीचीन देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप का ज्ञाता है, सम्यक्त्वाभाव में यथार्थ ज्ञान नहीं होता, धर्म की विशेष व्याख्या, चारित्र का स्वरूप, तप से ही मोक्ष की सिद्धि का कथन, मिथ्यादृष्टि भेदविज्ञान के अभाव में अज्ञानी है,
गा. 50 [447-451]	अपध्यान		मिथ्यादृष्टि आत्मचिन्तन के बिना क्या-क्या विचारता है— इसका प्रतिपादन, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि की तुलना, लौकिक सुख की इच्छा में अशुभ-चिन्तन कर मिथ्यादृष्टि निरन्तर अशुभ बंध करता है। निरर्थक आलाप-अपध्यान करता है।
गा. 51 [451-454]	मिथ्यामति, मद, मतिअज्ञान		मिथ्यादृष्टि की प्रतिक्रियाओं का प्रतिपादन, मद व मोह दोनों मद्य की तरह हैं, मिथ्यादृष्टि मोहवश किस तरह उन्मत्त रहता है, इसका वर्णन, वह आत्मा-अनात्मा के ज्ञान से रहित होता है, सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि की क्रियाओं में अंतर,
गा. 52 [454-458]	औपशमिक भाव,	भाव-5,	उपशमभाव संवर एवं निर्जरा का हेतु है, औपशमिक भाव सम्यग्दर्शन का आदि है, क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्ति का क्रम, उपशम इहलोक व परलोक दोनों में सुख का दाता है, उपशमभाव होने से वह गर्व-कषायरहित होता है, कषायविजय का उपाय व महत्त्व का वर्णन,

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 53 [459-464]	वैराग्य, ज्ञान		सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि का समय कैसे व्यतीत होता है, इसका निरूपण, सम्यग्दृष्टि वैरागी व ज्ञानाश्रय वाला तथा मिथ्यादृष्टि विषयासक्त, दुर्भावी, आलस्य-कलह वाला होता है। वैराग्य बिना तप-ध्यान निरर्थक है। सम्यग्दृष्टि की ज्ञान व वैराग्य 2 शक्तियां हैं, जिनसे वह कर्मबंध से मुक्त होता है। मिथ्यादृष्टि इससे विपरीत, कर्मबंध करता है।
गा. 54 [464-475]	रौद्र, रौद्र ध्यान, हिंसानन्दी, मृषानन्दी, चौर्यानंदी, विषयसंरक्षणनन्दी रौद्रध्यान, आर्तध्यान, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोग, पीड़ा-चिन्तन, निदान, लेश्या, कृष्ण-नील-कापोत लेश्या, द्रव्य-भाव लेश्या	रौद्रध्यान-4, आर्तध्यान-4, अशुभलेश्या-3 लेश्या-2	भरतक्षेत्र में वर्तमान में पापी जनों की बहुलता का वर्णन, पंचमकाल का कथन, रौद्रध्यान के बाह्य चिह्न एवं दुष्प्रभाव का निरूपण, वे भ्रष्ट, दुष्ट, पापिष्ठ, दुर्लेश्या वाले होते हैं, अशुभलेश्या का विस्तार से कथन।
गा. 55 [475-481]	सागार, अनगार,	आराधक-2 धर्म-2 चारित्र-2	पंचमकाल में मिथ्यादृष्टि सुलभ एवं सम्यग्दृष्टि दुर्लभ हैं। हुंडावसर्पिणी का वर्णन, भरत चक्रवर्ती के स्वप्नों द्वारा पंचमकाल के लक्षणों का ज्ञान, मिथ्यादृष्टि व्रत-तप करते हुए भी मोक्ष से दूर ही होते हैं। मुनिधर्म में असमर्थता होने पर गृहस्थ धर्म के उपदेश का कथन, क्रम-भंग से उत्पन्न दोष का वर्णन।
गा. 56 [482-494]	उत्तम ध्यान,	सराग-3, वीतराग-3 धर्मध्यान-4, 2, 2, 3 अध्यात्मधर्मध्यान-10	पंचमकाल में भरतक्षेत्र में धर्मध्यान के सद्भाव का समर्थन। जो ऐसा नहीं मानते, वे मिथ्यादृष्टि हैं। धर्मध्यान के स्वरूप, बाह्य चिह्न, सहयोगी महत्त्वपूर्ण सामग्री का कथन। ध्यान-सिद्धि के प्रमुख कारण, धर्मध्यान के बाह्य लक्षण, व्यवहार धर्मध्यान के स्वामी कौन नहीं, धर्मध्यान के महनीय फल, निश्चयधर्मध्यान के स्वामी, ध्यान के पाँच हेतु, गृहस्थों में निश्चय धर्मध्यान-निषेध के विभिन्न हेतु, गृहस्थों को व्यवहार धर्मध्यान का उपदेश, शुद्धोपयोग के स्वामी

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 57 [494-498]			शुभ-अशुभ परिणाम के पृथक्-पृथक् फलों का वर्णन। देवायु-बंध के कारण शुभभावों का निरूपण, कर्मोदय-फलों के परिवर्तन में कोई समर्थ नहीं। स्वद्रव्यरुचि मोक्षमार्ग का, परद्रव्यरुचि संसार मार्ग का कारण है। शुभ-अशुभ कर्म ही सुख-दुख के कर्ता हैं, अन्य कोई नहीं। आगामी भय, जैसा चाहते हो, जो रुचे, वह करो
गा. 58-59 [498-507]	अशुभभाव, पाप, अशुभ मन-वचन-काययोग, मात्सर्य, मद, दुरभिनिवेश, कथा, विकथा, असूया, दण्ड, शल्य, द्रव्य व भावशल्य, दर्शन-ज्ञान-चारित्र, योग, शल्य, सचित्त-अचित्त, मिश्र शल्य, गारव, ऋद्धि-सात-शब्दगारव	भाव आस्रव (कारण)-5, योग-2, 3, मद-8, अशुभ लेश्या-3, विकथा-4, 25, अशुभध्यान-2, दण्ड-3, मनोदण्ड-3, वचनदण्ड-7, कायदण्ड-7, शल्य-3,2 द्रव्यशल्य-3, भावशल्य-3, गारव-3	अशुभ भावों के लक्षण, अशुभोपयोग पाप रूप ही हैं, अशुभयोग, क्रोधादि कषाय, मिथ्याज्ञान, पक्षपात रूप भाव अशुभभाव हैं, मात्सर्य, मद, दुराग्रहपूर्ण भाव भी अशुभभाव है, श्रमणों में अशुभ लेश्या, विकथा रूप अशुभ भावों के त्याग का उपदेश असूया, दण्ड, शल्य, गारव रूप परिणाम अशुभभाव के कारण हैं।
गा. [60-61] [507-514]	आर्यकर्म	द्रव्य-6, अजीव-5, द्रव्य-2, अस्तिकाय-5 तत्त्व-7, पदार्थ-9 भावना-12, आवश्यक-6, आर्य-5	शुभभावों के स्वरूप का कथन, आत्मा ही शुभ भावरूप है, इसका खुलासा, 6 द्रव्य, 5 अस्तिकाय, 7 तत्त्व और 9 पदार्थ में प्रवृत्त आत्मा, शुभभाव रूप है। बन्ध-मोक्ष भावनाओं-रत्नत्रय, आर्यकर्मों, दयादि धर्म में प्रवृत्त भाव शुभ भाव हैं।
गा. 62 [515-522]	सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन, सम्यग्दृष्टि		सम्यक्त्व सुगति का तथा मिथ्यात्व दुर्गति का हेतु है, जो रुचे उसे करो। सम्यग्दृष्टि, यदि नरकादि आयु का बंध न हो तो कहाँ-कहाँ नहीं जाता, क्या-2 नहीं होता, इसका निरूपण, सम्यग्दृष्टि के भव-भ्रमण का काल, सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन, मिथ्यादृष्टि पापरूप दुर्गति का कारण है। मिथ्यादृष्टि धर्म को भोगनिमित्त के लिए करता है।

गाथा/पृष्ठ नं.	**स्वरूप/लक्षण**	**भेद/प्रभेद**	**विशेष**
गा. 63 [522-526]	मोह	मोह-2, कर्म-2, 2	मिथ्यात्व त्याग का उपदेश, दारुण तप करके भी जब तक मोह-मिथ्यात्व का त्याग नहीं करता, तब तक संसार से पार नहीं होता, मूढ भाव ही मोह है। मोहग्रस्त की दशा का वर्णन, मोह के चिह्न
गा. 64 [526-532]	बहिरात्मा, लोकपंक्ति भाव-द्रव्यलिंग,	लिंग-2,3	बहिरात्मा के समस्त व्रत, तप निरर्थक होते हैं, बहिरात्मा रत्नत्रयरूप भावलिंग से रहित द्रव्यलिंगी होता है। बहिरात्मा मन से विषयाभिलाषा बनाये रखता है, लोकाराधना के लिए क्रियाकाण्ड करता है। लोकाराधना क्रिया पापबंध का हेतु है। द्रव्यलिंग मात्र क्रिया तथा द्रव्यलिंगसहित भावलिंग क्रिया के फलों का निरूपण, बाह्यलिंग के 4 लक्षण, भावलिंग सहित द्रव्यलिंग ही मुक्ति का कारण है, द्रव्यलिंग भी भावलिंग का कारण है, दोनों की महत्ता
गा. 65 [533-537]	तपधर्म, निष्कांक्षित गुण,		मिथ्यात्व के त्याग बिना मोक्षसुख नहीं होता, मिथ्यादृष्टि का तप भोगनिमित्तक होता है, शरीर-दण्ड की अपेक्षा कषायदण्ड मोक्षसिद्धि का हेतु है, पुण्य की इच्छा भी अनुचित है, सम्यग्दृष्टि स्वर्गसुख की भी कांक्षा नहीं करता।
गा. 66 [537-540]			कषायदण्ड बिना मात्र शरीरदण्ड से कर्मों का क्षय सम्भव नहीं, सांप का दृष्टांत, कषायविजय का उपदेश
गा. 67 [541-544]	उपशम, तप, संयम,		संयमी-असंयमी कौन ? उपशमभावयुक्त संयमी ज्ञानी हैं तथा कषायभावयुक्त संयमी नहीं है। संयम की सार्थकता कषायजय में है। कषायें कर्मबंध की हेतु तथा तप को व्यर्थ करने में कारण हैं।
गा. 68 [544-548]			ज्ञानमात्र कर्मक्षय का कारण नहीं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, अकेला एक या दो-दो मोक्षमार्ग नहीं, सम्यग्दर्शन

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			बिना, अकेला ज्ञान या सम्यक्चारित्र बिना सम्यग्ज्ञान मोक्ष का कारण नहीं। वैद्य-औषधि का उदाहरण। मिथ्यादृष्टि के लक्षणों का कथन।
गा. 69 [549-552]	मिथ्यात्व, भावशुद्धि, बालचारित्र,		सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र ग्रहण का उपदेश। सम्यक्त्व होने पर मिथ्यात्व मल का नाश, परिणामस्वरूप आत्मविशुद्धि होती है। जीव-कर्म का संश्लेष संबंध है। कर्मरूप रोग के नाश के लिए सम्यक्चारित्र रूपी ओषधि के सेवन का उपदेश, सम्यग्दर्शन के बाद ही चारित्र आश्रयणीय है।
गा. 70 [553-558]	बहिरात्मा		विषयविरक्त की अपेक्षा कषायविरति के अधिक महत्त्व का कथन, दोनों में लाखगुना अधिक श्रेष्ठ कषायविरक्त है। मिथ्यादृष्टि परद्रव्यरत होता है। मूढ़ बाह्य रूप में त्याग करता है। ज्ञान-अज्ञानी की विषयविरति में अंतर। कर्मों की निर्जरा का क्रम, तीव्र कषाययुक्त व्यक्ति सम्यक्त्वच्युत ही है। वैरागी का विषयसेवन भी निर्जरा का हेतु है, विषय-विश्लेषण।
गा. 71 [559-563]	विनय, ज्ञान-दर्शन-चारित्र-विनय, त्याग,	विनय-5,5,3	वैराग्य बिना त्याग की निरर्थकता का निरूपण, भक्ति रहित विनय का व्याख्यान, स्नेहरहित महिलाओं के रुदन का कथन, वस्तु-विषयक मोह-त्याग का उपदेश
गा. 72 [563-570]	क्षपण, क्षपक, वैराग्य, सम्यग्ज्ञानी		वैराग्य आदि बिना श्रमणचर्या की निरर्थकता का कथन, क्षपणों का प्रयोजन कर्मक्षय ही है, सुभट की शूरवीरता रहित शोभा का व्याख्यान, सौभाग्य रहित महिला की शोभा नहीं होती, श्रमणचर्या में वैराग्य, सम्यग्ज्ञान व संयम तीनों का महत्त्व है। वैराग्य के पर्यायवाची नाम, साम्य के पर्यायवाची नाम, विषयतृष्णा, विषयासक्ति, भोगाकांक्षा तीनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं। वैराग्य-सम्यग्ज्ञान-संयम के महत्त्व का निरूपण आगम संदर्भों द्वारा।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 73 [570-574]			लोभाविष्ट की तरह विषयासक्त भी दुःख पाता है, लोभी के इहलोक व परलोक सम्बन्धी दुःखों का वर्णन, लोभ पाँचों पापों का कारण है, विषयसेवन के दुष्परिणाम।
गा. 74 [575-578]			ज्ञानी की विषयविरक्ति के महनीय फलों का व्याख्यान, दाता के लक्षण, दानी ही पुण्यात्मा होते हैं। वे स्वर्ग व मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं। विषयविरक्ति के फलों का कथन, आत्मतत्त्व में मग्नता का उपदेश तथा महत्त्व।
गा. 75 [578-586]	परिग्रह संज्ञा, लोभ,	बाह्यपरिग्रह-10, 9	सम्यक्त्व ज्ञान-वैराग्य बल से ही लोभ का निग्रह संभव है। लोभ के पदार्थ का वर्णन, विषधर का दृष्टांत, सम्यक्त्वादि मंत्र-औषधि हैं। लोभ महान् अनर्थकारी है, इसका वर्णन, परिग्रह संज्ञा व लोभकषाय में अंतर, परिग्रह के 3 कारण, वे संसार के मूल कारण हैं, मंत्र-औषधि के प्रभाव का निरूपण और प्रमाण,
गा. 76 [586-592]	भावमुण्डन, शिखाच्छेदी मुण्डन, इन्द्रिय-वचन-हस्त-पाद-शरीर-मन-मुण्डन	मुण्डन-10, स्पर्श-8 इन्द्रियां-5, गंध-2, रस-5, इन्द्रियविषय-5, वर्ण-5, कर्मेन्द्रियाँ-5, स्वर-6, बाह्यलिंग-4	दस प्रकार के मुण्डन का त्यागी ही मोक्षमार्ग का नेता होता है। मुण्डन शब्द का अर्थ। भावमुण्डनपूर्वक ही द्रव्यमुण्डन सार्थक है, मोक्षसिद्धि का उपाय है। पाँचों इन्द्रियों के मुण्डन भावलिंग के उपकारक हैं। भावलिंग की श्रेष्ठता का वर्णन, धर्म से लिंग होता है, भाव ही धर्म है।

—0—

उत्तरार्द्ध

[गाथा 77-168, पृ. 593-1158, अधिकार 7-18]

सप्तम अधिकार
[गाथा-77-80] [पृ. 593-620]

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
[पृ. 593]............			अधिकार-पातनिका,
गा. 77 [594-603]	शिष्य, उपचारविनय	वर के गुण-9, षडावश्यक-6	गुरु-भक्ति सहित व्यक्ति शिवमार्ग का तथा भक्तिरहित दुर्गति का पथिक है। जिनेन्द्र व जिनवाणी की भक्ति रहित जैन, भर्ता की भक्ति से रहित सती व नौकर तथा गुरुभक्तिरहित शिष्य सभी दुःख के भोक्ता हैं। स्वामीभक्ति, पतिभक्ति, गुरुभक्ति की महत्ता के आगम प्रमाण। गुरुद्रोह के दुष्फलों का वर्णन, गुरु-उपकार का कथन। जिनेन्द्रभक्ति, जिनवाणी-भक्ति का वर्णन।
गा. 78 [604-609]	गुरु		परिग्रहविरत भी यदि गुरुभक्तिरहित है तो उसका व्यवहारचारित्र निरर्थक है। ऊसर खेत का उदाहरण, गुरु-उपकार तथा ज्ञानदान की महिमा। गुरू के प्रति शिष्य-कर्तव्य। विनय से ही गुरु की आराधना की सिद्धि होती है। विनय के अंग।
गा. 79-80 [610-620]	निष्फल अनुष्ठान	दातागुण-7	गुरुभक्तिविहीन शिष्य के चारित्र की निरर्थकता का निरूपण, राजा के बिना राज्य तथा सेनापति के बिना देशादि बल-हानि का विस्तार से कथन। दोनों की महत्ता का वर्णन। राजा के कर्तव्य। सम्यक्त्व बिना धर्मरुचि प्रयोजन-सिद्धि की हेतु नहीं, सम्यक्त्व युक्त रुचि का वर्णन, भक्ति से रहित दान, दयारहित धर्म निष्प्रयोजन है। गुरुभक्ति के महत्त्व का वर्णन।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

अष्टम अधिकार
[गाथा-81-92] [पृ. 621-692]

[पृ. 621-622]............			अधिकार-पातनिका,
गा. 81 [623-628]	सम्यग्दृष्टि, परभाव,		हेय-उपादेय के विवेक बिना विषयों में अनुरक्ति का व्याख्यान। अज्ञानियों का विषय-सुख, सुखाभास ही है। शंका-समाधान। सम्यग्ज्ञान के फल का कथन। हंसवत् भेदविज्ञानी का स्वरूप। विषयासक्त आत्मा व अनात्मा के विवेक से शून्य होते हैं।
गा. 82 [629-635]	कायक्लेश, कायक्लेशतप, उपवास, निश्चय सम्यक्त्व	कायक्लेश-6	निजशुद्धात्मा में रुचि ही कर्मक्षय की साधन है। सम्यक्त्वाभाव में कायक्लेशादि कर्मक्षय के साधन नहीं। कायक्लेश तप का हेतु। उपवास का उत्कृष्ट काल 6 माह ही होता है, इसका कारण। उपवास तप के प्रयोजन। शुद्धात्मा का प्राप्ति का उपाय-ध्यान।
गा. 83 [636-640]	बालतप,		आत्मज्ञान से रहित द्रव्यलिंग मोक्षक्षय का कारण नहीं। मिथ्यादृष्टि आत्म-अनात्म के ज्ञान से शून्य होता है। ज्ञानी व अज्ञानी में अंतर। आत्मज्ञानरहित आगमज्ञानी भी शास्त्रज्ञ नहीं। उसका तप बालतप है। द्रव्यलिंग सहित भावलिंग धर्म है।
गा. 84 [641-646]			शुद्धात्मज्ञान बिना द्रव्यलिंग की निरर्थकता का प्रतिपादन। बहिरात्मा की प्रतिक्रिया का वर्णन, आगम प्रमाण। आत्मतत्त्व के निरीक्षण का उपाय। निर्ग्रन्थलिंग-धारी सावद्य कार्यों को कर दुर्गति में जाता है। अज्ञानी के द्रव्यलिंग बहुत दु:खों के भार का मूल कारण है। ज्ञानी समत्व-उपशमभाव द्वारा दु:खों में भी खेदखिन्न नहीं होता।
गा. 85 [647-652]			निजशुद्धात्म-भावना करने की प्रेरणा। आत्मज्ञान होने पर दु:ख विलीन हो जाता है। दु:ख का कारण देह में

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			आत्मबुद्धि है। अज्ञान ही बंध का हेतु है। ज्ञानी की चिन्तनधारा का वर्णन। भेदविज्ञान के बल से ज्ञानी दुःखों में विचलित नहीं होता। आत्मभावना का उपदेश।
गा. 86 [652-656]	सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन, व्यवहार/सराग सम्यक्त्व,	दर्शनमोह-3, अनन्तानुबन्धी-4,	आत्मतत्त्व की प्राप्ति बिना निश्चय सम्यक्त्व की उपलब्धि निश्चित नहीं। तत्त्वोपलब्धि की प्राप्ति में व्यवहार-निश्चयापेक्षा से कथन। व्यवहार व निश्चयसम्यक्त्व के स्वामी का निर्देश। सम्यक्त्व-उपलब्धि के बिना मोक्ष नहीं होता। क्रम का कथन।
गा. 87 [657-662]		राज्य के अंग-7, दुर्ग-6,	निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान बिना, तप की निरर्थकता का निरूपण। दुर्ग बिना राजा का कथन, दान-दया-धर्म रहित गृहस्थ का कथन। चेतना बिना आत्मा का कथन। ज्ञान व तप से युक्त जीव मुक्ति पाते हैं।
गा. 88 [663-670]			परिग्रहासक्त मुनि दुर्गति पाते हैं। कफ में गिरी मक्खी की तरह परिग्रह में गिरा साधक अपना जीवन गंवाता है। रसना इन्द्रिय में आसक्ति के दुःख का वर्णन। विष्ठादि-कीट की तरह विषयासक्त प्राणी अशुचि पदार्थों में सुख मानते हैं। इन्द्रियविषयों में दुःख ही है। लोभासक्ति का हेतु मोह और अज्ञान भाव है। वह साधना भी परलौकिक सुखों के लिए करता है, जिससे दुःख-परम्परा बनी रहती है, वर्णन। लोभयुक्त आचरण आश्चर्यकारी है।
गा. 89 [671-676]	मोक्ष, असद्ध्यान,		ज्ञानाभ्यास बिना तत्त्वज्ञान नहीं, तत्त्वज्ञान बिना ध्यान से मोक्ष नहीं होता है। धर्म-शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। ध्यान की सिद्धि कषायों के शमन बिना नहीं। ज्ञानाभ्यास परमावश्यक है, इसका निरूपण। तत्त्वज्ञान बिना प्रशस्तध्यान भी नहीं होता। ध्यान व स्वाध्याय की प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है। ध्याता के लक्षणों का निरूपण। आगमाभ्यास की प्रेरणा।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 90 [677-680]			पंचमकाल में अध्ययन ही ध्यान है, अत: आगमाभ्यास का उपदेश। व्यवहार से अध्ययन को ध्यान कहा है। स्वाध्याय से एकाग्रता और मन-विजय होती है। ध्यान सामग्री का निरूपण। मनविजय न हो तो श्रुताध्ययन व्यर्थ है। मन:शुद्धि ही ध्यान-सिद्धि में समर्थ है।
गा. 91 [681-686]	व्यवहारचारित्र, सम्यक्त्व, ध्याता, ज्ञान		अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति का उपाय ज्ञान रूप धर्मध्यान है। जिनवचन दु:खों के क्षय का हेतु है। जिनेन्द्रभगवान् का उपदेश। सम्यग्ज्ञान ही धर्मध्यान रूप है। ज्ञान का फल विषय-विरक्ति है। ध्यान-सिद्धि के 6 उपाय।
गा. 92 [686-692]	श्रुत,	श्रुतज्ञान के पर्याय-41	श्रुत के ज्ञानाभ्यास बिना तप भी समीचीन नहीं। द्रव्यश्रुत-भावश्रुत ज्ञान का कारण है। ज्ञान संदेह रूपी अंधकार का नाशक है। श्रुताभ्यास से लाभ का, एवं न होने पर हानि का वर्णन। मोहक्षय, सम्यग्ज्ञान-प्राप्ति एवं रागादि के शमन व इन्द्रियों-कषायों के निग्रह हेतु ज्ञानाभ्यास का उपदेश।

नवम अधिकार
[गाथा-93-104] [पृ. 693-790]

[पृ. 693-694]...			अधिकार-पातनिका,
गा. 93 [694-705]	मुनिराज, प्रशस्तध्यान, उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण साधन, निस्तरण, आराधना, स्वभाव, आराधना, सद्धर्मकथा, आक्षेपणी-विक्षेपणी कथा, निर्वेजनी, संवेजनी कथा	धर्मकथा-4	मुनि निरन्तर तत्त्वविचारक एवं धर्मकथा के व्यसनी होते हैं। मुनिजन लोकव्यवहार से विरक्त होते हैं। तत्त्वविचारक मुनि का वर्णन। मुनियों का स्वभावत: मोक्षमार्ग की आराधना-अनुष्ठान में रुचि होती है। आराधना के पर्यायवाची नाम। परमार्थत: मोक्षमार्ग की आराधना एक ही है। तत्त्वज्ञानविचारणा वाले मुनि ही आत्माराम में लीन व परमसुखी रहते हैं।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 94-96 [703-721]	अध:कर्म, उपद्रावण, विद्रावण, परितापन, आरंभ, धर्मोपदेश, योगी, भावना, निंदा, निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि, प्रतिकुञ्चन, परिषहजय, उपसर्ग, तपस्वी, विकल्प, निर्द्वन्द्व, नियतस्वभाव, बाह्य व आभ्यन्तर द्रव्यमल, भावमल, मल	अनुप्रेक्षा-12 माया-5, परिषह-22 उपसर्ग-4, 10 परिग्रह-2, मल-2, द्रव्यमल-2 वस्त्र-5	मुनिराज के विस्तृत स्वरूप का विवेचन। वे विकथाओं से रहित, धर्मकथा सहित होते हैं। अधाकर्म दोष युक्त आहार, वसतिकादि के निषेध का विस्तृत वर्णन। सम्यग्ज्ञानी मुनिजन होते हैं। धर्मोपदेशकुशल मुनि को होने वाले लाभों का वर्णन। मुनिजन अनुप्रेक्षायुक्त योगी तथा निन्दा-वञ्चना से रहित होते हैं। अनुप्रेक्षा विषयक कथन। परनिंदा के दुष्परिणामों का प्रतिपादन। मुनिजन परिषह एवं उपसर्गजयी होते हैं। उपसर्ग-परिषहजय में अंतर। वे शुभ ध्यान-अध्ययनलीन, परिग्रहरहित विकल्परहित होते हैं। अपरिग्रहता के सुख। समत्वभाव की प्राप्ति संकल्पविकल्परहित होती है, शुद्धात्मा-स्वरूप का वर्णन, मुनिजन के नियतस्वभाव, निर्मलस्वभाव का विश्लेषण।
गा. 97 [721-727]	निर्वाण, मिथ्यादृष्टि		मिथ्यात्वसहित तप मोक्षसिद्धि में सहायक नहीं। निर्वाणसुख ही वास्तविक सुख है, शेष लौकिक सुख सुखाभास-क्षणिक दु:ख रूप हैं, विस्तार से कथन। मिथ्यात्वयुक्त जीव की परिणति का वर्णन। मिथ्यात्व के त्याग का परामर्श।
गा. 98 [727-735]	प्रवृत्ति, निवृत्ति,		सरागावस्था में शुद्धात्मस्वरूप की असंभवता का निरूपण। अप्रशस्तराग के साथ द्वेष भी निश्चित है। रागद्वेष के साथी कषायें, अशुभध्यान, अशुभ लेश्यायें हैं। रागादि हटने पर ही आत्मदर्शन होता है। मलिनदर्पण, चंचल (कीचड़युक्त चल) स्फटिक का उदाहरण। रागादि बाह्य संयोग व मिथ्याज्ञान को बढ़ाने के कारण त्याज्य हैं। रागादि-अभाव से विषयासक्ति कम तथा शुद्धात्मानुभूति प्रकट होती है, चर्चा। बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक राग के गुणस्थान। गृहस्थों के अशुद्धात्मा का अनुभव भी निर्वाण-सुख में कारण है, विशेष वक्तव्य।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 99 [736-741]	संसार, दण्ड, शल्य, मिथ्यात्वशल्य, माया, निदान, असूया	संसार-5, दण्ड-3, मनदण्ड-3, कायदंड-7 वचनदण्ड-7, शल्य-3,2 भावशल्य-3, द्रव्यशल्य-3	दण्ड, शल्य, मिथ्यात्व, मान, ईर्ष्या, कलह, याचना के स्वभावी मुनि दीर्घसंसारी है। संसार का मूल मिथ्यात्व व कषायादि है, दृष्टांत। व्रती होने में शल्य बाधक है। अभिमानी विवेकहीन होते हैं। असूया तीव्रकषाय का लक्षण है।
गा. 100 [742-750]	मूढदृष्टि, परद्रव्य, दीक्षा		शरीर में अनुरक्त, विषयों में आसक्त, कषाययुक्त, आत्मस्वभाव से विरक्त साधु सम्यक्त्वहीन होते हैं। शरीर में आत्मदर्शन वाले मोहयुक्त प्राणी का कथन। विषयों में आसक्ति अज्ञानभाव की देन है। परद्रव्यों में रति-विरति के परिणाम। श्रमणदीक्षा मोह-कषाय के त्याग सम्बन्धी संकल्प के साथ प्रारंभ होती है। आत्मस्वभाव में सुप्त मुनि-दशा का वर्णन।
गा. 101-102 [750-764]	व्यापार, आरंभ, असंग व्रत, असूया व्रत, पापश्रमण	व्रत-2, महाव्रत-5 श्रमण-मूलगुण-28, उत्तरगुण-8400000, शील-18000, श्रमणकल्प-10 शीलविराधना-10	जैनधर्म की विराधना करने वाले मुनियों का स्वरूप, सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव द्वारा उपदिष्ट धर्म का स्वरूप, प्रधान लक्षण, धर्म के चिह्न, शरण्य मानकर तथा धर्मानुष्ठान के साथ धर्मप्रभावना करना आवश्यक है। धर्म-प्रभावना में व्यवहारनय की उपयोगिता अपेक्षित है। धर्म-प्रतिष्ठा को निन्दनीय आचरण से नष्ट करने वाले निंदा के पात्र पापी हैं। श्रमणों की दोषजनक प्रवृत्तियों का वर्णन। आरंभयुक्त श्रमण संसर्ग के अयोग्य है, परिग्रह-ग्रहण भी धर्म-विराधक क्रिया है, वर्णन। उपकरणों में मूर्च्छा रखना दोष-प्रवृत्ति का एवं आर्तध्यान का हेतु है। श्रमणों के उपकरणों का वर्णन। असूयक, एवं व्रत, गुण, शील से रहित, कषाय-कलहप्रिय, मुखर जिनधर्म के विराधक हैं, व्रतादि युक्त श्रमण ही प्रशसंनीय है, विस्तार से व्याख्या। एकलविहारी, श्रमणसंघ-कल्याण में उत्साहविहीन, राजपिण्ड-ग्राहक भी धर्मविराधक है, प्रमाण।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 103 [765-775]	आसुरीभावना, आभियोग्य भावना, संसक्त दोष, आठ निमित्तों के लक्षण, व्यञ्जननिमित्त आदि, पठितसिद्ध मन्त्र,	निमित्त शास्त्र अंग-8 कुत्सित भावना-5 उत्पादन दोष-16 चिकित्सा दोष-8	श्रमणत्व में दोषोत्पाद क्रियाओं का वर्णन। ज्योतिष विद्या-मंत्र से आजीविका चलाना, भूतादि-चिकित्सा, परिग्रह ग्रहण करना आदि क्रिया दोषोत्पादक है। यथार्थ साधु का स्वरूप, श्रमणों के लिए कन्दर्पादि कुत्सित भावनाओं का निषेध। आजीविकादि दोष युक्त मुनियों के लक्षण एवं निंदा का कथन।
गा. 104 [775-783]	श्रमण		सम्यक्त्वरहित श्रमणों की परिचर्या का व्याख्यान। कषाययुक्त, परिग्रह में मूर्च्छा वाले, लोकव्यवहार में प्रवृत्त मुनि सम्यक्त्वविहीन हैं, विशद वर्णन। मुनिजनों को निजात्म-कल्याण प्रमुख, तथा परकल्याण भी करना गौण कर्तव्य है, चर्चा। परकल्याणोपदेश से लाभ का वर्णन।
गा. 105 [784-790]	उपगूहनगुण, शौचधर्म,		सम्यक्त्वविहीन श्रमणों के अन्य-अन्य लक्षण। जो दूसरों का बड़ापन सहन नहीं करते, स्वयं अपनी स्तुति करते, रसास्वाद में प्रयत्नशील श्रमण स्म्यक्त्वविहीन हैं, विस्तृत विवरण। कौन श्रमण सुशोभित होते हैं ? उपगूहन गुणादि युक्त। आत्मप्रशंसा तीव्र कषाय का लक्षण है, उसकी हेयता का निरूपण। श्रमणों के लिए रसऋद्धि सर्वथा त्याज्य है, वर्णन।

दशम अधिकार
[गाथा-106-113] [पृ. 791-834]

[पृ. 791-792]..			अधिकार-पातनिका,
गा. 106 [792-798]	मिथ्यादृष्टि, वात्सल्य, वात्सल्यगुण, व्यवहार-निश्चय वात्सल्य, प्रवचन-वात्सल्य	वात्सल्य-2	सम्यक्त्वरहित मुनि के स्वरूप का प्रतिपादन— धर्मात्मा के प्रति विपरीत भाषण करना, कुत्ते की तरह भोंकना है, विषय स्पष्टीकरण। कुत्ते के स्वभाव का वर्णन। श्रमण तो साधर्मी जनों में वात्सल्यगुण वाला होता है, अतः

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
			वह सम्यग्दृष्टि है, व्याख्यान। साधर्मीजनों से प्रतिकूल रहने वाला शास्त्रज्ञान भी विष की तरह अहितकारी है, वर्णन।
गा. 107-108 [799-808]	क्षुधापरिषहजय, भिक्षा. अलाभ, परिषहजय, भिक्षाशुद्धि, याचना परिषहजय, पिपासा परिषहजय, भिक्षा गवेषणा, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रामरीवृत्ति, स्वभ्रपूरण	भिक्षाचर्या-5	श्रमणों के आहारग्रहण के उद्देश्यों तथा कारणों का वर्णन। मोक्षमार्गरहित मुनि की आहारचर्या का कथन। आहार-प्रसंग में परिषहजय का वर्णन। भिक्षावृत्ति की विशिष्टता, ज्ञानाराधना व संयमानुष्ठान के लिए आहार लेता है, उसकी मनोवृत्ति का निरूपण
गा. 109-110 [808-820]		संसार-5	धर्माराधनारूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए आहार-ग्रहण का प्रतिपादन। धर्मानुष्ठान का देह ही साधन है। उसका उपदेश। देह-आत्मा की भिन्नता का कथन। अंतरात्मा-बहिरात्मा में अंतर। देह दु:खों का घर एवं कर्मबंध का हेतु है, विस्तृत व्याख्यान। देह पोषण का हेतु। देह की अशुचिता-अनित्यता का विश्लेषण विस्तृत।
गा. 111-112 [821-829]	संक्लेश, संक्लेशस्थान	नवधा भक्ति	संयमसिद्धि हेतु शुद्धआत्मीय परिणामपूर्वक आहार ग्रहण का उपदेश। शरीरपोषण हेतु आहारग्रहण उचित नहीं। धर्मानुष्ठान हेतु आहारग्रहण उचित है, विस्तृत वर्णन। ज्ञान, भेदविज्ञान कर्मबंध छुड़ाने में हेतु है। रसलोलुपता-त्याग का कथन। संक्लेशयुक्त परिणाम वाला मुनि व्यन्तर है, उनकी वर्जनीयता का उपदेश है। याचनाशील मुनि दीर्घसंसारी है, वर्णन। कषाययुक्त आहार ग्रहण करने वाला मुनि दु:ख पाता है।
गा. 113 [830-834]	भिक्षु, अध:कर्म,		पाणिपात्र में रखा गया निर्दोष आहार दिव्य नौका की तरह है, उसे ग्रहण करो। श्रमणचर्या के लक्षण, शुद्ध आहार का स्वरूप। मंद चारित्र वाले श्रमण का कथन। तपाये गये लोहपिण्ड का दृष्टांत।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

एकादश अधिकार
[पृष्ठ-835-876] [गा.114-118]

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
[पृ. 835]..			अधिकार-पातनिका,
गा. 114 [836-857]	विधि, प्रतिग्रहादि अर्घ, आगम, आप्त, आगमरुचि, आज्ञारुचि, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़, परमावगाढ़ रुचि, तत्त्वविचारक, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दृष्टि	नवधाभक्ति-9, पात्र-3 अनेक दर्शनार्य-10 सम्यग्दर्शन-10	आहारदान के योग्य पात्रों का वर्णन, भेद, पात्र के अनुसार दान का फल, महाव्रतियों में आर्यिका का भी ग्रहण, आर्यिकाओं की नवधाभक्ति के प्रमाण, तीनों पात्रों को नवधाभक्ति पूर्वक दान का उपदेश, नहीं देने का फल, ऐलक-क्षुल्लक के पादप्रक्षालन-अर्घ के प्रमाण, वस्त्रधारी क्षुल्लकादि अपूज्य है या पूज्य, शंका का समाधान, सवस्त्र अविरत सम्यग्दृष्टि भी पूज्य है। श्रमणों को आगम से तत्त्वनिश्चय करने का उपदेश, मुनियों के लिए तत्त्वचिन्तन उपयोगी है।
गा. 115 [857-863]	महामुनि, उपशम, निरीहता, ध्यान, स्वाध्याय, साधु परमेष्ठी, श्रमण, मुनि, जिनदीक्षा		उत्तम पात्र का स्वरूप, पात्र में उत्तमत्ता गुणों से आती हैं, मुनि कौन प्रशंसनीय हैं, उनके गुणों का वर्णन, महामुनि शुद्ध है और शुद्ध ही सिद्ध है।
गा. 116 [864-870]	सकल-निकल परमात्मा,	आत्मा-3, परमात्मा-2,	आत्मज्ञान बिना घोरतप भी मुक्ति का कारण नहीं, परमात्मा के नाम, आत्मज्ञान होने पर ही अरहन्त आदि के स्वरूप का ज्ञान होता है, अरहन्त व सिद्ध में अंतर, मुमुक्षुओं का आत्मज्ञान करना ही कर्तव्य है।
गा. 117-118 [871-88]		आभ्यन्तरपरिग्रह-14 बाह्य परिग्रह-10 शल्य-3, पुरुषार्थ-4	पात्र-अपात्र को विवेकपूर्वक दिया गया दान समीचीन होता है। दर्शनशुद्ध का स्वरूप, उत्तमपात्र ही दर्शनशुद्ध है, पात्र से विपरीत गुण वाला अपात्र है, सुपात्रदान के बिना मनुष्यजन्म निरर्थक है।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

द्वादश अधिकार
[गाथा-119-125] [पृष्ठ 877-932]

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
[पृ. 877-878]........			अधिकार-पातनिका,
गा. 119 [878-895]	सम्यग्ज्ञान, नय, मिथ्यानय, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिकनय, व्यवहारनय, निश्चयनय, शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय, बहिरात्मा, निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग मिथ्याज्ञान, सविकल्प-निर्विकल्प मोक्षमार्ग,	नय-2, 7, अध्यात्मनय-2 निश्चयनय-2 मोक्षमार्ग-2, 2 निश्चयमोक्षमार्ग-2	रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग निश्चय-व्यवहार रूप है, जो इन दो प्रकार से नहीं जानता, उसका समस्त अनुष्ठान व्यर्थ है। शंका-मोक्ष के उपदेश से पूर्व, मोक्षमार्ग का उपदेश क्यों? समाधान। नयविधि के ज्ञान की अनिवार्यता का विचार। प्रमाण व नय में अन्तर, दोनों नयों की उपयोगिता का निरूपण, दो नय सम्यग्दृष्टि के 2 नेत्र हैं अर्थात् परस्परसापेक्ष है। नयदृष्टिहीन व्यक्ति बहिरात्मा है। रत्नत्रय आत्मा में ही होते हैं, अत: रत्नत्रयात्मक आत्मा ही निश्चयमोक्षमार्ग है। निश्चय व व्यवहार में साध्य-साधक सम्बन्ध, व्यवहार बिना निश्चय की सिद्धि नहीं हो सकती। निश्चयमोक्षमार्गी ही परमात्म-स्वरूप का अनुभव करता है।
गा. 120 [895-899]			सम्यक्त्व बिना ज्ञान व तपश्चरण संसार के बीज हैं। आत्मज्ञान बिना तत्त्वज्ञान निरर्थक है। आगमज्ञान भी उसका व्यर्थ है। द्रव्यलिंग धारण करना भी व्यर्थ है। आत्मज्ञान बिना श्रुत बालश्रुत है तथा चारित्र बालचारित्र है। आत्मध्यान में रति विद्वत्ता का फल है।
गा. 121 [900-904]	अणुव्रत, महाव्रत, व्यवहार-निश्चय चारित्र व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन,	व्रत-5, शील-7, 3 गुणव्रत, शिक्षाव्रत-4 चारित्र-5, 2, व्यवहार चारित्र-13, तप-2,12 ध्यान-2, स्वाध्याय-5 सम्यक्त्व-2,	सम्यक्त्वहीन व्रतादि भी संसारवर्धक हैं, सम्यक्त्व के अभाव में व्रतादि विषमिश्रित दुग्ध की तरह हैं। सम्यक्त्व मोक्षमार्ग का प्रथम सोपान है, शेष व्रतादि बाद के सोपान हैं।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 122 [905-913]	योगी, साधु, भावलिंगी साधु सत्कार-पुरस्कार-परीषहजय, सत्कार, पुरस्कार, भाग्य		ख्याति आदि लौकिक आकांक्षा छोडने का उपदेश। ममत्वहीन ही निर्वाण प्राप्त करता है। विषयों की अभिलाषा से रहित मुनि का माहात्म्य। सम्यग्दृष्टि अपने को तृणसम मानता है। पूजादि का आकांक्षी मुनि परिषहजयी न होता हुआ मार्गच्युत होता है। मुनि के गुण, परलोक की चाह से नहीं, अपितु शुभक्रियाओं से परलोक की प्राप्ति होती है। विशुद्धि पुण्यकर्म के बंध में मूलकारण है। पुण्य की वांछा भी नहीं करने का उपदेश, पुण्य-पाप के त्याग का उपदेश
गा. 123 [913-919]	व्यवहार-निश्चय सम्यक्त्व व्यवहार-निश्चय चारित्र पर्याय, विभावपर्याय	सम्यक्त्व-2, चारित्र-2 तत्त्व-7, 2, पर्याय-2 सामान्यगुण-8 विशेष गुण-4 बंध-2	निज शुद्धात्मा के प्रति रुचि से निर्वाण होता है। व्यवहार पूर्वक ही निश्चयसम्यक्त्व होता है। जीवाजीवादि तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है, वही तत्त्वज्ञानी है। तत्त्वों की भावना का उपदेश, द्रव्यों के सामान्य-विशेष गुण, स्वभाव-विभाव पर्यायें,
गा. 124 [920-927]	द्रव्यकर्म, भावकर्म, शुद्धनय	बंध-4, प्रकृतिबंध-2 मूलकर्म-8, द्रव्य-148 उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ- असंख्यात, अनन्त	तत्त्वज्ञानी मुक्त होता है, आस्रवादि ज्ञान से ज्ञानी विषय-विरक्त होता है। शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं। सम्यग्दृष्टि ऐसा मानता है कि मैं ज्ञायकस्वभावी कर्मों की अवस्थाओं से भिन्न हूँ।
गा. 125 [927-932]		आत्मा-3	आत्मज्ञानपूर्वक विषयविरक्ति से मुक्ति होती है। परमात्मादि के ज्ञान से, अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से विरक्ति होती है। मिथ्यात्व के नष्ट होने पर ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान संभव है। ध्यान-विधि से परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति का संकेत (उपाय)। विषयराग युक्त जीव बंधता है एवं विषय-राग से रहित जीव मुक्त होता है। विषयासक्त जीव की दशा का वर्णन।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

त्रयोदश अधिकार
[गाथा-126-132] [पृष्ठ 933-960]

[पृ. 933-934]			अधिकार-पातनिका,
गा. 126-127 [934-940]	बहिरात्मा		बहिरात्मा के स्वरूप का वर्णन। मोह के कारण बहिरात्मा पंचेन्द्रिय-विषयों में आसक्ति करता है। विवेकरहित की विषय-सुख में रति होती है, ज्ञानी विवेकी को नहीं, ज्ञानी को विषय-सुख सुखाभास हैं तथा दु:ख को देने वाले हैं, अतृप्तिकारक विनश्वर लगते हैं। विषय-सुख किम्पाक फल सम घातक होने से त्याज्य है। विष से भी अधिक दुष्परिणाम देने वाले विषय-सुख हैं, अत: त्याज्य हैं।
गा. 128-130 [941-949]	बहिरात्मा, मूढ, अमूढ		बहिरात्मा जीव के सामान्य लक्षणों का निरूपण। सज्ज्ञान दृष्टि रहित बहिरात्मा होता है। देह व आत्मा में एकत्व बुद्धि वाला बहिरात्मा है। पुद्‌गल द्रव्य के उपकार। बहिरात्मा जीव के चिन्तन व आचरण का निरूपण। विषय-सुखों में सुख मानने वाला बहिरात्मा होता है। ज्ञानी-अज्ञानी में अन्तर। दोनों का विशेष निरूपण।
गा. 131-132 [949-960]	आहार, श्रमण	आहार-6, कवलाहार-4, उदुम्बरफल-5	बहिरात्मा की विषयसेवन में प्रवृत्ति तथा उसके भक्ष्याभक्ष्य-विवेक का निषेध, जीव-अजीव तत्त्वों के यथार्थ ज्ञान बिना ही जीवों की विषयों में प्रवृत्ति होती है। म्लेच्छ जाति की तरह बहिरात्मा को भी भक्ष्याभक्ष्य का विवेक नहीं होता। मुमुक्षुजन शरीर का सेवक की तरह पोषण, मात्र साधना के लिए करते हैं। श्रमण के आहार का प्रमाण, समय। श्रमण के लिए युक्त, विवेक सहित आहार का उपदेश। व्रतीजनों के योग्य-अयोग्य आहार का विवरण। अयोग्य पदार्थो के त्याग का उपदेश।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

चतुर्दश अधिकार
[गाथा-133-139] [पृष्ठ 961-998]

[पृ. 961-962]......			अधिकार-पातनिका,
गा. 133 [962-969]	अन्तरात्मा, उत्कृष्ट, मध्यम-जघन्य अन्तरात्मा, बहिरात्मा	अन्तरात्मा-3	अन्तरात्मा का लक्षण, स्वप्न में भी विषय का सेवन नहीं करता। अन्तरात्मा की आत्मरति होने से विषयों में विरति साथ होती है। अन्तरात्मा का चिन्तन। विषयासक्ति से रहित अन्तरात्मा ही धन्य है। देहसुख में आदरभाव नहीं रहता अन्तरात्मा का। अन्तरात्मा का स्वरूप, बहिरात्मा व अन्तरात्मा में अन्तर।
गा. 134 [970-974]			केवल सम्यक्त्व व ज्ञान से अनादिकालीन दुर्वासना दूर नहीं होती। अतः सम्यक्चारित्र के बल से ही उस दुर्वासना, भोगासक्ति, राग कषाय का क्षय करो। सूक्ष्म राग-कण भी शुद्धात्मा का वेदन नहीं करा सकता है। ध्यान के बल से आत्मघट की शुद्धि संभव है।
गा. 135 [974-979]			सम्यग्दृष्टि अनिच्छापूर्वक विषय-सुख में प्रवृत्त होता है। सम्यग्दर्शन व ज्ञान युगपत् होते हैं। ज्ञानी कौन ? जो परिग्रह-इच्छा से भी रहित है। ज्ञानी रागादि भावों को पररूप का मानता-समझता है। वीतराग स्वसंवेदन रूप भेदज्ञान वाला ज्ञानी होता है। वह कड़वी दवा की तरह अनिच्छापूर्वक विषय-सुख का सेवन करता है। सम्यग्दृष्टि भोग भोगता हुआ भी आस्रव-बंध नहीं, अपितु संवर-निर्जरा करता है। बुद्धिपूर्वक रागत्याग का उपदेश
गा. 136 [979-984]	बहिरात्मा, अंतरात्मा	आत्मा-3	आत्मा के भेदों में उपादेय-हेयता का निरूपण। बहिरात्मा हेय, अंतरात्मा कथंचिद् हेय तथा उपादेय है। परमात्मा ही उपादेय है। अंतरात्मा साधन है, परमात्मा रूप साध्य की सिद्धि के लिए। बहिरात्मा व अंतरात्मा के लक्षण। परमात्मा के अन्य नामों का वर्णन। अंतरात्मा द्वारा परमात्मा की स्थिति प्राप्त करने का निरूपण।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 137 [985-991]	बहिरात्मा, द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि		बहिरात्मा के सभी भाव दु:ख के ही हेतु होते हैं। बहिरात्मा तत्त्व-अतत्त्व, आत्मज्ञान से रहित होता है। आत्मज्ञान के अभाव में उसका भवभ्रमण ही होता है। आत्मभावना करने का उपदेश। बहिरात्मा की विषय-सेवन में रति होती है जिससे वह दु:ख भरे भोगों में भी सुख का संवेदन करता है, अत: वह भवभ्रमण ही करता है, सदैव दु:ख पाता है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति संभव है।
गा. 138 [991-994]	शुद्धोपयोग, पुण्य-पाप व शुद्धभाव		अंतरात्मा के तथा परमात्मा के भाव से क्रमश: पुण्यबंध-मोक्ष होता है। परम्परा से परमात्मभाव अंतरात्मा के लिए मोक्ष का हेतु है, निश्चय से नहीं। प्रशस्तपुण्य भी साक्षात् मोक्ष का कारण है, जैसे तीर्थंकर नामकर्म-बन्ध।
गा. 139 [994-998]	स्वसमय, परसमय	आत्मा-2, 3	द्रव्य-गुण-पर्याय सहित आत्मज्ञान से मोक्ष की सिद्धि होती है। आत्मा से पृथक् कोई परमात्मा नहीं होता। मोक्षमार्ग के नेता कौन? इसका निरूपण। आत्मज्ञान बिना बाह्य लिंग भी दु:ख का कारण है।

पञ्चदश अधिकार

[गाथा-140-141] [पृ. 999-1008]

[पृ. 999]...			अधिकार-पातनिका,
गा. 140 [1000-1004]	परमात्मा	परमात्मा-2	स्वसमय परमात्मा है तथा अंतरात्मा व बहिरात्मा परसमय है, गुणस्थान दृष्टि से। अंतरात्मा परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के बाद हेयरूप होने के कारण परसमय है। परमात्मा के ध्यान से परमात्मपने की प्राप्ति होती है।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 141 [1005-1008]	बहिरात्मा, अंतरात्मा,	अंतरात्मा-3 परमात्मा-2 बहिरात्मा-3	गुणस्थानानुसार आत्मा के स्वरूप का वर्णन। उत्तम-मध्यम-जघन्य अंतरात्मा के गुणस्थानों का वर्णन। 14 गुणस्थानों का समय। सिद्धों के लोक के आगे गमननिषेध का हेतु। 1-3 बहिरात्मा के गुणस्थान उत्तममध्यम-जघन्य भेद से। सिद्धत्वप्राप्ति हेतु आत्मीय विशुद्धि की तरतमता-विचार का उपदेश।

षोडश अधिकार
[गाथा-142-152] [पृ. 1009-1088]

[पृ. 1009-1010]..			अधिकार-पातनिका,
गा. 142-145 [1010-1046]	योगी, योग, गारव, शब्द, ऋद्धि, सातगारव, मुक्ति उपेक्षासंयम, दीक्षा	गति-5, मूढ़ताएं-3 शल्य-3, दोष-3 गारव-3, रत्न-3 करण-3, गुप्ति-3 संयम-17, 2	दोषक्षय व परिणाम-विशुद्धि आदि से मोक्ष की प्राप्ति होती है। योगशब्द के अर्थ तथा लक्षण, करण व योग में अन्तर। रत्नत्रययुक्त जीव मोक्ष पाता है। 3 करणादि से रहित तथा रत्नत्रयादि से युक्त योगी होता है। उपेक्षा संयम वीतराग चारित्र युक्त शुद्धोपयोगी मुनियों को होता है। श्रमण की दिगम्बर मुद्रा ही होती है, अन्य नहीं। प्रव्रज्या का यथार्थ स्वरूप। जिनलिंगधारी योगी ही मोक्ष पाता है। शुद्धोपयोगी श्रमण की विशेषता। परिग्रहधारी श्रमण निंदनीय है तथा परिग्रहरहित श्रमण ही शुद्ध है। आर्यिका-प्रव्रज्या विषयक विवेचन, प्रव्रज्या स्वरूप और स्त्री-प्रव्रज्या सम्बन्धी विधि या निषेध, स्त्री प्रव्रज्या के शास्त्रीय उद्धरण, आर्यिकाओं का महाव्रतोपचार, जिन आदि की साक्षी में आर्यिका प्रव्रज्या के प्रमाण।
गा. 146 [1047-1051]	ज्ञान, साधु		यथार्थ श्रमण की भावनादि का विचार, साधु सम्यक्त्वयुक्त भावना भाता है, वैसी ही चर्चा सुनता है और सम्यक्त्वयुक्त ही साधना करता है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। ज्ञान का फल चारित्र है। साधु के विशेष लक्षण।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 147 [1052-1055]	अर्हन्त		सम्यक्त्व के महत्त्व का निरूपण। परमात्मा भी देवों द्वारा वंदनीय है। यह सम्यक्त्वादि गुण की ही महिमा है। सम्यक्त्व से ही बोधि की प्राप्ति होती है। सम्यक्त्व ग्रहण का उपदेश।
गा. 148 [1055-1062]	उपशमसम्यक्त्व		पञ्चमकाल में उपशमसम्यक्त्व के नष्ट होने से कषायों की उत्पत्ति होती है। उपशमसम्यक्त्व उत्पत्ति की प्रक्रिया। कषायें दुर्गति की हेतु होती हैं। कषायरहित ही चारित्र संयमधारी होता है। कषायें रत्नत्रय को नष्ट कर देती हैं। कषायजय के लिए इन्द्रिजय आवश्यक है। कषायों का मूल मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व के दुष्प्रभाव। मुमुक्षुओं को परामर्श।
गा. 149 [1062-1077]		मूलगुण-8, गुणव्रत-3 शिक्षाव्रत-4, तप-12 प्रतिमायें-11, दान-4	श्रावकों की 53 क्रियाओं का वर्णन। अनेक प्रकार से मूलगुणों की विवक्षा, अनेक प्रकार से शिक्षागुणों की विवक्षा। जलगालन विधि, 1 बूंद में जीवों की संख्या का प्रमाण, जलगालन का उपदेश-महत्त्व, छानने वाले वस्त्र का प्रमाण, जल की विभिन्न मर्यादाएं, जलगालनव्रत के अतिचार, रात्रिभोजन-त्याग का निरूपण, उत्पन्न दोषों पर विचार, शंका-समाधान, रात्रिभोजन-त्याग का महत्त्व, श्रावकों के भोजन के काल का विवरण।
गा. 150 [1078-1080]	ध्यान		ज्ञानाभ्यास की महत्ता एवं उपादेयता का निरूपण, ध्यान की सिद्धि के लिए ज्ञानाभ्यास आवश्यक है। ध्यान क्रम से होता है, अक्रम नहीं। ध्यानसिद्धि का प्रयोजन। ध्यान का महत्त्व।
गा. 151 [1081-1085]			श्रुतभावना से तप-संयम व वैराग्य की सिद्धि का निरूपण। मोक्षसिद्धि के लिए वैराग्यादि आवश्यक हैं। तप-संयम की महत्ता का वर्णन। श्रुतज्ञान की महनीयता का वर्णन।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 152 [1085-1088]	द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-भवसंसार	संसार-5	मिथ्यात्व ही संसारवर्धक है। जब तक सम्यक्त्वग्रहण नहीं होता, तब तक संसार-अवसान नहीं होता।

सप्तदश अधिकार
[गाथा-153-165] [पृ.1089-1146]

[पृ. 1089-1090]			अधिकार-पातनिका,
गा. 153-155 [1090-1097]			सम्यक्त्व सौख्यकारी है। यह सुखप्राप्ति का मूल है, क्योंकि सम्यक्त्व बिना सभी कर्तव्य-अनुष्ठान दुःखकारी हैं। सम्यक्त्वयुक्त क्रियाएं पुण्यकारी हैं, इसका निरूपण विस्तार से। मिथ्यात्व सहित सभी अनुष्ठान दुःखकारी हैं। सम्यक्त्व शुद्ध ही होना चाहिए, ऐसा उपेदश। सम्यक्त्व-महिमा का निरूपण।
गा. 156-157 [1098-1106]	गण-गच्छ, समय, संघ कुल, जाति, शिष्य, प्रशिष्य छात्र, सुशिष्य,		ममत्वभाव या अप्रशस्तध्यान मुक्ति में बाधक ही है। मुनि यदि वसति, उपकरण आदि बाह्य पदार्थों में ममत्व भाव करता है तो वह सुखी नहीं हो पाता। समय के विभिन्न अर्थ। शुद्धोपयोग मुनियों को भी शुभोपयोग होता है। शुभोपयोग साक्षात् पुण्यबंध का तथा परम्परा से मोक्ष का हेतु है। शुद्धोपयोग मुनि का ममत्व, राग सूक्ष्म भी त्याज्य है। अति रौद्र ध्यान मुनियों के वर्जनीय है, उससे प्राप्त फलों का निरूपण। ममत्वभाव का मूल मिथ्यात्व-मोह है। अतः ममत्वभाव को निन्दनीय बता, उसे त्यागने का उपदेश।
गा. 158 [1106-1109]	गण, गच्छ, संघ, समय,		गण-गच्छ-समय के यथार्थ स्वरूप का वर्णन। रत्नमय आत्मा के अनुष्ठान में रति का उपदेश। निश्चय रत्नत्रयमय आत्मा से मोक्ष-सिद्धि सुलभ होती है। आगमज्ञान का सार आत्मज्ञान है।

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 159 [1110-1117]	क्षायिक, उपशम, क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन	सम्यक्त्व-3	सम्यक्त्व ही कर्मों के विनाश में उसी प्रकार समर्थ है, जैसे प्रचण्ड वायु मेघसमूह को, सूर्य अंधकार को विनष्ट करता है। मिथ्यात्व ही भवभ्रमण में मुख्य हेतु है। सम्यग्ज्ञानी रागादि भावों का अकर्ता होता है तथा उसके कर्मों के संवर के साथ निर्जरा भी होती है। निर्जरा के 11 स्थानों का वर्णन। सम्यक्त्व-प्राप्ति की मर्यादा, स्वामी, कालादि का वर्णन। तीनों सम्यक्त्वों की काल-सीमा का वर्णन।
गा. 160 [1117-1120]		लोक-3	दीपक तुल्य सम्यग्दर्शन का निरूपण, उसकी महिमा का वर्णन। मिथ्यात्व सम्यक्त्व की उत्पत्ति में प्रतिबंधक कारण है। सम्यग्दर्शन से निश्चय सम्यग्दर्शन ग्राह्य है, अत: रत्नत्रयमय आत्मा ही साधना द्वारा सर्वज्ञ हो सभी को एक साथ जानता-देखता है। अर्थात् सम्यक्त्वरत्न परम्परा से केवलज्ञान की उत्पत्ति में कारण है।
गा. 161 [1121-1127]	उपशमसम्यग्दर्शन		सम्यक्त्व के महत्त्व का समर्थन। भव्यों में भव्यवर ही मुक्ति पाते हैं। दूरानुदूर भव्य नहीं। पर वे अभव्यवत् हैं क्या, इस शंका का समाधान। भव्यवर का स्वरूप। शुद्धनय के प्रयोग से आत्मा शुद्ध किया जाता है। सम्यक्त्व कतक युक्त जल तथा कालिमा रहित सुवर्ण प्रक्रिया की तरह शुद्ध होता है। विस्तार से वर्णन प्रक्रिया का।
गा. 162 [1127-1132]			मोक्षप्राप्ति में प्रवचनसार (शुद्धात्मरूप) आत्मा के अभ्यास की उपादेयता का वर्णन
गा. 163 [1133-1136]			धर्मध्यान सम्बन्धी अभ्यास के महत्त्व का वर्णन, सविकल्प-निर्विकल्प धर्मध्यान के गुणस्थान, धर्मध्यानपूर्वक ही शुक्लध्यान होता है, दोनों में धर्मध्यान कारण था— शुक्लध्यान कार्यसमयसार रूप, इसकी व्याख्या, शंका-समाधान

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष
गा. 164 [1136-1142]	क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि., प्रायोग्यलब्धि, करणलब्धि,	5 लब्धि	काल आदि लब्धियों के महत्त्व का वर्णन, आत्मा के परमात्मा बनने का क्रम तथा विधि, भव्य-अभव्यों में लब्धि का वर्णन, करणलब्धि के स्वामी तथा उसका फल।
गा. 165 [1142-1146]			सम्यक्त्व के महत्त्व का निरूपण, कामधेनु, कल्पतरू, चिन्तामणि रत्न, रसायन, पारसमणि की तरह सम्यग्दर्शन यथेष्ट सौख्य प्रदाता है। कल्पतरु आदि की उपयोगिता, सम्यक्त्व श्रेयस्कर अमृत के समान है।

अष्टादश अधिकार
[गाथा-166-168] [पृ.1147-1157]

[पृ. 1147]..			अधिकार-पातनिका,
गा. 166 [1148-1150]			रयणसार ग्रंथ का माहात्म्य, रयणसार के स्वाध्याय से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है, वैराग्य तथा तपोभाव उत्पन्न होता है। निरीह वृत्तिवाला होता हुआ सम्यक्चारित्री निश्चयध्यान द्वारा मोक्ष पाता है।
गा. 167 [1151-1152]			सम्यक्त्व आदि रत्नत्रय की वृद्धि के लिए ग्रंथ का स्वाध्याय करणीय है। जो नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है। ग्रंथ के लेखक या कर्ता कौन ? मिथ्यादृष्टि का स्वरूप।
गा. 168 [1152-1154]			ग्रंथ का उपसंहार, ग्रंथ के अध्ययन, मनन, पठन-श्रवण से शाश्वत मोक्ष की प्राप्ति रूप फल का विवरण।
[1154-1159]			समस्त अधिकारों का विवरण, टीकाकर्तृ-निवेदन

गाथा/पृष्ठ नं.	स्वरूप/लक्षण	भेद/प्रभेद	विशेष

क्षेपक गाथा

गा. 1 [1160-1167]	भिक्षु		भिक्षा में याचनाशील व क्रोधादि विभावयुक्त साधक व्यन्तर जैसा है, दोनों की तुलना लक्षणों की समानता से। साधुओं की दीनतापूर्वक वृत्ति निषिद्ध है। शास्त्रज्ञ मुनि की आहारचर्या का वर्णन। रागी-द्वेषी की भिक्षाचर्या का वर्णन। आहारचर्या का हेतु। भिक्षाचर्या की विशुद्धि आत्मगुणों की दृष्टि में कारण है। सदोष चर्या के त्याग का उपदेश।
गा. 2 [1167-1178]	आत्मज्ञान, मिथ्यादृष्टि, आत्मा, भेदविज्ञान		बहिरात्मा के स्वरूप का निरूपण। ज्ञान-ध्यान आत्मा के लिए सुखामृत रसायन या पान है। पञ्चेन्द्रिय-विषयों में सुख की अभिलाषा वाला बहिरात्मा है। इन्द्रियविषय वास्तव में दुःखप्रद ही है। परद्रव्यरत बहिरात्मा है। मोक्षसाधक के लिए आत्मज्ञान ही प्रमुख कार्य है। आत्मध्यान से परमात्मपना प्रकट होता है। ज्ञान से ध्यान, ध्यान से मोक्ष की सिद्धि होती है, इन्द्रियसुख में आत्मसुख की कल्पना मूढ़दृष्टि की होती है।
गा. 3-4 [1178-1186]	राजा, राजपिण्ड, आहार, अनाहार-आधि-राजपिण्ड, शील, दुःशील	मुनियों के दसकल्प। राजपिण्ड के 3 भेद	भिक्षु के लिए राजपिण्ड की अग्राह्यता का निरूपण। राजपिण्ड ग्रहण करने वाला संयत नहीं, असंयत है। राजपिण्ड-रक्तपिण्ड के समान है। असंयत होने से हानि। संयत-असंयत की चर्या का निरूपण। राजपिण्ड के त्याग का उपदेश दसकल्पों में एक है। पिण्ड से चटाई, पात्रादि का भी ग्रहण है। राजपिण्ड-ग्रहण में भिक्षाशुद्धि की उपेक्षा होने से मुनिपने का घात होता है। दुःशील सम्यग्ज्ञान को नष्ट करता है। राजपिण्ड ग्रहण में उत्पन्न होने वाले अनेक दोषों का वर्णन।
[पृ. 1187-1192]			टीकाकर्तृ-प्रशस्ति

रत्नत्रयवर्धिनी टीका में प्रतिपाद्य पदार्थ-भेद
(पूर्वार्द्ध)

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
1.	शास्त्र-अध्ययन का फल	2	1. प्रत्यक्ष 2. परोक्ष	मंगलाचरण	10
2.	प्रत्यक्ष फल	2	1. साक्षात् 2. परम्परा	मंगलाचरण	10
3.	परमात्मा	2	1. सकल 2. विकल (निष्कल)	1	13
4.	शरीर	5	1. औदारिक 2. वैक्रियिक 3. आहारक 4. तैजस 5. कार्मण	1	13
5.	शुद्धि	3	1. मन 2. वचन 3. शरीर	1	15
		8	1. भाव 2. काय 3. विनय 4. ईर्यापथ 5. भिक्षा 6. प्रतिष्ठापन 7. शयनासन 8. वाक्यशुद्धि	1	16
6.	नमस्कार	2	1. द्रव्य 2. भाव	1	17
		2	1. द्वैत 2. अद्वैत	1	18
7.	धार्मिक भव्य जन	2	1. सागार 2. अनगार	1	19
8.	संज्ञा	4	1. आहार 2. भय 3. मैथुन 4. परिग्रह	1	20
9.	संयमाचरण	2	1. देश 2. सकल	1	21
			1. सागार 2. निरागार	1	21
10.	प्रतिमा	11	1. दर्शन 2. व्रत 3. सामायिक 4. प्रोषधोपवास 5. सचित्तविरत 6. रात्रिभुक्तिविरत 7. ब्रह्मचर्य 8. आरम्भविरत 9. परिग्रहविरत 10. अनुमतिविरत 11. उद्दिष्ट विरत	1	22
11.	श्रमण	2	1. सम्यक् 2. मिथ्या	1	23
12.	सम्यक्त्व	2	1. निश्चय 2. व्यवहार	1	24/51
13.	परोक्ष ज्ञान	2	1. मति 2. श्रुत	3	38
14.	रत्न	5	1. सुवर्ण 2. चाँदी 3. मोती 2. राजावर्त 5. प्रवाल (मूंगा)	4	48
15.	सम्यक्त्व	2	1. सराग 2. वीतराग	4	53

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
16.	भय	7	1. इहलोक 2. परलोक 3. अरक्षा 4. अगुप्ति 5. मरण 6. वेदना 7. आकस्मिक	5	57
17.	व्यसन	7	1. जुआ 2. मांसभक्षण 3. मदिरासेवन 4. वेश्यागमन 5. शिकार करना 6. चोरी 7. परस्त्रीसेवन	5	57
18.	सम्यग्दर्शन सम्बन्धी दोष	25	3 मूढ़ता 8 मद 6 अनायतन 8 शंकादिदोष	5	58
19.	मूढ़ता	3	1. देवमूढ़ता 2. लोकमूढ़ता 3. समय(सिद्धान्त)मूढ़ता	5	58
20.	मद	8	1. ज्ञान 2. पूजा 3. कुल 4. जाति 5. बल 6. ऋद्धि 7. तप 8. रूप	5	58
21.	अनायतन	6	1. मिथ्यादेव 2. मिथ्यादेव आराधक 3. मिथ्यातप 4. मिथ्यातपस्वी 5. मिथ्याआगम 6. मिथ्याआगमधारी	5	58
22.	शंकादिदोष	8	1. शंका 2. कांक्षा 3. विचिकित्सा 4. अन्यदृष्टिप्रशंसा 5. अनुपगूहन 6. अस्थितिकरण 7. अवात्सल्य, 8. अप्रभावना	5	59
23.	सम्यक्त्व के गुण	8	1. संवेग 2. निर्वेद 3. निंदा 4. गर्हा 5. उपशम 6. भक्ति 7. अनुकम्पा 8. वात्सल्य	5	59
24.	सम्यक्त्व के अंग		1. नि:शंकित 2. निष्कांक्षित 3. निर्विचिकित्सा 4. अमूढ़दृष्टि 5. उपगूहन 6. स्थितिकरण 7. वात्सल्य 8. प्रभावना	5	59
25.	सम्यग्दृष्टि के अतिचार	5	1. शंका 2. कांक्षा 3. विचिकित्सा 4. अन्यदृष्टिप्रशंसा 5. अन्यदृष्टि संस्तव	7	84
26.	श्रावक के मूलगुण	8	1–5 पाँच अणुव्रत 6. मद्यत्याग 7. मधुत्याग 8. मांसत्याग	8	86
		8	1. मद्य त्याग 2. मांस त्याग 3. मधु त्याग 4–8 पाँच उदम्बर त्याग (ऊमर, कठूमर, पीपल, बड़, पाकर)	8	87
		8	1. हिंसा विरति 2. झूठ विरति 3. चोरी विरति 4. अब्रह्मचर्य विरति 5. परिग्रह विरति 6. जूआ त्याग 7. मांस त्याग 8. मद्य त्याग	8	87
		8	1. मद्य त्याग 2. मांस त्याग 3. मधु का त्याग 4. रात्रिभोजन का त्याग	8	87

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
			5. पँच उदम्बर फलों का त्याग 6. देववन्दना		
			7. जीव दया 8. छने पानी का उपयोग		
27.	श्रावक के उत्तरगुण	12	1. पाँच अणुव्रत 2. तीन गुणव्रत 3. चार शिक्षाव्रत	8	88
28.	अणुव्रत	5	1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. स्वदारसन्तोष	8	88
			(एकदेश ब्रह्मचर्याणुव्रत) 5. परिग्रहपरिमाण व्रत		
29.	गुणव्रत	3	1. दिग्व्रत 2. अनर्थदण्डविरति 3. भोगोपभोगपरिमाणव्रत	8	88
30.	शिक्षाव्रत	4	1. सामायिक 2. प्रोषधोपवास 3. अतिथिपूजा	8	89
			4. सल्लेखना		
			1. देशावकाशिक 2. सामायिक 3. प्रोषधोपवास	8	89
			4. वैयावृत्त्य		
31.	अनुप्रेक्षा	12	1. अनित्य 2. अशरण 3. एकत्व 4. अन्यत्व	8	90
			5. संसार 6. लोक 7. अशुचित्व 8. आस्रव		
			9. संवर 10. निर्जरा 11. धर्म 12 बोधि		
32.	श्रावक के छह कर्म	6	1. देवपूजा 2. गुरु उपासना 3. स्वाध्याय	8	92
			4. संयम 5. तप 6. दान		
33.	भक्ति	2	1. निश्चय 2. व्यवहार	8	91
34.	रत्न	3	1. सम्यग्दर्शन 2. सम्यक् ज्ञान 3. सम्यक् चारित्र	9	105
35.	रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग	2	1. व्यवहार 2. निश्चय	9	103
36.	दान	4	1. आहार 2. अभय (करुणा) 3. ज्ञान (शास्त्र)	10	106
			4. औषध		
		4	1. आहार 2. औषध 3. उपकरण 4. आवास	10	107
		3	1. सात्त्विक 2. राजस 3. तामस	10	108
		3	1. आहार, 2. अभय 3. ज्ञान	10	108
37.	श्रावक के कर्तव्य	2	1. दान 2. पूजा	10	108
38.	पूजा	2	1. द्रव्य 2. भाव	10	108
		4	1. सदार्चना 2. चतुर्मुख 3. कल्पद्रुम 4. इन्द्रध्वज	10	109
		6	1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य 4. क्षेत्र	10	109
			5. काल 6. भाव		
		4	1. सदार्चना 2. चतुर्मुख 3. कल्पद्रुम 4. आष्टाह्निक	10	109
39.	ब्रह्मचर्य	9	1. मन कृत 2. वचन कृत 3. कायकृत 4. मन कारित	10	112
			5. वचनकारित 6. कायकारित 7. मनअनुमोदना		
			8. वचनअनुमोदना 9. काय-अनुमोदना		

क्र.	**विषय**	**भेद**	**भेद के नाम**	**गाथा**	**पृ. सं.**
40.	ब्रह्मचर्य की 5 भावनाएँ	5	1. स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग 2. स्त्रीमनोहराङ्गनिरीक्षण त्याग 3. पूर्वरतानुस्मरण त्याग 4. वृष्येष्टरस त्याग 5. स्वशरीरसंस्कार त्याग	10	113
41.	आहार	4	1. अशन 2. खाद्य 3. स्वाद्य 4. पेय	10	114
42.	उपवास	3	1. जघन्य 2. मध्यम 3. उत्कृष्ट	10	114
43.	अनशन तप	2	1. अर्धानशन 2. सर्वानशन	10	116
		2	1. साकांक्ष 2. निराकांक्ष	10	116
44.	मरण	3	1. भक्तप्रतिज्ञा 2. इंगिनीमरण 3. प्रायोपगमन (पादपोपगमन)	10	117
45	धर्म	2	1. गृहस्थ 2. अनगार	11	124
			1. सम्पूर्ण धर्म 2. देशधर्म	11	124
46.	दाता के गुण	7	1. श्रद्धा 2. संतोष 3. भक्ति 4. विज्ञान 5. अलुब्धता 6. क्षमा 7. सत्व	11	127
47.	मुनि-धर्म के अङ्ग	2	1. ध्यान 2. अध्ययन	11	128
48.	ध्यान	4	1. आर्त 2. रौद्र 3. धर्म 4. शुक्ल	11	133
		2	1. प्रशस्त 2. अप्रशस्त	11	133
49.	अप्रशस्त ध्यान	2	1. आर्त 2. रौद्र	11	133
50.	प्रशस्त ध्यान	2	1. धर्म 2. शुक्ल	11	133
51.	शुक्ल ध्यान	4	1. पृथक्त्ववितर्क वीचार 2. एकत्ववितर्क अवीचार 3. सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती 4. समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति	11	138
52.	सरागदशा/वीतरागदशा	3	1. जघन्य 2. मध्यम 3. उत्कृष्ट	11	142
53.	धर्म	10	1. क्षमा 2. मार्दव 3. आर्जव 4. शौच 5. सत्य 6. संयम 7. तप 8. त्याग 9. आकिंचन्य 10. ब्रह्मचर्य	11	145
54.	धर्मध्यान	2	1. व्यवहार 2. निश्चय/ 1. भिन्न 2. अभिन्न	11	147
			1. मुख्य 2. औपचारिक	11	147
55.	व्यवहार धर्मध्यान	4	1. आज्ञा 2. अपाय 3. विपाक 4. संस्थान	11	150
56.	संस्थानविचय धर्मध्यान	4	1. पिण्डस्थ 2. पदस्थ 3. रूपस्थ 4. रूपातीत	11	151
57.	बन्ध	4	1. प्रकृति 2. स्थिति 3. प्रदेश 4. अनुभाग	11	151
58.	धर्मध्यान	2	1. बाह्य 2. आध्यात्मिक	11	152
59.	आध्यात्मिक धर्मध्यान	10	1. अपाय विचय 2. उपाय 3. जीव 4. अजीव 5. विपाक 6. वैराग्य 7. भाव 8. संस्थान 9. आज्ञा 10. हेतु विचय	11	152

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
60.	स्वाध्याय शुद्धि	5	1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल 4. भाव 5. विनय	11	157
61.	स्थापना पूजा	2	1. सद्भाव 2. असद्भाव	13	187
62.	द्रव्य पूजा	3	1. सचित्त 2. अचित्त 3. मिश्र	13	189
63.	सम्यक् चारित्र	5	1. सामायिक 2. छेदोपस्थापना 3. परिहारविशुद्धि 4. सूक्ष्मसाम्पराय 5. यथाख्यातचारित्र	13	195
64.	जगत्	3	1. ऊर्ध्व 2. मध्य 3. अधोलोक	14	201
65.	भूमि	2	1. कर्म 2. भोग	16	216
66.	षट्कर्म	6	1. असि 2. मसि 3. कृषि 4. विद्या 5. वाणिज्य 6. शिल्प	16	217
67.	कर्मभूमि	15	1. पाँच भरत 2. पाँच ऐरावत 3. पाँच विदेह	16	217
68.	भोगभूमि	3	1. जघन्य 2. मध्यम 3. उत्तम	16	216
69.	पात्र	3	1. सुपात्र 2. कुपात्र 3. अपात्र	17	224
70.	दान क्षेत्र	7	1. जिनबिम्ब 2. जिनागार 3. जिनयात्रा 4. प्रतिष्ठा 5. दान 6. पूजा 7. सिद्धान्त लेखन (ग्रन्थादि)	18	234
		7	1. चतुर्विध संघ यात्रा 2. तीर्थयात्रा 3. जीर्ण जिनालयों का उद्धार 4. जीर्ण शास्त्रों का उद्धार 5. जीर्ण सिद्ध क्षेत्रों का उद्धार 6. नये जिनबिम्ब का निर्माण 7. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा	18	234
71.	कल्याणक	5	1. गर्भ 2. जन्म 3. तप 4. ज्ञान 5. निर्वाण	18	236
72.	लौकिकसुख	6	1. धनप्राप्ति 2. स्वस्थता 3. सुंदर पत्नी 4. प्रियभाषिणी स्त्री 5. आज्ञाकारी पुत्र 6. धन देने वाली विद्या	19	239
73.	पुत्र	2	1. सुपुत्र 2. कुपुत्र	19	242
74.	राजा	8	1. चक्रवर्ती 2. अर्धचक्रवर्ती 3. मण्डलेश्वर 4. अर्धमण्डलेश्वर 5. महामण्डलेश्वर 6. अधिराज 7. राजा (नृपति) 8. भूपाल	20	244
75.	निधियाँ	9	1. काल 2. महाकाल 3. पाण्डु 4. मानव 5. शंख 6. पद्मनिधि 7. नैसर्प 8. पिंगल 9. नानारत्न	20	245
76.	रत्न	14	1. चक्र 2. छत्र 3. खड़्ग 4. दण्ड 5. काकिणी 6. मणि 7. चर्म 8. सेनापति 9. गृहपति 10. हाथी 11. घोड़ा 12. पुरोहित 13. स्थपति (कारीगर) 14. युवति (पटरानी)	20	247

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
77.	सेना के अङ्ग	6	1. हाथी 2. घोड़ा 3. रथ 4. पैदल योद्धा 5. देवसेना 6. विद्याधर सेना 1. यान 2. वाहन 3. विमान 4. हाथी 5. घोड़ा 6. रथ	20	249
78.	सेना की कक्षाएं	7	1. हस्ति 2. अश्व 3. रथ 4. पदाति 5. वृषभ 6. गन्धर्व 7. नर्तकी	20	249
79.	बुद्धि	4	1. कोष्ठबुद्धि 2. बीजबुद्धि 3. पदानुसारिणी बुद्धि 4. संभिन्नश्रोतृता बुद्धि	21	252
80.	कल्पवृक्ष	10	1. मद्यांग 2. वादित्रांग 3. भूषणांग 4. मालांग 5. दीपांग 6. गृहांग 7. ज्योतिरंग 8. भोजनांग 9. भाजनांग 10. वस्त्रांग	26	278
81.	रस	6	1. कड़वा 2. खट्टा 3. चरपरा 4. मीठा 5. कसैला 6. खारा	26	280
82.	चंदोवा के स्थान	9	1-2. रसोई बनाने के स्थान 3. खाने का स्थान 4. पानी रखने का स्थान 5. ओखली-चक्की का स्थान 6. अनाज फटकने-बीनने का स्थान 7. आटा छानने का स्थान 8. शयन का स्थान 9. सामायिक का स्थान	26	285
83.	आभरण	16	1. कुण्डल 2. अंगद 3. हार 4. मुकुट 5. केयूर 6. पट्ट 7. कटक 8. प्रालम्ब 9. सूत्र 10. नुपुर 11. दो मुद्रिकाएं, 12. मेखला, 13. असि 14. छुरी 15. ग्रैवेयक 16. कर्णपूर	26	295
84.	पुण्य	2	1. सम्यक्त्व सहित 2. सम्यक्त्वरहित	27	298
85.	पात्र	3	1. उत्तम 2. मध्यम 3. जघन्य	27	298
86.	कर्म	2	1. पुण्य 2. पाप	30	309
87.	असाता	4	1. क्षेत्रजनित 2. शारीरिक 3. मानसिक 4. असुरकृत	32	326
88.	नारकीदु:ख	5	1. क्षेत्रजनित 2. शरीरिक 3. मानसिक 4. असुरकृत 5. परस्परकृत	32	326
89.	सांसारिक सुख	2	1. अभीष्ट पदार्थ-प्राप्ति 2. अनिष्ट पदार्थ-वियोग	34	338
90.	कर्म	2	1. शुभ 2. अशुभ	35	348
91.	क्षय रोग के ग्यारह रूप	11	1. पीनस (जुखाम) 2. श्वास 3. कास 4. असंताप 5. सिर में पीड़ा 6. स्वरभंग 7. अरोचकता 8. अतिसार 9. वमन 10. पार्श्वपीड़ा 11. सन्धिगत	36	352

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
92.	क्षय रोग के सात उपद्रव	7	1. कण्ठोद्ध्वंस 2. वक्षप्रदेश में पीड़ा 3. जंभाई 4. अङ्गमद 5. बार-बार थूकने की प्रवृत्ति 6. मन्दाग्नि 7. मुख में दुर्गन्ध	36	352
93.	कुष्ठ	7	1. वातज 2. पित्तज 3. कफज 4. वात-पित्तज 5. वातकफज 6. कफजपित्तज 7. वातपित्तकफज	36	353
		7.	1. वातोल्बण सन्निपात 2. पित्तोल्बण सन्निपात 3. कफोल्बण सन्निपात 4. वातपित्तोल्वण सन्निपात 5. पित्तकफोल्बण सन्निपात 7. समवृद्ध सन्निपात	36	354
		18	1. कापाल, पित्त से 2. औदुम्बर, कफ से 3. मण्डल वात-पित्त से 4. विचर्ची 5. ऋक्षजिह्व। वातपित्त से 6. चर्म 7. एककुष्ठ 8. किट्टिभ 9. सिध्म 10. अलस 11. विपादिकी। एवं कफ-पित्त से 12. दद्रु 13. शतारू 14. पुण्डरीक 15. विस्फोट 16. पामा 17. चर्मदल। त्रिदोष से— 18. काकण	36	354
94.	महाकुष्ठ	7	1. कापाल 2. औदुम्बर 3. मण्डल 4. दद्रु 5. काकण 6. पुण्डरीक 7. ऋक्षजिह्व	36	354
95.	क्षुद्रकुष्ठ	11	1. विचर्ची 2. चर्म-दल 3. एककुष्ठ 4. किट्टिभ 5. सिध्म 6. अलस 7. विपादिका 8. शतारु 9. विस्फोट 10. पामा 11. चर्मदल	36	354
96.	मूलरोग	4	1. वातज 2. पित्तज 3. कफज 4. सन्निपातज	36	356
97.	शूल रोग	4	1. शिर: शूल 2. कटिशूल 3. कर्णशूल 4. उदरशूल	36	357
98.	कर्ण शूल	3	1. वातज 2. पित्तज 3. कफज	36	357
99.	लूता (मकड़ी)	4	1. वातज 2. पित्तज 3. कफज 4. सन्निपातज	36	358
100.	भगंदररोग	8	1. वातज: 2. पित्तज आदि	36	361
101.	गति	4	1. देव 2. मनुष्य 3. तिर्यंच 4. नरक	36	364
102.	दुर्गतियाँ	2	1. नरकगति 2. तिर्यचगति	37	364
103.	श्रुतज्ञान	2	1. शब्दज 2. अनक्षरात्मक	37	367
104.	दोष	18	1. क्षुधा 2. तृषा 3. भय 4. द्वेष 5. राग 6. मोह 7. चिंता 8. बुढापा 9. रोग 10. मरण 11. पसीना 12. खेद 13. मद 14. रति 15. विस्मय 16. निद्रा 17. जन्म 18. उद्वेग	37	368
105.	त्याग	2	1. संग (परिग्रह) का 2. कलत्र (पत्नी आदि) का	42	400

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
106.	कुशीलमुनि	2	1. कषाय कुशील 2. प्रतिसेवना कुशील	47	434
107.	चारित्र	2	1. सराग 2. वीतराग/ 1. व्यवहार 2. निश्चय	49	444
108.	तप	2	1. आभ्यन्तर 2. बाह्य	49	445
109.	बाह्यतप	6	1. अनशन 2. अवमौदर्य 3. वृत्तिपरिसंख्यान 4. रसपरित्याग 5. विविक्तशय्यासन 6. कायक्लेश	49	445
110.	आभ्यन्तरतप	6	1. प्रायश्चित्त 2. विनय 3. वैयावृत्त्य 4. स्वाध्याय 5. व्युत्सर्ग 6. ध्यान	49	445
111.	गति	2	1. कर्मोदयकृत 2. क्षायिकी	49	445
112.	कर्मोदयकृत गति	4	1. मनुष्य 2. देव 3. तिर्यंच 4. नरक	49	445
113.	क्षायिकी गति	1	1. मोक्षगति	49	445
114.	जीव के भाव	5	1. औपशमिक 2. क्षायिक 3. क्षायोपशमिक 4. औदयिक 5. पारिणामिक	52	455
115.	रौद्र ध्यान	4	1. हिंसा 2. असत्य 3. चोरी 4. विषय-संरक्षण	54	466
116.	आर्तध्यान	4	1. अनिष्ट संयोगज 2. इष्ट वियोगज 3. रोगार्त 4. भोगार्तध्यान	54	469
117.	लेश्या	2	1. शुभ 2. अशुभ / 1. द्रव्य 2. भाव	54	472
118.	शुभ लेश्या	3	1. पीत 2. पद्म 3. शुक्ल	54	472
119.	अशुभ लेश्या	3	1. कृष्ण 2. नील 3. कापोत	54	472
120.	आराधक	2	1. सागार 2. अनागार	55	879
121.	धर्म	2	1. सम्पूर्ण 2. देश	55	880
122.	चारित्र	2	1. सकल 2. विकल	55	880
123.	श्रेणी	2	1. उपशम 2. क्षपक	56	483
124.	सराग दशा	3	1. जघन्य 2. मध्यम 3. उत्कृष्ट	56	484
125.	वीतराग	3	1. जघन्य 2. मध्यम 3. उत्कृष्ट	56	484
126.	विकथा	4	1. स्त्री 2. राज 3. चोर 4. भक्त	58-59	503
		25	1. स्त्री 2. अर्थ 3. भोजन 4. राज 5. चोर 6. वैर 7. परपाखंड 8. देश 9. भाषा 10. गुणप्रतिबंध 11. देवी 12. निष्ठुर 13. परपैशुन्य 14. कन्दर्प 15. परजुगुप्सा 16. परपीड़ा 17. कलह 18. परिग्रह 19. आरम्भ 20. संगीत-वाद्य 21. देशकालानुचित 22. भण्ड 23. मूर्ख 24. आत्मप्रशंसा 25. परपरिवाद	58-59	503
127.	दण्ड	3	1. मन 2. वचन 3. काय	58-59	504

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
128.	मनोदण्ड	3	1. रागात्मक 2. द्वेषात्मक 3. मोहात्मक	58-59	504
129.	वचन दण्ड	7	1. झूठ बोलना 2. वचन से कहकर किसी के ज्ञान का घात करना 3. चुगली करना 4. कठोर वचन कहना 5. अपनी प्रशंसा करना 6. संताप उत्पन्न करने वाला वचन कहना 7. हिंसा के वचन कहना	58-59	504
130.	कायदण्ड	7	1. प्राणियों का वध करना 2. चोरी करना 3. मैथुन 4. परिग्रह रखना 5. आरम्भ करना 6. लाड़ना करना 7. उग्रवेष धारण	58-59	504
131.	शल्य	3	1. मिथ्यात्व 2. माया 3. निदान	58-59	505
		2	1. द्रव्य 2. भाव		
132.	भावशल्य	3	1. दर्शन 2. ज्ञान 3. चारित्र	58-59	505
133.	द्रव्य शल्य	3	1. सचित्त 2. अचित्त 3. मिश्र	58-59	505
134.	गारव	3	1. शब्द 2. ऋद्धि 3. सात	58-59	506
135.	द्रव्य	6	1. जीव 2. पुद्‍गल 3. धर्म 4. अधर्म 5. काल 6. आकाश	60-61	509
136.	अजीव द्रव्य	5	1. धर्म 2. अधर्म 3. आकाश 4. काल 5. पुद्‍गल	60-61	509
137.	तत्त्व	7	1. जीव 2. अजीव 3. आस्रव 4. बंध 5. संवर 6. निर्जरा 7. मोक्ष	60-61	511
138.	पदार्थ	9	1. जीव 2. अजीव 3. पुण्य 4. पाप 5. आस्रव 6. संवर 7. निर्जरा 8. बंध 9. मोक्ष	60-61	511
139.	अनुप्रेक्षा	12	1. अध्रुव 2. अशरण 3. संसार 4. एकत्व 5. अन्यत्व 6. अशुचित्व 7. आस्रव 8. निर्जरा 9. निर्जरा 10. लोक 11. दुर्लभ 12. धर्म	60-61	512
140.	मुनियों के आवश्यक	6	1. समता 2. स्तव 3. वन्दना 4. प्रतिक्रमण 5. प्रत्याख्यान 6. व्युत्सर्ग	60-61	513
141.	आर्य (श्रेष्ठ) पुरुष	5	1. क्षेत्रार्य 2. जात्यार्य 3. कर्मार्य 4. चारित्रार्य 5. दर्शनार्य	60-61	514
142.	मोह	2	1. दर्शनमोह 2. चारित्रमोह	63	523
143.	कर्म	2	1. शुभ 2. अशुभ	63	525
		2	1. द्रव्य 2. भाव	63	525
144.	लिङ्ग	2	1. द्रव्यलिङ्ग 2. भावलिङ्ग	64	528
145.	विनय	5	1. लोकानुवृत्ति 2. अर्थनिमित्तक 3. कामतंत्र	71	560

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
			4. भय 5. मोक्ष		
		5	1. ज्ञान 2. दर्शन 3. चारित्र 4. तप 5. उपचार	71	560
		3	1. ज्ञान 2. दर्शन 3. चारित्र	71	560
146.	परिग्रह	10	1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. धन 4. धान्य 5. द्विपद	75	582
			6. चतुष्पद 7. कुप्य 8. भाण्ड 9. हिरण्य		
			10. सुवर्ण		
		9	1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. हिरण्य 4. सुवर्ण 5. धन	75	582
			6. धान्य 7. दास 8. दासी 9. कुप्य		
		3	1. भूमि 2. महिला 3. कुप्य		
147.	मुण्डन	2	1. द्रव्य 2. भाव	76	587
		10	1–5. पाँच इन्द्रियों के मुण्डन, 6. वचन 7. हस्त	76	589
			8. पद 9. मन 10. शरीर		
148.	इन्द्रिय	5	1. स्पर्शन 2. रसना 3. घ्राण 4. नेत्र 5. श्रोत्र	76	589
149.	स्पर्श	8	1. मृदु 2. कठिन 3. हलका 4. भारी 5. चिकना	76	589
			6. रूखा 7. शीतल 8. उष्ण		
150.	वर्ण	5	1. कृष्ण 2. नील 3. रुधिर (रक्त) 4. हारिद्र (पीला)	76	589
			5. सफेद		
151.	शब्द	6	1. तत 2. वितत 3. धन 4. सुषिर 5. घोष 6. भाषा	76	589
152.	रस	5	1. तीखा 2. कडुआ 3. कसैला 4. खट्टा 5. मीठा	76	589
153.	गंध	2	1. सुगंध 2. दुर्गंध	76	589

—0—

उत्तरार्द्ध

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
154.	वर गुण	9	1. कुलीनता, 2. आरोग्य 3. अवस्था 4. शील 5. श्रुत 6. शरीर 7. लक्ष्मी 8. पक्ष 9. परिवार	77	598
155.	कायक्लेश	6	1. अयन 2. शयन 3. आसन 4. स्थान 5. अवग्रह 6. योग	82	632
156.	दर्शनमोह	3	1. मिथ्यात्व 2. सम्यग्मिथ्यात्व 3. सम्यक्त्व	86	654
157.	राज्यअङ्ग	7	1. स्वामी 2. अमात्य 3. प्रजा 4. दुर्ग 5. कोश 6. दण्ड/सेना 7. मित्र	87	658
158.	दुर्ग	6	1. धनुदुर्ग 2. महीदुर्ग 3. जलदुर्ग 4. वृक्षदुर्ग 5. मनुष्यदुर्ग 6. गिरिदुर्ग	87	658
159.	सद्धर्मकथा	4	1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेजनी 4. निर्वेजनी	93	701
160.	वस्त्र	5	1. कोशा 2. सूती 3. सन 4. जूट 5. चर्मज (ऊनी)	94-96	707
161.	वञ्चना 'माया'	5	1. निकृति 2. उपधि 3. सातिप्रयोग 4. प्रणिधि 5. प्रतिकुञ्चन	94-96	712
162.	परीषह	4	1. क्षुधा 2. तृषा 3. शीत 4. उष्ण 5. दंशमशक 6. नग्नता 7. अरति 8. स्त्री 9. चर्या 10. निषद्या 11. शय्या 12. आक्रोश 13. वध 14. याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृणस्पर्श 18. मल 19. सत्कार-पुरस्कार 20. प्रज्ञा 21. अज्ञान 22. अदर्शन	94-96	713
163.	उपसर्ग	4	1. देवकृत 2. मनुष्यकृत 3. तिर्यंचकृत 4. अचेतनकृत	94-96	713
164.	मल	2	1. द्रव्य 2. भाव	94-96	719
165.	द्रव्यमल	2	1. बाह्य 2. आन्तरिक	94-96	719
166.	संसार	5	1. द्रव्य 2. क्षेत्र 3. काल 4. भव 5. भाव	99	737
167.	व्रत	2	1. अणुव्रत, 2. महाव्रत	101-102	760
168.	महाव्रत	5	1. अहिंसा 2. सत्य 3. अचौर्य 4. ब्रह्मचर्य 5. अपरिग्रह	101-102	760

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
169.	मूलगुण	28	1. 5 महाव्रत, 5 समिति 5 इन्द्रियनिरोध 6. आवश्यक, केशलोंच अचेलकता, अस्नान, भूमिशयन, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन लेना, दिन में एक बार भोजन लेना	101-102	760
170.	श्रमणकल्प	10	1. अचेलकत्व 2. औद्देशिक त्याग 3. शय्यागृह त्याग 4. राजपिण्ड त्याग 5. कृतिकर्म 6. व्रत 7. ज्येष्ठ 8. प्रतिक्रमण 9. मास 10. पर्या	101-102	764
171.	शील विराधना	10	1. स्त्रीसंसर्ग 2. प्रणीतरसभोजन 3. गंधमाला का ग्रहण 4. कोमल शयन-आसन 5. भूषण 6. गीत-वादित्र श्रवण 7. अर्थसंग्रह 8. कुशीलसंसर्ग 9. राजसेवा 10. रात्रिसंचरण	101-102	764
172.	निमित्त	8	1. व्यञ्जन 2. अङ्ग 3. स्वर 4. छिन्न 5. भूमि 6. अन्तरिक्ष 7. लक्षण 8. स्वप्न	103	766
173.	कुत्सित/संक्लिष्ट भावनाएं	5	1. कान्दर्पी 2. कैल्बिषी 3. आभियोगिकी 4. आसुरी 5. संमोही	103	768
174.	उत्पादन-सम्बन्धी दोष	10	1. धात्री 2. दूत 3. निमित्त 4. आजीव 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोधी 8. मानी 9. मायावी 10. लोभी	103	770
		16	1. धात्री 2. दूत 3. निमित्त 4. आजीव 5. वनीपक 6. चिकित्सा 7. क्रोधी 8. मानी 9. मायावी 10. लोभी 11. पूर्वस्तुति 12. पश्चात् स्तुति 13. विद्या 14. मंत्र 15 चूर्णयोग 16. मूलकर्म		
175.	चिकित्सादोष	8	1. कौमार 2. तनुचिकित्सा 3. रसायन 4. विष 5. भूत 6. क्षारतंत्र 7. शालाकिक 8. शल्य	103	772
176.	वात्सल्य	2	1. निश्चय 2. व्यवहार	106	796
177.	भिक्षा के प्रकार	5	1. उदराग्निशमन 2. अक्षम्रक्ष 3. गोचार 4. श्वभ्रपूरण 5. भ्रामरी	107-108	806
178.	सम्यक्त्व	10	1. आज्ञा 2. मार्ग 3. उपदेश 4. सूत्र 5. बीज 6. संक्षेप 7. विस्तार 8. अर्थ 9. अवगाढ 10. परमावगाढ	114	848
179.	आत्मा	3	1. बहिरात्मा 2. अन्तरात्मा 3. परमात्मा	116	866
180.	परमात्मा	2	1. अरहंत (जिन) 2. सिद्ध (आत्मा)	116	886

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
181.	परिग्रह	2	1. बाह्य 2. आन्तरिक	117–118	873
182.	आभ्यंतर परिग्रह	14	1. मिथ्यात्व 2. स्त्री वेद 3. नपुंसक वेद 4. रति 5. अरति 6. शोक 7. भय 8. जुगुप्सा 9. क्रोध 10. मान 11. माया 12. लोभ 13. हास्य 14. पुरुष वेद	117–118	873
183.	बाह्य परिग्रह	10	1. क्षेत्र 2. वास्तु 3. धन 4. धान्य 5. द्विपद 6. चतुष्पद 7. यान 8. शयन–आसन 9. कुप्य 10. भाण्ड	117–118	874
184.	पुरुषार्थ	4	1. धर्म 2. अर्थ 3. काम 4. मोक्ष	117–119	880
185.	नय	2	1. द्रव्यार्थिक 2. पर्यायार्थिक/1. निश्चय 2. व्यवहार	119	885
186.	द्रव्यार्थिक नय	3	1. नैगम 2. संग्रह 3. व्यवहार	119	885
187.	पर्यायार्थिक नय	4	1. ऋजुसूत्र 2. शब्दनय 3. समभिरूढ़ 4. एवंभूत	119	885
188.	निश्चय नय	2	1. शुद्ध 2. अशुद्ध	119	887
189.	मोक्षमार्ग	2	1. निश्चय 2. व्यवहार	119	892
190.	निश्चय मोक्षमार्ग	2	1. सविकल्प 2. निर्विकल्प	119	894
191.	पाप	5	1. हिंसा 2. असत्य 3. अब्रह्मचर्य 4. चोरी 5.परिग्रह	121	901
192.	व्रत	5	1. अहिंसा 2. सत्य 3. बह्मचर्य 4. अचौर्य 5. अपरिग्रह	121	901
193.	शीलव्रत	7	1. तीन गुणव्रत 2. चार शिक्षा व्रत	121	891
194.	व्यवहार चारित्र	13	5 महाव्रत, 3 गुप्ति 5 समिति	121	891
195.	स्वाध्याय	5	1. वाचना 2. पृच्छा 3. अनुप्रेक्षा 4. आम्नाय 5. धर्मोपदेश	121	902
196.	आराधना	4	1. दर्शन 2. ज्ञान 3. चारित्र 4. तप	122	906
197.	पर्याय	2	1. स्वभाव 2. विभाव	123	917
198.	जीवद्रव्य के सामान्य गुण	8	1. अस्तित्व 2. वस्तुत्व 3. द्रव्यत्व 4. प्रमेयत्व 5. अगुरुलघुत्व 6. प्रदेशत्व 5. चेतनत्व 8. अमूर्तत्व	123	918
199.	पुद्गल द्रव्य के सामान्य गुण	8	1. अस्तित्व 2. वस्तुत्व 3. द्रव्यत्व 4. प्रमेयत्व 5. अगुरुलघुत्व 6. प्रदेशत्व 5. अचेतनत्व 8. मूर्तत्व	123	918
200.	जीव के विशेष गुण	6	1. ज्ञान 2. दर्शन 3. सुख 4. वीर्य 5. चेतनता 6. अमूर्तता	123	918
201.	पुद्गल के विशेष गुण	6	1. स्पर्श 2. रस 3. गंध 4. वर्ण 5. अचेतनत्व 6. मूर्तत्व	124	921
202.	प्रकृति बंध	8	1. मूलप्रकृति 2. उत्तरप्रकृति	124	921

क्र.	विषय	भेद	भेद के नाम	गाथा	पृ. सं.
203.	मूल कर्म प्रकृतियाँ	6	1. ज्ञानावरणीय 2. दर्शनावरणीय 3. वेदनीय 4. मोहनीय 5. आयु 6. नाम 7. गोत्र 8. अन्तराय	124	921
204.	कर्म	2	1. द्रव्य 2. भाव	124	922
205.	आहार	6	1. नोकर्माहार 2. कर्माहार 3. लेपआहार 4. कवलाहार 5. ओज आहार 6. मानसिक आहार	131-132	952
206.	आत्मतत्त्व	2	1. स्वसमय 2. पर समय	139	996
207.	गुप्ति	3	1. मन 2. वचन 3. काय	142-145	1016
208.	सूत्र पद	27	1. जाति 2. मूर्ति 3. लक्षण 4. शरीर-सुन्दरता 5. प्रभा 6. मण्डल 7. चक्र 8. अभिषेक 9. नाथता 10. सिंहासन 11. उपधान 12. छत्र 13. चामर 14. घोषणा 15. अशोकवृक्ष 16. निधि 17. गृहशोभा 18. अवगाहन 19. क्षेत्रज्ञ 20. आज्ञा 21. सभा 22. कीर्ति 23. वन्दनीयता 24. वाहन 25. भाषा 26. आहार 27. सुख	142-145	1028
209.	संयम	17	1-5 स्थावर 6-9 त्रसकाय 10. आजीवकाय 11. अप्रतिलेख 12. दुष्प्रतिलेख 13. उपेक्षा 14. अपहरण 15. मन संयम 16. वचन संयम 17. काय संयम	142-145	1018
210.	सम्यक्त्व	3	1. क्षायिक 2. औपशमिक 3. क्षायोपशमिक	159	1115
211.	लोक	3	1. ऊर्ध्व 2. मध्य 3. अधो	160	1118
212.	लब्धि	4	1. क्षयोपशम 2. विशुद्धि 3. देशना 4. प्रायोग्य, 5. करण	164	1139
			1. काल, 2. करण, 3. उपदेश, 4. उपशम, 5. प्रायोग्यता	164	1138
213.	करण	3	1. अध:प्रवृत्त करण 2. अपूर्वकरण 3. अनिवृत्तिकरण	164	1142
214.	मुनिकल्प	10	1. अचेलकता 2. ओद्देशिकत्याग 3. शय्यागृहत्याग 4. राजपिण्डत्याग 5. कृतिकर्म 6. व्रत 7. ज्येष्ठता 8. प्रतिक्रमण 9. मास 10. पर्युषण	क्षेपक गा. 3	1181
215.	राजपिण्ड	3	1. आहार 2. अनाहार 3. उपधि	क्षेपक गा. 3	1181